

बाबासाहेब डॉ. बी. आर. अम्बेडकर

जन्म : 14 अप्रैल 1891 परिनिर्वाण : 6 दिसंबर 1956

बाबासाहेब

डॉ. अम्बेडकर

सम्पूर्ण वाङ्मय

खंड 10

डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङ्मय

खंड 10
अस्पृश्य का विद्रोह, गांधी और उनका अनशन, पूना पैक्ट

पहला संस्करण : 1996
दूसरा संस्करण : 2011
तीसरा संस्करण : 2013

ISBN : **978-93-5109-010-6**

आवरण परिकल्पना : विनय कुमार पॉल
पुस्तक के आवरण पर उपयोग किया गया मोनोग्राम बाबासाहेब डॉ. बी. आर. अम्बेडकर के लेटरहेड से साभार

मूल्य : सामान्य (पेपरबैक) : ₹ 40

प्रकाशक :
डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान
सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय
भारत सरकार, नई दिल्ली – 110 001
फोन : 011–23320571, 23320576, 23320589
फैक्स : 23320582
वेबसाइट : www.ambedkarfoundation.nic.in

मुद्रक : अरिहंत ऑफसेट, जनकपुरी, नई दिल्ली

जो कुछ मैं कर पाया हूं, वह जीवन-भर मुसीबतें सहन करके विरोधियों से टक्कर लेने के बाद ही कर पाया हूं। जिस कारवां को आप यहां देख रहे हैं, उसे मैं अनेक कठिनाइयों से यहां ले आ पाया हूं। अनेक अवरोध, जो इसके मार्ग में आ सकते हैं, के बावजूद इस कारवां को बढ़ते रहना है। अगर मेरे अनुयायी इसे आगे ले जाने में असमर्थ रहे तो उन्हें इसे यहीं पर छोड़ देना चाहिए, जहां पर यह अब है। पर किन्हीं भी परिस्थितियों में इसे पीछे नही हटने देना है। मेरी जनता के लिए मेरा यही संदेश है।

– भीमराव अम्बेडकर

संकलन (अंग्रेजी)
श्री वसंत मून

परामर्श सहयोगः

माननीय श्री बलवंत सिंह रामूवालिया
कल्याण मंत्री
भारत सरकार

श्री के.बी. सक्सेना, आई.ए.एस.
सचिव
कल्याण मंत्रालय

श्री ए.के. चौधरी, आई.ए.एस.
संयुक्त सचिव
कल्याण मंत्रालय
सदस्य सचिव
डा. अम्बेडकर प्रतिष्ठान

श्री कन्हैयालाल चंचरीक
वरिष्ठ संपादक

अनुवादक • पुनरीक्षक
स्व. श्री रघुनंदन सिंह
डा. देवेश चन्द्र
श्री भूपेन्द्र कुमार पाठक
श्री ओम प्रकाश कश्यप

द्वितीय संस्करण के पुनरीक्षक
श्री सुधीर हिलसायन

संपादक
श्री कैलाश चन्द्र सेठ

दो शब्द

भारतरत्न बाबा साहेब डा. अम्बेडकर सामाजिक नव-जागरण के अग्रदूत थे। उनका संपूर्ण जीवन सदियों से शोषित-दलित मानवता के सामाजिक-आर्थिक एवं शैक्षिक उत्थान के लिए समर्पित था। उन्होंने समाज में विद्यमान रूढ़िगत मान्यताओं और विषमताओं को समूल नष्ट करने और सामाजिक न्याय और दलितों के अधिकारों को सुनिश्चित करने के लिए आजीवन संघर्ष किया।

बाबा साहेब के सामाजिक नव-चेतना और नव-आर्थिक संरचना के स्वप्न को साकार करने के लिए भारत सरकार ने *डा. अम्बेडकर प्रतिष्ठान* की स्थापना की है। यह प्रतिष्ठान निम्न मुख्य गतिविधियों और योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए कृत संकल्प है:

1. डा. अम्बेडकर राष्ट्रीय पुस्तकालय, 2. डा. अम्बेडकर राष्ट्रीय पुरस्कार, 3. डा. अम्बेडकर विदेश छात्रवृति, 4. डा. अम्बेडकर पीठिकाओं (चेयर्स) की स्थापना, 5. बाबा साहेब डा. अम्बेडकर संपूर्ण वाङ्मय का भारतीय भाषाओं में प्रकाशन, 6. हिंदी और अंग्रेजी की मिली-जुली त्रैमासिक *'डा. अम्बेडकर फाउंडेशन पत्रिका'* का प्रकाशन, 7. डा. अम्बेडकर अंतर्राष्ट्रीय पुरस्कार, और 8. डा. अम्बेडकर राष्ट्रीय स्मारक (26 अलीपुर रोड, दिल्ली)।

हम प्रतिष्ठान की ओर से माननीय श्री बलवंत सिंह रामूवालिया, कल्याण मंत्री, एवं श्री के.बी. सक्सेना, सचिव, कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार के प्रति आभार व्यक्त करते हैं, जिनसे समय-समय पर अमूल्य परामर्श और मार्गदर्शन तथा प्रेरणा मिलती रहती है।

प्रस्तुत खंड के सफल प्रकाशन पर प्रतिष्ठान को अत्यंत खुशी है और इसके लिए वरिष्ठ संपादक श्री कन्हैयालाल चंचरीक, संपादक श्री कैलाश चंद्र सेठ एवं प्रतिष्ठान के विशेष कार्याधिकारी और इस योजना के समन्वयक श्री जगन्नाथ प्रसाद बधाई के पात्र हैं।

हमें खुशी है कि 'बाबा साहेब डा. अम्बेडकर संपूर्ण वाङ्मय' प्रायोजना के तहत प्रतिष्ठान के द्वारा प्रकाशित किए जा रहे खंडों का सर्वत्र स्वागत हुआ है। इससे हमें भारी प्रोत्साहन और बल मिला है। अंत में, हम इस संबंध में अपने पाठकों के सुझावों का स्वागत करेंगे।

ए.के. चौधरी

(सदस्य सचिव, डा. अ. प्र.)

संपादकीय

सामाजिक सुधार के क्षेत्र में भारत की जनता के प्रेरणा-स्रोत बाबा साहेब डा. अम्बेडकर का स्थान इस कारण सर्वोपरि है कि उन्होंने अपनी कल्पना के समाज का भव्य निर्माण, समता और बंधुत्व की नींव पर किया था और जिसे साकार रूप देने के लिए वह आजीवन संघर्षरत् रहे। अब युग बदल रहा है। पिछले दशकों में भारी जन-जागरण हुआ है और दलित आंदोलन के प्रति जन-सहानुभूति है।

प्रस्तुत खंड अंग्रेजी के पांचवें खंड का उत्तरार्द्ध है। 'अस्पृश्य और अस्पृश्यता' शीर्षक बाबा साहेब का यह नवीनतम खंड अस्पृश्यता-निवारण की दिशा में उनकी एक सशक्त एवं बेजोड़ कृति है। इसमें उनके सोलह लेखों को तीन भागों में प्रकाशित किया गया है, अर्थात साामजिक, राजनीतिक और धार्मिक। प्रस्तुत खंड में सभ्यता की परिभाषा, सनातन सामाजिक व्यवस्था, अस्पृश्यों की वास्तविक दशा, जातिप्रथा का अभिशाप, अस्पृश्यों का विद्रोह, उनकी असहाय स्थिति, धर्म के स्थान पर अधर्म, हिंदुओं से अलगाव, धर्म-परिवर्तन की अनिवार्यता, अस्पृश्यता की ओट में किए जाने वाले अत्याचार और दमन की व्यथा-कथा, आदि विषयों को प्रभावशाली ढंग से उजागर किया गया है। वास्तव में यह एक सत्य की खोज है, जिसने राष्ट्र के जन-जीवन को प्रभावित किया है। इस समस्या के समाधान को खोजने के अनेक प्रयास भी हुए हैं। यह खंड 'समस्या और समाधान' की दिशा में बाबा साहेब की महानतम उपलब्धि है। हमें विश्वास है, यह भारतीय समाज में व्याप्त वर्ग-भेद, वैर-भाव और पूर्वाग्रहों को मिटाकर राष्ट्रीय एकता को मजबूत करने में सहायक सिद्ध होगा।

हम इस खंड के सफल प्रकाशन के लिए कल्याण मंत्रालय और डा. अम्बेडकर प्रतिष्ठान के अपने सभी सहयोगियों के प्रति आभार व्यक्त करते हैं, जिनसे हमें समय-समय पर उपयोगी दिशा-निर्देश मिलता रहा है।

संपादक





Lkkekftd U;k; vkSj vf/kdkfjrk ea=h
Hkkjr ljdkj
MINISTER OF SOCIAL JUSTICE & EMPOWERMENT
GOVERNMENT OF INDIA
rFkk
v/;{k] Mk- vEcsMdj izfr"Bku
CHAIRPERSON, DR. AMBEDKAR FOUNDATION

dqekjh lSytk
KUMARI SELJA

Lkans'k

eq>s ;g tkudj vR;ar çlUurk gks jgh gS fd lkekftd U;k; vkSj vf/kdkfjrk ea=ky; dk Lok;Ùk'kklh laLFkku] Mk- vEcsMdj çfr"Bku }kjk ckck lkgc Mk- vEcsMdj ds ys[kksa ,oa Hkk"k.kksa ds [kaM la[;k 10 dk iquZ laLdj.k çdkf'kr fd;k tk jgk gSA

Hkkjr jRu Mk- ch- vkj- vEcsMdj Hkkjrh; lkekftd&jktuhfrd vkanksyu ds ,sls iqjks/kk jgs gSa] ftUgksaus thoui;ZUr lekt ds vkf[kjh ik;nku ij la?k"kZjr 0;fDr;ksa dh cgrjh ds fy, dk;Z fd;kA Mk- vEcsMdj cgqeq[kh çfrHkk ds /kuh Fks blhfy, muds ys[kksa esa fo"k; dh nk'kZfud ehekalk çLQqfVr gksrh gSA ckck lkgc dk fparu ,oa dk;Z lekt dks ckSf)d] vkfFkZd ,oa jktuSfrd le`f) dh vksj ys tkus okyk rks gS gh] lkFk gh euq"; dks tkx:d ekuoh; xfjek dh vk/;kfRedrk ls lqlaLd`r Hkh djrk gSA

Ckkck lkgc dk laiw.kZ thou neu] 'kks"k.k vkSj vU;k; ds fo#) vuojr Øakfr dh 'kkS;Z&xkFkk gSA os ,d ,sls lekt pkgrs Fks ftlesa o.kZ vkSj tkfr dk vk/kkj ugha cfYd lerk] Lora=rk] cU/kqRo o ekuoh; xfjek loksZifj gks vkSj lekt esa tUe] oa'k vkSj fyax ds vk/kkj ij fdlh çdkj ds HksnHkko dh dksbZ xqatkb'k u gksA lerk] Lora=rk vkSj cU/kqRo ds çfr dfr ladYi ckck lkgc dk ys[ku çcq) esa/kk dk çkekf.kd nLrkost gSA

Hkkjrh; lekt esa 0;kIr fo"kerkoknh o.kZ0;oLFkk] ftlds rgr ekuo&ekuo esa Hksn fd;k tkrk Fkk] ls Mk- vEcsMdj dbZ ckj Vdjk,A bl VdjkgV ls Mk- vEcsMdj esa ,sls tTck iSnk gq vkSj ftlds dkj.k mUgksaus lerkoknh lekt dh lajpuk dks viuk thou dk fe'ku cuk fy;kA lerkoknh lekt ds fuekZ.k dh çfrc)rk ds dkj.k Mk- vEcsMdj us fofHkUu /keksZa dh lkekftd&/kkfeZd 0;oLFkk dk v/;;u o rqyukRed fparu&euu fd;kA

Mk- vEcsMdj çfr"Bku] ckck lkgc Mk- vEcsMdj ds vU; [kaMksa dks Hkh 'kh?k çdkf'kr djus esa ç;kljr gSA eq>s iwjh vk'kk gS fd ikBdksa dks 'kh?k gh vçdkf'kr vU; [kaM Hkh iqLrdksa ds vkdkj esa çkIr gks tk,axsA

vk'kk gS] ikBdx.k bl [kaM ds ckjs esa viuh veY; fopkj ,oa lq>ko miyC/k djok,sa ftlls fd bu vufnr [kaMksa dh xq.koÙkk ,oa lkt&lTtk dks vkxkeh [kaMksa esa vkus okys le; esa cgrj cuk;k tk ldsA

(dqekjh lSytk)

परामर्श सहयोग

कुमारी सैलजा
सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्री, भारत सरकार
एवं
अध्यक्ष, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान

श्री डी. नैपोलियन
सामाजिक न्याय और अधिकारिता राज्य मंत्री

श्री पी. बलराम नाईक
सामाजिक न्याय और अधिकारिता राज्य मंत्र

श्री अनिल गोस्वामी
सचिव
सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार

श्री संजीव कुमार
संयुक्त सचिव
सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार
एवं सदस्य सचिव, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान

श्री विनय कुमार पॉल
निदेशक
डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान

श्री कुमार अनुपम
विशेष कार्याधिकारी

डॉ. शशि भारद्वाज
सम्पादक

श्री जगदीश प्रसाद 'भारती'
व्यापार प्रबंधक



संदेश

बाबा साहेब डा. अम्बेडकर के प्रति राष्ट्र की अटूट श्रद्धा है। वे हमारे संविधान के निर्माता, प्रबुद्ध चिंतक एवं महान समाजशास्त्री थे, जिन्होंने समानता, स्वतंत्रता एवं बंधुता पर आधारित समाज के गठन के लिए सतत् प्रयास किया। इनका संपूर्ण जीवन अन्याय एवं दमन के विरुद्ध अनवरत संघर्ष की शौर्य-गाथा है। हम और हमारी सरकार इनके आदर्शों का अनुसरण करने के लिए वचनबद्ध हैं।

मुझे प्रसन्नता है कि बाबा साहेब के विचारों के प्रचार-प्रसार हेतु डा. अम्बेडकर प्रतिष्ठान उनके लेखों एवं भाषणों को हिंदी एवं अन्य भारतीय भाषाओं में खंडबद्ध रूप में प्रकाशित कर रहा है। इसी अनुक्रम में डा. अम्बेडकर प्रतिष्ठान द्वारा प्रकाशित 'अस्पृश्य और अस्पृश्यता' शीर्षक से बाबा साहेब के लेखों पर आधारित इस नवीनतम खंड को पाठकों को समर्पित करते हुए मुझे अत्यंत प्रसन्नता हो रही है। इस महान कार्य से जुड़े सभी महानुभाव बधाई के पात्र हैं।

मैं इस प्रायोजना की सफलता की कामना करता हूं।

ब स रामूवालिया

(बलवंत सिंह रामूवालिया)

कल्याण मंत्री

भारत सरकार

विषय-सूची

अस्पृश्य और अस्पृश्यता

I

सामाजिक

प्रस्तुत खंड में बाबा साहेब डा. अम्बेडकर के 'अस्पृश्य और अस्पृश्यता' विषयक अनेक निबंधों को शामिल किया गया है। इन निबंधों को तीन श्रेणियों में बांटा गया है, अर्थात सामाजिफ, राजनीतिक और धार्मिक। 'सामाजिक' श्रेणी के अधीन पांच निबंध शामिल किए गए हैं – संपादक।

इस बारे में तो किसी भी प्रकार का संदेह नहीं किया जा सकता है कि आदिम जातियों, जरायम-पेशा जातियों और अस्पृश्य वर्गों की जो दशा है, वह हिंदू सभ्यता के मूल सिद्धांतों का ही कुफल है।

-भीमराव अम्बेडकर

सभ्यता या घोर असभ्यता

I. भारत की जनता के विषय में एक और दृष्टिकोण,

II. उसके द्वारा दलित वर्ग का निरूपण : (क) आदिम जनजातियां, (ख) जरायम-पेशा जातियां, और (ग) अस्पृश्य वर्ग,

III. इन वर्गों की स्थिति पर हिंदू सभ्यता का प्रभाव, और

IV. इन वर्गों की विभिन्न समस्याएं।

आमतौर पर भारत की आबादी का वर्गीकरण भाषाई या धार्मिक आधार पर किया जाता है। भारत के लोगों के वर्गीकरण के ये ही दो आधार हैं, जो काफी अर्से से व्यवहारित होते आ रहे हैं। इसके परिणामस्वरूप विदेशियों के मन में यह बात बैठ गई है कि भारतवासियों के बारे में जानने योग्य और महत्वपूर्ण बात यह है कि वे किस धर्म का पालन करते हैं और वे कौन-सी भाषा बोलते हैं। इस सीमित दृष्टिकोण के कारण वे भारत में प्रचलित धर्मों और भाषाओं की जानकारी से ही संतुष्ट हो जाते हैं। जिस किसी विदेशी की धर्म में रुचि होती है, वह केवल यह बात याद रखता है कि भारत में जो लोग हैं, वे या तो हिंदू हैं या मुसलमान हैं या वह यह याद रखता है कि भारत में जो लोग बसते हैं, उनमें से कुछ मराठी बोलते हैं, कुछ गुजराती, कुछ बांग्ला और कुछ तमिल आदि भाषाएं बोलते हैं।

भारत के लोगों के वर्गीकरण के जो आधार हैं, उनमें से धार्मिक वर्गीकरण किसी विदेशी को अधिक प्रभावशाली और आकर्षक लगता है। इसलिए वह भाष' के मुकाबले धर्मों में अधिक रुचि लेता है। लेकिन फिर भी वह भारत के धार्मिक संप्रदायों से परिचित नहीं होता है। वह केवल हिंदुओं और म को जानता है। वह कभी-कभी सिखों के बारे में सुनता है, भूले-भटके के बारे में सुनता है, भले ही उनकी संख्या बढ़ती जा रही है, बारे में तो उसे कभी कोई जानकारी नहीं हो पाती, जिनका,

भारत का संबंध है, निश्चय ही कोई अस्तित्व नहीं है।[1]

विदेशियों के मन में यह धारणा बैठ गई है कि भारत में केवल हिंदू और मुसलमान हैं और अन्य के बारे में सिर खपाने की कोई जरूरत नहीं। इस प्रकार की धारणा का होना अत्यंत स्वाभाविक है। सारे देश में हिंदू-मुस्लिम दंगों की चर्चा है। यह स्थिति कितनी गंभीर है, उसका अनुमान तो इस बात से लगाया जा सकता है कि हाल के वर्षों में कितने अधिक हिंदू-मुस्लिम दंगे हुए और उनमें कितने अधिक लोग हताहत हुए।

लेकिन यह संघर्ष अपनी-अपनी हुकूमत के लिए संघर्ष है। ऐसे भी हिंदू हैं, जो भारत में हिंदू राज स्थापित करने के लिए संघर्ष कर रहे हैं, जिसमें मुसलमानों की हैसियत केवल अधीनस्थों की होगी। ऐसे मुसलमान भी हैं, जो सब जगह इस्लाम धर्म के होने का सपना देख रहे हैं। वे भारत को एक मुस्लिम साम्राज्य का अंग बनाना चाहते हैं, जिसमें हिंदुओं के लिए एक ही विकल्प होगा कि वे या तो *'कुरान'* को स्वीकार कर लें या फिर मौत को। इन दो कट्टर विचारधारा वाले लोगों के बीच में ऐसे नरम लोग हैं, जो ऐसा राज्य चाहते हैं, जिसमें हिंदू और मुसलमान, दोनों बराबर के साझीदार की भांति रह सकते हैं। यह तो केवल समय ही बता सकता है कि कौन सफल होगा, कट्टरपंथी या उदारपंथी। फिलहाल अखबारों की सुर्खियां दोनों तरफ से किए जाने वाले खून-खराबों से भरी रहती हैं। लेकिन इस सबके बावजूद मैं यह सोचता हूं कि ऐसे अनेक लोग हैं, जिन्हें हिंदुओं और मुसलमानों के इस संघर्ष में अधिक दिलचस्पी नहीं है। बहरहाल, यह हुकूमत हासिल करने का संघर्ष है। यह मुक्ति प्राप्त करने का संघर्ष है। यह एक-दूसरे पर हुकूमत हासिल करने का संघर्ष है। उनकी अधिक रुचि उन दलितों के संघर्षों में होगी, जो स्थान प्राप्त करने के लिए संघर्ष कर रहे हैं। इंग्लैंड में विगों और टोरियों के बीच पुराने विवाद का वर्णन करते हुए फ्रांसिस प्लेस ने विगों की राजनीतिक नीति के बारे में कहा था कि वे एक ओर राजा को और दूसरी ओर जनता को कुचलना चाहते थे। वे अभिजात वर्ग का शासन चाहते थे। इस समय जो हिंदू तथा मुसलमान संघर्ष कर रहे हैं, वे भारतीय राजनीति में वही नीति अपना रहे हैं। वे अपने-अपने वर्ग को शासक-वर्ग के रूप में स्थापित करना चाहते हैं। जनता चाहे मुसलमान हो या हिंदू, उसका इस्तेमाल तो वर्ग विशेष की स्थापना के लिए केवल हथियार के रूप में किया जाता है। वर्तमान संघर्ष तो वर्गों का संघर्ष है, न कि जनता का।

जिन लोगों की जन-आंदोलनों में रुचि है, उन्हें भारत के लोगों के प्रति एक

1. कलकत्ता महाबोधि सोसाइटी उनके पुनरुद्धार का अति क्षीण प्रयास कर रही है। (यह तथा अन्य सूचना भारत की जनगणना 1931, खंड 1, भाग 3, से ली गई है)।

दूसरा दृष्टिकोण अपनाना होगा। उन्हें केवल धार्मिक दृष्टिकोण अपनाना छोड़ देना चाहिए। उन्हें भारत के लोगों के प्रति सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टिकोण भी अपनाना होगा। इसका यह अर्थ नहीं कि हमें यह जानने का प्रयास नहीं करना चाहिए कि धर्म ने भारत के लोगों के आर्थिक और सामाजिक जीवन को किस प्रकार प्रभावित किया है। यदि धर्म को ध्यान में न रखा जाए तो वास्तव में भारत के लोगों का कोई भी अध्ययन, चाहे वे हिंदू हों या मुसलमान, उनके जीवन का पर्याप्त चित्रण नहीं कर सकता। इसका कारण है। भारत में धर्म उसी प्रकार सर्वोपरि है, जिस प्रकार यूरोप में मध्य-युग में रोमन कैथोलिक चर्च था। ब्राइस[1] ने लोगों के जीवन पर चर्च के प्रभुत्व का जिन शब्दों में वर्णन किया है, वह यहां उल्लेखनीय है, 'चर्च का जीवन, चर्च के लिए जीवन, चर्च के माध्यम से जीवन, वह जीवन जिसे चर्च प्रातःकालीन सामूहिक प्रार्थना सभा में आशीर्वाद और सांध्यकालीन प्रार्थना सभा में शांति प्रदान करता है, वह जीवन जिसे चर्च निरंतर होने वाले धार्मिक संस्कारों से पुष्ट करता रहता है, पाप की स्वीकारोक्ति से राहत प्रदान करता है, तप से उसे शुद्ध करता है, चिंतन और उपासना के लिए मूर्त प्रतीक प्रस्तुत कर उसे चेतावनी देता रहता है, यह था वह जीवन जिसे मध्य-युग के अनगिनत लोगों ने मानव का धर्मपरायण जीवन समझा था, अनेक लोगों का यही वास्तविक जीवन था, उनका सर्वमान्य आदर्श था।'

आज भारत के लोगों के जीवन पर धर्म जिस प्रकार हावी है, वह स्थिति चर्च की उस स्थिति से लेशमात्र भी भिन्न नहीं है, जो मध्य-युग में उसकी लोगों के जीवन में थी। अतः धर्म को ध्यान में न रखना भूल होगी। लेकिन यह सोचना भी उतना ही ठीक है कि धार्मिक दृष्टिकोण कोरा सतही चित्र प्रस्तुत करेगा। अतः यह जानना अधिक महत्वपूर्ण है कि सामान्य जनता और उसके विभिन्न वर्ग के लोग भारत में किस प्रकार का जीवन यापन करते हैं? उनके सामूहिक जीवन की सामाजिक अनिवार्यताएं और आर्थिक जरूरतें क्या हैं? कहां तक वे धर्म से प्रभावित हैं। हिंदू समाज के दायरे में आने वाले विभिन्न वर्ग के लोग जिस प्रकार का सामाजिक जीवन जीते हैं, उसमें इस प्रश्न का उत्तर हमें मिल जाता है।

II

यह खेद की बात है कि प्रो. मैक्स मूलर कभी भारत नहीं आए। सिद्धांत और यथार्थ में कितना अंतर होता है, इसे देखने के बाद वह संभवतः अंतर को स्पष्ट कर सकते थे। फिलहाल यह अंतर एक पहेली बना हुआ है।

यह अंतर उस ब्रह्म सिद्धांत के बावजूद है, जिसकी दुहाई देते हुए ब्राह्मण

1. *होली रोमन एम्पायर, पृ. 367*

यह कहते हैं कि ब्रह्म सभी प्राणियों में व्याप्त है और सभी प्राणियों में उसका वास है। यदि ब्राह्मण में ब्रह्म का वास है तो वह आदिवासी, जरायम-पेशा और अस्पृश्य में भी तो है? इन दो तथ्यों में, अर्थात ब्रह्म सिद्धांत और उसके विपरीत आदिम जातियों, जरायम-पेशा जातियों और अस्पृश्य जातियों के अस्तित्व में किस प्रकार हो सकता है?

इस दलित वर्ग की तीन अलग-अलग कोटियां हैं। एक कोटि उन लोगों की है, जिन्हें आदिम जातियां कहते हैं। दूसरी कोटि जरायम-पेशा वर्गों की सूची में शामिल जातियों की है। एक अलग तथा तीसरी श्रेणी उन लोगों की है, जिसे अस्पृश्य वर्ग कहते हैं।

इन तीनों कोटियों के लोगों की संख्या कुछ कम नहीं है। 1931 की जनगणना के अनुसार भारत में आदिम जातियों के लोगों की कुल संख्या दो करोड़ 50 लाख है। अब जरायम-पेशा के रूप में सूचीबद्ध जरायम-पेशा वर्गों की कुल संख्या कोई 45 लाख है। 1931 की जनगणना के अनुसार अस्पृश्यों की कुल संख्या समग्र भारत में पांच करोड़ है। कुल मिलाकर इन लोगों की संख्या सात करोड़ 95 लाख है। अब प्रश्न यह है कि इन सात करोड़ 95 लाख लोगों की स्थिति क्या है?

पहले आदिम जातियों को लें। उनकी सभ्यता किस अवस्था में हैं?

उन्हें जो यह आदिम जाति नाम दिया गया है, उससे ही उनकी वर्तमान दशा का पता चल जाता है। वे वनों में यत्र-तत्र छोटी-छोटी झोंपड़ियों में रहते हैं। वे जंगली फल, कद व मूल खाते हैं। भोजन के लिए वे मछली और वन्य जंतुओं का शिकार भी करते हैं। उनकी सामाजिक अर्थव्यवस्था में खेती का नगण्य स्थान है। खाद्य सामग्री का वहां नितांत अभाव है। अतः उन्हें भरपेट भोजन नसीब नहीं होता। यह उनकी नियति है। वे लगभग पूर्ण नग्न अवस्था में रहते हैं। बोंडा पोराज नामक एक आदिम जाति है। बोंडा पोराज का अर्थ ही है 'नग्न पोराज'। इन लोगों के बारे में कहा जाता है कि इनकी महिलाएं एक टुकड़ा लपेटे रहती हैं, जो पेटीकोट का काम करता है। वह वैसा ही होता है, जैसा कि असम के मोमजाक नागा लोग पहनते हैं। उसके सिरे बाईं जंघा के ऊपर बड़ी मुश्किल से बंध पाते हैं। ये पेटीकोट जंगली पेड़ की छाल के रेशे से घर पर ही बुने जाते हैं। लड़कियां अपने बालों में ताड़ के पंख और मनके लगाकर चोटियां गूंधती हैं। वे अपने गले में ढेर सारे मनके की मालाएं और अन्य आभूषण ठीक उसी प्रकार धारण करती है, जिस प्रकार कि अनेक मोमजाक महिलाएं धारण करती हैं। इसके अलावा महिलाए कुछ भी नहीं पहनतीं। महिलाएं अपने सिर को पूरी तरह मुंडवाती है।... निजाम के राज्य में फरहाबाद के पास रहने वाली चेंचु नामक एक जाति

के बारे में कहा जाता है कि उनके घर शंकु के आकार के छोटे-छोटे होते हैं। शंकु के शीर्ष से ढाल देकर चारों ओर नीचे तक बांस की लंबी पट्टियां लगी होती हैं और इन्हें घासफूस से ढक दिया जाता है, जो छप्पर का काम करता है।.... माल-मते के रूप में उनके पास कुछ नहीं होता। वे नाममात्र के कपड़े पहनते हैं। पुरुष लंगोटी और कच्छा पहनते हैं और महिलाएं एक छोटी-सी अंगिया और पेटीकोट पहनती हैं। यही उनके वस्त्र होते हैं। इसके अलावा खाना पकाने के कुछ बर्तन और एक-दो टोकरियां होती हैं। कभी-कभी उनमें अनाज रखा होता है। वे पशु और बकरियां पालते हैं। केवल इसी गांव में थोड़ी-बहुत खेती होती है। अन्यत्र वे अपने निर्वाह के लिए शहद और जंगलों में पैदा होने वाली सामग्री पर निर्भर रहते हैं, जिन्हें वे बेचा करते हैं। मोरिया नामक एक अन्य आदिम जाति के बारे में कहा जाता है कि पुरुष सामान्यतः कमर के नीचे घुटने के ऊपर तक धोतीनुमा अंगोछा बांधे रहते हैं, जिसका पल्ला सामने लटका रहता है। वे मनकों की माला भी पहनते हैं और नृत्य करते समय वे अपने साफों में मुर्गे और मोर के पख खोंस लेते हैं। अनेक लड़कियां अपने शरीर को, विशेषतः अपने चेहरे को गुदवा लेती हैं। कुछ तो अपनी टांगों पर भी गुदने गुदवा लेती हैं। ये गुदने निजी रुचि के अनुसार विभिन्न आकृतियों के होते हैं। गोदने का यह काम सुई और कांटे से किया जाता है। उनमें से अनेक अपने बालों में जंगली मुर्गों के पंख लगा लेती हैं। वे अपने सिर लकड़ी के कघों, टीन और पीतल से भी सजा लेती हैं।

इन आदिम जातियों को खाने के मामले में कोई परहेज नहीं होता। ये कीड़े-मकोड़े तक खाती हैं। वास्तव में किसी तरह का शायद ही कोई मांस हो, जो ये नहीं खातीं। ये मरे हुए जानवर का भी मांस खा लेती हैं, चाहे वह अपनी मौत से मरा हो या चाहे वह चीते के द्वारा चार-पांच दिन पहले मारा हुआ क्यों न हो।

सभी प्रकार के भूत-प्रेतों और अपने मरे बाप-दादाओं की पूजा करना ही उनका धर्म है। जादू-टोना, झाड़-फूंक, पशुओं और मानवों की बलि चढ़ाना इनके धार्मिक विधान हैं।

ये आदिम जातियां शिक्षा का पूर्ण अभाव होने, विज्ञान की कुछ भी भनक न होने, प्रकृति के कार्यकलाप की कुछ भी जानकारी न होने, अज्ञान और अंधविश्वास से ग्रस्त होने के कारण सभ्यता की सीमा रेखा से बाहर और उसकी स्थापित व्यवस्था के अनुसार सदियों से जंगली जीवन बिताती आ रही हैं।

कभी पिंडारियों और ठगों को भी जरायम-पेशा जाति कहा जाता था, जिनके बड़े-बड़े दल होते थे।

पिंडारी लोग हथियारबंद डकैत होते थे, इनका काम लूटपाट करना था। उनका संगठन लुटेरों का खुला सैन्य संगठन था। उनके पास 20,000 या उससे भी अधिक बढ़िया घोड़े होते थे। उनका एक मुखिया होता था। इनमें चित्तू एक सर्वाधिक शक्तिशाली मुखिया था। अकेले उसी के पास 10,000 घोड़े थे, जिसमें 5,000 बढ़िया घुड़सवार थे। इसके अलावा उसके पास पैदल और तोपें भी थीं। इस विशाल सैन्य-बल को काम देने के लिए पिंडारियों के पास कोई फौजी योजना तो थी नहीं। अतः इनका विकास पेशेवर लुटेरों के गिरोहों में होता गया। इनका ध्येय किसी को जीतना नहीं था। इनका ध्येय तो लूटपाट कर अपने लिए माल और नकदी प्राप्त करना था। लूटमार और लूटपाट ही उनका धंधा था। वे किसी को अपना शासक नहीं मानते थे। वे किसी के अधीन नहीं थे। किसी के प्रति वे वफादार नहीं थे। वे किसी का भी आदर नहीं करते थे। उच्च हो या नीच, गरीब हो या अमीर, वे सभी को बिना किसी डर और दया के लूटते थे।

ठग[1] पेशेवर हत्यारों की सुसंगठित जाति थी। वे भारत-भर में अलग-अलग वेष में 10 से लेकर 200 तक की टोलियों में घूमते थे। वे धनी वर्ग के राहगीरों का विश्वास प्राप्त कर लेते थे। जैसे ही उन्हें कोई अनुकूल अवसर मिलता था, वैसे ही वे इन राहगीरों के गले में कपड़े या रस्सी का फंदा डालकर उनका गला घोंटकर उन्हें मार डालते थे और उनका सारा माल छीनकर उनके शव को जमीन में गाड़ देते थे। वे यह सब काम कतिपय प्राचीन तथा कड़ाई के साथ निश्चित रीति के अनुसार और विशेष धार्मिक अनुष्ठान के बाद करते थे, जिसमें कुल्हाड़ी की पूजा और गुड़ के द्वारा हवन किया जाता था। वे काली के कट्टर भक्त होते थे, जो हिंदुओं में बलि की देवी मानी जाती है। किसी भी लाभ कें लिए हत्या करना उनकी दृष्टि में पुण्य कार्य था। उसे वे पवित्र और सम्मानजनक पेशा समझते थे। वास्तव में उन्हें बुरे-भले का कोई ज्ञान नहीं था और उनके मन में नैतिकता जागृत ही नहीं होती थी। वे इसी देवी के आदेश से और इसी देवी के निमित्त अपना सारा कारोबार करते थे। इस देवी की इच्छा उन्हें अनेक गूढ संकेतों से ज्ञात हो जाती थी। इन संकेतों के अनुपालनार्थ वे अपने शिकार के साथ-साथ या उसके पीछे-पीछे सैकड़ों मील की यात्रा करते थे और जब भी मौका मिलता था, तब वे अपना काम पूरा करते थे। काम के हो जाने पर वे अपनी अधिष्ठाती देवी के सम्मान में अनुष्ठान करते थे और लूट का अधिकांश भाग उसके लिए अलग से रख देते थे। ठगों की अपनी एक गुप्त भाषा और कुछ चिन्ह होते थे। इन्हीं के द्वारा वे भारत के दूरदराज के क्षेत्रों में भी एक-दूसरे को पहचान लेते थे। जो ठग बुढ़ापे के कारण ठगी के कार्यों में सक्रिय रूप से हिस्सा नहीं ले सकते थे, वे भी इस धंधे में मदद करते थे।

1. *एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका,* 11वां संस्करण, खंड 26, पृ. 896

वे पहरेदारी या जासूसी करते थे या रसोइए का काम करते थे। उनका एक भरा-पूरा संगठन होता था। वे इसी के कारण गुप्त रूप से और सुरक्षापूर्वक काम करते थे। ये मुख्यतः धार्मिक वेश में रहते थे, जिसके कारण ये हत्याएं करने पर भी अपने को बचा लेते थे। इसी कारण वे सदियों लूटपाट का अपना यह धंधा चलाते रहे। विशेष बात यह थी कि भारत के शासक, चाहे वे हिंदू थे या मुसलमान, 'ठगी' को नियमित धंधा मानते थे। ठग राज्य को हमेशा कर देते थे और राज्य की ओर से उनके साथ कोई छेड़छाड़ नहीं होती थी।

जब अंग्रेज देश के शासक बने, तभी ठगों के दमन का प्रयास किया गया। 1835 तक 382 ठगों को फांसी दी गई और 986 को जीवन-भर काले पानी भेज दिया गया या आजन्म कैद की सजा दी गई। तो भी 1879 तक 344 ठग पंजीकृत थे और 1904 तक भारत सरकार का ठगी तथा डकैती से संबंधित विभाग काम करता रहा। 1904 में उसका स्थान केंद्रीय खुफिया विभाग ने ले लिया।

हालांकि इन पेशेवर अपराधियों को, जो बेरोक-टोक अपना पेशा चलाते थे, अब कुचल दिया गया है और वे अब लूटमार और शांति-व्यवस्था को भंग नहीं कर सकते, तो भी भारत में अब भी ऐसी जातियां हैं जो जरायम-पेशा हैं। इनकी सूची सरकार ने जरायम-पेशा जातियों के रूप में बनाई हुई है।

जरायम-पेशा जातियों के लोग मैदानी इलाकों में सभ्य जातियों के लोगों के बीच में भले ही नहीं रहते हैं, लेकिन वे उनके आसपास तो रहते ही हैं। वे संगठित रूप से डकैती और लूटपाट कर अपनी रोजी-रोटी चलाते हैं। इस कारण उन्हें भारत सरकार ने जरायम-पेशा जातियों के रूप में निषिद्ध घोषित कर रखा है। होलियस ने अपनी पुस्तक *'क्रिमिनल ट्राइब्स आफ दि यूनाइटेड प्रोविंसेज'* में उनके कार्यकलापों का ब्यौरा दिया है। जुर्म करना ही उनकी रोजी है। उनमें से कुछ दिखावे के लिए भले ही खेती करते हों, पर वह तो असलियत को ढकने का सिर्फ एक बहाना है। उनका धंधा मुख्यतः डकैती और लूटपाट करना है। चूंकि उनकी जाति का पेशा ही जरायम है, इसलिए वे इसे बुरा नहीं समझते। जब वे किसी खास इलाके में डाका डालने की योजना बनाते हैं तो वे सही शिकार की खोज करने, गांव वालों के व्यवहार को देखने-समझने, गांव वालों को मिलने वाली मदद का स्रोत व उसका परिमाण, बंदूकों आदि की संख्या का अनुमान लगाने के लिए जासूस भेजते हैं। ये डाके प्रायः मध्यरात्रि में डाले जाते हैं। जासूसों की सूचना के आधार पर गांव के विभिन्न स्थानों पर वे अपने आदमी तैनात कर देते हैं। ये लोगों का ध्यान बांटने के लिए गोली चलाते हैं और तब मुख्य टोली पहले से नियत घर अथवा घरों पर हमला कर देती है। टोली प्रायः 30 या 40 लोगों की होती है।

इन जातियों के आम जीवन में जुर्म जो महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है, यहां उस पर बल देना अति आवश्यक है। बच्चा जैसे ही चलने और बोलने लायक हो जाता है, उसे जुर्म करने की शिक्षा दी जानी शुरू हो जाती है। निस्संदेह यह उद्देश्य बहुत ही उपयोगी सिद्ध होता है, क्योंकि छोटी-मोटी चोरी के लिए बच्चों को इस्तेमाल करने में कोई बड़ा जोखिम नहीं होता। यदि कोई बच्चा पकड़ा भी जाएगा तो वह दो-चार तमाचे खाकर छूट जाता है और अगर वह बड़ा हुआ तो उसके फौरन गिरफ्तार होने की शंका रहती है। औरतें भी काफी अहम भूमिका अदा करती हैं। भले ही वे इन कामों में हिस्सा न लें, पर उन पर अनेक भारी जिम्मेदारियां होती हैं। वे चुराए गए अधिकांश माल को तो ठिकाने लगाती ही हैं, साथ ही वे दुकानों से चीजें उड़ाने में भी माहिर होती हैं।

जरायम-पेशा जातियों की तरह ही अस्पृश्य वर्ग भी सभ्य हिंदू समाज के बीच रहते हैं, पर अस्पृश्यों की संस्कृति और उनके आचार-विचार उन्हें आदिम जातियों तथा जरायम-पेशा जातियों से एकदम अलग करते हैं। अस्पृश्यों ने हिंदू जाति की संस्कृति को अपनाया है। वे हिंदू जाति के धार्मिक रीति-रिवाजों का पालन करते हैं। वे हिंदुओं की धार्मिक तथा सामाजिक परंपराओं का आदर करते हैं। वे हिंदुओं के तीज-त्योहार मनाते हैं। लेकिन उन्हें इसका कोई लाभ नहीं मिलता। उल्टे उनसे दुराव और अलगाव किया जाता है। क्योंकि हिंदू मानते हैं कि अस्पृश्यों के स्पर्श से वे भ्रष्ट हो जाते हैं, अतः उन प्रयोजनों को छोड़कर जो अस्पृश्यों के बिना पूरे नहीं हो सकते, उनके साथ हर प्रकार का सामाजिक व्यवहार निषिद्ध होता है। वे गांव के बीच नहीं रहते। वे गांव के बाहर रहते हैं। हर गांव का अपना एक इलाका होता है, जो अस्पृश्य होता है, वह गांव से जुड़ा तो होता है, पर गांव का हिस्सा नहीं होता। शेष हिंदुओं से अलग-थलग उन्हें एक ऐसी आचरण-संहिता से जकड़ दिया जाता है, जो दासों के लिए ही उपयुक्त होती है। इस संहिता के अनुसार अस्पृश्य ऐसा कुछ नहीं कर सकता, जो उसे जीवन के नियत स्तर से ऊपर उठा सके। उसे अपने दर्जे से ऊंचे स्तर के कपड़े नहीं पहनने चाहिएं और न ही किसी अस्पृश्य महिला को अपने से ऊंचे वर्ग की हिंदू महिलाओं के जेवरों जैसे जेवर पहनने चाहिएं। गांव के शेष हिंदुओं के घरों के मुकाबले उसका घर बेहतर या बड़ा नही होना चाहिए। बहरहाल, उसके घर पर खपरैल की छत तो होनी ही नहीं चाहिए। निश्चय ही अस्पृश्य को हिंदू के सामने बैठना नही चाहिए और उसका उसे हमेशा पहले अभिवादन करना चाहिए। निश्चय ही अस्पृश्य को न तो साफ वस्त्र पहनने चाहिएं और न ही पीतल या तांबे के बर्तनों का इस्तेमाल करना चाहिए। उसे चांदी या सोने के जेवर भी नहीं पहनने चाहिए। जब हिंदू के परिवार में कोई मौत हो जाए तो अस्पृश्य को उस परिवार के रिश्तेदारों को मौत की खबर देने के लिए जाना चाहिए, भले ही वे

कितनी दूर क्यों न रहते हों, क्योंकि यह खबर डाक से भेजने पर गांव में हिंदू अपने रिश्तेदारों में अपने को गिरा हुआ अनुभव करने लगता है। यदि हिंदू-घरों की स्त्रियां अपने मायके जाएं या वहां से वापस आएं तो अस्पृश्य को उनके साथ जाना ही पड़ेगा। उनकी प्रतिष्ठा का तकाजा है कि उनके नौकर-चाकर होने चाहिएं। और केवल अस्पृश्य ही वह एकमात्र उपलब्ध वर्ग है, जिससे यह काम कुछ खर्च किए बिंना कराया जा सकता है। हिंदू के घर के हर समारोह में अस्पृश्यों को आकर दासोचित कर्म करना ही चाहिए। अस्पृश्य को न तो जमीन खरीद कर उस पर खेती करनी चाहिए और न ही उसे स्वतंत्र जीवन बिताना चाहिए। अपना पेट भरने के लिए उसे हिंदू-घरों की झूठन पर निर्वाह करना चाहिए और गांव में मरने वाले पशुओं का मांस खाना चाहिए। इस झूठन को इकट्ठा करने के लिए उसे घर-घर जाना चाहिए। भीख मांगने के लिए उसे शाम के वक्त जाना चाहिए। इसी तरह अस्पृश्य को मरे हुए जानवर को गांव से बाहर ले जाना ही पड़ेगा। निश्चय ही उसे यह काम अकेले ही करना चाहिए, क्योंकि कोई भी हिंदू इसमें उसका साथ नहीं देगा। अस्पृश्य को ऐसे धंधे नहीं करने चाहिएं, जो उसे सवर्ण हिंदुओं के ऊपर सत्ता और अधिकार दें। उसे विनम्र होना चाहिए और उससे अधिक की मांग नहीं करनी चाहिए, जो उसे नियत किया गया है। यह सच है कि कुछ अस्पृश्य उस निम्न स्तर से ऊंचे उठ गए हैं जो उन्हें परपंरा के अनुसार नियत रहा है और उन्होंने ऊंचे पद प्राप्त कर लिए हैं, तो भी इनमें से अधिकांश सामाजिकता की दृष्टि से अत्यंत निम्न स्थिति में हैं और आर्थिक दृष्टि से अत्यंत निर्धन हैं।

यह सात करोड़ 95 लाख लोगों की दशा है। मृत नहीं तो इन जीवनमृत जीवों की समस्या कोई छोटी-मोटी समस्या नहीं है। इन तीनों वर्गों की कुल संख्या अमरीका की आबादी से 60 प्रतिशत से भी अधिक है और ब्रिटिश साम्राज्य में श्वेतों की आबादी से 95 लाख अधिक है। इटली की आबादी से वह तीन करोड़ 70 लाख अधिक है। जर्मनी की आबादी से वह एक करोड़ 35 लाख अधिक है और फ्रांस की आबादी से तीन करोड़ 75 लाख। बेल्जियम की आबादी का वह दस गुना और डेनमार्क की आबादी का बीस गुना है। अभागे दलित मानवों की यह संख्या कितनी अधिक है?

III

इस कहानी का दुखद या यों कहें कि चित्त को क्षुब्ध कर देने वाला पक्ष यह है कि इन अभागे मानवों की दशा क्या वैसी होनी चाहिए, जैसी कि वह है, जब कि वे उच्च सभ्यता के बीच रहते और पलते आए हैं। निश्चय ही हर निष्पक्ष प्रेक्षक की यह प्रतिक्रिया होती है कि ऐसी सभ्यता में जरूर कोई बड़ी

बुनियादी विकृति है, जिसके कारण यह इन सात करोड़ 95 लाख प्राणियों को मानवता के स्तर तक उठाने में असफल रही है।

सभ्यता एक वरदान है। वह मानव व प्रकृति, कला व कौशल के ज्ञान का संचित भंडार है। वह एक नैतिक संहिता है, जो अपने साथियों के प्रति मानव के आचरण को विनियमित करती है। वह एक सामाजिक संहिता है, जो प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा पालन किए जाने वाले नियमों-विनियमों की व्यवस्था करती है। वह एक नागरिक संहिता है, जो शासक तथा शासित के अधिकारों तथा कर्तव्यों का प्रावधान करती है। वह एक आध्यात्मिक दर्शन है, जो लौकिक को अलौकिक से जोड़ता है। सभी प्रजातियों को यह सौभाग्य नहीं मिला है कि वे उसका पूर्णतम विकास कर सकें। अनेक उसी अवस्था में हैं, जहां से उनका विकास होना शुरू हुआ था। अनेक प्रजातियां एक-दो कदम चल कर रुक गईं। अन्य केवल घेरे के भीतर चक्कर काट रही हैं। आस्ट्रेलिया और उसके आसपास छोटे-बड़े द्वीपों की आदिम जातियों के बारे में जब कुछ वर्षों पूर्व पहले-पहल पता चला तो पता चला था कि उन्हें थोड़ा-बहुत बोलना और आग जलाना आ गया था। वे मध्य-युग की जंगली अवस्था से आगे नहीं बढ़ सकी थीं। हडसन खाड़ी क्षेत्र की आदिम जाति एल्लियापास्कस तथा कोलम्बिया घाटी के मूल निवासी तीर व कमान की अवस्था से आगे नहीं बढ़ सके। बर्तन बनाने, पशु पालने और लोहे को गलाने के बारे में वे कुछ नहीं जांनते थे। मिस्र, बेबीलोनिया, असीरिया और यहां तक कि रोम तथा यूनान की सभ्यता भी केवल गतानुगतिका की सभ्यता है। इन देशों में तत्कालीन मानव ने उन्हीं साधनों के प्रयोग में प्रगति और सफलता प्राप्त की, जो उसे आदि मानव ने विरासत के रूप में दिए थे, जब वह जंगली अवस्था में था और इनकी सभ्यता के इतिहास में इन्हीं का ब्यौरा मिलता है। उन्होंने अपने पूर्वजों से प्राप्त सभ्यता में कुछ भी ऐसी प्रगति नहीं की, जिसे क्रांतिकारी कहा जा सके। उन्होंने केवल इतनी प्रगति की कि उनके पूर्वज जिस बात को फूहड़पने से करते थे, उसे वे बेहतर ढंग से करने लगे। यह प्रगति एक के बाद दूसरी अवस्था में तेजी से नहीं हुई। इसमें कोई शक नहीं कि जब पर्याप्त प्रगति करके मानव 'बर्बर' कहलाया, उससे पूर्व वह अनेक युगों तक जंगली रहा। इसमें भी कोई संदेह नहीं कि जब मानव सभ्यता की निम्नतम अवस्था के अंतिम शिखर पर पहुंचा, उससे पूर्व बर्बरता के अन्य अनेक युग गुजरे। इन क्रमिक युगों की ठीक-ठीक कालावधि के बारे में तो केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है, लेकिन यह अनुमान निरापद हो सकता है कि यह अवधि एक लाख वर्ष की रही होगी।

निश्चय ही सभ्यता कोई ऐसी वस्तु नहीं, जो आसानी से मिल सकती है। सभ्यता तो एक अत्यंत महत्वपूर्ण वस्तु है, न केवल एक पीढ़ी के लिए, बल्कि अगली पीढ़ी के लिए भी। विरासत में मिलने पर एक पीढ़ी की सभ्यता अगली

पीढ़ी के लिए साधन बन जाती है। सामाजिक विरासत हर पीढ़ी के लिए अति आवश्यक है। यदि यह सामाजिक विरासत नष्ट हो जाए तो सारी-की-सारी प्रगति ठप्प हो जाएगी। किसी ने ठीक ही कहा, 'यदि धरती से श्री वेल्स का कोई पुच्छलतारा टकरा जाए और यदि उसके फलस्वरूप इस समय का हर जीवित प्राणी वह सब ज्ञान और आदतें गंवा बैठे जो उसने पिछली पीढ़ियों से प्राप्त की थीं, तो (भले ही खोज, स्मृति और अभ्यास की उसकी सभी शक्तियां ज्यों-की -त्यों बनी रहें) पृथ्वी की 9/10 जनसंख्या एक मास के भीतर और शेष 1/10 जनसंख्या की 99 प्रतिशत जनसंख्या छह मास के भीतर मर जाएगी। विचारों की अभिव्यक्ति के लिए उनके पास कोई भाषा नहीं होगी, केवल अस्पष्ट ध्वनियां रह जाएंगी। वे न नोटिस पढ़ सकेंगे और न ही मोटरकार और घोड़े दौड़ा सकेंगे। जब उन्हें प्यास लगेगी तो सैंकड़ों की संख्या में वे कुछ स्वभावतः तगड़े व्यक्तियों की अस्पष्ट चीखों के पीछे-पीछे भागकर नदी के घाट पर पहुंच जाएंगे और डूब मरेंगे। मनुष्य समय रहते अपने जीवन को सुरक्षित रखने के बारे में कुछ नहीं कर सकेंगे, वे अन्न उठाने, पशुओं को पालने, आग जलाने और अपने लिए कपड़े बनाने के उपाय नहीं सोच सकेंगे। जीवन को पुनः शुरू से प्रारंभ करना होगा। जो पीढ़ी अपनी सामाजिक विरासत को गंवा देगी, उसे आदिम जाति की भांति अपना जीवन पुनः जंगली फलों तथा कीड़ों पर निर्भर करना होगा। यह सिलसिला तब तक चलता रहेगा, जब तक कि वह नई सामाजिक विरासत संचित न कर ले। कुछेक हजार पीढ़ियों के बाद शायद वे कोई ऐसी चीज प्राप्त कर सकें, जिसे भाषा कहा जा सके, जिसे पशु-पालन और काश्तकारी की कोई कला कहा जा सके। हो सकता है कि वे धर्म या हमारे कुछ सरल यांत्रिक आविष्कारों या राजनीतिक युक्तियों जैसी कोई चीज पैदा कर लें या न भी कर लें। हो सकता है कि उनके पास कानून, आजादी, न्याय जैसे कोई सामान्य विचार हों या न हों। यह अंतर सामाजिक विरासत पैदा करती है और यह कोई मामूली अंतर नहीं।'

यह सच है कि सभी का ऐसा सौभाग्य कहां कि वे सभ्य हो जाएं और जो ऐसे सौभाग्यशाली होते हैं भी, उन्हें भी सभ्यता धीरे-धीरे प्राप्त होती है और बीच-बीच में लंबे और उबाऊ विराम आते हैं। लेकिन यह भी सच है कि जो सभ्य हैं, उनकी सभ्यता मदद करने के स्थान पर रुकावट बन सकती है। हो सकता है कि वह गलत रास्ते पर चली जाए, हो सकता है कि वह नकली बुनियादों और नकली मूल्यों पर खड़ी हो। ऐसी सभ्यता समाज को जड़ और व्यक्ति को ठूंठ बना सकती है। ऐसी सभ्यता की बेड़ियां डालने और ऐसी सभ्यता के बोझ तले पिसने से तो बेहतर होगा कि ऐसी सभ्यता के बिना ही रहा जाए।

हर देशभक्त हिंदू डींग हांकता है कि हिंदू अथवा वैदिक सभ्यता दुनिया की

सबसे पुरानी सभ्यता है। हिंदू बार-बार बड़े जोरशोर और द्वेषपूर्ण घमंड से कहता है कि जब संसार की अन्य जातियां आदिम जातियों की भांति जीवन जी रही थीं और नंगी घूम रही थीं तो भारत सभ्यता की एक बड़ी ऊंची चोटी पर पहुंच चुका था। हिंदू यह भी कहता है कि उसकी सभ्यता में जन्मजात शक्ति है और इसी कारण वह आज तक जिंदा बची रही है, जब कि मिस्र, बेबीलोन, यहूदी, रोम और यूनान की सभ्यताएं मिट चुकी हैं। ऐसा नजरिया, भले ही कितना भी जायज हो, खास मुद्दे की अनदेखी करता है। खास मुद्दा यह नहीं है कि सभ्यता प्राचीन है और वह जिंदा रह सकी है।[1] खास मुद्दा यह है कि सभ्यता के क्या-क्या गुण हैं? क्या उसकी कोई उपयोगिता है? यदि वह बची रह सकी है तो किस स्तर पर जिंदा है? या यूं कहें कि असली सवाल यह है कि क्या हिंदू सभ्यता यानी उसकी सामाजिक परंपरा बोझ है या उससे कोई लाभ है और यह सभ्यता अपनी प्रगति और अपने विस्तार से समाज के विभिन्न वर्गों और व्यक्तियों को क्या कुछ देती है?

मानव और प्रकृति विषयक ज्ञान में हिंदू सभ्यता की क्या देन रही है? अनेक देशभक्त हिंदुओं का यह विश्वास है कि मानव और प्रकृति के विषय में ज्ञान का आरंभ हिंदुओं से हुआ। यदि मान भी लिया जाए कि ऐसा ही है तो निश्चय ही यह अति अल्प विकसित अवस्था से आगे नहीं बढ़ सका। क्या कोई हिंदू, ठीक हो या गलत, यह कहेगा कि हिंदू भाषा-विज्ञान वहीं पर है, जहां पाणिनि और कात्यायन ने उसे छोड़ा था? या वह, गलत हो या सही, इस बात का खंडन कर सकता है कि दर्शन-शास्त्र वहीं पर है, जहां कपिल और गौतम ने उसे छोड़ा था? क्या वह कहेगा कि साहित्य वहीं पर है, जहां व्यास और बाल्मीकि ने उसे छोड़ा था? कहा जाता है कि अध्यात्म-विधा में तो हिंदू-चिंतन चरम उत्कर्ष प्राप्त कर चुका है। लेकिन देखिए हिंदू अध्यात्म के बारे में प्रो. हरदयाल क्या कहते हैं[2] :

> अध्यात्म-विधा भारत का कलंक रही है। उसने उसके इतिहास को चौपट किया है, उसे विनाश के गढ़े में धकेल दिया है। उसने उसके महापुरुषों को दयनीय स्थिति में डाल कोरा वितंडतावादी बना दिया है और उन्हें निरर्थक जिज्ञासा और चेष्टा के गलियारों में भटका दिया है। अनेक सदियों तक वह भारतीय विद्वानों के लिए मृगमरीचिका रही है। उसने कुतर्क को, कला और कपोल कल्पनाओं को ज्ञान के ऊंचे सिंहासन पर बैठा दिया है। उसने भारतीयों को इतना निकम्मा बना दिया है कि जिससे वे सैंकड़ों साल तक

---

1. देखिए, मेरी कृति *'एनीहिलेशन आफ कास्ट'*
2. *माडर्न रिव्यू,* जुलाई 1912

कोल्हू के बैल की भांति उसी पुराने ढर्रे पर चलते रहें। उसने उसके ऋषियों की दृष्टि को क्षीण कर दिया है, जिसके कारण ये झूठे बिम्बों को असलियत मान बैठे।... वह अहंकार, आडंबर, वाक्‌जाल और क्षीण दृष्टि है। वह अपने स्फुट विचारों को भगवद् संदेश कहती है और अपने विलक्षण शब्दों के द्वारा सिद्धांतों का महान व अभेद्य भवन खड़ा करती है। ... उपनिषद उसकी यह व्याख्या करने का दावा करते हैं, जिसे जान लेने से सब-कुछ जान लिया जाता है। 'परब्रह्म' संबंधी यह मध्ययुगीन जिज्ञासा ही भारत की समूची उच्च अध्यात्म विद्या का आधार है। कल्पना की बेतुकी उड़ानों, विचित्र भ्रांतियों और अंटशंट अटकलबाजियों से ग्रंथ-के-ग्रंथ भरे पड़े हैं। और हम हैं कि अभी तक नहीं समझ पाए हैं कि वे व्यर्थ हैं। 'समाधि' अथवा मूर्च्छा को आध्यात्मिक प्रगति का चरम बिंदु माना जाता है। यह कितने आश्चर्य की बात है कि मूर्च्छा की क्षमता को बुद्धिमत्ता का लक्षण माना जाए। यदि भावना प्रधान हो और विवेक गौण हो तो चेतना खो बैठना कौन बड़ी बात है। यही कारण है कि मामूली-से-मामूली उद्विग्नता से भी महिलाएं बेहोश हो जाती हैं। लेकिन भारत में 'समाधि' योग का आठवां अंग या सीढ़ी है और उसे केवल 'परमहंस' ही प्राप्त कर सकता है। हे इजरील, क्या यही तुम्हारे देवता हैं, नकली रीति से उत्पन्न की गई असामान्य मनोदशा को ज्ञान प्राप्ति का संकेत मानना ऐसी गलती है, जो केवल भारतीय दार्शनिक ही कर सकते हैं।

विज्ञान, कला और कौशल के क्षेत्र में हिंदू सभ्यता का योगदान अति आदिम स्वरूप का है। बुनाई, कताई आदि के कुछ क्षेत्रों को छोड़कर शेष में हिंदू सभ्यता ने ऐसी कोई तकनीक ईजाद नहीं की है, जो प्रकृति के विरुद्ध मानव के संघर्ष में उसकी मदद कर सके और वह ऐसा जीवन-स्तर प्राप्त कर सके, जिसे बर्बर युग के स्तर से ऊंचा कहा जा सके। इसका कारण है। वैज्ञानिक और तकनीकी साधन हैं ही नहीं। पल्ले न पड़ने वाली समूची आध्यात्मिक बकवास हम पर थोपी जा रही है। अतः सभी युगों में इस देश को अकाल रौंदते रहे हैं। अज्ञान, अंधविश्वास आदि मन के विकार और मलेरिया, प्लेग आदि तन के विकार युग-युग से इस देश के लिए मानो कफन रहे हैं।

धर्म और आचार-शास्त्र के क्षेत्र में हिंदुओं ने सर्वाधिक प्रयास किए हैं। उनका जो योगदान है, उसमें वे सबसे अधिक विकसित हैं। इसमें संदेह नहीं कि वे मनुष्य के लिए अति आवश्यक हैं। उसका सीधा-सा कारण यह है कि वे मनुष्य के मन में विचार और कर्म के बीज बोते हैं। वे ही जीवन के प्रति मनुष्य के दृष्टिकोण को तराशते हैं। वे ही अपने साथी के प्रति मनुष्य के दृष्टिकोण को संवारते हैं। वे उसके आचरण एवं चरित्र को ढालने वाले सिद्धांत तय करते हैं। वे ही मनुष्य के मन में विवेक जैसे रहस्यमय बीज का आरोपण करते हैं। विवेक

ही उसका पहरेदार है और उसे गलत रास्ते पर नहीं जाने देता।

जब हम इस हिंदू सभ्यता को उसके अपने धार्मिक दृष्टिकोण और उसके अपने जीवन-दर्शन की कसौटी पर कसते हैं तो हमें शंका होने लगती है कि क्या इस हिंदू सभ्यता का कोई लाभ उन पीढ़ियों को है, जिन्हें वह विरासत में मिलेगी ही? आदिम जातियों के जो ढाई करोड़ लोग इसकी परिधि में हैं, उन्हें यह सभ्यता क्या देती है? इस सभ्यता की परिधि के बीच जरायम-पेशा जातियों के जो 50 लाख लोग रह रहे हैं, उन्हें यह सभ्यता क्या देती है? इस सभ्यता के अंतर्गत जो पांच करोड़ अस्पृश्य न केवल रह रहे हैं, बल्कि जिन्हें इसे सहन करना पड़ रहा है, उन्हें वह क्या देती है? ऐसी सभ्यता के बारे में आदिम जातियां क्या कहेंगी, जिन्हें उसने अपने में शामिल करने का कोई प्रयास नहीं किया है? ऐसी सभ्यता के बारे में जरायम-पेशा जातियां क्या कहेंगी, जिन्हें खदेड़कर उसने विवश कर दिया है कि वे अपनी रोजी-रोटी कमाने के लिए जुर्म को अपना धंधा बना लें? यदि वे कहें कि यह सभ्यता नहीं, अपितु सभ्यता के नाम पर कलंक है, तो क्या यह अनुचित होगा?

जहां तक अस्पृश्यों का संबंध है, उनका तो सदैव दुर्भाग्य रहा है। हिंदू सभ्यता के अधीन पहले भी वे घोर अपमान और घोर अभाव की चक्की में पिसते रहे हैं, और भविष्य में भी उनके लिए आशा की कोई किरण नहीं है कि अस्पृश्यता की इस व्यवस्था में कितना घोर अपमान और कितना घोर अभाव मौजूद है। 1928 में दलित वर्गों तथा आदिम जातियों की शिकायतों की जांच करने के लिए बंबई सरकार ने जो कमेटी नियुक्त की थी, उसके विचार इस संबंध में अति संगत हैं। उसमें कहा गया है :

> यह कोई विचित्र बात नहीं कि अस्वच्छ व्यक्ति या वस्तु घृणा पैदा करती है, क्योंकि यह प्रदूषण का आधार है। लेकिन जिस रीति से यह भावना (अस्पृश्यों) पर लागू की जाती है, उसकी अतार्किकता खेदजनक है। वह किसी व्यक्ति पर केवल जन्म के आधार पर ही अस्पृश्य का ठप्पा लगा देती है। जो व्यक्ति अस्पृश्य के यहां पैदा हुआ है, वह अस्पृश्य ही रहता है, भले ही वह निजी सफाई के मामले में तथाकथित स्पृश्य से कितना भी स्वच्छ क्यों न हो। उसके सामने अपनी इस स्थिति से बच निकलने का कोई रास्ता नहीं होता। इस सबमें अचरज की बात तो यह है कि रूढ़िवादी हिंदू इस बात के बावजूद कि उसकी व मुसलमानों, पारसियों और ईसाइयों की धार्मिक-धारणाओं, जीवन-शैली तथा जीवन-दृष्टि में अंतर होते हैं, उन्हें स्पृश्य मानता है। इस कारण (अस्पृश्यों) की स्थिति और खराब हो गई। रूढ़िवादी हिंदुओं के इस अनुचित भेदभाव के कारण कुछ मामलों में, खासकर गांवों में रूढ़िवादी हिंदुओं

के प्रभाव में आकर मुसलमान, पारसी और ईसाई भी (अस्पृश्यों) के प्रति अस्पृश्यता का व्यवहार करते हैं, जब कि उनके धर्म तो इसके विपरीत शिक्षा देते हैं। हमें सबसे अधिक चिंता इस बात की है कि अस्पृश्यता में अलगाव और हीन भावना जैसी बुराइयां तो हैं ही, पर साथ ही उससे कुछ खास बुराइयां भी जुड़ी हुई हैं। तर्क की दृष्टि से देखा जाए तो रूढ़िवादी हिंदू समाज में अस्पृश्यता के कारण (अस्पृश्य) सरकारी स्कूल में दाखिला नहीं पा सकेगा, भले ही स्कूल का खर्च सरकार उठाती हो। उसके कारण वह सरकारी सेवाओं में नियुक्त नहीं हो सकेगा, भले ही वह उनके लिए योग्यता रखता हो। वह केवल उन्हीं सेवाओं को कर सकेगा, जो रूढ़ि के अनुसार उसके लिए नियत की गई हैं। उसके कारण वह उन सार्वजनिक स्थानों से भी पानी नहीं ले सकेगा, जिनका रखरखाव सरकारी खर्च से होता है। इस दृष्टि से देखा जाए तो अस्पृश्यता केवल सामाजिक समस्या नहीं है, यह एक सबसे महत्वपूर्ण राजनीतिक समस्या है और इसका सरोकार राज्य के नागरिक के अधिकारों के बुनियादी सवाल से है।

यहां तो सिर्फ अस्पृश्यों की कठिनाइयां गिनाई गई हैं। लेकिन ये अस्पृश्य ही तो अपमान की जिंदगी नहीं बसर करते हैं। कुछ अन्य वर्ग भी हैं, और उनकी स्थिति और भी खराब है। अस्पृश्य उन्हें कहा जाता है, जो केवल शारीरिक स्पर्श से भ्रष्ट करते हैं। लेकिन ऐसे लोग भी हैं, जो तब भ्रष्ट करते हैं, जब वे निश्चित दूरी पर न रहकर पास आ जाते हैं। इन्हें सामीप्यवर्जित कहा जाता है। उनसे भी खराब स्थिति में वे लोग हैं, जिनको देखने मात्र से भ्रष्ट होने का पाप लग जाता है। ये दृष्टिवर्जित कहलाते हैं। नयाडी[1] लोग सामीप्यवर्जित लोगों की श्रेणी में आते हैं। उनके बारे में कहा जाता है कि 'वे कुक्कुरभक्षी होते हैं और हिंदुओं में सबसे अधम जाति के हैं। भीख मांगने में वे सबसे ज्यादा हठी लोग हैं। वे किसी भी व्यक्ति का, चाहे वह पैदल चले, सवारी करे, नौका-यात्रा करे, मीलों तक पीछा करेंगे और उससे दूर-दूर रहकर उसके पीछे-पीछे चलते जाएंगे। यदि उन्हें कोई चीज दी जाती है तो उसे भूमि पर ही रखना होगा और जब उसे देने वाला व्यक्ति पर्याप्त दूरी पर पहुंच जाएगा, तभी प्राप्त करने वाला व्यक्ति सहमता हुआ आगे बढ़ता है और उसे उठाता है।' इन्हीं लोगों के बारे में श्री थर्स्टन कहते हैं: 'मैंने इन लोगों (नयाडियों) को शोरानूर में देखा। ये लोग तीन मील दूर रहते थे। लेकिन ये लोग प्रदूषण के कारण जो ये सदियों से ओढ़े चले आ रहे थे, नदी पर बने विशाल पुल से न चलकर, मीलों के चक्करदार रास्ते से आते-जाते थे।'

---

1. *मलाबार मैनुअल*

मद्रास प्रेसिडेंसी के तिन्नेवल्ली जिले में दृष्टिवर्जित लोगों का ऐसा वर्ग है, जिसे पुराडा वन्ना कहते हैं। उनके बारे में कहा जाता है कि 'दिन में उन्हें बाहर आने की अनुमति नहीं, क्योंकि उन पर दृष्टि पड़ने से ही आदमी भ्रष्ट हो जाता है। ये अभागे लोग निशाचरों जैसा जीवन जीने के लिए विवश हैं। वे अंधेरे में अपनी मांद से बाहर निकलते हैं और पौ फटने के पूर्व ही लकड़बग्घे, बिज्जू की भांति अपने-अपने घरों की ओर लौट पड़ते हैं।'

सामीप्यवर्जितों तथा दृष्टिवर्जितों की क्या कठिनाइयां होंगी? वे अपना जीवन कैसे काटते होंगे? यदि उनका दर्शन या उनका सामीप्य भी सहन नहीं किया जाता तो वे क्या रोजगार कभी पा सकते हैं? भीख मांगने और कुत्ते का मांस खाने के अलावा वे कर भी क्या सकते हैं? निश्चय ही कोई भी सभ्यता इससे अधिक क्रूर नहीं हो सकती। वास्तव में यह महान दया है कि सामीप्यवर्जितों तथा दृष्टिवर्जितों की संख्या बहुत कम है। पर क्या ये पांच करोड़ अस्पृश्य किसी भी सभ्यता के अधिकारी नहीं हैं?

अस्पृश्य लोग अपनी दुर्दशा से बच नहीं सकते, क्योंकि वे स्पृश्य की भांति घूमफिर नहीं सकते। निश्चय ही जिस गांव में वे रहते हैं, वहां के लोग उन्हें जानते-पहचानते हैं और जब तक वे वहां रहते हैं, वे जाली रूप धारण नहीं कर सकते हैं। यदि वे गांव छोड़कर शहर में आ जाते हैं तो हो सकता है कि वे स्पृश्य की भांति वहां घूमफिर सकें। लेकिन वे जानते हैं कि यदि उनके बारे में पता चल गया तो उनकी कैसी दुर्गति होगी।

समाचारपत्रों में छपी निम्न घटना से कुछ अनुमान लग जाएगा कि जाली रूप धारण करने में कितना जोखिम होता है :

रूढ़िवादिता का पागलपन[1]

'अस्पृश्यों' के प्रति कथित बर्बर व्यवहार: महार होने का अपराध

अहमदाबाद से श्री केशवजी रनछोड़जी वघेल ने बहिष्कृत हितकारिणी सभा के अध्यक्ष, डा. भीमराव अम्बेडकर को सूचना दी है :

बापूराव लक्ष्मण और उनके भाई कौराओ पिछले छह सालों से अहमदाबाद में रह रहे हैं। वे मराठा जाति के दक्कन से आए कुछ लोगों के साथ उठते-बैठते थे। दामू और लक्ष्मण नामक कौराओं के दो बेटे मराठों की भजन मंडलियों में हिस्सा लिया करते थे। लेकिन हाल में मराठों को पता चला कि दामू और लक्ष्मण नामक दोनों भाई महार जाति के हैं और इस बारे में निश्चय करने के लिए सूरत और अहमदाबाद के बीच चलने वाली पार्सल

1. *बोंबे क्रानिकिल,* 25 फरवरी 1938

ट्रेन में काम करने वाले दो महारों को दामू और लक्ष्मण को पहचानने के लिए खासतौर पर बुलाया गया। यह निश्चय कर लेने के बाद भी कि दामू और लक्ष्मण महार हैं, उन्हें इसी मास की 11 तारीख की आधी रात को कालूपुर, भंडारी पोल, में भजन मंडली के लिए बुलाया गया। जब पूछा गया कि वे किस जाति के हैं, दामू और लक्ष्मण ने उत्तर दिया कि वे सोमवंशी हैं। इस उत्तर से मराठे क्रुद्ध हो गए। मराठों ने उन्हें जी-भर कर गालियां दीं और कहा कि उन्होंने उनके व्यक्तियों और स्थानों को भ्रष्ट किया है। मराठों ने महार बंधुओं की ठुकाई व पिटाई की। एक भाई के पास सोने की अंगूठी थी। वह उससे जबरन छीन ली गई और उसे 11 रुपये में बेच दिया गया। इस रकम में से छह रुपये उस महार को अदा कर दिए गए, जिसे इन बंधुओं की पहचान के लिए सूरत से बुलाया गया था। दामू और लक्ष्मण ने मराठों से चिरौरी और विनती की कि उन्हें उनके घर लौटने दिया जाए। लेकिन मराठों ने कहा कि वे तभी जा सकते हैं, जब वे 500 रुपये का जुर्माना अदा कर दें। जब महार बंधुओं ने कहा कि वे इतनी बड़ी रकम तो नहीं दे सकते, तो एक मराठे ने सुझाव दिया कि महार बंधुओं पर केवल 125 रुपये का जुर्माना किया जाए। लेकिन एक मराठे ने जुर्माने के सुझाव का विरोध करते हुए कहा कि उन्हें केवल जुर्माने से संतुष्ट नहीं होना चाहिए, बल्कि अपनी जाति छिपाने के अपराध के लिए महार बंधुओं को कठोर दंड देना चाहिए। ऐसा निर्णय कर लेने के बाद महार बंधुओं को रोक लिया गया और सबेरे 9 बजे के लगभग उनका बर्बरतापूर्ण तिरस्कार किया गया। बाईं ओर की उनकी मूछें और दाईं ओर की उनकी भौंहें उस्तरे से साफ कर दी गईं। उनके शरीरों पर तेल और मिट्टी में सनी कालिख पोत दी गई। उनके गलों में पुराने जूतों की मालाएं डाल दी गईं। उनमें से एक के हाथ में झाड़ू पकड़ा दी गई। दूसरे के हाथ में तख्ती पकड़ा दी गई। उस पर लिखा था कि अपराधियों को दंड इसलिए दिया गया कि उन्होंने उच्च जाति के लोगों को स्पर्श करने का दुस्साहस किया। महार बंधुओं का जुलूस निकाला गया। कोई 75 लोग उसमें साथ थे। आगे-आगे ढोल पीटा जा रहा था।

उक्त दोनों महार बंधुओं ने पुलिस से शिकायत की है। अभियुक्त ने अपने बयान में स्वीकार किया है कि दामू और लक्ष्मण के साथ कथित रीति से बर्ताव किया गया, लेकिन कहा कि शिकायत करने वालों ने स्वेच्छा से दंड भुगतना स्वीकार किया है। जाहिर है कि दामू और लक्ष्मण उस समय असहाय थे, जब उन्हें गालियां दी गईं, मारा व पीटा गया, कठोर दंड की धमकी दी गई और वस्तुतः बर्बरतापूर्वक उनका तिरस्कार किया गया। इस मामले ने तथाकथित अस्पृश्य जातियों के लोगों में भारी सनसनी पैदा कर दी है। शिकायत करने वालों को

समुचित कानूनी मदद देने के प्रयास किए जा रहे हैं। लेकिन अस्पृश्यता के बारे में इस हिंदू सभ्यता के नियम इतने सूक्ष्म हैं कि वे इस बात की कोई गुंजाइश नहीं छोड़ते कि अस्पृश्य लोग स्पृश्य होने का दिखावा कर सकें। अतः कतिपय इलाकों में ऐसे नियम हैं, जिनके अनुसार अस्पृश्यों से अपेक्षा की जाती है कि वे काला धागा पहनें, ताकि उन्हें सरलता से पहचाना जा सके और बोलकर घोषणा करें कि वे अस्पृश्य हैं, ताकि स्पृश्य अनजाने में उन्हें स्पर्श करके भ्रष्ट न होने पाएं। बंबई प्रेसिडेंसी में द्वारिका नगर में महान हिंदू देवता कृष्ण का विख्यात मंदिर है। वहां का नियम है कि सड़कों पर चलते समय हर अस्पृश्य को अपने हाथों से ताली बजानी होगी और कहना होगा, 'बचो, बचो', ताकि इस बात की घोषणा हो सके कि वह अस्पृश्य है और स्पृश्य सावधान हो जाएं। मद्रास प्रेसिडेंसी के चेरुमानों के बारे में निम्न विवरण उपलब्ध है :

इन दयनीय प्राणियों की सामाजिक स्थिति बहुत घटिया है। जब कोई चेरुमान उच्च जाति के किसी व्यक्ति से मिले तो उसे 30 फुट की दूरी पर ही खड़ा रहना होगा। यदि वह इस निषिद्ध दूरी के भीतर आ जाता है तो उसके सामीप्य से भ्रष्टता होगी और वह जल से स्नान करने पर ही दूर होगी। चेरुमान, ब्राह्मणों के किसी गांव, मंदिर या पोखरे पर नहीं जा सकता। यदि वह जाता है तो शुद्धि जरूरी हो जाती है। आम सड़क पर चलते समय भी यदि वह अपने स्वामी को देख लेता है तो उसे आम रास्ता छोड़ना होगा और भले ही कीचड़ हो, उस पर चलना होगा, ताकि वह अकस्मात अपवित्र करने के लिए स्वामी के कोप से बच सके। राहगीर अपवित्र न हो जाए, इसके लिए वह इस अप्रिय ध्वनि को दोहराता है — 'ओ, ओह, ओ'। कुछ स्थानों में, जैसे पालघाट में, हम देख सकते हैं कि चेरुमान सड़क के किनारे गंदा कपड़ा फैलाकर तीखी आवाज में चिल्लाता है, 'मुझे कुछ पैसे दो और उन्हें कपड़े पर फेंक दो।' कोचीन और ट्रावनकोर के देशी राज्यों में उनकी स्थिति असहनीय है। वहां ब्राह्मण का प्रभाव प्रबल है और पालघाट तालुक में तो आज भी चेरुमान बाजार में कदम नहीं रख सकता। मलाबार में कहा जाता है,[1] 'उच्च जाति का व्यक्ति चलते-चलते कभी-कभी जोर से चिल्लाता है, ताकि निम्न जाति का व्यक्ति सड़क से हट जाए और उसे अपवित्र न कर पाए। जब निम्नतम जातियों के लोग चलते हैं तो वे चिल्लाते हैं, ताकि अपवित्रता की छाप वाली अपनी उपस्थिति का भान करा सकें और उच्च जाति के व्यक्ति के आदेश को सुनकर सड़क से हट जाएं। आम तौर पर देखा जा सकता है कि छोटी जाति के लोग सड़क के समानांतर चलते हैं और उस पर चलने का साहस नहीं करते।'

1. थर्स्टन, *ट्राइब्स एंड कास्ट्स आफ सदर्न इंडिया,* खंड 5, पृ. 196

इन अभागी आत्माओं की यह कैसी अधोगति एवं दुर्गति है कि उन्हें इस हिंदू सभ्यता ने सामाजिक कुष्ठी बना दिया है। उन्हें अस्पृश्य कहा जाता है। क्या यह स्वयं में कम दुर्भाग्यपूर्ण है? लेकिन यह अपेक्षा करना कि अस्पृश्य स्वयं अपने ही मुख से अपनी लज्जा का ढोल पीटे कि वह अस्पृश्य है, ऐसी क्रूरता है, जो मेरी राय में तो बेमिसाल है। इस हिंदू सभ्यता के बारे में अस्पृश्य क्या कहेगा। क्या यह गलत होगा, यदि वह कहे कि यह सभ्यता नहीं, यह तो घोर असभ्यता है?

इस बारे में तो किसी भी प्रकार का संदेह नहीं किया जा सकता है कि आदिम जातियों, जरायम-पेशा जातियों और अस्पृश्य वर्गों की जो दशा है, वह हिंदू सभ्यता के मूल सिद्धांतों का ही कुफल है।

इन आदिम जातियों को हिंदुओं की परिधि में लाने के लिए कोई आंदोलन क्यों नहीं चलाए गए हैं?

कतिपय जनजातियों ने जुर्म को अपना पेशा क्यों बना लिया है? अस्पृश्यों जैसे कतिपय वर्गों को मानव-संसर्ग के अयोग्य क्यों ठहराया गया है?

इन प्रश्नों में से हरेक का उत्तर हिंदू सभ्यता के किसी-न-किसी मूल सिद्धांत से जुड़ा है।

प्रथम प्रश्न का उत्तर है कि वर्ण-व्यवस्था हिंदू धर्म को सेवाव्रती (मिशनरी) धर्म बनने से रोकती है और वर्ण (जाति) हिंदू सभ्यता का मूल अंग है। दूसरे प्रश्न का उत्तर है कि चातुर्वर्ण्य उन अवसरों पर अंकुश लगाता है, जो व्यक्ति सम्मानजनक जीवन जीने के लिए प्राप्त कर सकता है। समूचे ज्ञान और ज्ञानार्जन पर ब्राह्मणों का एवं सभी सामरिक सेवाओं पर क्षत्रियों का एकाधिकार है। व्यापार केवल वैश्य ही कर सकते हैं। शूद्रों के भाग्य में है, केवल दास-कर्म। जो इस वर्ण-व्यवस्था से बाहर हैं, उनके लिए कुछ भी सम्मानजनक कर्म शेष नहीं रहा है। अतः उन्हें विवश होकर अपना पेट भरने के लिए जुर्म का धंधा और अपमानजनक तरीके अपनाने पड़े हैं। यह है चातुर्वर्ण्य का दुष्परिणाम और चातुर्वर्ण्य हिंदू सभ्यता का मूलाधार है।

तीसरे प्रश्न का उत्तर है कि अस्पृश्यता 'स्मृतियों' में वर्णित हिंदू कानून का अंग है और 'स्मृतियां' हिंदू सभ्यता की मूलाधार हैं।

IV

यह सच है कि जहां तक अतीत का संबंध है, भारत के सात करोड़ 95 लाख लोगों की इन तीनों श्रेणियों के लिए अधोगति की दशा एक-सी रही है।

लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि उनकी भावी नियति भी उनके लिए एक समान होगी। उसका कारण है। भले ही उनकी दशा प्रत्यक्षतः समान दीख पड़े, पर उनकी स्थिति अनिवार्यतः भिन्न है।

ध्यान देने योग्य पहली बात तो यह है कि आदिम जातियां और जरायम-पेशा जातियां अस्पृश्यता की इस प्रणाली से पीड़ित नहीं हैं। हिंदू को वे अपवित्र नहीं करते। वास्तविकता तो यह है कि ये आदिम और जरायम-पेशा जातियां अस्पृश्यों के प्रति अस्पृश्यता का व्यवहार करती हैं। कैसी हास्यास्पद स्थिति है। हम देखते हैं कि ये आदिम तथा जरायम-पेशा जातियों के लोग सोचते हैं कि वे अपवित्र हो जाएंगे, यदि कोई अस्पृश्य उन्हें छू लेगा। वे अस्पृश्यों से कहीं ज्यादा गरीब, गंदे, अंधविश्वासी और अनपढ़ हैं। फिर भी वे इस बात पर गर्व करते हैं कि वे सामाजिक दृष्टि से अस्पृश्यों से ऊंचे हैं। निश्चय ही यह छूत के उस रोग का प्रभाव है, जो उन्हें हिंदुओं के संसर्ग से लगा है। लेकिन ध्यान देने योग्य बात यह है कि हिंदू उन्हें अस्पृश्य नहीं मानता। अस्पृश्यों के मुकाबिले उन्हें यह एक लाभ प्राप्त है और यह लाभ उनके भविष्य के लिए आश्वासन है। यदि आदिम जातियों के पास उन्नति के अवसर नहीं हैं तो उसका कारण यह है कि वे अलग-थलग रहना पसंद करते हैं। लेकिन यदि एक बार वे वनों की अपनी गुफाओं से बाहर निकल आएं और सभ्यता में भागीदार हो जाएं तो कोई भी बाधा उन्हें रोक नहीं सकेगी। इसी प्रकार जरायम-पेशा जातियां भी अपने भविष्य के प्रति आश्वस्त हैं। सरकार ने उनके लिए बस्तियां स्थापित कर दी हैं। वहां इन जरायम-पेशा जातियों को रखा जाता है और उन्हें व्यवसाय के लाभदायक हुनर सिखाए जाते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि जल्दी ही वे अपनी गंदी आदतों के दुष्चक्र से छुटकारा पा जाएंगे।

अस्पृश्यो का मामला बिल्कुल अलग तरह का है। उनकी असुविधाएं उन पर थोपी गई हैं। उनका अकेलापन दरअसल अलगाव है। वह उन पर जबरदस्ती थोपा गया है। अस्पृश्यों की समस्या आदिम जातियों की समस्या से अलग है, क्योंकि उनकी अवस्था में अलगाव की बुराइयां अस्पृश्यता के विष के कारण बढ़कर दुगनी-चौगुनी हो जाती हैं। नतीजा यह होता है कि जहां आदिम जातियों की दशा में समस्या का कारण भौगोलिक अलगाव है और वे बेहतरी के अवसरों का लाभ नहीं उठाना चाहते, वहां अस्पृश्यों की दशा में समस्या का कारण है कि उन्हें वास्तव में अवसरों से वंचित किया जा रहा है।

अस्पृश्यों के उद्धार की कोई अधिक आशा नहीं दीख पड़ती। बहरहाल, आदिम जातियों के उद्धार के मुकाबिले उनका उद्धार अधिक कंटकपूर्ण और दुष्कर है। गुलामों की समस्या है कि उन्हें राजनीतिक या आर्थिक अधिकार नहीं दिए जाते।

यदि अस्पृश्यों की समस्या उन्हें राजनीतिक और आर्थिक अधिकारों से वंचित किए जाने की है तो उसे कानूनी तथा संवैधानिक उपायों से हल किया जा सकता है। उन्हें राजनीतिक तथा आर्थिक अधिकारों से वंचित किया गया है, उसका कारण हिंदुओं की सामाजिक मनोवृत्ति है। अस्पृश्यों की समस्या का सीधा संबंध हिंदुओं के सामाजिक व्यवहार से है। अस्पृश्यता तभी मिटेगी, जब हिंदू अपनी मनोवृत्ति बदलेंगे। समस्या यह है कि वह कौन-सा तरीका है, जिससे हिंदू अपनी जीवन-शैली को भुला दें। यह कोई छोटी-मोटी समस्या नहीं है कि कोई समूचा राष्ट्र अपनी बंधी-बंधाई जीवन-शैली को त्याग दे। जीवन-शैली के अलावा जिस शैली के आदी हिंदू हैं, वह ऐसी है जिसे उनका धर्म प्रमाणित करता है। जो भी हो, वे तो ऐसा ही सोचते हैं। उनकी जीवन-शैली को बदलना उनके धर्म को बदलने जैसा ही है।

यह कैसे हो सकता है? केवल तभी, जब यह अनुभव किया जाए कि अस्पृश्यों का त्रास ही हिंदुओं का अपराध है। हिंदुओं की धार्मिक मनोवृत्ति में इस क्रांति के लिए अस्पृश्यों को कितना इंतजार करना पड़ेगा? इसका उत्तर तो वही दें, जो भविष्यवाणी करने की योग्यता रखते हैं। इस बीच यह वांछनीय होगा कि उनकी दशा और उनके एवं उनके मित्रों के सामने आने वाली समस्याओं का वर्णन किया जाए।

जिन लोगों की जन-आंदोलनों में रुचि है, उन्हें... केवल धार्मिक दृष्टिकोण अपनाना छोड़ देना चाहिए। उन्हें भारत के लोगों के प्रति सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टिकोण भी अपनाना होगा।

-भीमराव अम्बेडकर

2

वह समाज जिसे हिंदुओं ने बनाया

I

हिंदू समाज-संगठन में क्या कोई विलक्षणता है? साधारण हिंदू जिसे शोधकर्ताओं के शोध की जानकारी नहीं है, वह तो यही कहेगा कि उसके समाज–संगठन में तो कुछ भी ऐसा नहीं है, जिसे विलक्षण, असाधारण या अस्वाभाविक कहा जा सके। यह स्वाभाविक भी है। जो लोग अकेलेपन में अपना जीवन बिताते हैं, उन्हें अपने तौर-तरीकों की विलक्षणता के बारे में जानकारी ही नहीं होती है। लोग पीढ़ी-दर-पीढ़ी चले जा रहे हैं। लेकिन जो हिंदू नहीं हैं, बाहर वाले हैं, उन्हें हिंदू समाज-संगठन कैसा लगता है? क्या उन्हें वह सहज एवं स्वाभाविक लगा?

कोई 305 ई. पू. के लगभग ग्रीक राजा सेल्यूकस निकातोर का राजदूत मेगस्थनीज भारत में चंद्रगुप्त मौर्य के राज-दरबार में आया था। उसे हिंदू समाज-संगठन अत्यंत विलक्षण लगा। अन्यथा वह इतने गहन ध्यान से हिंदू समाज-संगठन की निराली बातों का उल्लेख न करता। उसने लिखा है :

> भारत के लोग सात वर्गों में बंटे हुए हैं। क्रम की दृष्टि से पुरोहित का वर्ग सर्वप्रथम है, पर संख्या की दृष्टि से उनका सबसे छोटा वर्ग है। लोग उनकी सेवाओं का लाभ यज्ञ अथवा अन्य धार्मिक अनुष्ठान के अवसर पर उठाते हैं। सार्वजनिक रूप से उन्हें राजा बृहद् धर्म सभा में आमंत्रित करते हैं। वर्ष के प्रारंभ में सभी पुरोहित महल के द्वार पर एकत्र होते हैं। इस अवसर पर एक-एक कर पुरोहित सार्वजनिक रूप से घोषणा करते हैं- मैंने अमुक ग्रंथ लिखा है या मैंने फसल और पशु-संवर्धन के लिए अमुक आविष्कार किया है या मैंने लोक-कल्याण के लिए विधि खोज निकाली है। यदि किसी के बारे में तीन बार यह पता चलता है कि उसने कोई गलत सूचना दी

है तो कानून में उसे दंड दिए जाने का विधान है कि वह शेष जीवन-भर मौन रहे। लेकिन जो भौतिक सलाह देता है, उसे कर आदि देने से मुक्त कर दिया जाता है।

दूसरा वर्ग कृषिकर्मियों का है। वे बहुसंख्यक हैं। ये अति विनम्र होते हैं। वे सेना में भर्ती होने से मुक्त होते हैं। वे निडर भाव से खेती-बाड़ी करते हैं। वे न तो नगर में वहां के कार्यकलापों में भाग लेने के लिए और न ही किसी अन्य प्रयोजन से वहां कभी जाते हैं। अतः बहुधा ऐसा होता है कि देश के एक ही भाग में एक ही अवधि में लोग युद्ध-क्षेत्र में अपनी जान की परवाह न करते हुए लड़ रहे होते हैं, तो उसके अति निकट ही दूसरे लोग इन सैनिकों के संरक्षण में निडर होकर हल चला रहे होते हैं। संपूर्ण भूमि राजा की संपत्ति होती है। किसान उसे इस शर्त पर जोतता है कि उसे उपज का एक चौथाई भाग प्राप्त होगा।

तीसरा वर्ग पशुपालकों और शिकारियों का है। शिकार करने, पशुपालन करने और भार ढोने वाले पशुओं को बेचने या मंगनी पर देने की अनुमति केवल उन्हीं की होती है। फसल को नष्ट करने वाले पशु-पक्षियों से खेती की रक्षा करने के बदले में राजा उन्हें अनाज देता है। वे घुमक्कड़ होते हैं और तंबुओं में रहते हैं।

पशुपालकों और शिकारियों के बाद चौथा वर्ग उन लोगों का है, जो व्यापार करते हैं, बर्तन आदि बेचते हैं और शारीरिक श्रम करते हैं। इनमें से कुछ कर अदा करते हैं और कुछ राज्य द्वारा निर्दिष्ट सेवाएं करते हैं। लेकिन शस्त्रास्त्र और जहाजों का निर्माण करने वाले लोग वेतन और रसद राजा से प्राप्त करते हैं, जिसके अधीन वे काम करते हैं। सेनापति सैनिकों को शस्त्रास्त्रों को सप्लाई करते हैं। पोताध्यक्ष यात्री तथा माल ढोने के लिए जहाजों को किराए पर देते हैं।

पांचवा वर्ग युद्ध करने वालों का है। जब वे युद्ध-क्षेत्र में नहीं होते, तब वे कोई काम नहीं करते और आमोद-प्रमोद में अपना जीवन बिताते हैं। उनका खर्च राजा उठाता है। अतः जब भी अवसर आता है, तब वे तुरंत युद्ध के लिए कूच करते हैं, क्योंकि अपने शरीर के अतिरिक्त उनके पास कोई भी माल-मता नहीं होता।

छठा वर्ग निरीक्षकों का है। उनका काम खोज-खबर करना और राजा को गुप्त रूप से सारे समाचार देते रहना है। कुछ को नगर और कुछ को सेना के संबंध में सूचना लाने का काम सौंपा जाता है। नगर-निरीक्षक और सेना-निरीक्षक अपने कार्यों में क्रमशः नगर-निवासियों और सेना के सैनिकों

का आमोद-प्रमोद करने वाली वेश्याओं से सहायता लेते हैं। इन पदों पर सबसे ज्यादा योग्य तथा सबसे ज्यादा विश्वस्त व्यक्तियों को नियुक्त किया जाता है।

सातवां वर्ग राजा के सलाहकारों तथा कर-निर्धारकों का है। उन्हें सरकारी प्रशासन, अदालतों तथा सामान्य लोक-प्रशासन के ऊंचे-से-ऊंचे पद दिए जाते हैं। किसी को भी अपनी जाति से बाहर विवाह करने की अनुमति नहीं दी जाती है। कोई भी अपना काम नहीं बदल सकता है। कोई भी एक से अधिक व्यवसाय नहीं कर सकता। केवल पुरोहित पर ऐसा कोई बंधन नहीं होता। उसे यह विशेष अधिकार उसके सद्‌गुण के कारण दिया जाता है।

अलबरूनी ने भी 1030 ई. के लगभग अपनी भारत-यात्रा का विवरण लिखा है। उसने भी हिंदू समाज-संगठन में विलक्षणता देखी। उसने भी इसका वर्णन किया है। वह लिखता है :

हिंदू अपनी जातियों को वर्ण अर्थात रंग कहते हैं। वे जातक की जाति उसके जन्म की जाति के आधार पर करते हैं। ये जातियां आरंभ से ही केवल चार हैं।

I. सबसे ऊंची जाति ब्राह्मणों की है। उनके बारे में हिंदू-ग्रंथ कहते हैं कि उनका जन्म ब्रह्मा के सिर से हुआ है। ब्राह्मण उस शक्ति का पर्याय है, जिसे प्रकृति कहते हैं। सिर चूंकि शरीर का सबसे ऊंचा हिस्सा है, अतः ब्राह्मण समस्त जातियों में सर्वोत्तम है। अतः हिंदू उन्हें श्रेष्ठ मानव-जाति मानते हैं।

II. दूसरी जाति क्षत्रियों की है। कहा जाता है कि उनकी उत्पत्ति ब्रह्मा की भुजाओं और कंधों से हुई। उनकी श्रेणी ब्राह्मण की श्रेणी से अधिक निम्न नहीं है।

III. उनके बाद वैश्य आते हैं। उनकी उत्पत्ति ब्रह्मा की जांघ से हुई है।

IV. शूद्र, जिनकी उत्पत्ति ब्रह्मा के पैरों से हुई। वैश्यों और शूद्रों के बीच कोई बहुत बड़ी दूरी नहीं है। फिर भी ये वर्ग एक-दूसरे से काफी भिन्न हैं, पर वे एक ही नगर और गांव में मिल-जुलकर रहते हैं।

शूद्र के बाद वे लोग हैं, जो अन्त्यज कहलाते हैं। वे तरह-तरह की सेवा करते है। उनकी गिनती किसी जाति में नहीं होती। वे अपने-अपने व्यवसाय के नाम से जाने जाते हैं। उनके आठ वर्ग हैं और, धोबी, मोची व जुलाहों को छोड़कर, वे बिना किसी संकोच के आपस में शादी-विवाह करते हैं। इसका कारण यह है कि कोई उनसे कोई संबध रखना नहीं पसंद करता। ये आठ

वर्ग है- धोबी, मोची, बाजीगर, टोकरी और ढाल बनाने वाले, मल्लाह, मछुआरे, जंगली पशु-पक्षियों का शिकार करने वाले और जुलाहे। ये लोग गांवों व कस्बों के बाहर रहते हैं, जब कि गांवों और कस्बों में उक्त चारों वर्णों के लोग रहते हैं।

हादी, डोम (डोम्ब), चांडाल और बधताऊ की गिनती किसी जाति या वर्ग में नहीं होती। उन्हें गंदा काम करना पड़ता है, जैसे गांवों में सफाई आदि। उन्हें अलग वर्ग के रूप में माना जाता है और प्रत्येक का नाम उसके काम के आधार पर होता है। वस्तुतः उन्हें नाजायज औलाद की भांति समझा जाता है, क्योंकि प्रायः लोग यही समझते हैं कि वे शूद्र पिता और ब्राह्मणी माता के अवैध संबंध से उत्पन्न लोग हैं। अतः उन्हें पतित और जाति-बहिष्कृत माना जाता है।

हिंदू चार वर्णों के हर व्यक्ति को उसके पेशे और जीवन-शैली के अनुसार खास नाम देते हैं, जैसे ब्राह्मण को सामान्यतः ब्राह्मण तभी कहा जाता है, जब तक वह अपने घर पर रह कर अपना काम करता है। जब वह कहीं यज्ञ कराता है तो उसे 'इष्टिन' कहते हैं। जब वह तीन यज्ञ कराने में रहता है तो उसे अग्निहोत्री कहते हैं। जब वह यज्ञ कराने के अतिरिक्त उसमें हवि भी देता है, तो वह दीक्षित कहलाता है। जो स्थिति ब्राह्मण की है, वही स्थिति अन्य जातियों की भी है। जातियों के नीचे जो वर्ग हैं, उनमें हादी सबसे अच्छे माने जाते हैं, क्योंकि वे सदा स्वच्छ रहते हैं। उसके बाद डोम का नंबर है। वे गाने-बजाने का काम करते हैं। उनसे भी निचले वर्ग वे हैं, जो वध करते हैं और न्यायिक दंडों को पूरा करते हैं। सबसे घटिया बधताऊ हैं। वे न केवल मृत पशुओं का, बल्कि कुत्तों तथा अन्य पशुओं का मांस भी खाते हैं।

भोज में हर जाति के लोग अलग-अलग अपनी जाति वालों के साथ बैठते हैं और एक वर्ग में दूसरी जाति वाला सम्मिलित नहीं हो सकता। अगर ब्राह्मण वर्ग में कोई ऐसे दो व्यक्ति हों जो आपस में वैमनस्य रखते हों और उन्हें अलग-अलग बैठना पड़े, तो वे अपने बीच खंपच्ची रखकर या अंगोछा बिछाकर या किसी अन्य तरीके से एक-दूसरे से पृथक अपना चौका बना लेते हैं। आसनों के बीच एक रेखा के भी खींच दिए जाने पर उन्हें अलग-अलग समझा जाता है। चूंकि जूठन खाने की मनाही है, अतः हर व्यक्ति को अपनी-अपनी थाली में अपना भोजन करना चाहिए, क्योंकि जो व्यक्ति बाद में भोजन के लिए बैठता है, उसे अपने से पहले वाले की थाली में बचे अन्न को खाने की मनाही होती है, क्योंकि उस बचे अन्न को जूठन समझा जाता है।

अलबरूनी को हिंदू समाज-संगठन में जो कुछ विशेषता मिली, उसने वही सब नहीं लिखा, बल्कि उसने यह भी लिखा :

हिंदुओं मे इस प्रकार जातियों की भरमार है। निश्चय ही हम मुसलमान लोग अन्य मामलों में इसके सर्वथा विपरीत आचरण करते हैं। धर्म के प्रति निष्ठा को छोड बाकी हर तरह से हम सभी को एक-दूसरे के बराबर मानते हैं। यही सबसे बड़ी अड़चन है, जो हिंदुओं और मुसलमानों को एक-दूसरे को समझने और एक-दूसरे के करीब आने में रुकावट पैदा होती है।

दुआर्ते बारबोसा 1500 से 1517 तक भारत में पुर्तगाली सरकार की सेवा में पुर्तगाली अधिकारी रहा। उसने हिंदू समाज के बारे में अपने विचार व्यक्त किए हैं। वह लिखता है :

ज़ब गुजरात राज्य पर मूरों का आधिपत्य हुआ, उससे पहले यहां मूर्तिपूजकों की एक प्रजाति रहती थी। उसे मूर रेस्बुतोस कहते थे। उन दिनों वे इस प्रदेश के सरदार थे। आवश्यकता पड़ने पर वे युद्ध करते थे। ये लोग भेड़ को मारकर उसका मांस खाते हैं। वे मछली आदि भी खाते हैं। पर्वतों में भी उनकी पर्याप्त संख्या है। वहां उनके बड़े-बड़े गांव हैं। वे गुजरात के राजा के शासन को नहीं मानते हैं, बल्कि हर रोज उसके विरुद्ध युद्ध करते हैं। राजा एड़ी-चोटी का जोर लगाने पर भी अभी तक उन पर हावी नहीं हो सका है और न हो सकेगा। वे बढ़िया घुड़सवार और बढ़िया तीरंदाज हैं। वे अच्छे गोताखोर हैं और उनके पास अपनी रक्षा के लिए तरह-तरह के और भी हथियार हैं। वे लगातार युद्ध करते रहते हैं, फिर भी उनका न कोई राजा है और न ही कोई स्वामी।

और इस राज्य में एक और भी प्रकार के मूर्तिपूज़क हैं, जिन्हें वे बनिए कहते हैं। ये बनिए बड़े-बड़े सौदागर और व्यापारी हैं। वे मूरों के बीच रहते हैं और उनके साथ सभी प्रकार का व्यापार करते हैं। ये लोग मांस-मछली को छूते तक नहीं। वे किसी जीव को नहीं खाते। वे हत्या नहीं करते और न ही किसी पशु की हत्या होते देखना चाहते हैं। इस प्रकार वे इतने कट्टर मूर्तिपूजक हैं कि कहते नहीं बनता। अक्सर ऐसा होता है कि मूर जिंदा कीड़े या छोटे परिन्दे उनके पास ले जाते हैं और उनके सामने उन्हें मारने का नाटक करते हैं। बनिए उन्हें खरीदते हैं और उनकी फिरौती के लिए रकम देते हैं। जितनी कीमत होती है, उससे कहीं अधिक वे दे देते हैं। वे उनका जीवन बचा लेते हैं और उन्हें मुक्त कर देते हैं। यदि प्रदेश का राजा या उसका कोई अधिकारी किसी व्यक्ति को उसके अपराध के लिए मृत्यु-दंड देता है तो वे एकजुट होकर उसे मृत्यु से बचाने के लिए न्यायालय से छुड़ा

लेते हैं, बशर्ते वह उसे छोड़ने के लिए तैयार हो। इसके अलावा मूर भिखारी जब इन लोगों से भिक्षा प्राप्त करना चाहते हैं तो वे अपने कंधों तथा पेट को बड़े-बड़े पत्थरों से कूटते हैं, मानो कि वे उनके सामने अपनी हत्या कर डालेंगे। वे ऐसा न करें और वहां से शांति के साथ चले जाएं, इसके लिए बनिए उन्हें ढेर सारी भीख देते हैं। बहुत से और भिखारी चाकुओं से अपनी बांहें और टांगें चीरते हैं। इन्हें भी वे हत्या से बचाने के लिए भारी मात्रा में भीख देते हैं। अन्य प्रकार के भिखारी उनके द्वार पर जाते हैं और उनके लिए चूहे और सांप मारने का नाटक करते हैं और उन्हें भी वैसा करने से रोकने के लिए वे बड़ी-बड़ी रकमें दे देते हैं। इस प्रकार मूर उनकी बड़ी इज्जत करते हैं।

जब सड़क पर इन बनियों के सामने चींटियों का कोई झुंड आ जाता है तो वे पीछे हट जाते हैं और प्रयास करते हैं कि उन पर पैर न पड़ने पाए। अपने घरों में वे दिन के उजाले में ही खाना खा लेते हैं। न दिन में और न रात में वे लैम्प जलाते हैं। इसका कारण यह है कि कुछ छोटी-छोटी मक्खियां उसकी लौ में जलकर भस्म हो जाएंगी। यदि रात को रोशनी की जरूरत आ ही पड़े तो उनके पास वार्निश किए गए कागज या कपड़े की लालटेन होती है, ताकि कोई जीवित प्राणी उसमें घुसकर लौ का ग्रास न बन जाए। यदि इन लोगों के सिर में जूं पैदा हो जाएं तो वे उन्हें मारते नहीं, लेकिन यदि वे उन्हें बहुत ज्यादा सताने लगें तो वे खास आदमियों को बुला लेते हैं। वे भी मूर्तिपूजक होते हैं। वे भी उन्हीं के बीच रहते हैं और उन्हें वे पुण्यात्मा लोग मानते हैं। वे बड़े जती, सती और तपस्वी जैसे होते हैं। अपने देवताओं के प्रति उनकी गहरी भक्ति होती है। ये लोग उनके सिरों से जुएं बीनते हैं। जितनी जुएं वे बीनते हैं, उन्हें वे अपने सिर में डालते जाते हैं और उन्हें वे अपने रक्त पर पनपने देते हैं। उनकी धारणा है कि इस प्रकार वे अपने 'आराध्य देव' की महती सेवा करते हैं। इस प्रकार वे सबके सब बड़े आत्म-संयम के साथ अपने अहिंसा के नियम का पालन करते हैं। दूसरी ओर वे पक्के सूदखोर होते हैं। वे मापतोल तथा अन्य अनेक प्रकार के माल व सिक्कों में भारी हेराफेरी करते हैं। वे परले-सिरे के झूठे होते हैं। गेहुएं वर्ण के ये मूर्तिपूजक लंबे और देखने में सुंदर और मृदु होते हैं। वे चटख रंग के वस्त्र पहनते हैं। उनका भोजन सात्विक एवं स्वादिष्ट होता है। उनका प्रिय भोजन है—दूध, मक्खन-शक्कर, भात और विविध प्रकार के अनेक मुरब्बे। उनके खाने में फल-साग और सब्जी की भरमार रहती है। जहां-जहां वे रहते हैं, वहां-वहां उनके फलों के उद्यान, बगीचे और तालाब होते हैं। इन तालाबों में स्त्री-पुरुष दिन में दो बार स्नान करते हैं। उनका

कहना है कि जब वे स्नान कर लेते हैं तो उस समय तक के उनके सारे पाप धुल जाते हैं। हमारी स्त्रियों की भांति ये बनिए लंबे-लंबे केश रखते हैं। वे उन्हें लपेट कर सिर पर गांठ की शक्ल दे देते हैं, और उसके ऊपर पगड़ी पहनते हैं। इस प्रकार उनके केश सदा जूड़े के रूप में रहते हैं। अपने केशों में वे फूल तथा सुगंधित इत्र आदि लगाते हैं।

सफेद चंदन के साथ केसर तथा अन्य सुगंधित द्रव्यों को मिलाकर वे उसका लेप अपने शरीर पर करते हैं। वे बड़े श्रृंगार प्रिय लोग होते हैं। वे सूती अथवा रेशमी लंबे कुर्ते और लंबी नोक वाले कामदार जूते पहनते हैं। उनमें से कुछ रेशम और जरी के छोटे कोट पहनते हैं। वे हथियार नहीं रखते। हथियार के नाम पर उनके पास केवल सोने और चांदी के काम वाले नन्हे चाकू होते हैं। इसके दो कारण होते हैं। एक तो यह कि उनका हथियारों से बहुत कम वास्ता पड़ता है। दूसरा यह कि उनकी रक्षा तो मूर करते हैं।

ब्राह्मण ! मूर्तिपूजकों की एक और जाति भी है, जिसे लोग ब्राह्मण कहते हैं। वे पुजारी होते हैं। मंदिरों पर इन्हीं का कब्जा होता है। पूजा-घर इन्हीं के नियंत्रण में होते हैं। वे मंदिर बड़े-बड़े होते हैं। इनसे भरपूर आमदनी होती है। उनमें से अनेक मंदिर दान-दक्षिणा पर चलते हैं। इन मंदिरों में लकड़ी, पत्थर और तांबे की अनेक मूर्तियां होती हैं। इन मंदिरों में वे अपने आराध्य देवों के सम्मान में बड़े-बड़े समारोह करते हैं और हमारी ही तरह उनकी पूजा-अर्चना में ढेर सारी मोमबत्तियां, दिए जलाते हैं और घंटे-घड़ियाल बजाते हैं। इन ब्राह्मणों और मूर्तिपूजकों का जो धर्म है, वह होली ट्रिनिटी (यानी पिता, पुत्र और पवित्रात्मा के त्रय की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति) से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। वे होली ट्रिनिटी (तीन देवों का) परम सम्मान करते हैं। वे सदैव तीन देवों में परम देव की पूजा करते हैं, जो उनकी दृष्टि में सच्चा ईश्वर है, समूची सृष्टि का सिरजनहार है। उनके अनुसार अन्य अनेक देवता हैं, जो होली ट्रिनिटी के अधीन हैं। जहां कहीं भी इन ब्राह्मणों तथा मूर्तिपूजकों को हमारे चर्च मिलते हैं, वहां वे जाते हैं और हमारी मूर्तियों की पूजा-अर्चना करते हैं। वे सदा ही सांता मारिया की चर्चा करते हैं। वैसे उन्हें इस बारे में कुछ पूरी जानकारी है। हमारी ही रीति से वे चर्च का सम्मान करते हैं और कहते हैं कि हमारे और आपके बीच तो नाममात्र का अंतर है। वे किसी भी मारी गई वस्तु को नहीं खाते, न ही वे किसी की हत्या करते हैं। स्नान का उनके लिए बड़ा महात्म्य है। उनका कहना है कि स्नान से तो वे तर जाते हैं।

कालीकट के इसी राज्य में ब्राह्मण नामक एक जाति भी है। उनमें हमारे पादरियों की भांति पुजारी होते हैं। उनकी चर्चा मैं अन्यत्र कर चुका हूं।

वे सब एक ही भाषा बोलते हैं और केवल ब्राह्मण का बेटा ही ब्राह्मण हो सकता है। जब वे सात वर्ष के होते हैं तो अपने कंधे पर बिना कमाई खाल की दो अंगुल चौड़ी पट्टी धारण करते हैं। यह पट्टी एक जंगली पशु की खाल की होती है, जिसको क्राइवामृगम कहते हैं और वह जंगली पशु गधे जैसा होता हैं। तब वह सात वर्ष तक पान नहीं खा सकता। इस पूरी अवधि के बीच वह इस पट्टी को पहने रहता है। जब वह 14 वर्ष का हो जाता है तो वे उसे ब्राह्मण की दीक्षा देते हैं। वे उसकी चमड़े की पट्टी उतार लेते हैं और उसे तीन सूत्रों वाला धागा (यज्ञोपवीत) पहना देते हैं। उसे वह आजन्म धारण करता है और वह उसके ब्राह्मण होने का प्रमाण-पत्र होता है। इस रस्म को वे बड़ी धूमधाम और उल्लास से करते हैं, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार हम उस पादरी के लिए करते हैं, जो पहले-पहल अपना मास (ईसाई पर्व विशेष) गाता है। उसके बाद वह पान खा सकता है, लेकिन मांस व मछली नहीं खा सकता। भारतीयों में उनका बड़ा आदर व सम्मान होता है, जैसा कि मैं बता चुका हूं कि वे, चाहे कोई भी अपराध करें, सर्वथा अबध्य होते हैं। उनका अपना प्रधान ही उन्हें छोटा-मोटा दंड दे देता है। हमारी भांति वे केवल एक बार शादी करते हैं, और केवल सबसे बड़ा पुत्र ही शादी कर सकता है, वह घर का प्रधान समझा जाता है, जैसे वह किसी छोटी-मोटी रियासत का मालिक हो। अन्य भाई आजन्म अविवाहित रहते हैं। ये ब्राह्मण अपनी पत्नियों को पूर्ण सुरक्षा प्रदान करते हैं। उन्हें पूर्ण सम्मान देते हैं। कोई अन्य व्यक्ति उनके साथ संभोग नहीं कर सकता। यदि उनमें से किसी की पत्नी मर जाती है तो वह पूनर्विवाह नहीं करता। लेकिन यदि कोई स्त्री अपने पति के साथ विश्वासघात करती है तो उसे विष देकर मार दिया जाता है। जो भाई अविवाहित होते हैं, वे नायर स्त्रियों के साथ संभोग करते हैं। वे इसे अति सम्मानजनक समझती है, और चूंकि वे ब्राह्मण होते हैं, अतः कोई भी स्त्री अस्वीकार नहीं करती। फिर भी वे उम्र में अपने से बड़ी स्त्री के साथ संभोग नहीं करते। वे अपने-अपने घरों और नगरों में रहते हैं, और मंदिरों में पुजारी का काम करते हैं। वहां वे दिन की निश्चित अवधि में प्रार्थना-पूजा और मूर्तियों का अभिषेक करते हैं।

इनमें से कुछ ब्राह्मण राजाओं की हर प्रकार से सेवा करते हैं, लेकिन वे युद्ध नहीं करते। राजा के लिए भोजन केवल ब्राह्मण या उसका सगा-संबंधी ही तैयार कर सकता है। वे दूत का भी काम करते हैं। वे अन्य देशों को पत्र, धन और माल लाने ले-जाने का काम करते हैं। वे जहां भी चाहें बेखटके और बेखौफ आ-जा सकते हैं। कोई भी उनको क्षति नहीं पहुंचाता है, तब भी नहीं जब राजा युद्ध के लिए चला जाता है। वे ब्राह्मण मूर्तिपूजा

में पारगत होते हैं और इस संबंध में उनके पास अनेक ग्रंथ होते हैं। राजा इन ब्राह्मणों का बड़ा सम्मान करते हैं।

मैं अनेक बार नायरों की चर्चा कर चुका हूं, पर फिर भी मैंने अभी तक नहीं बताया है कि उनके तौर-तरीके क्या हैं। मलाबार के इस प्रदेश में नायर लोगों की एक और जाति है। उनमें उदात्त लोग होते हैं। युद्ध में भाग लेना ही उनका एकमात्र धर्म व कर्म है। जहां कहीं वे जाते हैं, वे सदा ही हथियारों से लैस रहते हैं। कुछ के पास तलवार और ढाल होती हैं। कुछ के पास तीर-कमान होते हैं, और कुछ के पास भाले होते हैं। वे सभी राजा और अन्य बड़े-बड़े सामंतों के साथ रहते हैं, लेकिन सभी को वेतन राजा से या उन बड़े-बड़े सामंतों से मिलता है, जिनके साथ वे रहते हैं। केवल नायर वंश का व्यक्ति ही नायर हो सकता है। अपनी उदात्त मर्यादा में वे निष्कलंक होते हैं। वे निम्न जाति के किसी व्यक्ति को स्पर्श नहीं करते। वे खाएंगे भी तो नायर के साथ, और पिएंगे भी तो नायर के साथ।

वे लोग विवाह नहीं करते। उनके भानजे (बहन के पुत्र) उनके उत्तराधिकारी होते हैं। उच्च कुल की स्त्रिया बड़ी स्वच्छंद प्रकृति की होती हैं और अपनी स्वेच्छा से ब्राह्मण या नायर के साथ संभोग करती हैं। लेकिन मृत्यु के भय से वे अपने से किसी नीची जाति के व्यक्ति के साथ संभोग नहीं करतीं। जब लड़की बारह वर्ष की हो जाती है तो उसकी माता बड़ा उत्सव मनाती है। जब कोई माता देखती है कि उसकी पुत्री ने उक्त आयु प्राप्त कर ली है तो वह अपने सगे-संबंधियों तथा मित्रों से अपनी पुत्री के विवाह की तैयारी करने के लिए कहती है। वह अपने कुल या किसी विशिष्ट के यहां अपनी पुत्री से विवाह करने के लिए प्रस्ताव भेजती है। इस पर वह सहर्ष स्वीकृति देता है। वह एक छोटा-सा आभूषण बनवाता है, जिसमें आधी अशरफी-भर सोना होता है। वह माला की तरह होता है। इस आभूषण के बीचों-बीच एक छेद होता है। उसमें सफेद रेशम के धागे की डोरी पड़ी होती है। तब माता किसी नियत तिथि को अपनी पुत्री को अनेक मूल्यवान आभूषणों से खूब सुसज्जित करती है। उसके यहां खूब नाच-गाना होता है। लोग भारी संख्या में एकत्र होते हैं। तब उक्त कुल का कोई सगा-संबंधी या मित्र उस आभूषण के साथ आता है और कुछ रस्में पूरी करके उसे लड़की के गले में पहना देता है, जिसे वह प्रतीक के रूप में जीवन-भर पहनती है, और उसका विवाह हुआ समझा जाता है। यदि वह मां का सगा-संबंधी होता है, तब वह उस लड़की के साथ संभोग किए बिना वापस जाता है। यदि वह सगा-संबंधी नहीं होता, तब वह उस लड़की के साथ संभोग कर सकता है, लेकिन वह वैसा करने के लिए बाध्य नहीं होता। उसके बाद माता खोज

करती है और किसी युवक से अपनी पुत्री के कौमार्य को भंग करने का अनुरोध करती है। उसे नायर ही होना चाहिए। वे स्वयं किसी अन्य महिला के कौमार्य को भंग करना अपमानजनक और गंदा काम समझते हैं। जब कोई व्यक्ति एक बार उसके साथ संभोग कर लेता है तो फिर वह पुरुषों के साथ सहवास के योग्य हो जाती है। तब माता अन्य युवा नायरों से पूछताछ करती है कि क्या वे उसकी पुत्री का भरण-पोषण करना चाहते हैं? क्या वे उसे अपनी गृहणी के रूप में स्वीकार करना चाहते हैं, ताकि तीन-चार नायर उसके साथ जीवन-यापन के लिए तैयार हो जाएं और हर व्यक्ति से प्रतिदिन भरण-पोषण के लिए राशि मिलती रहे। जितने अधिक प्रेमी होते हैं, वह उतना ही अधिक उसके लिए सम्मानजनक होता है। प्रत्येक का समय नियत कर दिया जाता है। प्रत्येक उसके साथ एक दिन दोपहर से अगले दिन दोपहर तक समय बिताता है। इस प्रकार वे शांति से रहने लगते हैं। किसी प्रकार की अशांति या लड़ाई-झगड़ा नहीं होता। यदि उनमें से कोई उसे छोड़ना चाहता है तो वह उसे छोड़ देता है और दूसरी के साथ रहने लगता है। वह भी यदि किसी पुरुष से ऊब जाए तो वह उससे चले जाने के लिए कह देती है और वह चला जाता है या उससे समझौता कर लेता है। यदि उनसे कोई बच्चे पैदा हो जाएं तो वे माता के साथ रहते हैं और माता को उनका लालन-पालन करना पड़ता है, क्योंकि वे उन्हें किसी की भी संतान नहीं मानते। यदि उनमें उनकी शक्ल मिलती-जुलती है, तो भी वे उन्हें अपनी संतान नहीं मानते। न ही वे उनकी जायदाद के उत्तराधिकारी होते हैं। जैसा कि मैं बता चुका हूं, उनके उत्तराधिकारी उनके भानजे, यानी उनकी बहन के पुत्र होते हैं। (जो भी अपने मन के भीतर झांक कर देखेगा तो उसे पता चलेगा कि इस नियम की स्थापना के पीछे आम आदमी की समझ से कहीं बड़ा और गहरा अर्थ था)। उनका कहना है कि नायरों के राजाओं ने वह नियम इसलिए बनाया कि कहीं बच्चों के लालन-पालन के फेर में पड़कर वे उनकी सेवा से विमुख न हो जाएं।

मलाबार के इस राज्य में बियाबारे नामक एक और जाति भी है। वे भारतीय व्यापारी हैं और इस प्रदेश के मूल निवासी हैं। जब विदेशी लोग समुद्र के रास्ते भारत पहुंचे थे, उससे भी पूर्व वे वहां थे। चाहे बंदरगाह हों या देश का भीतरी भाग, वे दोनों स्थानों पर हर प्रकार के माल का व्यापार करते हैं। जहां उन्हें अधिक-से-अधिक मुनाफा मिलता है, वहां वे व्यापार करते हैं। वे काली मिर्च और अदरक थोक में नायरों और काश्तकारों से एकत्र कर लेते हैं। अक्सर वे नई फसलें तैयार होने से पूर्व ही खरीद लेते हैं और बदले में सूती कपड़े और अन्य चीजें दे देते हैं, जो वे बंदरगाहों पर

रखते हैं। बाद में वे खरीदे गए माल को पुनः बेच देते हैं और भारी मुनाफा कमाते हैं। उनके कुछ विशेषाधिकार होते हैं, जैसे कि वे जिस देश में रहते हैं, उसका राजा भी उन्हें कानून द्वारा प्राण-दंड नहीं दे सकता।

इस प्रदेश में कुइआवेम नामक लोगों की एक और जाति है। ये भारतीय व्यापारी हैं और यहां के मूल निवासी हैं। वे नायरों से भिन्न नहीं हैं, लेकिन वे अपनी एक त्रुटि के कारण उनसे अलग रहते हैं। उनका धंधा मिट्टी के बर्तन और राजमहलों तथा मंदिरों की छत के लिए ईंटें बनाना है, जिन पर खपरैल के स्थान पर इंटें बिछाई जाती हैं। मैं बता चुका हूं कि अन्य घरों की छतों पर टहनियां बिछाई जाती हैं। मूर्तिपूजा का उनका अपना अलग ढंग और अलग मूर्तियां होती हैं।

एक और मूर्तिपूजक जाति है, जिसे वे मेनाटोस कहते हैं। उनका धंधा है कि वे राजाओं, ब्राह्मणों तथा नायरों के कपड़े धोते हैं। उनकी गुजर-बसर का केवल एक यही धंधा है। अन्य कोई धंधा वे नहीं कर सकते।

एक और नीची जाति है, जिसे लोग केलेटिस कहते हैं। वे जुलाहे होते हैं। केवल यही उनकी रोजी-रोटी का साधन है। वे सूती तथा रेशमी कपड़े बुनते हैं। वे नीची जाति के लोग हैं। पैसा उनके पास नहीं होता। अतः वे नीची जातियों के लिए कपड़ा तैयार करते हैं। वे सबसे अलग-थलग हैं और उनका मूर्तिपूजा का अपना अलग ढंग है।

ऊपर वर्णित जातियों के अलावा उनसे निम्न स्तर की ग्यारह और जातियां हैं, जिनसे अन्य जातियां संबंध नहीं रखतीं और मृत्यु के भय से उनका स्पर्श भी नहीं करतीं। उनमें एक-दूसरे से भारी भिन्नताएं हैं, और वे एक-दूसरे से नहीं घुलती-मिलतीं। इन निम्न स्तर के सीधे-सादे लोगों में से सर्वाधिक शुद्ध को 'तिय्या' कहा जाता है। उनका मुख्य धंधा ताड़ की खेती करना है। वे उनके फल एकत्र करते हैं और उन्हें अपनी पीठ पर लादकर बेचने के लिए ले जाते हैं, क्योंकि इस प्रदेश में माल ढोने के लिए कोई सवारी नहीं होती।

इनसे भी निम्न स्तर की एक और जाति है, जिसे लोग मनान (मंकू) कहते हैं। वे दूसरों से न तो मेलजोल रखते हैं और न दूसरों को स्पर्श करते हैं, और न ही दूसरे उन्हें स्पर्श करते हैं। वे आम लोगों के धोबी होते हैं और सोने के लिए चटाइयां बुनते हैं। उनके अलावा अन्य लोग ये धंधे नहीं कर सकते। हारकर उनके पुत्रों को भी वही धंधा अपनाना होगा। उनकी अपनी अलग मूर्तिपूजा-प्रणाली है।

इनसे भी निम्न स्तर की एक और जाति है, जिसे वे कानाकुस कहते

हैं। वे बक्सुए और छतरियां बनाते हैं। ज्योतिष विद्या के लिए वे अक्षर ज्ञान प्राप्त करते हैं। वे महान ज्योतिषी होते हैं और भविष्य के बारे में सच्ची भविष्यवाणियां करते हैं। इस प्रयोजन के लिए कुछ सामंत उनका भरण-पोषण करते हैं।

आगिरिस नामक एक और मूर्तिपूजक छोटी जाति भी है। वे राज-मिस्त्री, बढ़ई, लुहार, धातुकर्मी होते हैं। उनमें से कुछ सुनार भी होते हैं। वे सब एक ही कुल-गोत्र के होते हैं। उनकी अलग जाति है और उनके देवता अन्य लोगों से अलग होते हैं। वे विवाह करते हैं। उनके उत्तराधिकारी उनके बेटे होते हैं और वे अपने पिता का व्यवसाय सीखते हैं।

इस प्रदेश मे मोगेरे नामक एक और भी छोटी जाति होती है। वे लगभग तिय्या जैसे होते हैं, लेकिन वे एक-दूसरे को स्पर्श नहीं करते। जब राजा एक स्थान से दूसरे स्थान को जाता है तो वे उसका सामान ढोते हैं, लेकिन इस प्रदेश में अब वे इने-गिने ही रह गए हैं। उनकी अलग जाति होती है। विवाह संबंधी उनका कोई कानून-कायदा नहीं होता। उनमें से अधिकांश समुद्र से अपनी जीविका चलाते हैं। वे नाविक होते हैं। उनमें से कुछ मछेरे भी होते हैं। उनकी कोई मूर्तियां नहीं होतीं। वे नायरों के भी दास होते हैं।

इनसे भी एक छोटी जाति होती है, जिन्हें मनकुअर कहते हैं। वे मछेरे होते हैं। इसके अलावा वे और कोई धंधा नहीं करते। फिर भी उनमें से कुछ मूरों तथा अन्य मूर्तिपूजकों के जहाजों में काम करते हैं और वे अति कुशल नाविक होते हैं। यह जाति बड़ी निर्दयी होती है। वे निर्लज्ज चोर होते हैं। वे विवाह करते हैं और उनके पुत्र उनके उत्तराधिकारी होते हैं। उनकी स्त्रियां बदचलन होती हैं। वे किसी से भी यौन संबंध स्थापित कर लेती हैं और उसे बुरा नहीं माना जाता। उनकी अपनी अलग मूर्तिपूजा होती है।

मलाबार के इस प्रदेश में इनसे भी निम्न स्तर की एक और मूर्तिपूजक जाति होती है। उसको बेटुन कहते हैं। वे नमक बनाते हैं और धान की खेती करते हैं। उसके अलावा वे कुछ नहीं करते।

वे सड़कों से दूर खेतों में अलग-थलग घरों में रहते हैं। वहां सभ्य-जनों का आना-जाना नहीं होता। उनकी अपनी अलग मूर्तिपूजा होती है। वे राजाओं और नायरों के गुलाम होते हैं और बड़े गरीब होते हैं। वे नायरों से काफी फासले पर चलते हैं और नायर उनसे काफी दूरी से बात करते हैं। उनका अन्य जातियों से कोई संपर्क नहीं होता।

इनसे भी निम्न स्तर की और असभ्य एक और मूर्तिपूजक जाति होती

है, जिन्हें पाणीन कहा जाता है। वे बड़े कुशल जादू-टोने वाले ओझा होते हैं। वे केवल यही धंधा करते हैं।

इनसे भी निम्न स्तर की और असभ्य एक और जाति है, जिसे रेवोलीन कहते हैं। वे बड़े ही गरीब होते हैं। वे बस्ती में बेचने के लिए घास और जलाने के लिए लकड़ी ले जाते हैं। न तो वे किसी को स्पर्श करते हैं और न ही मृत्यु के भय से उन्हें कोई स्पर्श करता है। वे नंगे रहते हैं। वे अपने गुप्तांगों को गंदे चिथड़ों, अधिकांशतः पेड़ों की पत्तियों से ढांपे रहते हैं। उनकी स्त्रियां अपने कानों में पीतल की अनेक बालियां पहनती हैं। वे अपनी गर्दन, बांहों और पैरों में मनकों की कंठी और कंगन पहनती हैं।

इनसे भी निम्न स्तर की एक और जाति है, जिसे लोग पुलय कहते हैं। वे मूर्तिपूजक होते हैं। वे औरों की भांति ही अन्त्यज और बहिष्कृत समझे जाते हैं। वे खेतों में या खोह-खंदकों में रहते हैं, जहां सभ्य जाति के लोग कभी भूले-भटके ही जाते हैं। वे बड़ी ही छोटी-मोटी झोपड़ियों में रहते हैं। वे भैंसों तथा बैलों की मदद से धान के खेत जोतते हैं। वे नायरों से दूर रहकर ही बात करते हैं और इतनी जोर से चिल्लाते हैं कि उन्हें सुना जा सके। जब वे सड़कों पर चलते हैं तो वे जोर-जोर से चिल्लाते हैं, ताकि उनके लिए रास्ता छोड़ दिया जाए और जो भी उनकी आवाज सुन ले, वह सड़क से हट जाए और उनके वहां से गुजरने तक वृक्षों की ओट में खड़ा हो जाए। यदि कोई स्त्री-पुरुष उन्हें छू लेता है तो जिसको स्पर्श किया जाए, उस व्यक्ति को कत्ल कर देता है। अतः प्रतिशोध में वे पुल्लयन को कत्ल कर देते हैं और उन्हें कोई दंड नहीं भोगना पड़ता।

इनसे भी दीन-हीन एक और जाति होती है। इस जाति के लोगों को परयन कहते हैं। वे अन्य सभी जातियों से दूर अलग-थलग अति निर्जन स्थानों में रहते हैं। न वे किसी अन्य व्यक्ति से और न ही कोई अन्य व्यक्ति उनसे संबंध रखता है। उन्हें शैतान से भी बदतर और प्रताड़नीय समझा जाता है। उन्हें देखने मात्र से ही आदमी अपवित्र और जाति-बहिष्कृत हो जाता है। वे रतालू और अन्य जंगली कंद-मूल खाते हैं। वे अपने तन के मध्य भाग को पत्तियों से ढांपते हैं। वे जंगली पशुओं का मांस भी खाते हैं।

मूर्तिपूजकों के बीच जाति-भेद की इतनी ही कथा है। कुल मिलाकर ये अठारह जातियां हैं। वे सब अलग-अलग हैं। न वे आपस में एक-दूसरे को छू सकती हैं और न ही शादी-विवाह कर सकती है। मलाबार की जिन अठारह मूर्तिपूजक जातियों का मैंने अभी वर्णन किया है, इनके अलावा मूल निवासी के रूप में कुछ अन्य लोग भी हैं , जो बाहर से आए हैं। ये व्यापारी और

साहूकार लोग हैं। उनके अपने-अपने मकान और अपनी जागीरें हैं। वे मूल निवासियों की भांति रहते हैं, पर उनके रीति-रिवाज अलग होते हैं।

इन विदेशियों ने जाति की पूरी और ब्यौरेवार कोई तस्वीर पेश नहीं की है। वे इसमें असमर्थ रहे हैं। इसका कारण यह है कि हर विदेशी के लिए हिंदू का निजी जीवन प्रच्छन्न रहता है और उसके लिए उसके भीतर झांकना संभव भी नहीं है। इसके अलावा भारत का सामाजिक ताना-बाना, उसकी गतिविधि सदा से रीति-रिवाजों पर आधारित रही है। यह स्थान-भेद के अनुसार भी बदलती रहती है। उसकी जटिलता देखकर माथा चकराने लगता है। उसके पीछे कोई कानूनी सूत्र नहीं होता, जिसे किसी कानूनी पाठ्य-पुस्तक में से खोजकर निकाला जा सके। लेकिन निस्संदेह ही विदेशियों को ऐसा लगा कि जाति भारतीय समाज का एक सर्वाधिक अनोखा और इसलिए एक विशिष्ट गुण है। अन्यथा वे जब भारत आए और उन्होंने जो देखा, अपने विवरणों में उन्होंने जाति के अस्तित्व को नोट न किया होता।

अतः हिंदू समाज-संगठन में जाति की एक विशिष्टता है, जो हिंदुओं को अन्यों से अलग करती है। जाति एक वर्धमान संस्था रही है। वह सदा-सर्वदा ज्यों की त्यों नहीं रही। मेगस्थनीज ने जब अपना विवरण लिखा, उस समय जाति का जो स्वरूप था, वह अलबरूनी के आगमन-काल से बहुत भिन्न था। पुर्तगालियों को जाति का जो स्वरूप दीख पड़ा, वह अलबरूनी के काल से भिन्न था। लेकिन जाति को समझने के लिए हमें उसकी प्रकृति के विषय में और अधिक सटीक जानकारी प्राप्त करनी होगी, जितनी कि हमें इन विदेशियों के वर्णन से मिलती है।

जाति विषयक चर्चा को समझने के लिए पाठकों को उन कुछ बुनियादी संकल्पनाओं से परिचित कराना आवश्यक है, जो हिंदू समाज-संगठन में निहित हैं। हिंदुओं में प्रचलित समाज-संगठन की मूल संकल्पना उस वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति से प्रारंभ होती है, जिसके बारे में विश्वास किया जाता है कि उससे हिंदू समाज का विभाजन हुआ। ये चार वर्ण हैं : (1) ब्राह्मण, पुजारी और शिक्षित वर्ग, (2) क्षत्रिय, सैनिक वर्ग, (3) वैश्य, व्यापारी वर्ग, और (4) शूद्र, दास वर्ग। कुछ काल तक वे केवल वर्ग थे। कुछ काल बाद जो केवल वर्ग (वर्ण) थे, वे जातियां बन गईं। चार जातियां चार हजार जातियां बन गईं। इस प्रकार आधुनिक जाति-व्यवस्था प्राचीन वर्ण-व्यवस्था का ही विकसित रूप है।

निस्संदेह जाति-व्यवस्था वर्ण-व्यवस्था का ही विकसित रूप है, लेकिन वर्ण-व्यवस्था के अध्ययन से हम जाति-व्यवस्था की कोई जानकारी प्राप्त नहीं कर सकते। जाति का अध्ययन वर्ण को अलग रखकर करना होगा।

II

कहा जाता है कि किसी प्राचीन नास्तिक ने अपने दर्शन की व्याख्या करने के बाद अंत में कहा था :

> मैं केवल यह जानता हूं कि मैं कुछ भी नही जानता, और मैं पूरे विश्वास से यह भी नहीं कह सकता कि मैं यह जानता भी हूं।

सर डेंजिल इबट्सन ने पंजाब की जाति-व्यवस्था के बारे में लिखते हुए कहा कि इस नास्तिक ने अपने बारे में ऊपर जो कुछ कहा है, यही शब्द जाति के बारे में मेरी अपनी धारणा को भी व्यक्त करते हैं। सच तो यह है कि स्थानीय परिस्थितियों के कारण जाति की अवधारणा में अत्यधिक अंतर मिलता है। किसी एक स्थान पर उपलब्ध किसी जाति के बारे में पूर्ण दृढ़ता से कोई बात कहना अति कठिन है, क्योंकि किसी अन्य स्थान पर उपलब्ध उसी जाति के बारे में उक्त तथ्य का उतनी ही दृढ़ता से खंडन किया जा सकता है।

भले ही यह बात सच हो, फिर भी जाति के आवश्यक और मूल लक्षणों और उसके अनावश्यक और सतही लक्षणों को अलग-अलग करना कठिन नहीं है। किसी व्यक्ति का किन कारणों से बहिष्कार किया जा सकता है, इसे निश्चित करने का आसान तरीका श्री भट्टाचार्य ने इस प्रकार बताया है। उन्होंने जाति से बहिष्कार के निम्न कारण गिनाए हैं : (1) ईसाई या इस्लाम धर्म ग्रहण कर लेना, (2) यूरोप अथवा अमरीका की यात्रा करना, (3) विधवा से विवाह करना, (4) यज्ञोपवीत को खुल्लम-खुल्ला उतार कर फेंक देना, (5) खुल्लम-खुल्ला गोमांस या सुअर का मांस खाना, (6) खुल्लम-खुल्ला मुसलमान, ईसाई और छोटी जाति के हिंदू के हाथ का बना कच्चा भोजन करना, (7) अति निम्न जाति के शूद्र के घर पर काम करना, (8) अनैतिक प्रयोजन से किसी महिला का घर से बाहर जाना, और (9) विधवा का गर्भवती हो जाना। यह सूची पूर्ण नहीं है और उसमें जाति से बहिष्कार के सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण छोड़ दिए गए हैं। वे हैं : (10) अंतर्जातीय विवाह करना, (11) दूसरी जाति के व्यक्ति के साथ खान-पान करना, और (12) व्यवसाय बदलना। श्री भट्टाचार्य के कथन का दूसरा दोष यह है कि उसमें आवश्यक और अनावश्यक कारणों में कोई भेद नहीं किया गया है। इसमें शक नहीं है कि जब किसी व्यक्ति का जाति से बहिष्कार किया जाता है तो दंड एक समान होता है। उसके दोस्त, रिश्तेदार और जाति-भाई उसका आतिथ्य नहीं ग्रहण करते। उसे उनके घरों में उत्सवों में नहीं बुलाया जाता। वह अपने बच्चों के विवाह नहीं कर सकता। उसकी विवाहित पुत्रियां भी जाति से बहिष्कृत होने के भय से उससे मिलने नहीं आ सकतीं। पुरोहित, नाई और धोबी उसके घर नहीं जाते। उसके जाति-भाई उससे इस हद तक संबंध तोड़ लेते हैं कि

उसके घर में किसी की मृत्यु हो जाने पर वे अंत्येष्टि में नहीं जाते। कभी-कभी तो जाति से बहिष्कृत व्यक्ति को सार्वजनिक मंदिरों और श्मशान में भी प्रवेश नहीं करने दिया जाता।

जाति से बहिष्कार के ये कारण जाति के नियमों को परोक्ष रूप से दर्शाते हैं। लेकिन सभी विनियम बुनियादी नहीं होते। अनेक विनियम अनावश्यक होते हैं। आवश्यक और अनावश्यक में भेद एक अन्य प्रश्न द्वारा किया जा सकता है। वह है कि ज़ाति से बहिष्कृत हिंदू पुनः जाति में कब शामिल हो सकता है? हिंदुओं में प्रायश्चित करने की पद्धति है। जाति से बहिष्कृत व्यक्ति को पहले प्रायश्चित करना होगा, उसके बाद ही वह पुनः जाति-बिरादरी में शामिल हो सकता है। इन प्रायश्चितों के बारे में कुछ बातें याद रखनी होंगी। सर्वप्रथम तो यह कि जाति संबंधी कुछ अपराध ऐसे हैं, जिनके लिए कोई प्रायश्चित नहीं है। दूसरी यह कि अपराध के अनुसार प्रायश्चित बदल जाते हैं। कुछ अपराधों में तो प्रायश्चित के रूप में बहुत हल्का-सा जुर्माना होता है। अन्य अपराधों में जुर्माना अति कठोर हो सकता है।

प्रायश्चित का होना या न होना महत्व रखता है और उसे साफ तौर पर समझना होगा। प्रायश्चित न होने का अर्थ यह नहीं होता कि अपराध करने पर दंड नहीं मिलेगा। इसके विपरीत उसका अर्थ होता है कि अपराध अक्षम्य है और जिस अपराधी को एक बार जाति से निकाल दिया जाएगा, उसका कभी भी पुनः उद्धार नहीं होगा। उसे पुनः कभी जाति में शामिल नहीं किया जाएगा। प्रायश्चित होने का अर्थ है कि अपराध क्षम्य है। अपराधी प्रायश्चित कर सकता है और बहिष्कृत व्यक्ति जाति में पुनः शामिल हो सकता है।

दो अपराधों के लिए कोई प्रायश्चित नहीं है। वे हैं : (1) हिंदू धर्म को छोड़कर दूसरा धर्म अपना लेना, और (2) दूसरी जाति अथवा धर्म के व्यक्ति से शादी कर लेना। जाहिर है कि यदि इन अपराधों के लिए कोई व्यक्ति जाति से बाहर कर दिया जाता है तो वह सदा के लिए जाति से बाहर हो जाता है।

जिन दो अपराधों के लिए कठोरतम प्रायश्चित का विधान है, वे हैं : (1) किसी दूसरी जाति के व्यक्ति और किसी अहिंदू के साथ खान-पान करना, और (2) जातीय व्यवसाय को छोड़कर कोई दूसरा व्यवसाय अपनाना। अन्य अपराधों के लिए दंड हल्का है या यूं कहें कि प्रायः नाममात्र का है।

जाति के बुनियादी नियम क्या हैं और जाति का रूप-स्वरूप क्या है, इस पहेली को बूझने का सर्वाधिक निश्चित अता-पता प्रायश्चित संबंधी नियम देते हैं। जिन नियमों के उल्लंघन के लिए कोई प्रायश्चित नहीं है, उन्हें जाति की 'आत्मा'

कहा जा सकता है। जिन नियमों के उल्लंघन के लिए कठोरतम प्रायश्चित का विधान है, उन्हें जाति का 'तन' कहा जा सकता है। अतः बिना किसी संकोच के कहा जा सकता है कि जाति के चार बुनियादी नियम हैं। जाति की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है कि वह एक ऐसा समाज-समूह है, जिसकी (क) हिंदू धर्म में आस्था हो, और जो (ख) विवाह, (ग) खान-पान, और (घ) व्यवसाय संबंधी कतिपय नियमों से आबद्ध हो। इसमें एक और विशेष लक्षण जोड़ा जा सकता है, यानी वह ऐसा समाज-समूह हो, जिसका एक समान नाम हो।

विवाह के संबंध में यह नियम है कि विवाह केवल अंतर्जातीय होना चाहिए। विभिन्न जातियों के बीच विवाह नहीं हो सकते। यह वह सबसे बड़ा तथा सर्वाधिक बुनियादी आधार है, जिस पर जाति का समूचा ताना-बाना और ढांचा टिका हुआ है।

खान-पान के संबंध में नियम है कि कोई व्यक्ति जाति से बाहर के किसी व्यक्ति से न तो भोजन ले सकता है और न ही उसके साथ बैठकर भोजन कर सकता है। इसका अर्थ है कि जो लोग आपस में शादी कर सकते हैं, केवल वे ही साथ बैठकर भोजन भी कर सकते हैं। जो आपस में शादी नहीं कर सकते, वे एक-दूसरे के साथ बैठकर भोजन नहीं कर सकते। दूसरे शब्दों में, जाति एक अंतर्जातीय इकाई भी है और एक सांप्रदायिक इकाई भी।

व्यवसाय के संबंध में नियम है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी जाति का परंपरागत व्यवसाय ही करेगा, और यदि किसी जाति का कोई व्यवसाय नहीं है तो उसे अपने पिता का व्यवसाय करना होगा।

जहां तक किसी व्यक्ति की सामाजिक स्थिति का संबंध है, वह निश्चित और वंशानुगत होती है। वह स्थाई होती है, क्योंकि व्यक्ति की सामाजिक स्थिति का निर्धारण उसकी जाति की सामाजिक स्थिति के अनुसार होता है। वह वंशानुगत है, क्योंकि हिंदू पर उसके माता-पिता की जाति का ठप्पा लगा होता है। हिंदू अपनी सामाजिक स्थिति नहीं बदल सकता, क्योंकि वह अपनी जाति नहीं बदल सकता। हिंदू जन्म से हिंदू होता है, और मरने पर भी वह उसी जाति का रहता है, जिसमें उसका जन्म हुआ था। अगर कोई हिंदू अपनी जाति से च्युत हो जाता है, तो वह अपनी सामाजिक स्थिति से भी च्युत हो जाता है। वह नई या कोई बेहतर अथवा भिन्न सामाजिक स्थिति प्राप्त नहीं कर सकता।

जाति के संबंध में एक समान नाम का क्या महत्व है? इसका महत्व स्पष्ट हो जाएगा, यदि हम दो प्रश्न करें। वे अति संगत भी हैं और जाति नामक इस संस्था का संपूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए उनका सही उत्तर जरूरी है। समाज

में वर्ग या तो संगठित होते हैं या फिर असंगठित होते हैं। जब वर्ग की सदस्यता और वर्ग में शामिल होने या उनसे अलग होने की प्रक्रिया निश्चित सामाजिक नियम बन जाती है और वर्ग के अन्य सदस्यों के संदर्भ में उनमें कतिपय कर्तव्यों तथा विशेषाधिकारों का समावेश हो जाता है, तो वर्ग एक संगठित वर्ग बन जाता है। प्रत्येक वर्ग एक स्वैच्छिक वर्ग होता है और उसमें जब सदस्य शामिल होते हैं तो उन्हें इस बात का पूरा-पूरा ज्ञान होता है कि वे क्या कर रहे हैं और संगठन के लक्ष्य क्या हैं। दूसरी ओर ऐसे वर्ग होते हैं, जिसमें कोई व्यक्ति शामिल तो हो जाता है, पर अपनी इच्छा-शक्ति का प्रयोग नहीं करता और ऐसे सामाजिक विनियमों तथा परंपराओं का दास हो जाता है, जिन पर उसका कोई नियंत्रण नहीं होता।

इस प्रकार जाति एक अति संगठित सामाजिक वर्गीकरण है। यह कोई असंगठित अथवा हल्का-फुल्का निकाय नहीं है। इसी प्रकार जाति कोई ऐसा वर्गीकरण नहीं है, जो स्वैच्छाश्रित हो। हिंदुओं में व्यक्ति जाति में जन्म लेता है और मरने पर भी उसी जाति का बना रहता है। ऐसा कोई हिंदू नहीं, जिसकी कोई जाति न हो। जाति से उसका कोई छुटकारा नहीं। जन्म से मृत्यु तक जाति से बंधे रहने के कारण वह अपनी जाति के ऐसे नियमों तथा रूढ़ियों के अधीन रहता है, जिन पर उसका कोई नियंत्रण नहीं होता।

प्रत्येक जाति के लिए अलग नाम होने का महत्व यह है कि उसके कारण जाति एक संगठित और अनिवार्य वर्ग बन जाती है। विशिष्ट नाम होने के कारण जाति एक निकाय बन जाती है, उसका स्थाई अस्तित्व हो जाता है और वह एक स्वतंत्र इकाई हो जाती है। जिन विद्वानों ने जाति पर लिखा-पढ़ा है, उन्होंने जातियों के अपने-अपने नामों के महत्व को भली-भांति हृदयंगम नहीं किया है। इस प्रकार उन्होंने जाति पर आधारित उन सामाजिक वर्गों के एक अति विशिष्ट लक्षण को नजरअंदाज कर दिया है। इस प्रकार के सामाजिक वर्ग हर समाज में हैं और उनका होना अस्वाभाविक नहीं। बहुत से देशों के विभिन्न सामाजिक वर्गों की तुलना भारत की विभिन्न जातियों से की जा सकती है और उन्हें समकक्ष कहा जा सकता है। कुम्हार, धोबी, विद्वान जैसे सामाजिक वर्ग सर्वत्र पाए जाते हैं। लेकिन अन्य देशों में वे असंगठित तथा स्वैच्छिक वर्ग हैं, जब कि भारत में वे संगठित और अनिवार्य बन गए हैं, उन्होंने जातियों का रूप ले लिया है। अन्य देशों में समाज के वर्गों को विशिष्ट नाम नहीं दिया गया, जब कि भारत में ऐसा किया गया है। जाति पर नाम की जो मोहर लगा दी गई है, वह उसे स्थिरता, निरंतरता और विशिष्टता प्रदान करती है। नाम ही यह स्पष्ट करता है कि कौन लोग उसके सदस्य हैं और अधिकांशतः जो व्यक्ति जिस जाति में पैदा होता है, वह अपने नाम के आगे अपनी जाति का नाम जोड़ता है। विशिष्ट नाम होने के

कारण किसी जाति के लिए अपने नियमों का सिक्का चलाना आसान हो जाता है। यह काम दो प्रकार से सरल हो जाता है। एक तो यह कि उपनाम के रूप में जाति का नाम आगे लगे होने से वह किसी अन्य जाति को नहीं अपना सकता और जाति के घेरे में बंधा रहता है। दूसरे, इससे अपराधी और उसकी जाति को पहचानने में और जाति के नियमों को तोड़ने के लिए उसे आसानी से पहचान कर दंडित करने में आसानी होती है।

यह है, जाति का अर्थ। अब जाति-व्यवस्था के बारे में कहूंगा। इसके लिए जरूरी है कि विभिन्न जातियों के आपसी संबधों का अध्ययन किया जाए। जाति-समूह की दृष्टि से देखा जाए तो जाति-व्यवस्था ऐसे अनेक खास लक्षण प्रस्तुत करती है, जो तुरंत ध्यान आकर्षित करते हैं। सर्वप्रथम तो यह कि विभिन्न जातियों के बीच वह आपसी संबंध नहीं होता, जो व्यवस्था का आधार होता है। हर जाति अलग व थलग है। अपने आंतरिक मामलों को निपटाने तथा जातीय विनियमों को लागू करने में वह स्वाधीन और संप्रभु है। जातियां परस्पर रहती हैं, पर वे एक-दूसरे में प्रवेश नहीं करतीं। दूसरा लक्षण एक जाति के संदर्भ में दूसरी जाति के अनुक्रम से संबंधित है। यह अनुक्रम सम स्तर का नहीं, ऊपर-नीचे का है।

हम कह सकते हैं कि जातियों का दर्जा समान नहीं है। उनका दर्जा असमानता पर आधारित है। एक जाति दूसरी जाति की तुलना में ऊंची अथवा नीची है। कोई जाति सर्वोच्च है तो कोई सबसे नीची है। फिर इनके बीच की जातियां हैं। उनमें भी कोई किसी से ऊंची और किसी से नीची है। इस प्रकार जाति-व्यवस्था में एक अनुक्रम है। उसमें सर्वोच्च और निम्नतम को छोड़कर हर जाति दूसरी जाति से ऊंची और बड़ी है।

इस पूर्वता और श्रेष्ठता का निर्णय कैसे किया जाता है? उच्चता, बड़प्पन या अधीनता के क्रम का निर्णय वे नियम करते हैं, जो (1) धार्मिक संस्कारों से, और (2) सहभोजिता से संबंधित हैं।

पूर्वता के नियमों का आधार धर्म स्वयं तीन प्रकार से उजागर होता है। एक, धार्मिक संस्कारों के द्वारा, दो, धार्मिक समारोहों से जुडे मन्त्रों द्वारा, और तीन, पुजारी की स्थिति के द्वारा।

सबसे पहले पूर्वता क्रम के नियमों के स्रोत धार्मिक संस्कारों को लें। यह उल्लेखनीय है कि हिंदू धर्मग्रंथों में सोलह धार्मिक संस्कारों का विधान है। भले ही वे हिंदू संस्कार हैं, पर प्रत्येक हिंदू जाति यह अधिकार नहीं कर सकती कि वह सभी सोलह संस्कार कर सकती है। केवल कुछ ही यह अधिकार का दावा

कर सकती हैं। कुछ को अनुमति है कि वे कतिपय संस्कार कर सकें। कुछ को अनुमति नहीं है कि वे कुछ संस्कार कर सकें। यथा उपनयन संस्कार को ही लें। कुछ जातियां उस पवित्र धागे को धारण नहीं कर सकतीं। संस्कार कर्म संबंधी अधिकार में भी पूर्वता क्रम चलता है। जो जाति समूचे संस्कार कर सकती है, उसकी हैसियत उस जाति से ऊंची होगी, जो केवल कुछ संस्कार कर सकती है।

अब मंत्रों को लें। वे भी पूर्वता संबंधी नियमों के उद्‌गम हैं। हिंदू धर्म के अनुसार एक ही संस्कार को तीन रीतियों से किया जा सकता है : (1) वेदोक्त रीति से, (2) शास्त्रोक्त रीति से, और (3) पुराणोक्त रीति से। वेदोक्त रीति में संस्कार वैदिक मंत्रों से किया जाता है। शास्त्रोक्त रीति में संस्कार शास्त्रीय मंत्रों से किया जाता है। पुराणोक्त रीति में संस्कार पौराणिक मंत्रों से किया जाता है। हिंदू धर्मग्रंथों की तीन विशिष्ट श्रेणियां हैं : (1) चार वेद, (2) छह शास्त्र, और (3) अठारह पुराण। भले ही वे धर्मग्रंथ कहलाते हैं, पर उनकी मान्यता एक-सी नहीं होती। वेदों को सर्वोच्च मान्यता है। मान्यता की दृष्टि से शास्त्रों का नंबर दूसरा है और सबसे निम्न मान्यता पुराणों की है। मंत्र किस प्रकार सामाजिक पूर्वता को जन्म देते हैं, वह स्पष्ट हो जाएगा, यदि इस बात को ध्यान में रखा जाए कि हर जाति को वेदोक्त रीति से संस्कार करने का अधिकार नहीं है। तीन जातियां सोलह में से किसी एक संस्कार को करने का अधिकार कर सकती हैं। लेकिन व्यवस्था है कि एक उसे वेदोक्त रीति से, दूसरी उसे शास्त्रोक्त रीति से और तीसरी उसे पुराणोक्त रीति से ही कर सकती है। पूर्वता क्रम का निर्धारण वह मंत्र करता है, जिसके प्रयोग का अधिकार किसी जाति को धार्मिक संस्कार के लिए है। जो जाति वैदिक मंत्र के प्रयोग की अधिकारी है, वह शास्त्रीय मंत्र का प्रयोग करने वाली जाति से ऊंची है। जो जाति शास्त्रीय मंत्र का प्रयोग करने की अधिकारी है, वह पुराणोक्त मंत्र का प्रयोग करने वाली जाति से ऊंची है।

हिंदू धर्म से जुड़े पूर्वता क्रम का तीसरा स्रोत है, पुजारी। धर्म अपेक्षा करता है कि यदि धार्मिक संस्कार का पूरा-पूरा लाभ प्राप्त करना है तो उसे पुजारी के माध्यम से ही प्राप्त करना होगा। धर्मग्रंथों ने पुजारी के रूप में ब्राह्मण को नियुक्त किया है। अतः ब्राह्मण के बिना काम नहीं चल सकता। लेकिन धर्मग्रंथ यह अपेक्षा नहीं रखते कि किसी भी जाति का कोई भी हिंदू यदि ब्राह्मण को धार्मिक संस्कार में यजमानी के लिए बुलाए तो उसे वह स्वीकार करेगा ही। किस जाति के निमंत्रण को वह स्वीकार करे या न करे, यह बात ब्राह्मण की इच्छा पर छोड़ दी गई है। लंबी तथा सुस्थापित प्रथा द्वारा अब यह तय कर दिया गया है कि किस जाति का निमंत्रण वह स्वीकार करेगा और किस का नहीं करेगा। यह तथ्य जातियों के बीच पूर्वता का आधार बन गया है। जिस जाति की यजमानी

ब्राह्मण करेगा, वह उस जाति से ऊंची होगी, जिसकी वह यजमानी नहीं करेगा।

पूर्वता के नियमों का दूसरा स्रोत है, सहभोज़। इस ओर ध्यान देना होगा कि सहभोज के नियमों की भांति विवाह के नियमों ने पूर्वता के नियमों को जन्म नहीं दिया है। इसका कारण यह है कि अंतर्विवाह और सहभोज की वर्जना करने वाले नियमों में विभेद है। अंतर प्रत्यक्ष है। अंतर्विवाह संबंधी वर्जना ऐसी है कि उसका न केवल आदर किया जाना चाहिए, बल्कि अति कठोरता से उसका पालन भी किया जाना चाहिए, लेकिन सहभोज की वर्जना मुश्किलें उत्पन्न करती है। सभी स्थानों पर और सभी परिस्थितियों में उसका अति कठोरता से पालन नहीं किया जा सकता। आदमी बाहर निकलता है और एक स्थान से दूसरे स्थान पर उसे जाना ही होगा। हो सकता है कि जहां-जहां वह जाए, वहां-वहां उसके जाति-भाई न हों। हो सकता है कि वह अजनबियों के बीच फंस जाए। विवाह को तो टाला जा सकता है, भोजन को नहीं। विवाह के लिए तब तक प्रतीक्षा की जा सकती है, जब तक वह जाति-भाइयों के समाज में न लौट जाए। लेकिन भोजन के मामले में वह प्रतीक्षा नहीं कर सकता। भोजन तो कहीं से भी, किसी से भी प्राप्त करना ही होगा। सवाल उठता है कि यदि प्राप्त करना ही है तो वह किस जाति से प्राप्त करे। नियम है कि वह अपनों से ऊंची जाति से भोजन प्राप्त करेगा, लेकिन अपनों से नीची जाति से प्राप्त नहीं करेगा। इस निर्णय के बारे में पता करने के लिए कोई उपाय नहीं है कि कैसे यह निर्णय किया गया कि कोई हिंदू एक जाति से भोजन प्राप्त कर सकता है, दूसरी से नहीं। पूर्वोदाहरणों की लंबी परंपरा से हर हिंदू जानता है कि किस जाति से वह भोजन प्राप्त कर सकता है, और किससे नहीं। मुख्यतः इसका फैसला ब्राह्मणों के नियम करते हैं। जिस जाति से ब्राह्मण भोजन लेता है, वह ऊंची होती है, जिससे वह नहीं लेता, वह नीची होती है। खान-पान के बारे में ब्राह्मणों के नियम विशद् हैं : (1) वह कुछ से ही पानी लेगा और किन्हीं अन्य से नहीं, (2) ब्राह्मण किसी जाति से ऐसा भोजन नहीं लेगा, जो पानी में पकाया गया हो, और (3) कुछ जातियों से वह केवल तेल में छौंका गया भोजन लेगा। पुनः बर्तन के मामले में भी उनके नियम हैं। उसी के अनुसार वह भोजन तथा पानी ग्रहण करेगा। कुछ जातियों से वह मिट्टी के बर्तन में भोजन अथवा पानी ग्रहण करेगा, कुछ से वह केवल धातु के बर्तन में और कुछ से वह केवल कांच के बर्तन में ग्रहण करेगा। इससे भी जाति के स्तर का निर्धारण होता है। यदि वह किसी जाति से तेल में छौंका गया भोजन ग्रहण करता है तो उसका दर्जा उस जाति से ऊंचा होता है, जिससे वह ग्रहण नहीं करता। जिस जाति से वह जल ग्रहण करता है, वह उस जाति से ऊंची होती है, जिससे वह जल ग्रहण नहीं करता। यदि वह धातु के बर्तन में जल ग्रहण करता है तो वह जाति उस जाति से ऊंची

होती है, जिससे वह मिट्टी के बर्तन में जल ग्रहण करेगा। जिस जाति से वह मिट्टी के बर्तन में जल ग्रहण करेगा वह उस जाति से ऊंची होती है, जिससे वह कांच के बर्तन में जल ग्रहण करेगा। कांच एक ऐसा तत्व है, जिसे 'निर्लेप' (निर्दोष) कहते हैं। अतः उसमें ब्राह्मण सबसे नीची जाति से भी पानी ग्रहण कर सकता है। लेकिन अन्य धातुएं दोष ग्रहण करती हैं। दोष ग्राह्यता भी उपयोग करने वाले व्यक्ति के दर्जे पर निर्भर करती है। यह बर्तन में जल ग्रहण करने की ब्राह्मण की इच्छा पर निर्भर करता है।

ये कुछ ऐसी बातें हैं, जो परंपरा क्रम वाली इस हिंदू जाति-व्यवस्था में जाति का स्थान और दर्जा निर्धारित करती हैं।

ऐसी है जाति और ऐसी है जाति-व्यवस्था। सवाल यह है कि हिंदू समाज-संगठन को जानने के लिए क्या इतनी जानकारी पर्याप्त है? हिंदू समाज-संगठन के रूढ़ स्वरूप को समझने के लिए जाति और जाति-व्यवस्था का ज्ञान पर्याप्त है। हमें इन तथ्यों से अधिक की जानकारी आवश्यक नहीं कि हिंदू जातियों में बंटे हैं और जातियां ऐसी व्यवस्था का गठन करती हैं, जिसमें सब एक ऐसे धागे पर टंगे रहते हैं, जो व्यवस्था में इस प्रकार पिरोया जाता है कि एक जाति को दूसरी जाति से लपेटते और अलग करते समय वह उन्हें इस प्रकार धारण करे, जैसे वह टेनिस की ऐसी गेंदों की माला हो, जो एक-दूसरे के ऊपर टंगी हो। लेकिन जाति के चेतन स्वरूप को समझने के लिए इतना पर्याप्त नहीं होगा। जाति के ढांचे के मूर्त रूप को समझने के लिए जाति-व्यवस्था के अलावा जाति के एक अन्य विशिष्ट लक्षण पर ध्यान देना जरूरी है और वह है, वर्ग व जाति-व्यवस्था।

जाति और वर्ग की धारणाओं का आपसी रिश्ता दिलचस्प विवाद का विषय रहा है। कुछ कहते हैं कि जाति और वर्ग, दोनों एक जैसे हैं और दोनों में कोई भेद नहीं है। पर कुछ अन्य कहते हैं कि जाति की संकल्पना वर्ग की संकल्पना के मूलतः प्रतिकूल है। जाति के इस पहलू के बारे में अब आगे और प्रकाश डाला जाएगा। फिलहाल जाति-व्यवस्था के उस प्रमुख लक्षण पर जोर देना जरूरी है, जिसका उल्लेख इससे पूर्व नहीं किया गया है। वह यह है : यद्यपि जाति की धारणा वर्ग-धारणा से भिन्न और उसके प्रतिकूल है, फिर भी जाति से भिन्न जाति-व्यवस्था एक ऐसी वर्ग-व्यवस्था को मान्यता देती है, जो उपरोक्त क्रमबद्ध दर्जे से कुछ भिन्न है। जिस प्रकार हिंदू अनेक जातियों में बंटे हुए हैं, उसी प्रकार जातियां भी विभिन्न वर्गों में बंटी हुई हैं। हिंदू में जाति-भावना होती है। उसमें वर्ग-भावना भी होती है। उसमें जाति-भावना या वर्ग-भावना इस बात पर निर्भर करती है कि उसका टकराव किस जाति से होता है। जिस जाति से उसका टकराव होता है, यदि वह उसके वर्ग की ही जाति है, तो उसमें अपनी

जाति-श्रेष्ठता की भावना होती है। यदि जाति उसके वर्ग के बाहर की होती है तो उसमें वर्ग-श्रेष्ठता आ जाती है। इस बारे में यदि कोई प्रमाण चाहता है तो वह मद्रास और बंबई प्रेसिडेंसी में गैर-ब्राह्मणों के आंदोलन का अध्ययन कर सकता है। ऐसे अध्ययन से कोई संशय नहीं रह जाएगा कि हिंदू के लिए जाति की परिधि, वर्ग परिधि जैसी ही यथार्थ है और जाति-उच्चता, वर्ग-उच्चता जैसी ही यथार्थ है।

कहा जाता है कि जाति वर्ग-व्यवस्था का विकसित रूप है। आगे मैं यह सिद्ध करूंगा कि यह निरी बकवास है। जाति वर्ण का विकृत रूप है, जो भी हो, यह विकास विपरीत दिशा में हुआ है। लेकिन जहां जाति ने वर्ण-व्यवस्था को पूर्णतः विकृत कर दिया है, वहां उसने वर्ण-व्यवस्था से वर्ग-व्यवस्था उधार ले ली है। वास्तव में वर्ग, जाति-व्यवस्था, वर्ण-व्यवस्था के वर्ग-विभेदों का बहुत कुछ अनुसरण करती है।

यदि जाति-व्यवस्था पर इस दृष्टिकोण से विचार करें तो हमें अनेक वर्ग मिलेंगे, जो जाति-व्यवस्था के इस पिरामिड में बड़े-बड़े शिला खंडों की तरह आर-पार एक के ऊपर एक व्यवस्थित हैं। पहला वर्ग उस व्यवस्था का है, जिसे चातुर्वर्ण्य कहा जाता है। चातुर्वर्ण्य की प्राचीन व्यवस्था में प्रथम तीन वर्णों अर्थात ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों को एक वर्ग तथा चौथे वर्ण अर्थात शूद्र को दूसरे वर्ग में रखकर दोनों के बीच अंतर मिलता है। प्रथम तीन वर्गों को द्विज वर्ग माना गया। शूद्र को द्विज वर्ग नहीं माना गया। विभेद का आधार यह है कि प्रथम तीन को यज्ञोपवीत धारण करने और वेद के अध्ययन का अधिकार है। शूद्र को दोनों में से कोई भी अधिकार नहीं है। इसी कारण उसे द्विज वर्ग में नहीं माना गया। यह अंतर अब भी है। यह वर्तमान वर्ग-भेद का आधार है। उसने जातियों को दो वर्गों में बांट दिया है। एक वर्ग वह है, जो शूद्रों के विशाल वर्ग से जन्मा है और दूसरा वर्ग वह है, जो ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा वैश्यों के तीन वर्गों से पैदा हुआ है। वर्ग-भेद की यही परतें उच्च जाति और निम्न जाति कही जाती हैं, और जो उच्च वर्ण की जाति तथा निम्न वर्ण की जाति के क्रमशः लघु रूप हैं।

इस पिरामिड में चट्टान की एक परत और है। यह चतुर्थ वर्ण की जाति के ठीक नीचे स्थित है। यह परत चार वर्णों अर्थात पहले तीन अर्थात ऊंची जाति तथा चतुर्थ वर्ण से अर्थात नीची जाति से उत्पन्न सभी जातियों के बाद की जातियों की परत है, जिन्हें मैं अवशिष्ट कहता हूं। यह अपने से ऊपर वाली परत की जातियों को उच्च मानती है। यह भी एक वास्तविक परत है। यह उस सुपरिभाषित विभेद का अनुसरण करती है, जो चातुर्वर्ण्य का मूल सिद्धांत था। जैसा कि बताया गया है, चातुर्वर्ण्य ने चार वर्णों के बीच विभेद किया! उसने तीन वर्णों को चौथे से उच्च माना। लेकिन उसने वैसा ही स्पष्ट विभेद उन जातियों के बीच किया,

जो चातुर्वर्ण्य के भीतर और जो चातुर्वर्ण्य के बाहर थीं। इस विभेद को व्यक्त करने के लिए उसके पास शब्दावली थी। जो चातुर्वर्ण्य के भीतर थे, चाहे उच्च थे या नीच, ब्राह्मण थे अथवा शूद्र, वे सवर्ण कहलाए अर्थात उन पर वर्ण की मुहर लगी थी। जो चातुर्वर्ण्य के बाहर थे, वे अवर्ण कहलाए यानी उन पर वर्ण की मुहर नहीं लगी थी। चारों वर्णों से उत्पन्न जातियों को सवर्ण हिंदू कहा जाता है। अंग्रेजी में उसे 'कांस्ट हिंदूज' कहा जाता है। 'शेष' अवर्ण हैं, जिन्हें आजकल यूरोपीय 'नान-कास्ट हिंदूज' कहते हैं, यानी वे जो चार मूल जातियों अथवा वर्णों से बाहर हैं.।

जाति-व्यवस्था के बारे में जो अधिकतर लिखा-पढ़ा गया है, उसका संबंध अधिकांशतः सवर्ण हिंदुओं की जाति-व्यवस्था से है। अवर्ण हिंदुओं के बारे में बहुत थोड़ी जानकारी है। ये अवर्ण हिंदू कौन हैं, हिंदू समाज में उनका क्या स्थान है, सवर्ण हिंदुओं से उनका क्या संबंध है, ये ऐसे प्रश्न हैं, जिनकी ओर अभी तक कोई ध्यान नहीं दिया गया है। मेरा विश्वास है कि इन प्रश्नों पर विचार किए बिना हमें हिंदुओं द्वारा बनाए गए सामाजिक ढांचे की सही तस्वीर नहीं मिल सकती। सवर्ण हिंदुओं तथा अवर्ण हिंदुओं के बीच के वर्ग-विभेद को निकाल देना, ग्रिम की परी कथा में से डाइनों, बैतालों और राक्षसों के वर्णन को निकाल देना जैसा है।

अवर्ण हिंदुओं के तीन भाग हैं : (1) आदिम जातियां, (2) जरायम-पेशा जातियां, और (3) अस्पृश्य जातियां। इन तीनों जातियों के लोगों की संख्या किसी भी प्रकार थोड़ी नहीं कही जा सकती। 1931 की जनगणना के अनुसार भारत में आदिम जातियों के लोगों की संख्या ढाई करोड़ बताई गई है। जरायम-पेशा के रूप में अनुसूचित लोगों की कुल आबादी कोई 45 लाख के लगभग है। 1931 में अस्पृश्यों की कुल आबादी कोई पांच करोड़ थी। इन तीनों की कुल संख्या सात करोड़ 95 लाख होती है।

सवर्ण जातियों के साथ अवर्ण जातियों का क्या संबंध है? सवर्ण जातियों तथा अवर्ण जातियों के बीच विभेद एक-सा नहीं है। अतः इस अंतर को आसानी से नहीं समझा जा सकता। सवर्ण जातियों तथा दो अवर्ण जातियों अर्थात आदिम जातियों और जरायम-पेशा जातियों के बीच जो संबंध है, वह उस संबंध से भिन्न है जो सवर्ण जातियों तथा तीसरी अंतिम अवर्ण जातियों अर्थात अस्पृश्यों के बीच है। सवर्ण जातियों तथा प्रथम दो अवर्ण जातियों के बीच विभेद जाति-भाई तथा मित्रों जैसा है। दोनों के बीच मैत्रीपूर्ण तथा सम्मानजनक शर्तों पर संपर्क संभव है। सवर्ण जातियों तथा अस्पृश्यों के बीच विभेद भिन्न प्रकार का है। यह दो विजातीय तथा विरोधी समूहों के बीच का विभेद है। वहां सम्मानजनक शर्तों पर मैत्रीपूर्ण संपर्क की कोई संभावना नहीं है।

इस विभेद का क्या महत्व है? इसका आधार क्या है? भले ही विभेद निश्चित है, पर उसके आधार की व्याख्या नहीं की गई है। लेकिन ऐसा लगता है कि विभेद का आधार वैसा ही है, जैसा कि द्विजों तथा शूद्रों के बीच का है। शूद्रों की भांति अवर्ण जातियां भी द्विज वर्ग में नहीं आतीं। वे द्विज नहीं होते और उन्हें यज्ञोपवीत धारण करने का कोई अधिकार नहीं है। इससे भी दो तथ्य उभर कर सामने आते हैं, जिनकी प्रायः अनदेखी कर दी जाती है। पहला तथ्य यह है कि सवर्ण शाखा की शूद्र जातियों तथा अवर्ण शाखा की आदिम तथा जरायम-पेशा जातियों के बीच अंतर बहुत मामूली-सा है। दोनों ही अस्पृश्य हैं और दोनों ही द्विज-वर्ग में नहीं आतीं। यह अंतर सांस्कृतिक विकास का है। हालांकि रूढ़िवादी हिंदू की दृष्टि से इन दो के बीच अधिक सांस्कृतिक अंतर है, जैसा कि सुसंस्कृत तथा ठेठ बर्बर के बीच होता है, लेकिन अंतर मात्रा-भेद का है। इस सांस्कृतिक अंतर को स्पष्ट करने के लिए हिंदुओं ने एक नई शब्दावली गढ़ी है। वह शूद्रों के दो वर्ण मानती है : (1) सत्शूद्र अथवा सुसंस्कृत शूद्र, और (2) शूद्र। उसने शूद्रों के प्राचीन वर्ग को सत्शूद्र अथवा सुसंस्कृत शूद्र कहा और आदिम जाति सहित उन लोगों के लिए शूद्र शब्द का प्रयोग किया, जो हिंदू सभ्यता की परिधि में आ गए थे। नई शब्दावली का आशय यह नहीं है कि शूद्रों के अधिकारो तथा कर्तव्यों में कोई अंतर है। विभेद केवल इतना है कि कुछ शूद्र द्विजों के साथ सहजीवन के लिए उपयुक्त हैं और कुछ कम उपयुक्त हैं।

अवर्ण जातियों का आपस में क्या संबंध है? क्या वे केवल जातियों के समूह है या उनके बीच कोई वर्ग-विभेद है? निश्चय ही वे केवल जातियों के समूह है। निश्चय ही अवर्ण जातियों के इस समूह में वर्ग-विभेद हैं। पर इस बारे में कुछ संशय हो सकता है कि आदिम जातियों तथा जरायम-पेशा जातियों के बीच कोई वर्ग-विभेद है या नहीं। संभवतः यह अंतर अत्यंत क्षीण है। लेकिन इसमें कोई संदेह नही कि आदिम जातियों व जरायम-पेशा जातियों और अस्पृश्यों के बीच स्पष्ट और व्यापक वर्ग-विभेद है। प्रथम दो के मन में यह अति स्पष्ट धारणा है कि अवर्ण जातियों के इस समूह में उच्च जातियां हैं और अस्पृश्य निम्न स्तर की जातियां हैं।

अब तक की चर्चा से पता चलता है कि हिंदू समाज-संगठन की तीन विशिष्टताएं है : (1) जाति, (2) जातियों का क्रम, और (3) जाति-व्यवस्था को भेदती हुई वर्ग-व्यवस्था। इसमें संदेह नहीं कि यह ढांचा बड़ा ही जटिल है और जो इसके ताने-बाने का अंग न हो, उसके लिए अपने मन में इस बारे मे सही तस्वीर बना लेना शायद कठिन हो। संभव है कि इसे एक डायग्राम की सहायता से समझा जा सके। मैं नीचे एक ऐसा ही डायग्राम दे रहा हूं, जो मेरे विचार मे हिंदुओं के इस सामाजिक ढांचे की कुछ झलक दे सकता है।

क	ग	ङ	छ
सवर्ण हिंदू सवर्ण जातियां	सवर्ण हिंदू सवर्ण जातियां	सवर्ण हिंदू अवर्ण जातियां	
प्रथम वर्ग उच्च जाति के द्विज-ब्राह्मणों, क्षत्रियों वैश्यों के तीन वर्णों से उत्पन्न जातियां	द्वितीय वर्ग निम्न जाति के शूद्र–चौथे वर्ण अर्थात शूद्रों से उत्पन्न जातियां	तृतीय वर्ग आदिम जातियां जरायम-पेशा जातियां	**चतुर्थ वर्ग** अस्पृश्य
ख	घ	च	ज

अंग्रेजी की मूल पाडुलिपि में इस डायग्राम को खाली छोड़ रखा है – संपादक।

यह डायग्राम हिंदुओं की वर्ग, जाति-व्यवस्था को प्रस्तुत करता है। इसमें उनके सामाजिक संगठन की सही तथा पूरी तस्वीर पेश करने की कोशिश की गई है। वह उसके अनेक महत्वपूर्ण लक्षणों को प्रस्तुत करता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि हिंदुओं की दो शाखाएं हैं : (1) सवर्ण हिंदू और (2) अवर्ण हिंदू। प्रथम शाखा अर्थात सवर्ण हिंदुओं में जातियों के दो वर्ग हैं : (1) द्विजों का, और (2) शूद्रों का। दूसरी शाखा अर्थात अवर्ण हिंदुओं मे जातियों के दो वर्ग हैं : (1) आदिम और जरायम-पेशा जातियों का, और (2) अस्पृश्य जातियों का। दूसरी बात यह है कि हर जाति का एक घेरा होता है और वह बाकी से अलग होती है। यह बात डायग्राम में नहीं दर्शाई गई है। जातियों के चारों वर्गों में से हरेक का

समूह है और उसे एक घेरे में रख दिया गया है। घेरे की यह रेखा जाति को वर्ग में विभाजित करती है और उसे दूसरे वर्ग से अलग करती है। जाति का वर्ग, जाति जितना संगठित नहीं होता। लेकिन वहां वर्ग की भावना होती है। तीसरी बात ध्यान देने योग्य यह है कि किस आधार पर यह घेरा बना। ये अनेक हैं। कुछ स्थाई हैं और कुछ अस्थाई। द्विज जातियों और शूद्र जातियों के बीच कोई विभाजन है ही नहीं। वह तो केवल पर्दा-भर है। यह विभाजन है ही नहीं। इसका उद्देश्य उन्हें अकेले रखना है। उसका उद्देश्य विभाजन नहीं है। शूद्र जातियों तथा प्रथम दो अवर्ण जातियों के बीच विभेद एक नियमित विभाजन है। लेकिन वह क्षीण भी है और थोड़ा भी। उसे लांघा जा सकता है। यह विभाजन दोनों को अलग करता है, पर पूर्ण पृथक नहीं करता। लेकिन इन तीन वर्गों और अस्पृश्यों के बीच विभाजन, वास्तविक विभाजन है और उसे हटाया नहीं जा सकता। वह कंटीले तार की बाढ़ जैसा है और उसका उद्देश्य होता है, स्पष्ट अलगाव करना। इसी बात को एक भिन्न प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है कि प्रथम तीन घेरे इस प्रकार रखे गए हैं कि वे एक-दूसरे के भीतर हैं। द्विजों तथा शूद्र जातियों के बीच पहले विभाजन को हटाया जा सकता है और वे दोनों अलग-अलग घेरों के बजाए एक घेरे में रखे जा सकते हैं। इसी प्रकार दूसरे विभाजन को हटाया जा सकता है और उस दशा में द्विज, शूद्र, आदिम तथा जरायम-पेशा जातियां यदि एक इकाई नहीं, तो एक समूह बना सकते हैं और एक ही घेरे में रह सकते हैं। लेकिन तीसरे विभाजन को कभी भी हटाया नहीं जा सकता, क्योंकि जातियों के ये तीनों वर्ग एक मुद्दे के बारे में एकमत हैं कि वे कभी भी अस्पृश्यों के साथ लोगों की एक इकाई के रूप में एक नहीं होंगे (अंग्रेजी की मूल पांडुलिपि की टंकित प्रति में यह स्थान खाली छोड़ दिया गया है। 'एक' शब्द अंग्रेजी खंड में उनके स. मंडल द्वारा जोड़ा गया है—संपादक) यह एक जघन्य बाधा है, जो अस्पृश्यों को 'शेष' से अलग करती है और उन्हें अलग-थलग होने के लिए विवश करती है।

इस डायग्राम में जातियों के विभिन्न वर्गों को एक-दूसरे से ऊंचे दिखाया गया है। यह ऊंच-नीच के क्रम को स्पष्ट करने के लिए किया गया है, जो जाति-व्यवस्था का एक प्रमुख लक्षण है। मैंने सवर्ण जातियों के दो वर्गों को उच्च वर्ग की जातियां और निम्न वर्ग की जातियां कहा है। लेकिन मैंने अवर्ण जातियों के अन्य दो वर्गों को निम्न वर्ग की जातियां और निम्नतम वर्ग की जातियां नहीं बताया है। एक दृष्टि से यह ठीक ही होता। सामान्य सामाजिक क्रम में निस्संदेह वे निम्नतर और निम्नतम हैं। लेकिन एक अन्य दृष्टि से यह उचित नहीं होता। उच्च, निम्न, निम्नतर और निम्नतम की शब्दावली से यह ध्वनित होता है कि वे एक पूरी इकाई के अंग हैं। लेकिन क्या अवर्ण जातियां और सवर्ण जातियां एक

पूरी इकाई की अंग हैं। वे नहीं हैं। जब वर्तमान जाति-व्यवस्था की जननी वर्ण-व्यवस्था की योजना तैयार की गई तो आदिम और जरायम-पेशा जातियां विचाराधीन नहीं थीं। अतः वर्ण-व्यवस्था के नियमों में उनके दर्जे और स्थान के बारे में कुछ भी नहीं कहा गया। लेकिन अस्पृश्यों के बारे में स्थिति ऐसी नहीं है। वे वर्ण-व्यवस्था के समय विचाराधीन थे। अस्पृश्यों के बारे में वर्ण-व्यवस्था के नियम अत्यंत स्पष्ट और अत्यंत सटीक हैं। हिंदू विधान के निर्माता मनु ने अपने नियम में कहा है कि वर्ण केवल चार हैं और पांचवां वर्ण नहीं होगा। जो सुधारक श्री गांधी के अस्पृश्यता निवारण आंदोलन में उनके समर्थक हैं, वे मनु की व्यवस्था को एक नया अर्थ देने का प्रयास कर रहे हैं। वे कहते हैं कि मनु को गलत समझा गया है। मनु के अनुसार कोई पांचवां वर्ण नहीं है और इस लिए उनका मंतव्य अस्पृश्यों अर्थात शूद्रों को चौथे वर्ण में शामिल कर लेना था। लेकिन यह तो स्पष्टतः उल्टी व्याख्या है। मनु का जो आशय था, वह यह था कि मूलतः चार वर्ण हैं, और वे चार ही रहने चाहिएं। वह अस्पृश्यों को उस भवन में प्रवेश दिलाने को तैयार नहीं थें, जिसे प्राचीन हिंदुओं ने वर्ण-व्यवस्था में विस्तार कर उसे पांच वर्णों के लिए बनाया था। जब उन्होंने यह कहा था कि पांचवा वर्ण नहीं होगा, तब उनका यही आशय था। अस्पृश्यों को उन्होंने जो नाम दिया है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वह यही चाहते थे कि अस्पृश्य हिंदू समाज-व्यवस्था से बाहर ही रहें। उन्हें वर्ण बाह्य (वर्ण-व्यवस्था से बाहर के लोग) कहा गया है। आदिम व जरायम-पेशा जातियों और अस्पृश्यों के बीच यही विभेद है। आदिम व जरायम-पेशा जातियों के विरुद्ध हिंदू समाज में प्रवेश के लिए कोई निश्चित वर्जना नहीं है। वे कालांतर में उसके सदस्य बन सकते हैं। फिलहाल वे हिंदू समाज से जुड़े हैं और उसके बाद वे उसमें घुलमिल सकते हैं तथा उसका अंग बन सकते हैं। लेकिन अस्पृश्यों की स्थिति अलग है। हिंदू समाज में उनके विरुद्ध निश्चित वर्जना है। उसमें सुधार की कोई गुंजाइश नहीं है। उन्हें अलग-थलग ही रखना होगा और वे हिंदू समाज का अंग नहीं बन सकते। अस्पृश्य हिंदू समाज के अंग नहीं हैं, और यदि वे कुछ हैं, तो वे उसके अंग मात्र हैं, अंग नहीं। हिंदुओं और अस्पृश्यों के बीच क्या संबंध है, इसकी सटीक व्याख्या बंबई के एक सम्मेलन में सनातनी हिंदुओं के नेता ऐनापुरे शास्त्री ने की है। उन्होंने कहा कि हिंदुओं के साथ अस्पृश्यों का संबंध तो वैसा ही है, जैसा किसी मनुष्य का उसके जूतों के साथ होता है। आदमी जूते पहनता है। इस दृष्टि से वह मनुष्य के साथ हैं, और कहा जा सकता है कि वह मनुष्य के हैं। लेकिन वह शरीर का अंग नहीं हैं, क्योंकि जिन दो चीजों को किसी इकाई से अलग किया जा सकता है, उन्हें उस इकाई का अंग नहीं कहा जा सकता। जो कुछ भी हो, यह उपमा है बड़ी सटीक।

3

हिंदू समाज की आधार-शिला

हिंदू समाज जातियों का घरौंदा है। हिंदुओं की कोई एक जाति नहीं है। ये जातियां विभिन्न वर्गों में गठित जन-समुदाय हैं। यही उसकी विशेषता है। यह धारणा उन विदेशियों की है, जो इतिहास के विभिन्न कालों में भारत आते रहे हैं। तथापि ऐसे लोग भी हैं, जो यह कहते हैं कि यह जाति का कोई असामान्य गुण नहीं है। उदाहरणार्थ प्रो. बेन्स का मत है :

> इस व्यवस्था में ऐसा कोई विलक्षण गुण नहीं है, जो अन्य देशों में, यहां तक कि पश्चिम के देशों में भी कभी-न-कभी न रहा हो या न मिल सकता हो, भले ही वह वहां अन्य प्रभावों के कारण काफी अर्से पहले ही समाप्त हो चुका है। कुछ समुदायों का धीरे-धीरे संप्रदाय अथवा वर्गों के रूप में बदल जाना सामान्य अथवा सार्वभौमिक प्रवृत्ति है और उनमें कुछ का आनुवांशिक या सबसे पृथक या परिस्थितिवश उच्च हो जाना कोई अस्वाभाविक बात नहीं कही जानी चाहिए।

अगर हम आदिम जातियों के सामाजिक संगठन के संदर्भ में विचार करें, तो इस तर्क की पुष्टि हो जाती है। आदिम समाज में मनुष्य कभी भी अकेला नहीं रहा।

अतः मनुष्यों की सर्वाधिक सामान्य और सर्वाधिक सहज प्रवृत्ति यह है कि वे वर्गों में रहते हैं। ऐतिहासिक कालक्रम में इन सामाजिक वर्गों के अनेक रूप बनते गए। परिवार एक ऐसा ही सामाजिक वर्ग है। वह सर्वत्र पाया जाता है और अब भी है। परिवार के तुरंत बाद उससे बड़ा वर्ग है, कुल। कम-से-कम शब्दों में कहा जाए तो यह कुल (वंश या गोत्र भी) ऐसे व्यक्तियों का वर्ग समझा जाता है, जो एक-दूसरे से अपनी-अपनी मां या अपने-अपने पिता के जरिए संबंध की ओर से एक-दूसरे से संबंधित हों। दूर के रिश्ते के लोगों को भी भाई-बहन, आदि

समझा जाता है और उन्हें उस कुल का सदस्य माना जाता है। हो सकता है कि यह संबंध बिल्कुल बनावटी हो, पर सामाजिक दृष्टि से यह उतना ही यथार्थ संबंध होता है जितना कि वह संबंध, जो समान रक्त पर आधारित होता है। ये कुल आपस में मिलकर समाज बन जाते हैं। जब कुलों को दो वर्गों में संगठित किया जाता है तो प्रत्येक वर्ग मोइती कहलाता है। जब कुल को दो से अधिक वर्गों में संगठित किया जाता है, तो हरेक को फ्रात्री कहते हैं। यह विभाजन विश्व में हर जगह देखने में नहीं आया। मोइती या फ्रात्री के कार्यकलापों के बारे में सटीक जानकारी उपलब्ध नहीं है। लेकिन इस बारे में कोई संदेह नहीं है कि हर मोइती और फ्रात्री एक सामाजिक वर्ग था और इस प्रकार जो वर्ग बने, उनमें आपस में भाईचारे की भावना होती थी। उसके बाद आते हैं, जनजातीय वर्ग। जनजातियों के स्वभाव, चरित्र और गठन में भारी अंतर होता था। हो सकता है कि जनजातियां ग्राम समुदायों से बनी हों और वे मोइती या कुल के रूप में न बंटी हों। हो सकता है कि उनमें कुल होते हों और मोइती न होते हों, अथवा मोइती हों, कुल न हों, अथवा कुल भी हों और मोइती भी हों। जनजातीय चेतना कभी प्रबल होती थी और कभी निर्बल। भले ही वर्गों के रूप में जनजातियों का गठन किसी निश्चित नियम के आधार पर न हुआ हो, अथवा इनका विकास किसी विशिष्ट दृष्टिकोण के आधार पर नहीं हुआ हो, पर उनमें कुछ समानता होती थी, जैसे एक-सी बोली, एक से रीति-रिवाज, कमोबेश निश्चित भू-क्षेत्र और कोई ऐसी शासन-प्रणाली, जिसके अधीन समूची जनजाति रहती थी। जनजाति के वर्ग से बड़ा जनजातियों का संघ या महासंघ होता था। लेकिन यह विरले थे। किसी खतरे का सामना करने के लिए जनजातियां परस्पर अनौपचारिक गठजोड़ से कोई एक संघ बना लेती होंगी। आदिम जातियों में परस्पर एक होने के दृष्टांत प्रायः नहीं मिलते। प्रसिद्ध इरोक्वोई (उत्तरी अमरीका की इंडियन जनजातियां) महासंघ ऐसा ही एक अपवाद है।

जो भी सामाजिक वर्ग बने, उनका आधार सगोत्रीयता या स्थानीयता रही। आदिम जातियों में विभिन्न वर्गों के निर्माण का आधार कुछ और है। यह लिंग, आयु या कोई अन्य आधार होता था। इस प्रकार जो सामाजिक वर्ग बने, उनको यदि हम ध्यान में रखें तो यह देखेंगे कि जाति नाम के इस सामाजिक वर्ग की उत्पत्ति में कोई नई या विलक्षण बात नहीं है। जाति एक प्रकार का कुल या कुनबा है और कुल या कुनबे की तरह यह भी एक प्रकार का सामाजिक वर्ग है।

यह स्वीकार किया गया है कि जाति और कुल में अनुरूपता है, दोनों एक ही तरह के वर्ग हैं, लेकिन यह ध्यान रखना चाहिए कि जहां तक अर्थ और प्रयोजन का संबंध है, जाति और कुल परस्पर विरोधी हैं। कोई ऐसी कुल-व्यवस्था नहीं है, जिसकी जाति-व्यवस्था के साथ तुलना की जा सके। चूंकि कुल-व्यवस्था जैसी

कोई जाति-व्यवस्था नहीं है, इसलिए कुलों में कोई श्रेणी नहीं होती। वास्तव में आदिम जातियों का कुल-संगठन हिंदुओं की वर्ण-व्यवस्था से सर्वथा विपरीत है। मैं अनुरूपता की बात को केवल अपनी बात कहने के लिए स्वीकार करता हूं। मेरे विचार में यह सवाल कि जाति-व्यवस्था स्वाभाविक है या अस्वाभाविक, असाधारण है या साधारण, एक बड़ा ही रोचक विषय है, इससे अनेक बातों की जानकारी होती है। लेकिन यह सवाल उतना महत्वपूर्ण नहीं है, जितना कि यह सवाल, जिसे मैं उठाना चाहता हूं। यह सवाल है कि क्या कारण है कि जाति-व्यवस्था अब भी जिंदा है, ज्यों-की-त्यों बनी हुई है, जब कि अन्य देशों में विद्यमान ऐसे ही सामाजिक वर्ग सभ्यता के विकास के साथ-साथ लुप्त हो गए हैं।

रोमनों का हिंदुओं जैसा ही सामाजिक संगठन था। जब ऐसी सभी संस्थाएं नहीं रहीं, तो केवल जाति-व्यवस्था ही क्यों बच गई है? लोग इसके नियमों को क्यों मानते हैं? जाति के लिए मान्यता क्या है।

सर्वत्र समाज के नियमों के पालन के लिए चार प्रकार का दंड-विधान होता है। वह इस प्रकार हैं : (1) प्राकृतिक, (2) लोकापवाद, (3) कानूनी, और (4) धार्मिक। इनमें से कौन-सा दंड-विधान जाति-व्यवस्था की पुष्टि करता है? इस प्रश्न पर विचार करने से पहले यह बताना उचित होगा कि यह दंड-विधान किस प्रकार व्यवहृत होता है।

प्राकृतिक दंड-विधान स्वभाव के द्वारा व्यवहृत होता है। जब कोई व्यक्ति किसी निश्चित तरीके से काम करने का आदी हो जाता है तो उस प्रकार कार्य करने के लिए उस पर कोई जोर नहीं डालना पड़ता। वह उसे स्वयं करने लगता है और रोजमर्रा के रूप में नियम से कार्य करना निश्चित हो जाता है।

लोकापवाद दंड-विधान लोकमत के माध्यम से व्यवहृत होता है। वह कतिपय तौर-तरीकों के बारे में समाज में प्रचलित स्वीकृति और अस्वीकृति की भावना है। कतिपय तौर-तरीका आम तरीका बन जाता है और सुस्थापित आम तरीके के अनुरूप किए गए कार्य स्वीकृति प्राप्त कर लेते हैं और उसके विरुद्ध किया गया कोई कार्य अस्वीकार कर दिया जाता है।

प्राकृतिक दंड-विधान और लोकापवाद, इन दोनों में कोई विशेषता नहीं होती। वे सर्वत्र और हर सामाजिक कहे जाने वाले कार्य की पृष्ठभूमि में रहते हैं। उनके प्रभाव के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है, लेकिन जहां कहीं भी ये प्रभावपूर्ण होते हैं, वहां वे एक-दूसरे से पुष्ट होकर ही प्रभावपूर्ण होते हैं। केवल कानूनी और धार्मिक दंड-विधान ही ऐसे दंड-विधान हैं, जो किसी संस्था को जीवित रख सकते हैं।

इसमें कोई संदेह नहीं कि वर्ण-व्यवस्था को हिंदू कानून की मान्यता प्राप्त है। हिंदू कानून का हर ग्रंथ जाति को कानूनी संस्था स्वीकार करता है, जिसका उल्लंघन करना अपराध है और जिसके दंड का विधान है। मनु के कानून का ग्रंथ जिसे *'मनुस्मृति* अथवा मानव धर्म-शास्त्र कहते हैं, हिंदुओं के कानून का सबसे पुराना और सबसे प्रामाणिक ग्रंथ है। उसके उद्धरणों से यह भली-भांति स्पष्ट हो जाएगा कि जाति पर कानूनी मान्यता की मोहर लगी हुई है।

हिंदू कानून का निर्माता मनु चार वर्णों की व्यवस्था को कानूनी मान्यता प्रदान करता है। लगता है कि मनु की संहिता का प्रमुख उद्देश्य चार वर्णों के कानून की व्यवस्था करना था। संहिता के प्रारंभिक श्लोकों से ही यह बात स्पष्ट है। उसमें कहा गया है :

1.1. एक समय बहुत से महर्षि मनु के पास गए जो एकाग्रचित्त बैठे थे और उनकी विधिपूर्वक अर्चना करके उनसे यह वचन बोले :

1.2. हे भगवान, आप हमें अनुक्रम के अनुसार सभी वर्णों (प्रमुख चार) और उनके बीच के वर्णों में से प्रत्येक के धर्म, सटीक रूप से बताएं।

इस प्रकार वह वर्ण-व्यवस्था को अपनी ओर से न केवल कानूनी मान्यता देता है, अपितु राजा के लिए अनिवार्य व्यवस्था भी देता है कि वह इस संस्था की रक्षा करे :

7.35. राजा की सृष्टि वर्णों (जातियों) और आश्रमों की रक्षा के लिए की गई है जो अपने पद के अनुसार अपने नाना कर्तव्यों को पूरा करते हैं।

7.24. दंड के विभ्रम-अभाव या अनुचित प्रयोग से सब वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि) दूषित (पत्नी-संभोग से वर्णसंकर) हो जाएंगे, सब मर्यादा (चतुर्वर्ग-फल प्राप्ति का कारणभूत नियम) छिन्न-भिन्न हो जाएंगे और सब लोगों में (एक-दूसरे के प्रति) क्षोभ उत्पन्न हो जाएगा।

जाति के उल्लंघन को मनु पाप कहता है और जो जाति से च्युत होकर पतित हो जाता है, उसके लिए वह भिन्न-भिन्न तीन प्रकार के दंडों की व्यवस्था करता है। पहला दंड मृत्यु के बाद का दंड है। मनु कहता है :

12.59. जो पतितों के साथ संबंध रखता है, जो अन्य पुरुषों की स्त्रियों के साथ संभोग करता है, जो ब्राह्मण की संपत्ति का अपहरण करता है, वह ब्रह्मराक्षस हो जाता है।

इस जीवन में पतित के लिए दंड का विधान दोहरा था। एक तो बहिष्कार था। मनु ने बहिष्कार का जो रूप-स्वरूप निश्चित किया है, वह इस प्रकार है :

11.180. जो पतित के साथ संबंध रखता है, उसके साथ सवारी करता है, एक ही आसन पर बैठता है, भोजन करता है, वह एक वर्ष में, और जो पतित के साथ यज्ञ करता है, उसे विद्याध्ययन कराता है या जो पतित के साथ विवाह संबंध करता है, वह तत्काल पतित हो जाता है।

11.181. जो इन पतितों में से किसी भी पतित के साथ संबंध रखता है, उसे (ऐसे) संबंध जन्य पाप के शमन के लिए वही प्रायश्चित करना चाहिए, जो इस प्रकार के पतितों के लिए निर्धारित है।

11.182. पतित (व्यक्ति के) सपिंडों और समानोदकों को चाहिए कि वे किसी अशुभ दिन गांव के बाहर सायंकाल के समय बांधवों, पुरोहितों और गुरुओं की उपस्थिति में उसे (जैसे वह मर गया है) जलदान करें।

11.183. कोई नौकरानी पानी से भरे घड़े को, जैसे वह मृत व्यक्ति के लिए हो, अपनी लात से ठोकर मारकर लुढ़का दे और पतित व्यक्ति के सपिंड जन व समानोदक जन एक दिन और एक रात का अशौच मानें।

11.184. इसके बाद उसके महापालकों के जाति वाले उसके साथ बात न करें, न एक आसन पर साथ बैठें, न दायभाग दें और न कोई लौकिक व्यवहार ही, जैसा कि प्रायः होता है, उसके साथ रखें।

दूसरा था दायभाग से वंचित करना।

9.201. नपुंसक, पतित, जन्मान्ध, जन्मवधिर, पागल, मूर्ख और गूंगा तथा किसी भी (कर्म या स्पर्श) इंद्रिय से शून्य व्यक्ति दाय के भागी नहीं होते।

11.185. और (यदि वह ज्येष्ठ हो) तो उसका ज्येष्ठता का अधिकार और उसे प्राप्य अतिरिक्त अंश नहीं दिया जाएगा और उसके स्थान पर कोई छोटा भाई जो गुणवाण हो, अपने ज्येष्ठ भाई के अंश को प्राप्त करेगा।

बहिष्कार और दायभाग से वंचित होने के दोनों दंडों से मुक्ति का एक ही

उपाय था कि वह विहित रीति से प्रायश्चित कर ले। प्रायश्चित ही एकमात्र उपाय था। मनु कहता है :

> 11.187. और यदि वह प्रायश्चित कर ले तो उसके सजातीय उसके साथ पवित्र जलाशय में स्नान करेंगे और वहां एक नया घड़ा रखेंगे, जो जल से भरा होगा।

> 11.188. और वह उस घड़े को जल में छोड़ देगा। वह घर लौटेगा और पहले की तरह अपने संबंधियों के प्रति अपने सभी कर्तव्य करने लगेगा।

पतित पुरुष और पतित स्त्री में एक भेद था। किसी को छूट नहीं थी। नियम दोनों पर लागू होता है। मनु कहता है :

> 11.189. जहां तक पतित स्त्रियों का संबंध है, वे भी उसी नियम का पालन करें, परंतु उन्हें भोजन, वस्त्र, पानी दिया जाए और वे अपने (परिवार के घर) के निकट निवास करें।

कानूनी मान्यता सशक्त मान्यता थी। जाति के उल्लघन के लिए कानून में दोहरे दंड की व्यवस्था थी। उसमें बहिष्कार भी था और साथ ही दायभाग के अधिकार से वंचित किए जाने का भी विधान था। ये दंड कितने कड़े थे, उसका सम्यक वर्णन सर टामस स्ट्रेंज ने हिंदू कानून संबधी अपने निबंध में किया है। वह इस विषय में लिखते हैं :

> अब एक मामले पर विचार करना बाकी है। यह व्यक्तिगत है कि वह त्रुटि से संबंधित है, जो पर्याप्त चर्चा का विषय रही है। इस कारण व्यक्ति निष्कासित कर दिया जाता था, उसे मर्यादा दी जानी बंद कर दी जाती थी, उसे जातिच्युत कर दिया जाता था। इसका प्रभाव यह होता है कि व्यक्ति समाज में संपर्क रखने से वंचित कर दिया जाता था, वह किसी भी समारोह में भाग नहीं ले सकता था, वह किसी भी कार्य के योग्य नहीं रह जाता था। उससे जीवन की सारी सुविधाएं छीन ली जाती थीं। उसके साथ सभी प्रकार के सामाजिक संबंध तोड़ दिए जाते थे। ज्यों ही किसी व्यक्ति को दंड दे दिया जाता था, उसी क्षण से ही उससे न तो कोई बात करेगा, न उसके पास बैठेगा, वह दाय में किसी भी अश का या किसी प्रकार की संपत्ति का अधिकारी नही रह जाता, उसे किसी भी समारोह के लिए, जो चाहे साधारण हो या विशेष, जैसे नव वर्ष पर आयोजित उत्सव, कोई न्योता नही भेजा जाता था। इन परिस्थितियों में वह जीवित होते हुए भी मृत समझ लिया जाता है। हिदू विधि मे ऐसे लोगो के लिए तर्पण करने की व्यवस्था है, मानो

ये प्रेत हों। दंड देने की यह व्यवस्था जो अत्यंत अपमानजनक और दमनकारी थी, प्राचीन विधि के अधीन लागू की जाती थी। जो भी उससे बच निकलने की कोशिश करता था, उसे वैसा ही दंड भोगना पड़ता था। लेकिन वर्तमान में प्रारंभ से यह दंड नरम कर दिया गया। यह कहा गया है कि 'केवल पापी ही अपने पाप का दंड भोगेगा।' अब कानून बहिष्कार की इस प्रणाली को इतना गलत समझता है कि यदि कोई व्यक्ति, जिसे दूसरे व्यक्ति के साथ बैठकर भोजन करना चाहिए, भोजन करने से इंकार कर दे और उसका कोई पर्याप्त कारण न हो तो वह दंडनीय होगा। बंबई की रिपोर्टों में जाति से दुर्भावना से बहिष्कार के लिए हर्जाने के दावे की एक घटना का उल्लेख है। हिंदू कानून जिसे जातिच्युत कहता है और जाति से निष्कासन, जैसा कि पहले हम लोगों में प्रचलित था, ये दोनों दंड प्रकृति और प्रभाव की दृष्टि से एक-दूसरे के समान तो हैं, लेकिन विशिष्ट परिस्थिति में इनमें अंतर है। हमारे यहां की तरह हिंदुओं में अपराध को ध्यान में रखते हुए कहीं दंड कम है और कहीं अधिक है, जैसा कि दायभाग के मामले में है। हमारे सामने 1814 में बंगाल की सदर दीवानी अदालत का एक केस है। जब इस केस के बारे में सरकारी पंडितों से राय ली गई, तब उन्होंने ऐसे मामलों में जिसमें किसी व्यक्ति को आंशिक और अस्थाई रूप में जाति से पदावनत कर दिया जाता है और उन मामलों में जिनमें बाद में जाति ही छिन जाती है, भेद निर्धारित किया। उनका विचार था कि पहली यानी आंशिक पदावनति की स्थिति में जब अपराध का प्रायश्चित कर लिया जाता है तो उत्तराधिकार की बाधा दूर हो जाती है, लेकिन दूसरी स्थिति में जहां पदावनति सदा के लिए होती है, तब भले ही अपराध का पाप प्रायश्चित से दूर हो जाए, पर उत्तराधिकार की बाधा बनी रहती है, क्योंकि जिस व्यक्ति को अंतिम रूप से जाति से बहिष्कृत कर दिया जाए, वह सदा-सर्वदा के लिए बहिष्कृत (पतित) ही रहेगा। उल्लिखित केस में विचाराधीन पक्ष पर आरोप था कि उसने अनेक बार लपटता और निर्लज्जता का आचरण किया, उसने बेशर्मी से मादक पेयों की लत पाल ली, उसने सर्वाधिक नीच और सर्वाधिक कुख्यात चरित्र के लोगों के साथ कुसंगति और खान-पान किया, उसने अलग-अलग समय पर कई व्यक्तियों के साथ मनमाने ढंग से मार-पीट कर उन्हें आहत किया, उसने खुले आम मुस्लिम महिला के साथ सहवास किया और उसने अपनी माता के, जिसने उसे गोद लिया था, निवास स्थान को न केवल आग लगा दी, बल्कि उससे पूर्व अन्य उपायों से उसे एक से अधिक बार बर्बाद करने का भी प्रयास किया। पंडितों ने कहा, शियन्नाध के विरुद्ध जो अपराध सिद्ध हो

चुके हैं, उन सबमें से केवल एक, यानी उसने मुस्लिम महिला के साथ जो सहवास किया, ऐसा अपराध है कि जो उसे इस दंड का पात्र बनाता है कि उसे सदा-सर्वदा के लिए अपनी जाति से बहिष्कृत कर दिया जाए। और यह थी अदालत की राय। सबसे पहली बात तो यह है कि पदावनत करने की शक्ति संबंधित जाति की पंचायत के पास होती है। यदि उनकी सजा को चुपचाप स्वीकार न किया जाए तो सम्राट के न्यायालय में अपील की जा सकती है। यहां इस केस में दायभाग के दावे का सवाल उठा और यह पता चला कि पंचायत अनेक मामलों में अपनी शक्ति का प्रयोग कर दोषी व्यक्ति को सेंसर कर सकती है, जिनमें कानून कुछ भी नहीं कर सकता। अपराधी को दंड केवल उन अपराधों के लिए दिया जा सकता है, जो उसने अपनी वर्तमान अवस्था में किए हों और जहां अपराध घटिया हो तो उसके दंड का औचित्य तभी होगा, जब वह बार-बार किया जाए। पदावनति बहिष्कार के अन्य कारणों से इस दृष्टि से भिन्न है कि उसका प्रभाव उसके पुत्र पर पड़ता है, जो अपने पिता द्वारा अपराध करने के बाद पैदा होता है। यदि उसका जन्म पहले हुआ हो तो वह दायभाग का अधिकारी बना रहेगा और वह दायभाग अपने पिता के निधन के बाद प्राप्त करता है। बहिष्कार के हर अन्य मामले में पुत्र, यदि वस्तुतः अपने पिता की तरह संकट में नहीं है तो उत्तराधिकार प्राप्त करता है और उसका पालन-पोषण करता है, वह अधिकार पड़पोते तक बना रहता है। पिता अथवा स्वयं अपराधी के संबंध में अगर दायभाग का अधिकार प्राकृतिक दोष के कारण नहीं छिनता है, तब संपत्ति के बंटवारे का प्रश्न संपत्ति के विभाजन से पूर्व उठता है। अगर वह उसके बाद उठता है तो उसके कारण उत्तराधिकार नहीं छिनेगा। पति के द्वारा धर्म-परिवर्तन करने पर अगर पत्नी जारकर्म करती है, तब दायभाग का उसका अधिकार नहीं रहेगा। यदि उसे मिल भी गया हो तो भी छिन जाएगा। इस संबंध में हिंदू विधवा की स्थिति हमारी विधवाओं जैसी होती है। अधिकांश मामलों में उनकी स्थिति पट्टेदार जैसी होती है। वे उसे तभी तक धारण करती हैं, जब तक वे सदाचारिणी रहें। एक अति श्रद्धायोग्य व्यक्ति के मत के अनुसार, यदि जाति से बहिष्कार ऐसा हो कि उसका प्रायश्चित और उसकी क्षतिपूर्ति न हो सके तो वह अधिकार जब्त कर लिया जाता है। सामान्यतः अयोग्यता का कानून स्त्री और पुरुष, दोनों पर समान रूप से लागू होता है।

अतः ऐसा लगता है कि जाति से बहिष्कृत व्यक्ति के मामले को छोड़कर दायभाग की अयोग्यता केवल वैयक्तिक है। कहा जा सकता है कि हर बहिष्कृत व्यक्ति को अधिकार है कि उसका पालन-पोषण किया जाए और वह

कभी भी अपने पहले के अधिकारों को फिर से प्राप्त कर सकता है। इन प्रावधानों के पीछे जो भी सूझबूझ हो, यह नहीं कहा जा सकता कि ये सर्वत्र न्याय-रहित हैं या पूर्णतः मानवीयता-रहित हैं। हमें इस देश के कानून की तुलना अपने देश के कानून से करते समय यह नहीं भूलना चाहिए कि हमने ऐसा कोई कानून नहीं बनाया है कि वसीयत के द्वारा बच्चों को दायभाग से पूर्णतः वंचित न किया जा सके।

अगले अध्याय में यह बताया गया है कि इन दोनों धर्मों में किसी में भी दीक्षा प्राप्त व्यक्ति (जैसे हमारे यहां प्रत्येक धार्मिक क्रांति से पूर्व दीक्षा प्राप्त व्यक्ति) सामाजिक दृष्टि से मृत समझ लिया जाता है और उसकी संतान उसके जीवन-काल में ही उत्तराधिकार ग्रहण कर लेती है, मानो उसकी स्वाभाविक मृत्यु हो गई हो, और जिस प्रकार वह व्यक्ति स्वयं सांसारिक कार्यों से अपने को मुक्त कर लेता है, वह दायभाग के अयोग्य घोषित कर दिया जाता है, वैसे ही वह व्यक्ति भी जो शुरू में भक्त होने का दंभ भरता है और बाद में भक्त बन भी जाता है। पहली श्रेणी में वे व्यक्ति भी शामिल हैं जो दिखावा करते हैं, बहुरूपिए होते हैं और जो पवित्र चिन्हों व प्रतीकों को धारण करते हैं, कृष्छ साधना करते हैं, लेकिन उनकी दृष्टि स्वार्थपूर्ण होती है।

बहिष्कार का शेष कारण है अनुचित विवाह, अर्थात वह विवाह, जिसमें पति और पत्नी एक ही वंश के हों। ऐसा विवाह बेमेल होता है। अतः उसके फलस्वरूप जो संतान होगी, वह दायभाग प्राप्त नहीं कर सकती, जो शूद्रों में होता है। और वही परिणाम उस विवाह का होता है, जहां विवाह वर्ग क्रम के अनुसार नहीं हुआ हो।

अब देखना यह है कि ऐसी स्थिति में क्या उसका उत्तराधिकारी यदि उस पर कोई रोक न हो, दायभाग प्राप्त कर सकता है? क्या जाति को धर्म की धार्मिक मान्यता प्राप्त है? वेद जाति को मान्यता देते हैं।

'*ऋग्वेद*' जाति को मान्यता देता है और निम्नलिखित छंदों में उसकी व्याख्या मिलती है :

1. इस पुरुष के एक सहस्त्र शीर्ष हैं, एक सहस्त्र नेत्र हैं, एक सहस्त्र चरण हैं। यह पृथ्वी को चारों ओर से आवृत्त किए हुए है, यह पृथ्वी से दस अंगुल ऊपर है।

2. यह पुरुष स्वयं समस्त (ब्रह्मांड) है, जो वर्तमान में तथा जो भी भविष्य में होगा। यह पुरुष अमरत्व का स्वामी है, जो अन्न से समृद्ध होता है।

3. ऐसी उसकी विराटता है, पुरुष इससे श्रेष्ठ जो कुछ अस्तित्व में है वह इसका चतुर्थांश है, उसका तीन-चौथाई यह अमर्त्य आकाश है।

4. पुरुष का तीन-चौथाई भाग ऊपर स्थित है। इसका चौथाई भाग इस पुरुष से पुनः उत्पन्न हुआ। उसके बाद यह सभी में विकीर्ण हो गया, उनमें जो भोजन करते हैं और उनमें भी जो भोजन नहीं करते।

5. उससे विराट और विराट से पुरुष पैदा हुआ। जब वह उत्पन्न हो गया तब पृथ्वी से परे, उसके आगे और उसके पीछे विस्तृत हो गया।

6. जब देवताओं ने नव पुरुष की बलि देकर यज्ञ किया तब वसंत घृत था, ग्रीष्म समिधा थी और शरद (उसके साथ) नैवेद्य बनी।

7. उन्होंने इस बलि, अर्थात पुरुष को जो आरंभ में जन्मा था, यज्ञ की समिधा में भस्म कर दिया। देवताओं, साध्यों और ऋषियों ने उससे यज्ञ किया।

8. उस विराट यज्ञ के साथ दही और घृत प्राप्त हुआ। उससे वायु में उड़ने वाले पक्षी तथा जंगली एवं पालतू पशु बने।

9. उस विराट यज्ञ से ऋचाएं, साम, छंद और यजुः उत्पन्न हुए।

10. उससे घोड़े और दोनों ओर दांत वाले सभी पशु पैदा हुए। उसी से गाएं उत्पन्न हुईं और उसी से बकरियां तथा भेड़ें पैदा हुईं।

11. जब (देवों ने) पुरुष को विभक्त किया तो उन्होंने उसे कितने भागों में बांटा? उसका मुख क्या था? उसकी भुजाएं क्या थीं? किन (दो) को उसकी जंघाएं और पैर कहा गया?

12. ब्राह्मण उसका मुख था; राजन्य (क्षत्रिय) उसकी भुजाएं थीं, जिन प्राणियों को वैश्य कहा जाता है, वे उसकी जंघाए थीं और उसके चरण से शूद्र उत्पन्न हुआ।

13. उसकी आत्मा (मानस) से चंद्रमा, उसकी आंख से सूर्य, उसके मुख से इंद्र और अग्नि और उसके श्वास से वायु पैदा हुए।

14. उसकी नाभि से अंतरिक्ष, उसके सिर से लोक, पैरों से भूमि, उसके कानों से चारों दिशाएं पैदा हुईं; इस तरह (देवों ने) लोकों की रचना की।

15. जब देवताओं ने यज्ञ करते हुए पुरुष को बलि के रूप में बांधा तब (अग्नि के चारों ओर) उसके लिए सात समिधाएं रखी गईं और उसमें इक्कीस समिधाओं का ईंधन तैयार किया गया।

16. देवताओं ने बलि देकर यज्ञ किया। उन महान शक्तियों ने स्वर्ग को प्राप्त किया जहां पूर्ववर्ती साध्य, देवता हैं।

ब्राह्मण-ग्रंथ भी जाति को मान्यता प्रदान करते हैं। *'शतपथ ब्राह्मण'* में जाति का उल्लेख इस प्रकार किया गया है :

23. ब्रह्म (यहां टीकाकार के अनुसार अग्नि और ब्राह्मण के प्रतिनिधि के रूप में विद्यमान) पहले यह (ब्रह्मांड) था, केवल एक। एक अकेला होने के कारण उसका विस्तार नहीं हुआ। उसने अपने ओज से एक अद्‌भुत रूप 'क्षात्र' उत्पन्न किया, अर्थात देवों में से जो शक्तियां (क्षत्राणी) हैं, यथा इंद्र, वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु, ईशान। अतः 'क्षात्र' से बढ़कर कोई नहीं है। इसीलिए राजसूय यज्ञ में ब्राह्मण क्षत्रिय से नीचे आसन ग्रहण करता है, वह 'क्षात्र' (राज शक्ति) को गौरव प्रदान करता है। यह 'ब्रहम' ही क्षात्र का उद्‌गम है। अतः यद्यपि राजा प्रधानता प्राप्त कर लेता है, पर अंततः ब्राह्मण के आश्रित रहता है, जो उसका मूल है। जो उसे (ब्राह्मण को) नष्ट करता है, वह अपने ही मूल को नष्ट करता है। जो अपने से श्रेष्ठ को आहत करता है, उसकी स्थिति अति दयनीय हो जाती है।

24. उसका विकास नहीं हुआ। उसने 'विश', अर्थात देवों के उस वर्ग को पैदा किया, जो वीर सैनिकों के रूप में जाने जाते हैं, जैसे वसु, रुद्र, आदित्य, विचदेव, मरुत आदि गण।

25. उसका विकास नहीं हुआ। उसने शूद्र जाति, पूषण को पैदा किया। यह पृथ्वी पूषण है, क्योंकि वह चराचर का पोषण करती है।

26. उसका विकास नहीं हुआ। उसने अपने ओज से एक अद्‌भुत रूप न्याय (धर्म) को पैदा किया। यह शासकों का शासक (क्षात्रों का क्षात्र), अर्थात न्याय है। अतः न्याय से बढ़कर कुछ नहीं है। अतः निर्बल सबल पर विजय के लिए न्याय, अर्थात राजा के द्वारा सहारा लेता है। यह न्याय

ही सत्य है। अतः जो व्यक्ति सत्य कहता है, उसके बारे में कहा जाता है कि वह 'न्याय' कहता है, अर्थात जो न्याय कहता है, वह सत्य कहता है क्योंकि इसके ये दोनों ही पक्ष हैं।

27. यह है ब्रह्म, क्षात्र, विश और शूद्र। अग्नि के द्वारा वह देवताओं में ब्रह्मा बना, मनुष्यों में ब्राह्मण, (दिव्य) क्षत्रियों के द्वारा क्षत्रिय (मानव), (दिव्य) वैश्य के द्वारा वैश्य (मानव), (दिव्य) शूद्र के द्वारा शूद्र (मानव) बना। इसी कारण वे देवों के बीच अग्नि में और मानवों के बीच और ब्राह्मणों में आश्रय खोजते हैं।

तैत्तरीय ब्राह्मण (1) 2, 6, 7 – दैव्यो वे वर्णों ब्राह्मण असूर्यों शूद्रः। 'ब्राह्मणों की उत्पत्ति देवों से और शूद्रों की असुरों से हुई है।'

यह मानना पड़ेगा कि जाति की गाड़ी को आगे चलाते रहने वाले दो शक्तिशाली इंजन थे—कानून और धर्म। निस्संदेह इन दोनों में से धार्मिक मान्यता प्रमुख मान्यता थी और जाति को केवल धार्मिक मान्यता के बल पर जीवित रखा गया। यह दो कारणों से और भी स्पष्ट हो जाता है। यह मानना पड़ेगा कि कानूनी मान्यता का सहारा तो कभी-कभी ही लिया गया। इसका अर्थ है कि जाति को अन्य साधनों से जिंदा रखा गया। दूसरे, कानूनी मान्यता का उपयोग केवल 1850 तक किया गया। उस वर्ष ब्रिटिश सरकार ने जाति अयोग्यता निवारण अधिनियम (कास्ट डिसएबिलिटीज रिमूवल एक्ट) बनाकर इस पर से कानूनी मान्यता उठा ली, या यूं कहें कि समाप्त ही कर दी गई थी। हालांकि कानूनी मान्यता वापस ले ली गई, पर जाति को बराबर मान्यता मिलती रही। उसमें कोई कमी नहीं आई। यदि जाति को कानूनी मान्यता के अलावा धार्मिक मान्यता न प्राप्त होती, जो उससे भी अधिक शक्तिशाली थी, तो जाति का बना रहना संभव नहीं था।

यह निर्विवाद है कि धार्मिक मान्यता से अधिक शक्तिशाली कोई और मान्यता नहीं हो सकती, जिसे कोई संस्था या आस्था अपने अस्तित्व को बनाए रखने और उसे पुष्ट करने के लिए अर्जित कर सकती है। उसकी शक्ति अनंत है और उसका शिकंजा फौलादी है। लेकिन यह बात कम ही समझ में आती है कि इस धार्मिक मान्यता को इतनी बढ़िया किस्म की अश्व-शक्ति कैसे और कहां से प्राप्त होती है? इसे समझने के लिए इस बात पर ध्यान दिया जाना चाहिए कि इस धार्मिक मान्यता को यह शक्ति दो स्रोतों से मिलती है।

सर्वप्रथम तो यह कि जो धार्मिक है, वह सामाजिक भी है। इस बारे में प्रो. डर्कहीम के विचार निम्नलिखित हैं :

> अगर कोई वर्ग कुछ मान्यताओं को स्वीकार कर उनसे जुड़े रीति-रिवाजों के पालन करने का संकल्प करता है तो वे धार्मिक आस्थाएं उस वर्ग के लिए समान होती हैं। उन्हें उस वर्ग के सदस्य अलग-अलग ग्रहण नहीं करते, वे उस समस्त वर्ग के लिए होती हैं और इन्हीं के कारण वह वर्ग एक इकाई बनता है, उनमें परस्पर एकता की भावना उत्पन्न होती है, जो केवल इस कारण कि उनकी एक समान आस्था होती है।[1]

दूसरे, जो धार्मिक है, वह पावन है। मैं पुनः प्रो. डर्कहीम की साक्षी देता हूं। उनके विचार निम्नलिखित हैं[2] :

> विश्व में जो भी धर्म हैं, वे चाहे सरल हों या जटिल, उन सभी में एक बात समान मिलती है, और वह यह कि वे उन सभी वास्तविक अथवा काल्पनिक विषयों को जिनके बारे में मनुष्य सोच सकता है, दो वर्गों में बांट देती हैं, जो एक-दूसरे के विपरीत होते हैं। इन्हें अलग-अलग नाम दिए जाते हैं। हम इन्हें *अपवित्र* और *पवित्र* शब्दों से व्यक्त कर सकते हैं।... मानव चिंतन के समूचे इतिहास में इन दो श्रेणियों के रूप में वर्गीकरण का ऐसा कोई अन्य उदाहरण नहीं मिलता, जो एक-दूसरे से इतना नितांत भिन्न हो या आमूलतः परस्पर इतना विपरीत हो। परंपरा से भला और बुरा कहकर वैपरीत्य का जो भाव व्यक्त किया जाता है, वह और कुछ नहीं है, क्योंकि अच्छा और बुरा एक ही वर्ग, यानी आचार-विचार के दो विभिन्न प्रकार हैं, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार स्वस्थता और अस्वस्थता एक ही तथ्य अर्थात ज़ीवन के दो अलग-अलग पहलू हैं। पर पवित्र और अपवित्र की कल्पना सर्वत्र सदा ही मानव-मन ने दो नितांत अलग-अलग श्रेणियों के रूप में की है। उनके संबंध में उसने दो अलग-अलग जगत की संकल्पना की है, जिनका एक-दूसरे से कोई वास्ता नहीं। ... धार्मिक आस्थाएं वे रूप हैं, जो पवित्र वस्तुओं की प्रकृति और उन संबंधों को व्यक्त करते हैं, जो इन वस्तुओं में परस्पर या अपवित्र वस्तुओं के साथ इन वस्तुओं के होते हैं, (जब कि) आचार वे नियम हैं, जो यह निर्धारित करते हैं कि इन पवित्र विषयों के संदर्भ में किस प्रकार मनुष्य स्वतः सुख-शांति प्राप्त कर सकता है।

इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सामाजिक, धार्मिक तथा कर्मकांडीय आस्थाओं का आपस में गहरा संबंध है। जो धारणाएं धार्मिक हैं, वे सामाजिक हैं।

---

1. *एलीमेंट्री फार्म्स आफ दि रिलिजस लाइफ,* पृ. 37-40
2. वही, पृ. 43

पर जो सामाजिक हैं, वे सारी-की-सारी धार्मिक नहीं हैं। जो धारणाएं कर्मकांडीय हैं, वे सामाजिक हैं, भले ही जो सामाजिक हों वे सारी-की-सारी कर्मकांडीय न हों। दूसरी ओर, जो धार्मिक हैं, वह सामाजिक भी है और कर्मकांडीय भी।

धार्मिक आस्थाओं के मान्य होने का एक आधार यह है कि धर्म एक सामाजिक वस्तु है और धार्मिक आस्थाएं सामाजिक आस्थाएं होती हैं। कोई वर्ग धार्मिक आस्थाओं को किसी व्यक्ति पर उसी प्रकार और उसी आधार पर आरोपित करता है, जिस प्रकार और जिस आधार पर वह अपने अन्य गैर-धार्मिक तथा विशुद्ध सामाजिक आस्थाएं आरोपित करता है। उद्देश्य उस वर्ग की अखंडता को बनाए रखना होता है। चूंकि वर्ग की अखंडता और उसकी धार्मिक आस्थाओं का आपस में चोली-दामन का संबंध होता है, अतः जितना प्रचंड और कठोर दंड धार्मिक आस्थाओं के उल्लंघन के लिए दिया जाता है, वह प्रायः उस दंड से अधिक कठोर तथा प्रचंड होता है, जो गैर-धार्मिक आस्थाओं के उल्लंघन करने पर दिया जाता है। समाज की शक्ति आदेश स्वरूप होती है और उसके सामने व्यक्ति प्रायः बेबस होता है। धार्मिक आस्था के मामले में समाज की शक्ति का आदेशात्मक रूप इस भावना से और अधिक प्रबल हो जाता है कि उसका उल्लघन अधिक गंभीर कोटि का उल्लंघन है और वह धार्मिक आस्था को कोरी सामाजिक आस्था की अपेक्षा कहीं अधिक शक्ति देता है।

धार्मिक मान्यता को कर्मकांड पुष्ट करता है। इस कर्मकांड का मूल उद्‌गम व्यक्ति, और समाज उसका गौण उद्‌गम होता है। धार्मिक मानवता के उद्‌गम के संबध में समाज की वह भूमिका बड़ी विचित्र है। कर्मकांडीय आस्था व्यक्ति को धार्मिक आस्था से पालन के लिए तैयार करती है। उसके कारण यह आवश्यक नहीं रह जाता कि समूह अपने प्रभाव का उपयोग करे। यही कारण है कि धार्मिक मान्यता के मूल में स्थित कर्मकांडीय आस्था उसे इतना उच्च आसन प्रदान कर देती है कि वह अन्य सभी मान्यताओं को इतना लांघ जाती है कि वास्तव में उनकी जरूरत ही नही पड़ती। यही कारण है कि केवल धार्मिक मान्यता ही धार्मिक आस्थाओं की अखंडता को कायम रखने के लिए इतनी पर्याप्त हो जाती है कि काल और परिस्थितियां भी उस पर प्रभाव डालने में अक्षम सिद्ध हुई हैं। यह किस प्रकार होता है, उसे आसानी से समझा जा सकता है। पवित्रता व्यक्ति के मानस में आदर और श्रद्धा का भाव पैदा करती है। निश्चय ही अपवित्रता के प्रति उसके मन में वैसा भाव पैदा हो ही नहीं सकता। प्रो. डर्कहीम के शब्दों में :

> महान कर्म करने वाले व्यक्तियों के चारो ओर स्वतः एक सीमा रेखा बन जाती है, जो (पवित्र के प्रति) धार्मिक श्रद्धा भावना से स्वभावतः भिन्न नहीं होती। दोनों ही स्थितियों में प्रत्येक व्यक्ति की प्रतिक्रिया एक समान होती है।

वह (व्यक्ति) महान व्यक्तियों और अपने बीच कुछ अंतर समझता है, वह उनसे व्यवहार करते समय सावधान रहता है, वह उनसे बातचीत करते समय साधारण मनुष्यों के प्रति व्यक्त व्यवहार से भिन्न भावभंगिमा और भाषा का प्रयोग करता है।

पवित्रता श्रद्धा का भाव पैदा करती है। वह ऐसा भाव भी पैदा करती है, जिसका उल्लंघन नहीं किया जा सकता। जब कोई विश्वास किसी पवित्र वस्तु में आस्था के रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है, तो न तो उसका संस्पर्श किया जा सकता है और न ही उसका खंडन अथवा प्रतिवाद किया जा सकता है। पवित्र वस्तु की आलोचना भी नहीं की जा सकती। पवित्रता संस्पर्श और विवाद से परे है। जब किसी व्यक्ति में ये भाव नख से शिख तक कूट-कूटकर भर दिए जाते हैं, जब ये भाव उसके रोम-रोम में रम जाते हैं तो वह स्वयं उस वस्तु का पक्षधर एवं संरक्षक बन जाता है, जिसके बारे में उसे सीख दी जाती है कि वह पवित्र है।

जाति के मामले में भी हिंदुओं ने भी हूबहू यही किया है। उन्होंने वेदों में जाति को स्थान दिया है। वेद पवित्र हैं, अतः जाति पर भी पवित्रता की मोहर लग गई है। यह कहना गलत होगा कि वेद पवित्र हैं, क्योंकि वे धर्म-सम्मत हैं। स्थिति यह है कि वे धर्म-सम्मत हैं, क्योंकि वे पवित्र हैं।

ऐसा प्रतीत हो सकता है कि हिंदुओं में वेदों के प्रति जो पवित्र भावना है, उसके लिए उन्होंने प्रत्यक्षतः कोई नाम नहीं दिया। वेद का सीधा अर्थ है, ज्ञान। हो सकता है कि ऐसा हो। लेकिन इस बारे में कोई संशय नहीं हो सकता कि वे वेदों को पवित्र मानते हैं। वास्तविकता तो यह है कि उन्होंने वेदों के लिए उस भाव से जो पवित्र शब्द से व्यक्त होता है, कहीं अधिक श्रद्धा तथा सम्मान जताने वाले शब्द का प्रयोग किया है। वे वेदों को 'श्रुति' कहते हैं। 'श्रुति' का अर्थ है, ईश्वर का वह शब्द, जिसे मनुष्य ने सुना (या ईश्वर द्वारा जिसे व्यक्त किया गया था)। आदिम धर्म में पवित्र उसे कहा गया है, जिसका निर्माण मनुष्य ने किया है। हिंदू धर्म में जो ईश्वर द्वारा निर्धारित किया गया, वह पवित्र है।

हिंदू वेदों को अपने धर्म का पवित्र ग्रंथ मानते हैं। वे वेदो को एक विशिष्ट स्थान देते हैं। हिंदुओं की मान्यता[1] है कि सृष्टि के चक्र होते हैं। इन्हें 'कल्प' कहते हैं। हर चक्र के अंत में जल-प्रलय होती है और एक नए सृष्टि-चक्र का आरभ होता है। हर कल्प के अंत में जल-प्रलय में वेदों का विनाश हो जाता है। हर कल्प के प्रारंभ मे वे ईश्वर द्वारा व्यक्त किए जाते हैं। तदनुसार पिछले कल्प के अंत मे प्रलय मे वेद नष्ट हो गए थे और वर्तमान कल्प के प्रारंभ में जो कृत

1. एम. कृष्णमाचारियर, *क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, इंट्रोडक्शन*, पृ. VII, VIII और 836

युग से हुआ, ईश्वर ने वेदों को ऋषियों को व्यक्त किया। हिंदू वेदों को नित्य (सनातन), अनादि (प्रारंभ-रहित) और अपौरुषेय (अमानवीय) मानते हैं। संक्षेप में, वेद ईश्वर के शब्द हैं और वे मानव के लिए ईश्वर के आदेश हैं।

वेदों को यदि 'श्रुति' न कहा जाता, तो भी वे अनिवार्यतः पवित्र कहे जाते। प्रो. मैक्स मूलर[1] ने धर्मों का विभिन्न प्रकार से वर्गीकरण किया है। उनका एक वर्गीकरण है, प्रकृत तथा व्यक्त। एक अन्य वर्गीकरण है, व्यक्तिगत तथा राष्ट्रीय। उनका एक तीसरे प्रकार से, अर्थात उन्हें अनीश्वरवादी, देववादी, द्वैतवादी, बहुदेववादी, एकेश्वरवादी, एकैकाधिदेववादी और जड़ात्मवादी के रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है। उन्हें सत् या असत् के रूप में भी वर्गीकृत किया जा सकता है। इसके दो और वर्ग हो सकते हैं, जैसे ग्रंथाधीन धर्म या ग्रंथहीन धर्म। इस प्रकार धर्मों के वर्गीकरण की सूची संभवतः सर्वांग दृष्टि से पूर्ण नहीं हो सकती, क्योंकि इनका एक और प्रकार से भी वर्गीकरण किया जा सकता है, अर्थात वे धर्म जिनके कोई संस्थापक हैं और वे धर्म जिनके कोई संस्थापक नहीं हैं।

इन वर्गीकरणों का दो प्रकार के वर्गीकरण को छोड़कर सामाजिक महत्व है। ये दो प्रकार हैं, प्रकृत व व्यक्त और लिखित धर्म व अलिखित धर्म। इनके कार्य अलग-अलग हैं, भले ही इनके कार्यों में जो अंतर है, उसकी ओर प्रायः ध्यान नहीं दिया जाता।

अलिखित धर्म की तुलना में लिखित ग्रंथबद्ध धर्म की स्थिति निस्संदेह अच्छी होती है। लिखित धर्म ऐसा धर्म होता है, जिसकी लिखित व्यवस्था होती है। जिस धर्म की व्यवस्था लिखित नहीं होती, वह अलिखित धर्म होता है। लिखित धर्म यह धारणा पैदा करता है कि वह सच्चा है, पर अलिखित धर्म ऐसा नहीं कर सकता। लिखित धर्म की तुलना में अलिखित धर्म झूठा होने की हीन भावना से ग्रस्त रहता है। मैक्स मूलर[2] बताते हैं, 'केवल लिखित धर्म ही सच्चे धर्म समझे जाते हैं। चाहे उनमें झूठे सिद्धांतों का समावेश ही क्यों न हो, फिर भी उनके प्रति ऐसी भावना रखी जाती है कि उनके बारे में बहुत कुछ क्षम्य समझा जाता है, जब कि अलिखित या निरक्षर धर्मों की भीड़ को तो बिल्कुल ही विचारणीय नहीं समझा जाता।' इससे यह सहज ही समझा जा सकता है कि अलिखित धर्म की अपेक्षा लिखित धर्म को श्रेष्ठ माना गया है। जब कोरे कागज पर लिखे काले अक्षरों को सत्य का पर्याय मान लिया गया है तो यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि जो धर्म लिखित है, जो सफेद पर कुछ लिखा है, वह असत् नहीं है। लेख सत्य का प्रमाणपत्र बन जाता है। अलिखित धर्म के पास प्रमाणपत्र नहीं होता।

---

1. *साइंस आफ रिलीजन,* में प्रस्तावना देखिए।
2. नेचुरल *रिलीजन,* पृ. 549

लिखित धर्म का सामाजिक महत्व इस बात में है कि वह लोगों के मानस में यह धारणा जगाता है कि पुस्तक में लिखा धर्म सच्चा है और इस प्रकार लोगों के मन पर हावी हो जाता है। वह लोगों पर धर्म की सत्ता व शक्ति का सिक्का जमाता है और उनमें स्वेच्छापूर्वक आज्ञापालन का भाव जगाता है।

लेकिन कोई धर्म इस कारण कितना भी सच्चा क्यों न प्रतीत हो कि वह एक लिखित धर्म है, उसका यह रूप उसे पतन से नहीं रोक सकता, यदि उसमें अनुभव के आधार पर गलत आस्थाएं एवं अनुष्ठान घर कर गई हों। मनुष्य सिद्धांत को लेकर गलती कर सकता है, पर उसकी व्यावहारिक अनुभूतियां उसे लंबे अर्से तक गलत सिद्धांत के पीछे चलते रहने नहीं देंगी। अतः यदि किसी समाज की धार्मिक आस्थाएं सच्ची न हों, तो अंततः व्यवहार में धर्म को उसके रास्ते से हटना ही होगा।

यहीं पर प्रकृत धर्म और उद्घाटित धर्म के बीच के विभेद का सामाजिक महत्व सिद्ध होता है। उद्घाटित धर्म प्रकृत धर्म से श्रेष्ठ कहा जाता है। अनेक लेखकों ने कतिपय ऐतिहासिक प्रकार के धर्मों के संदर्भ में प्रकृत धर्म की चर्चा की है। एक ऐसा धर्म जो लोगों के विकास के साथ-साथ पनपा हो, जो लोगों की आवश्यकताओं के अनुसार परस्पर आदान-प्रदान से और जिस पर्यावरण में वे रहते हैं, उसमें से उपजा हो। प्रकृत धर्म का निर्माता है, मनुष्य। उसकी मान्यता है, मनुष्य में पाई जाने वाली सत्य की भावना और उसकी अंतरात्मा की आवाज। उद्घाटित धर्म मनुष्य के प्राधिकार पर नहीं टिका है। वह मानव की नहीं, बल्कि ईश्वर की कृति है। उसकी मान्यता का कारण है, ईश्वर जो परम सत्य है और परम शिव है। उद्घाटित धर्म का उद्देश्य धर्म को पवित्रता प्रदान करना है, जिससे उसका न उल्लंघन किया जा सके और न उसकी आलोचना ही की जा सके।

वेदों के दोनों गुण हैं। उन्हें वह श्रेष्ठ स्थिति प्राप्त है, जो अलिखित धर्म की तुलना में लिखित धर्म को मिलती है। उन्हें वह श्रेष्ठ स्थिति भी प्राप्त है, जो प्रकृत धर्म की तुलना में उद्घाटित धर्म को मिलती है।

इस चर्चा का उद्देश्य इस बात पर बल देना है कि चूंकि वेदों में जाति का उल्लेख है, अतः स्वतः ही उसे, अर्थात जाति को लिखित पुस्तक की प्रामाणिकता और ईश्वरीय वचन होने की मान्यता प्राप्त हो जाती है। वेदोक्त योजना होने के फलस्वरूप उसे दोहरी सुरक्षा प्राप्त है। बिना किसी अपवाद के हर व्यक्ति को जाति को स्वीकार करना होगा, क्योंकि वह ईश्वरीय सत्य है और जो कोई उसकी आलोचना करने की भूल करेगा, वह पवित्र को अपवित्र करने का अपराधी होगा, क्योंकि वह पवित्र है।

यह है, जाति के संबंध में हिंदू का दृष्टिकोण और एक हिंदू उस आधुनिक

व्याख्या से सहमत नहीं है, जो रिजले ने प्रजातीय सिद्धांत के आधार पर की है, जो सेनार्त ने अपने व्यवसायगत सिद्धांतों में की है, और जो नेस्फील्ड ने अपने वृत्तिमूलक सिद्धांत द्वारा की है। वह जानता है और मानता है कि जाति की रचना तो ईश्वर ने ही की होगी, क्योंकि वेदों में इसका उल्लेख है और वेद श्रुति हैं, अथवा ईश्वर का वचन हैं। अतः जाति सनातन और सत्य है।

जब भी ब्राह्मणों को जाति का विरोध करने वालों की आलोचना का उत्तर देने के लिए चुनौती दी गई, तब-तब उन्होंने उसके पक्ष में यही बातें कहीं कि जाति एक दैवी और पवित्र विधान है, तथा उसे सनातन रहना चाहिए। जाति संबंधी यह दृष्टिकोण उस विवाद में और भी स्पष्ट हो जाता है, जिसमें एक ओर ब्राह्मण और दूसरी ओर बुद्ध और उनके अनुयायी थे[1]:

> यदि एक बार यह आस्था जड़ जमा ले कि न केवल ऋषियों के सहज उद्‌गारों, बल्कि ब्राह्मणों के प्रखर सिद्धांतों का भी जन्म दैवी स्रोत से हुआ और इस कारण वे मानवीय तर्क से परे हैं, तो स्पष्ट है कि वेदों के पवित्र प्रमाण के आधार पर ब्राह्मणों ने अपने लिए जिन विशेषाधिकारों की मांग की, उनका विरोध धर्मद्रोह हो गया और जहां ब्राह्मणों के सिद्धांत लोक-धर्म या यूं कहें कि राज-धर्म बने तो राज्य के परंपरागत कानूनों के सामने ऐसा विरोध होना असंभव है। ब्राह्मणों ने स्वयं इस बात की सावधानी बरती कि लोग श्रुति की दैवी सत्ता को स्वीकार करें, बजाए इसके कि ऋषियों के सिद्धांत अपनी मूल सहजता और शुद्धता के कारण स्थापित हो जाएं। दार्शनिक चर्चाओं में उन्होंने अधिक-से-अधिक स्वतंत्रता दी। यद्यपि पहले पहल केवल तीन दर्शन-प्रणालियों को (दो मीमांसाएं और न्याय) शास्त्र-सम्मत माना गया, पर शीघ्र ही उनकी संख्या बढ़ाकर छह कर दी गई, ताकि उनमें वैशेषिक, सांख्य और योग-प्रशाखाओं का भी समावेश हो सके। महत्वपूर्ण मुद्‌दों पर विरोधी विचारों को उस सीमा तक सहन किया गया, जिस सीमा तक उनके व्याख्याता किसी प्रकार अपने सिद्धांतों का मेल वेदों की ऋचाओं से मिला देते थे। यदि इतना भी स्वीकार कर लिया जाता कि इंद्रियों की अनुभूति और तर्क के प्रतिपादन के अलावा वेदोक्त उद्‌घाटन (श्रुति) भी मानव-ज्ञान के लिए सच्चा आधार प्रस्तुत करता है तो अन्य सभी मुद्दे गौण हो जाते थे। लौकिक तथा अलौकिक जगत, सृजनहार और सृजित, दैवी तथा मानवीय प्रकृति के बीच क्या रिश्ता है, इस बारे में दार्शनिकों को सभी संभव दृष्टिकोण प्रस्तुत करने की पूरी छूट दी गई। ऐसी पांडित्यपूर्ण रचनाओं से ब्राह्मण जाति को कोई

1. पृ. 88 तक निम्नलिखित उद्धरणों के स्रोत मूल अंग्रेजी की पांडुलिपि में नहीं दिए गए हैं--संपादक।

खतरा पैदा नहीं हो सकता था। न ही उन्हें बुद्ध शाक्य मुनि के दार्शनिक सिद्धांतों में प्रचुरता से उपलब्ध उस नास्तिकता से कोई भय था, जिसके सूत्र कपिल के कट्टर निरीश्वरवाद में मिलते हैं। उनका वास्तविक अपराध यह था कि उन्होंने ब्राह्मणों के विशेषाधिकारों तथा उनकी कुरीतियों का विरोध किया था। इनं कुरीतियों को वेदों की दैवी सत्ता ने मान्यता प्रदान की थी। बुद्ध ने इन अधिकारों तथा कुरीतियों के मूलाधार दैवी सिद्धांत पर प्रहार किया। उनके विरुद्ध संक्षिप्त-सा आरोप था–वह नास्तिक बहिष्कृत आदि हैं।

बुद्ध क्षत्रिय थे। उनका गोत्र उच्च था। वह राज-परिवार के थे। वह अपनी जाति में पहले व्यक्ति नहीं थे, जिसने ब्राह्मणों के आधिपत्य का विरोध किया था। बुद्ध से सदियों पूर्व विश्वामित्र को भी, जो बुद्ध की भांति क्षत्रिय जाति के थे, ब्राह्मणों के एकाधिकार के विरुद्ध संघर्ष करना पड़ा था। लेकिन उस प्राचीन काल में ब्राह्मणों की स्थिति अजेय नहीं थी और विश्वामित्र ने क्षत्रिय होने पर भी संघर्ष करके स्वयं अपने तथा अपने परिवार के लिए वे अधिकार प्राप्त किए, जो उससे पूर्व केवल ब्राह्मण जाति की ही बपौती थे। ब्राह्मण ग्रंथों में विदेह राजा जनक की कथा दी गई है। उन्होंने भी ब्राह्मणों के परंपरागत अधिकार को स्वीकार नहीं किया और पुरोहितों की मध्यस्थता के बिना यज्ञ करने के अपने अधिकार पर आग्रह किया था। इन दो व्यक्तियों तथा बुद्ध के व्यक्तिगत आचरण में कितना भी महान अंतर क्यों न रहा हो, पर उनके विरोध का मुख्य सिद्धांत तो एक जैसा था। वे स्वार्थी पुरोहित वर्ग के एकाधिकार के विरुद्ध समान रूप से संघर्ष कर रहे थे।

लेकिन जहां विश्वामित्र ने केवल अपने समूचे जाति-वंश और अपने परिवार के अधिकारों के लिए संघर्ष किया था और ज्यों ही उन्हें पौरोहित्य का अधिकार मिल गया, वे संतुष्ट हो गए थे और जहां जनक, याज्ञवल्क्य और अन्य ब्राह्मणों से सत्कार मिलने मात्र से संतुष्ट हो गए थे, वहां उनके बाद होने वाले सुधारकों को लगता है कि ऐसी कोई सफलता नहीं मिली और वे परास्त होकर ब्राह्मणों के पक्षधर हो गए, तथापि लोगों के मन में असंतोष पनपते रहे। भारत के इतिहास में एक काला अध्याय मिलता है। बताया गया है कि परशुराम ने सभी क्षत्रियों का विनाश कर दिया। यह ब्राह्मणों की वर्चस्वता का श्रीगणेश था। जहां तक हम भारत के इतिहास और उसकी परंपराओं को जानते हैं, भले ही लगता हो कि ब्राह्मणों ने कभी भी राजसत्ता की कामना नहीं की, लेकिन उनकी जाति वास्तव में सदा ही शासक जाति रही। उनकी पुरोहिताई को दैवी अनुकंपा प्राप्त करने का एकमात्र साधन होने का गौरव प्रदान किया गया, उनके सिद्धांतों को अकाट्य माना गया, उनके देवी-देवताओं को सच्चे देवी-देवता माना गया और उनकी वाणी इतनी सशक्त

समझी गई कि वह ऋषियों की सीधीं-सादी अभिव्यक्तियों और ब्राह्मण लेखकों की बेतुकी रचनाओं को दैवी कहकर प्रमाणित करने लगे। लेकिन इसके बाद ब्राह्मणवाद का ह्रास होने लगा। किसी अन्य देश की भांति भारत में भी लोग सत्य पर अपना एकाधिकार घोषित करने वाले के आगे घुटने क्यों टेकते और उन्हीं लाखों लोगों ने, जो बड़े धीरज के साथ राजनीतिक तानाशाही का बोझ ढो रहे थे, बौद्धिक बर्बरता की बेड़ियों के बंधन को तोड़कर फेंक दिया। विश्व के एक प्राचीनतम धर्म का जुआ उतार कर फेंकने के लिए यह पर्याप्त था कि कोई एक व्यक्ति पृथ्वी के देवताओं (भूदेव) की सत्ता को चुनौती दे और ईश्वर के घृणित तथा पददलित प्राणियों के बीच इस सहज सत्य का प्रचार करे कि पुरोहितों की पुरोहिताई और उन ग्रंथों में आस्था रखे बगैर भी मोक्ष संभव है, जिन्हें इन्हीं पुरोहितों ने श्रुति की संज्ञा दी है। यह व्यक्ति था 'बुद्ध', एक शाक्य मुनि। अब यदि हम देखें कि किस प्रकार बुद्ध के सिद्धांतों का प्रतिकार ब्राह्मणों ने किया है, तो यह सच है कि यत्र-तत्र अपनी दार्शनिक रचनाओं में उन्होंने तर्क की दुहाई देकर उनकी कुछ तात्विक सूक्तियों का प्रतिकार करने का प्रयास किया है, जैसे इसी प्रकार का एक प्रयास वेदांत-सूत्रों पर अपनी टिप्पणी में वाचस्पति मिश्र ने किया है। बुद्ध के इन सिद्धांतों पर कि 'अस्ति' और 'नास्ति' आदि जैसी धारणाएं विवाद योग्य नहीं हैं, टिप्पणी करते हुए वाचस्पति कहते हैं कि इन धारणाओं की चर्चा में ही उनकी संकल्पना की संभावना निहित है। इतना ही नहीं, इस बात को दृढ़ता से कहने में कि तर्क उन्हें स्वीकार नहीं करता, यह निहित है कि वे यथार्थ में तर्कपरक हैं और यह सिद्ध होता है कि मन 'नास्ति' से विपरीत 'अस्ति' की कल्पना कर सकता है।

लेकिन ये वे सामान्य हथियार नहीं थे, जिन्हें बौद्ध धर्म से लड़ने के लिए ब्राह्मणवाद ने अपनाया। मुख्य आपत्ति सदा ही यह रही है कि बुद्ध के उपदेश सत्य नहीं हो सकते, क्योंकि उन्हें श्रुति अथवा ईश्वरीय मान्यता नहीं मिली है। ब्राह्मण, जाति के रूप में 'अस्ति और नास्ति' तथा बुद्ध के संपूर्ण दर्शन को तुरंत स्वीकार कर लेते हैं, जैसा कि उन्होंने इस सांख्य दर्शन के बारे में किया, जो अति महत्वपूर्ण मुद्दों के बारे में वेदांत का खुला विरोध करता है। लेकिन जहां सांख्य मत के संस्थापक कपिल ब्राह्मणीय कसौटी को स्वीकार कर लेते हैं और खुलेआम कहते हैं कि श्रुति की सत्ता तर्क और अनुभव से परे है, वहां बुद्ध या तो अपने अभिधर्म (दर्शन) के कारण या फिर कुछ और अधिक महत्वपूर्ण नैतिक तथा धार्मिक सिद्धांतों (विनय) के कारण ऐसा नहीं करते। निस्संदेह उनके लिए यह दर्शाना सरल होता कि उनके कुछ सिद्धांत वेद की ऋचाओं में मिलते हैं। इसका कारण यह है कि वेद में

मानव-मन के सभी संभव रंग-रूपों की सहज अभिव्यक्ति हुई है। यदि उन्होंने केवल अपने कुछ नीति वचनों के बारे में ऐसा कर लिया होता, जैसे 'तू हत्या नहीं करेगा', 'तू मद्यपान नहीं करेगा', 'तू खड़े होकर खाएगा', तो ब्राह्मण तुरंत अन्य सिद्धांतो की उपेक्षा कर देते, उनकी भी जो बुद्ध के निर्वाण के बाद व्यवहार में आए, जैसे 'जो स्वर्ग की कामना करता है, उसे प्रेत-पूजा करनी होगी', 'उसे अपने सिर का मुंडन करना होगा', आदि। चूंकि उन्होंने ऐसा नहीं किया, अतः ब्राह्मण श्रुति को साक्ष्य बनाकर बुद्ध के सिद्धांतों की सत्यता को नकारते रहे।

तर्क की यह पद्धति निश्चय ही कुछ आकर्षक रही होगी, क्योंकि हम देखते हैं कि बाद में बौद्धों ने भी अपनी पवित्र रचनाओं को वैसे ही दैवी रचनाएं बताने का प्रयास किया, जैसा कि ब्राह्मणों ने वेदों के संबंध में किया था। इसका एक मजेदार उदाहरण निम्नलिखित चर्चा में मिलता है। यह कुमारिल की *'तंत्र-वर्तिका'* से उद्धृत है। यहां प्रतिवादी (पूर्व पक्ष) कहता है कि जिस तर्क से यह सिद्ध किया जाता है कि वेद मनुष्यों की कृतियां नहीं हैं, उसी तर्क से यह सिद्ध किया जा सकता है कि शाक्य के उपदेश भी दैवी उपदेश नहीं हैं। वह कहता है कि शाक्य की प्रामाणिकता निर्विवाद है, क्योंकि उनके उपदेश स्पष्ट और बोधगम्य हैं। शाक्य उनके अन्वेषक नहीं हैं, वे तो केवल उनका उपदेश करते हैं। शाक्य के सिद्धांतों के साथ किसी रचनाकार का नाम नहीं जोड़ा गया है, अतः वेदों की भांति ही उनमें वह अस्थिरता नहीं है, जो मनुष्यों की कृतियों में मिलती है। निष्कर्ष के रूप में वह कहता है कि वास्तव में वेद की प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिए जो तर्क मीमांसकों ने प्रस्तुत किए हैं, उसी प्रकार बुद्ध के सिद्धांत की प्रामाणिकता भी सिद्ध होती है। इस पर पुरातनपंथी कुमारिल क्रुद्ध हो जाते हैं और कहते हैं :

> ये शाक्य वैशेषिक तथा अन्य विधर्मी जिनकी बोलती निष्ठावान मीमांसकों ने बंद कर दी है, हमारे शब्दों को तुतला कर बोलते हैं, मानो वे छाया को पकड़ने का प्रयास कर रहे हों। वे कहते हैं कि उनके पवित्र ग्रंथ शाश्वत हैं, लेकिन उनके दिमाग खोखले हैं, और वे केवल घृणा के कारण वेद को अत्यंत प्राचीन ग्रंथ नहीं मानते। और ये भावी तार्किक यह भी कहते हैं कि उनके कुछ सिद्धांत (जिन्हें उन्होंने हमसे चुराया है) वेद से नहीं लिए गए हैं, जैसे सबके प्रति दया का सिद्धांत, क्योंकि बुद्ध की अधिकांश उक्तियां वेद के नितांत प्रतिकूल हैं। अतः इस मुद्दे पर भी वे अपनी सत्यता सिद्ध करना चाहते हैं। उन्हें मालूम है कि नैतिक अलौकिक विषयों में मानवीय निर्देशों का कोई प्राधिकार नहीं है, अतः वे वेद की सनातनता के

बारे में हमारे तर्क की नकल करके अपनी कठिनाई को ढांपना चाहते हैं। वे जानते हैं कि मीमांसकों ने यह सिद्ध कर दिया है कि मानवों की कोई भी उक्तियां अलौकिक विषयों पर कोई प्राधिकार नहीं कर सकतीं। ये यह भी जानते हैं कि वेद के प्राधिकार का खंडन नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसके दैवी उद्‌गम के संबंध में प्रस्तुत प्रमाणों के विरुद्ध उनके पास कोई प्रमाण नहीं हैं। दैवी-उद्‌गम ने मानवीय उद्‌गम की समूची संभावना का निराकरण कर दिया है। अतः उनके हृदय उनके अपने ही शब्दों से विदीर्ण हो रहे हैं। उनके शब्द बच्चों के बचकाने ज्ञान जैसे हैं और उनके पास कोई उत्तर नहीं है, क्योंकि उनके बेतुके तर्कों के छलावे का पर्दाफाश कर दिया गया है। अब वे उस मूर्ख विवाहार्थी जैसी वाणी बोलने लगे हैं, जो वधू पक्ष से कहता है, 'मेरा परिवार भी उतना ही उत्तम है, जितना कि आपका।' इसी प्रकार वे बंदर की भांति अन्य लोगों की वाणियों की नकल करके अपने ग्रंथों के सनातन अस्तित्व को बनाए रखने का प्रयास कर रहे हैं। और यदि उन्हें चुनौती दी जाती है और उनसे कहा जाता है कि यह तो हमारा तर्क है, तो वे उपद्रव मचाते हैं और कहते हैं कि हमने, अर्थात मीमांसकों ने, उनसे चुरा लिया है। जिस व्यक्ति की समूची योजना चौपट हो गई है, जो व्यक्ति बेतुकी बातें करने लगता है, और जो अपने प्रतिद्वंद्वी को धोखा देने का प्रयास करता है, वह कभी भी नहीं थकता और उसे कभी भी शांत नहीं किया जा सकता।

इस लंबे-चौड़े भाषण के अंत में कुमारिल कहते हैं, 'अधिक संगत बात यह हैः जो बौद्ध हर वस्तु को केवल अस्थाई मानते हैं, उनका किसी सनातन उद्‌घाटन से क्या वास्ता?'

उक्त वाद-विवाद से यह स्पष्ट हो जाएगा कि जाति का जन्म धर्म से हुआ है। धर्म ने उसको प्रतिष्ठित किया और उसे पवित्रता प्रदान की। इस कारण यह कहना उचित है कि धर्म ही वह पक्की नींव है, जिस पर हिंदुओं ने अपना सामाजिक ढांचा खड़ा किया है।

क्या इससे पता नहीं चलता कि जाति एक अति निराली संस्था है और उसकी तुलना अन्य सामाजिक संस्थाओं से नहीं की जा सकती। मैं यह कहने की धृष्टता करता हूं कि जो भी यह धारणा व्यक्त करता है कि जातिप्रथा में कुछ भी विचित्रता नहीं है, वह जातिप्रथा को बिल्कुल भी नहीं जानता। मैं पुनः कहता हूं कि जाति एक पवित्र संस्था है, यही उसकी विशिष्टता है। जाति एक पवित्र संस्था है, उसकी

यही विशेषता उसे बाध्यकारी बनाती है।

सामाजिक प्रगति पर पवित्र ग्रंथों वाले धर्म के प्रभावों के बारे में प्रो. मैक्स मूलर ने कुछ बड़ी शिक्षाप्रद बातें कहीं हैं। वह कहते हैं :

> किंतु इतिहास हमें एक और सबक सिखाता है, अर्थात यह ठीक ही है कि कानून की संहिताएं एक प्रकार की पूजनीय वस्तुएं बन जाती हैं। वे अपेक्षा करती हैं कि निर्विवाद रूप से उनका अंधानुकरण किया जाए। उनके ऐतिहासिक अथवा नैसर्गिक उद्‌गम को प्रायः पूर्णतया भुला दिया जाता है। सद्-असद्, उचित-अनुचित संबंधी पुरानी धारणाओं को एक संकल्पना में जो लिखित और कानूनी होती हैं, निहित कर दिया जाता है, उनकी पृथक सत्ता को समाप्त कर दिया जाता है।
>
> पौर्वात्य धर्मों का अध्ययन भी हमें यही शिक्षा देता है। पवित्र ग्रंथ प्रायः एक प्रकार की पूजनीय वस्तु बन जाते हैं। यह अपेक्षा होने लगती है कि उनमें लोगों की स्वतः श्रद्धा होगी और यह श्रद्धा अटूट होगी। उनके ऐतिहासिक अथवा नैसर्गिक उद्‌गम को प्रायः पूर्णतया भुला दिया जाता है। सद् तथा दैवी संबंधी पुराने विचारों को एक ही लिखित तथा शास्त्र-सम्मत विचार में लगभग आत्मसात् कर लिया जाता है।
>
> इतिहास हमें एक तीसरी शिक्षा भी देता है। यदि कानून व्यवसाय बन जाता है और उगे यांत्रिक कठोरता से लागू किया जाता है तथा उसमें सद और असद् की प्रबल मानवीय अनुभूति का ध्यान नहीं रखा जाता, तो जिस कानून के अधीन कोई नागरिक रहता है, उसके प्रति उसके दायित्व-बोध के मृत हो जाने की शंका होती है। इसी तरह इस बात का भी खंडन नहीं किया जा सकता है कि यदि कानून व्यवसाय बन जाता है और उसे औपचारिक कठोरता से लागू किया जाता है और उसमें सद् और असद् की प्रबल मानवीय अनुभूति का ध्यान नहीं रह जाता, तो जिस धर्म के अधीन कोई व्यक्ति रहता है, उसके प्रति उसके दायित्व-बोध को भी मृत हो जाने का वैसा ही खतरा नहीं रहता।

लेकिन मेरा उद्‌देश्य पवित्र ग्रंथों से पैदा होने वाले खतरों को दर्शाना नहीं है, अपितु उस पूर्वाग्रह का प्रतिरोध करना है, जो कि उन धर्मों के प्रति व्यापक रूप से प्रचलित है, जिनके कोई पवित्र ग्रंथ नहीं हैं।

लिखित तथा अलिखित धर्मों के बीच भारी अंतर है और ऐतिहासिक दृष्टिकोण से यह अंतर विभाजन का एक वास्तविक आधार प्रस्तुत करता है, लेकिन चूंकि लिखित धर्मों के कुछ लाभ हैं, अतः हमें यह नहीं सोच लेना

चाहिए कि अलिखित धर्म केवल बहिष्कृत धर्म हैं। इसमें संदेह नहीं कि उनके कुछ दोष हैं, पर उनके कुछ गुण भी हैं।

एक उत्तरी अमरीकी मूल निवासी ने बहस के दौरान ईसाई मिशनरी को अपने धर्म और श्वेत मानव के धर्म के बीच जो अंतर बताया, वह इस प्रकार है :

> परमात्मा ने दो धर्म बनाए, जिनमें एक लिखित है। यह लिखित धर्म श्वेत लोगों के पथ-प्रदर्शन के लिए है, जो उसके उपदेशों का पालन करके श्वेत मानव के स्वर्ग में जाएंगे। दूसरा धर्म हमारे हाथों में है, हमारा यह धर्म आकाश, चट्टानों, नदियों और पर्वतों में है। और हम लोग जो उसे प्रकृति में देखते हैं, उसकी वाणी को सुनते हैं और अंततः उसे स्वर्ग के उस पार जाकर खोज लेते हैं।

अब जो धर्म दिल व दिमार्ग में है, आकाश, चट्टानों, नदियों और पर्वतों में है, उसी को हम नैसर्गिक धर्म कहते हैं। उसकी जड़ें होती हैं प्रकृति में, मानवीय प्रकृति में और उस बाह्य प्रकृति में जो हमारे लिए अवगुंठन भी है और अभिव्यक्ति भी। वह उन्मुक्त है। वह मानव-मन के विकास के साथ-साथ पनपता है और स्वयं को हर युग की जरूरतों के अनुकूल ढाल लेता है। वह नहीं कहता, 'तू ऐसा ही करेगा', बल्कि कहता है, 'मैं करूंगा।' ऐसा नहीं है कि इन नैसर्गिक अथवा अलिखित धर्मों में निश्चित सिद्धांत और रीति-रिवाज नहीं होते। आस्था, नैतिकता और अनुष्ठान संबंधी मामलों में सामान्यतः उनमें भी कोई-न-कोई पुरोहित होता है। लेकिन उनमें कुछ भी कठोर और अपरिवर्तनीय नहीं होता। उनमें चिंतन का कोई बंधन नहीं होता। त्रुटि का पता लगने पर उसका परिष्कार होता है, नए सत्य का बोध होने पर उसे स्वीकार किया जाता है, उसकी परीक्षा होती है। लेकिन यदि एक बार उसे पुस्तक का आकार मिल जाए, श्वेत पर कुछ काला अंकित हो जाए तो प्रलोभन भारी ही नहीं, बल्कि अति सम्मोहक हो जाता है। मानवीय प्राधिकार के साथ उसे लागू करने का प्रलोभन बढ़ जाता है, ताकि उसे अजेय और मानव के तर्क से परे ठहराया जा सके। हम भली-भांति समझ सकते हैं कि क्यों प्राचीन वैदिक कवियों ने अपनी ऋचाओं को ईश्वर-प्रदत्त अथवा श्रुतियां अथवा अपौरुषेय कहा। लेकिन नई पीढ़ी ने इन अभिव्यंजनाओं को एक नया अर्थ दे डाला और अंततः वेद के हर विचार, शब्द और अक्षर पर 'ईश्वर-प्रदत्त' अथवा 'श्रुति' का ठप्पा लगा दिया। वैदिक धर्म पर यह सैधांतिक प्रहार था, क्योंकि जो पनप और बदल नहीं सकता, उसका विनाश निश्चित है। अलिखित धर्मों को इस प्रकार का कोई खतरा नहीं होता।

ऐसे ही उदगार सर विलियम म्यूर के हैं। इस्लाम की चर्चा करते समय उन्होंने धर्म की पवित्र संहिताओं से उत्पन्न होने वाले खतरों को सशक्त अभिव्यक्ति दी है। वह कहते हैं[1]:

> मुहम्मद का धर्म चारों ओर से इस तरह ढका हुआ है कि वह कभी उभर ही नहीं सकता। आरंभ के दिनों उसमें जितनी सुनम्यता थी, उससे अधिक की अब उसमें कोई गुंजाइश नहीं है। अब वह अत्यंत कड़ा हो गया है। अब वह मानव-जाति की विभिन्न परिस्थितियों, आवश्यकताओं और विकास-क्रमों के अनुरूप न तो स्वयं को, न ही अपने अनुयायियों को ढाल सकता है, और न ही उन्हें उनके अनुरूप स्वयं को ढालने के लिए विवश कर सकता है।

जिस किसी व्यक्ति को मानवता की प्रगति में रुचि है, वह धर्म की पवित्र संहिताओं के सामाजिक दुष्परिणामों के बारे में ऐसी ही प्रतिक्रिया किए बिना नहीं रहेगा। लेकिन मुझे ऐसा लगता है कि पवित्र संहिताओं वाले धर्मों के वर्ग के पुनः वर्ग बन सकते हैं। खेद है कि प्रो. मैक्स मूलर ने इस मामले पर और आगे विचार नहीं किया। इस पर और अधिक विचार होना चाहिए, क्योंकि यह एक बहुत ही असली भेद को उद्घाटित करता, जो धर्म की पवित्र संहिता वाले हिंदुओं को उन अन्य लोगों से अलग करता है, जिनके पास भी वैसी ही धर्म की पवित्र संहिता है। यह तब और स्पष्ट हो जाएगा, जब हम विभिन्न धर्मों की जांच कर उन विषयों को ढूंढ निकालें, जिन्हें इन धर्मों ने पूजा और श्रद्धा की वस्तु बना दिया।

इस खोज से पता चलेगा कि ऐसे कई प्रसंग हैं, जब समाज ने जड़ पदार्थों को पूजा और श्रद्धा की वस्तु बना दिया और अपने लोगों के मानस में यह धार्मिक विश्वास बिठाया है कि वे जड़ पदार्थ पवित्र हैं। ऐसी मिसालें हैं, जहां पत्थरों, नदियों, पेड़ों को देवता और देवियां बनाया गया है। ऐसी मिसालें हैं, जहां समाज ने चेतन पदार्थों को पूजनीय कर दिया है और अपने लोगों के मन में यह धार्मिक विश्वास बिठाया है कि वे पदार्थ पवित्र हैं। ऐसे पशुओं की मिसालें हैं, जो कबीले के गण-चिन्ह बन गए हैं। ऐसी भी मिसालें हैं, जहां समाज ने मानव-प्राणियों का पवित्रीकरण किया है और लोगों के मन में यह धार्मिक विश्वास बिठाया है कि वे पवित्र हैं। लेकिन ऐसा कोई उदाहरण नहीं है, जहां धर्म द्वारा किसी विशेष समाज-व्यवस्था का पवित्रीकरण किया गया हो और उसे पवित्र बनाया गया हो। आदिम जगत में कबीले और जनजाति की व्यवस्था थी। लेकिन कबीले अथवा जनजाति की व्यवस्था केवल सामाजिक व्यवस्था थी। उसका कभी भी पवित्रीकरण

---

1. *एशियाटिक क्वार्टरली रिव्यू*, अप्रैल 1889, में पृ. 287 पर *'मुहम्मद'स प्लेस इन दि चर्च'* नामक लेख में ई डे बुन्सेन द्वारा उद्धृत।

धर्म ने नहीं किया। न ही उसे पवित्र और अलघ्य बनाया। मिस्र, फारस, रोम, यूनान आदि जैसे प्राचीन विश्व के देशों में हरेक में ऐसी सामाजिक व्यवस्था थी, जिसमें कुछ लोग स्वतंत्र थे तो कुछ गुलाम थे, कुछ नागरिक थे तो कुछ विदेशी थे, कुछ-एक जाति के थे तो कुछ दूसरी जाति के थे। यह वर्ग-व्यवस्था भी केवल समाज-व्यवस्था थी। कभी भी उसका पवित्रीकरण धर्म ने नहीं किया। न ही उसे पवित्र और अलंघ्य बनाया। आधुनिक विश्व की अपनी व्यवस्था है। कुछ देशों में लोकतंत्र है तो कुछ देशों में फासिज्म, कुछ में नाजीवाद और कुछ में बोल्शेववाद है। यहां भी व्यवस्था केवल समाज-व्यवस्था है। धर्म द्वारा पवित्रीकरण करके उसे न तो पवित्र, और न ही अलंघ्य बनाया गया।

कहीं भी समाज ने अपने व्यवसायों, यानी रोजी-रोटी के साधनों का पवित्रीकरण नहीं किया। आर्थिक गतिविधि सदैव धार्मिक पवित्रता के दायरे से बाहर रही है। शिकारी समाज धर्मविहीन नहीं था, पर धंधे के रूप में आखेट का धर्म द्वारा पवित्रीकरण करके उसे पवित्र नहीं बनाया गया। पशुचारी समाज धर्मविहीन नहीं था। लेकिन पशुचारण का धर्म द्वारा पवित्रीकरण करके उसे पवित्र नहीं बनाया गया। काश्तकारी के धंधे का भी धर्म द्वारा पवित्रीकरण करके उसे पवित्र नहीं बनाया गया। सामंतवाद में भी उसके वर्ग थे। उसमें सामंत थे, कृषि दास और दास थे, पर वे विशुद्ध सामाजिक स्वरूप के थे। उस पर पवित्रता का कोई ठप्पा नहीं था।

विश्व में केवल हिंदू ही ऐसी जाति है, जिसने समाज-व्यवस्था का, यानी मानव-मानव के आपसी संबंध का, धर्म द्वारा पवित्रीकरण करके उसे पवित्र, शाश्वत और अलंघ्य बना दिया। विश्व में केवल हिंदुओं की ही ऐसी जाति है, जिसने अर्थ-व्यवस्था का, यानी कामगारों के आपसी संबंध का, धर्म द्वारा पवित्रीकरण करके उसे पवित्र, शाश्वत और अलंघ्य बना दिया।

अतः यह कहना पर्याप्त नहीं है कि हिंदुओं की ही ऐसी जाति है, जिसके पास धर्म की पवित्र संहिता है। वैसी ही संहिता पारसियों, इजराइलियों, ईसाइयों और मुस्लिमों में भी है। इन सबके पास पवित्र संहिताएं हैं। वे विश्वासों और अनुष्ठानों का पवित्रीकरण करके उन्हें पवित्र बनाते हैं। पर न तो वे आदेश थोपते हैं, और न ही वे समाज-व्यवस्था के किसी खास स्वरूप का, यानी मानवों के परस्पर संबंध के किसी मूर्त रूप का, पवित्रीकरण करते हैं और उसे पवित्र तथा अलंघ्य बनाते हैं। इस मामले में हिंदू बेजोड़ हैं। इस प्रवृत्ति ने जातिप्रथा को समय के थपेड़ों तथा समय के प्रहारों को झेलने की स्थाई शक्ति प्रदान की है।

हिंदुओ जैसे संहिताबद्ध धर्मों वाले अन्य लोगों से हिंदू एक अन्य दृष्टि से भी भिन्न है। हिंदू धर्म-संहिता ईश्वरीय वाणी है। इसी कारण वेदों को श्रुति (जिसे

सुना गया हो) कहा गया है। पारसियों, यहूदियों, ईसाइयों और मुस्लिमों को भेजी गई यह ईश्वरीय वाणी किस पर प्रकट की गई, ईश्वर की इस वाणी को किसने सुना? यहूदी कहेंगे कि इस वाणी को मूसा ने सुना, ईसाई कहेंगे कि उसे यीशु ने सुना और मुस्लिम कहेंगे कि उसे मुहम्मद ने सुना। अब हिंदू से पूछिए कि वेदों में समाविष्ट ईश्वर की वाणी को किसने सुना, ईश्वर ने अपनी वाणी किसे सुनाई? हिंदू के पास कोई उत्तर नहीं है। वह उस व्यक्ति का नाम नहीं बता सकता, जिसने ईश्वर की वाणी को सुना हो। स्वयं वेदों में इस बात का उल्लेख है कि किन-किन मंत्रों की रचना किन-किन ऋषियों ने की है। लेकिन हिंदू यह नहीं कहेंगे कि वेदों मे निहित ईश्वर की अमुक वाणी को अमुक व्यक्ति ने सुना। यह अंतर वेदों के पवित्र स्वरूप को व्यापक संरक्षण प्रदान करता है, क्योंकि पवित्र ग्रंथ के रूप में *'बाइबिल'* की आलोचना मूसा या यीशु के चरित्र की आलोचना करके की जा सकती है। इसी प्रकार पवित्र ग्रंथ के रूप में *'कुरान'* की आलोचना मुहम्मद के चरित्र की आलोचना करके की जा सकती है। लेकिन वेदों की आलोचना संदेशवाहक या संस्थापक के चरित्र की आलोचना करके नहीं की जा सकती। इसका सीधा-सा कारण है कि कोई ऐसा व्यक्ति है ही नहीं।

जैसा कि मैं बता चुका हूं, धर्म ही वह चट्टान है, जिस पर हिंदुओं ने अपनी व्यवस्था का भवन खड़ा किया है। अब यह स्पष्ट हो जाएगा कि यह कोई साधारण कोटि की कठोर चट्टान नहीं है। यह तो ग्रेनाइट की चट्टान है।

सामाजिक तथा आर्थिक पुनर्निर्माण के आमूल परिवर्तनवादी कार्यक्रम के बिना अस्पृश्य कभी भी अपनी दशा में सुधार नहीं कर सकते।

-भीमराव अम्बेडकर

4

स्पृश्य बनाम अस्पृश्य

अस्पृश्यों की तुलना में स्पृश्यों के आपसी संबंधों की चर्चा अचरज का विषय हो सकती है। यह अचरज अकारण नहीं है। स्पृश्य वर्ग स्वयं में कोई पृथक वर्ग नहीं है, जिसमें सभी स्पृश्यों को एक साथ रखा जा सके। वे स्वयं अनगिनत जातियों में बंटे हुए हैं। हर हिंदू में अपनी जाति के उच्च होने की भावना रहती है। यदि इस विषमता को हम स्वीकार कर लें तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि सभी स्पृश्य जातियों को एक समूह में शामिल करना और उन्हें अस्पृश्यों के विरुद्ध एक पृथक वर्ग के रूप में स्वीकार करना एक ऐसा विभाजन करना है, जिसका कोई अर्थ नहीं हो सकता। अस्पृश्यों की तुलना में स्पृश्यों के इस विभाजन के कुछ कारण हो सकते हैं, पर जहां तक आधुनिक भारत का संबंध है, यह विभाजन बहुत ही वास्तविक और महत्वपूर्ण है।

अगर हम चारों वर्णों के आपसी संबंधों पर एक बार पुनः विचार करें तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि किस प्रकार स्पृश्यों का एक पृथक वर्ग बन गया है और किस प्रकार उसमें अस्पृश्यों से भिन्न और उच्च होने का भाव पैदा हो गया।

सर्वप्रथम तो हमें इस बात को ध्यान में रखना होगा कि श्री गांधी की भांति जो लोग चातुर्वर्ण्य को समाज का एक आदर्श रूप स्वीकार करते हैं, वे या तो चारों वर्णों के आपसी संबंधों के इतिहास को नहीं जानते अथवा किसी भ्रम में हैं या फिर उस प्रयोजन के लिए एक पृष्ठभूमि तैयार कर रहे हैं, जिसे पूरा करना ही उनका उद्देश्य है। क्योंकि तथ्य यह है कि चारों वर्णों ने कभी ऐसे समाज का गठन नहीं किया, जो स्नेहसिक्त भाईचारे पर या सहकारी प्रयास पर टिके आर्थिक संगठन पर आधारित हो। चारों वर्ण केवल आपसी विद्वेष की भावना से अनुप्राणित हैं। इसमें तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं होगी, यदि कहा जाए कि हिंदुओं का सामाजिक इतिहास न केवल वर्ग-संघर्ष का सामाजिक इतिहास है, बल्कि यह इतनी कट्टरता से लड़ा गया वर्ग-युद्ध है कि मार्क्सवादी भी उसकी जोड़ के समानांतर दृष्टांत आसानी से प्रस्तुत नहीं कर सकेंगे।

ऐसा लगता है कि जो सर्वप्रथम वर्ग-संघर्ष हुआ, उसमें एक पक्ष ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों का था और दूसरा शूद्रों का था।

कात्यायन के श्रौत-सूत्रों में कहा गया है कि जो लोग मंद बुद्धि हैं, जिन्होंने वेदों का अध्ययन नहीं किया है, जो नपुंसक हैं, जो शूद्र हैं, उनके अलावा अन्य लोगों को यज्ञ करने का अधिकार है। वेद के अनुसार (केवल) ब्राह्मणों, राजन्यों तथा वैश्यों को यह (विशेषाधिकार प्राप्त है)।

मनु यह भी कहता है कि (मूल अंग्रेजी की पांडुलिपि में उद्धरण नहीं दिया गया है*)।

मनु यह भी कहता है कि (मूल अंग्रेजी की पांडुलिपि में उद्धरण नहीं दिया गया है)।

इनकी तुलना वैदिक साहित्य में शूद्रों के दर्जे से संबंधित उस काल के निम्नलिखित उदाहरणों तथा विवरणों से कीजिए, जो मनु तथा कात्यायन के काल से भी पुराना है।

प्रो. मैक्स मूलर ने दो उदाहरणों की ओर ध्यान दिलाया है। उनमें दर्शाया गया है कि शूद्रों को 'गवेधुकाचारू' जैसे बड़े यज्ञों में शामिल किया जाता था। एक रथकार का है और दूसरा निषादस्थपति का। दोनों ही शूद्र थे।

हम यह कह सकते हैं कि यह महत्व शूद्रों में असाधारण लोगों को दिया जाता रहा होगा। यह निर्विवाद है कि यह केवल रियायत नहीं थी, बल्कि शूद्रों द्वारा भोगा जाने वाला अधिकार था। वेद के ही एक अंग '*शतपथ ब्राह्मण*' में वह सूत्र दिया गया है, जो ब्राह्मण पुरोहित द्वारा यज्ञकर्ता को बुलाने के बारे में है और वह हवि देने के लिए कहता है। ब्राह्मण के लिए वह कहता है, 'एहि' यानी आओ, वैश्य के लिए वह कहता है 'अगाहि' (यहां आओ), क्षत्रिय के लिए वह कहता है 'आद्रव' (झटपट यहां आओ) और शूद्र के लिए वह कहता है 'आधाव' (दौड़कर यहां आओ)।'

यह सूत्र बड़े ही महत्व का है। यह जताता है कि कभी शूद्र भी यज्ञ करने का अधिकारी था। अन्यथा वैदिक निर्देश में शूद्र यज्ञकर्ता के लिए संबोधन-सूत्र को स्थान नहीं मिल सकता था। यदि शूद्र यज्ञ करने का अधिकारी था तो निश्चय ही वह वेद के अध्ययन का भी अधिकारी रहा होगा।

---

* लेकिन पाठक का ध्यान वर्तमान ग्रंथ-माला के खंड 7 के अध्याय 12 की ओर दिलाया जाता है, जिसमें मनु के उन नियमों की चर्चा की गई है, जो शूद्रों के अवक्रमण से संबंधित हैं। वे इस स्थान पर संगत दीख पड़ते है – संपादक।

क्योंकि कात्यायन के अनुसार केवल वे ही जो वेदाध्ययन करने के अधिकारी थे, यज्ञ करने के भी अधिकारी थे। यह तथ्य कि कभी शूद्र वेदाध्ययन के अधिकारी थे, एक ऐसा तथ्य है, जिसका सम्यक समर्थन *'महाभारत'* के 'शांति पर्व' में उल्लिखित परंपरा करती है। वहां भृगु ऋषि ने इस प्रश्न का उत्तर दिया है कि वर्ण का निर्धारण कैसे किया जाए? उत्तर इस प्रकार है :

> पहले वर्णों में कोई अंतर नहीं था। ब्रह्मा से उत्पन्न होने के कारण यह सारा जगत ब्राह्मण ही था। बाद में विभिन्न कर्मों के कारण उनमें वर्ग-भेद हो गया। जो ब्राह्मण (द्विज) अपने ब्राह्मणोचित धर्म का परित्याग करके विषय-भोग के प्रेमी, तीक्ष्ण स्वभाव वाले, क्रोधी और साहस का काम पसंद करने वाले हो गए और इन्हीं कारणों से जिनका शरीर लाल हो गया, वे क्षत्रिय भाव को प्राप्त हुए। जिन्होंने गौओं से तथा कृषिकर्म द्वारा जीविका चलाने की वृत्ति अपना ली और उसी के कारण जिनका रंग पीला पड़ गया तथा जो ब्राह्मणोचित धर्म को छोड़ बैठे, वे ब्राह्मण ही वैश्य भाव को प्राप्त हुए। जो शौच तथा सदाचार से भ्रष्ट होकर हिंसा और असत्य के प्रेमी हो गए, लोभवश व्याधों के समान सभी तरह के निन्ध्य-कर्म करके जीविका चलाने लगे और उसी के कारण जिनका रंग काला पड़ गया, वे ब्राह्मण शूद्र भाव को प्राप्त हो गए। इन्हीं कर्मों के कारण ब्राह्मणत्व से अलग होकर वे सभी ब्राह्मण दूसरे-दूसरे वर्ण के हो गए, किंतु उनके लिए नित्य धर्मानुष्ठान और यज्ञ-कर्म का कभी निषेध नहीं किया गया है। इस प्रकार ये चार वर्ण हुए, जिनके लिए ब्रह्मा ने पहले ब्राह्मी सरस्वती (वेदवाणी) प्रकट की। लेकिन लोभ-विशेष के कारण शूद्र अज्ञान भाव को प्राप्त हुए।

'ब्राह्मी सरस्वती' शब्द की व्याख्या करते हुए व्याख्याकार ने कहा है :

> वेद-रहित सरस्वती की रचना पहले ब्रह्मा ने सभी चारों वर्णों के लिए की, लेकिन लोभ-विशेष के कारण शूद्र अज्ञान (तमस भाव) को प्राप्त हुए और वेदाध्ययन के अनधिकारी हो गए।

शूद्रों का दर्जा घटाने के बाद वैश्यों की बारी आई। सर्वाधिक कटु वर्ग-युद्ध ब्राह्मणों और क्षत्रियों के बीच हुआ। हिंदू शास्त्रों में इन दो वर्णों के बीच वर्ग-युद्ध का प्रचुर उल्लेख है। सर्वप्रथम संघर्ष ब्राह्मणों और राजा वेन के बीच हुआ।

> पहले कभी अंग नामक प्रजापति हुआ करता था। वह सत्य का संरक्षक था। वह अत्रि जाति का था और शक्ति में अत्रि जैसा ही था। प्रजापति वेन उसका पुत्र था। वेन को जैसे-तैसे कर्तव्य की शिक्षा दी गई। मृत्यु की पुत्री सुनीता के गर्भ से उसका जन्म हुआ। काल की पुत्री के इस पुत्र ने अपने नाना से कुसंस्कार ग्रहण किया। अतः वह अपने कर्तव्य से विमुख हो गया

और काम के वशीभूत होकर लोभी बन गया। इस राजा ने अधार्मिक आधार-प्रणाली की स्थापना की। वेदाज्ञाओं का उल्लंघन कर धर्म-विरुद्ध आचार-व्यवस्था की स्थापना की और वह क्रूर कर्म करने लग गया। उसके शासन-काल में लोग पवित्र ग्रंथों के अध्ययन और वषट्कार (यज्ञ-कर्म) से विमुख हो गए। देवता यज्ञों में सोम रस के नैवेद्य से वंचित हो गए। उसने घोषणा कर दी, 'यज्ञ मेरे लिए है, मैं ही यज्ञकर्ता हूं, मैं ही यज्ञ हूं। अतः हवि मुझे ही दी जाए और नैवेद्य भी मुझे ही अर्पित किया जाए।' कर्तव्य संबंधी नियमों का उल्लंघन करने वाले तथा दाय भाग पर झूठा अधिकार जताने वाले उस राजा से तब मारीचि के नेतृत्व में सभी महर्षियों ने कहा, 'हे राजन् हम एक यज्ञ करना चाहते हैं। यह अनुष्ठान अनेक वर्षों तक चलेगा। अतः असत्य का आचरण न करो। यह तुम्हारा सनातन कर्तव्य नहीं है। तुम अत्रि के वंशज हो और तुम्हारा कर्तव्य अपनी प्रजा का पालन करना है।' मूर्ख वेन को सद्-असद् का कोई ज्ञान नहीं था। उसने ऋषियों का उपहास करते हुए उनको उत्तर दिया, 'मेरे सिवाए और कौन है, जो कर्तव्य का विधान करता है? मुझे किसकी आज्ञा का पालन करना चाहिए? है कोई इस भूतल पर, जो पवित्र ज्ञान, पराक्रम, धर्मपरायणता, सत्य में मेरी बराबरी कर सके? अरे, तुम तो भ्रमित तथा मतिहीन हो, तुम क्या जानों कि मैं ही सभी प्राणियों तथा कर्तव्यों का आदि स्रोत हूं। तुम समझ लो कि यदि मैं चाहूं तो पृथ्वी को भस्म कर दूं अथवा उसे जलमग्न कर दूं अथवा स्वर्ग और धरती को एक कर दूं।' जब मतिभ्रष्ट तथा अहंकारी वेन को सुमार्ग पर नहीं लाया जा सका तो ऋषिगण क्रुद्ध हो उठे और उन्होंने उस उत्पाती तथा कलह-प्रिय राजा को दबोच लिया और उसकी बाईं जंघा का मर्दन किया। जंघा के इस मर्दन से काले वर्ण का एक व्यक्ति उत्पन्न हुआ। वह नाटे कद का था। भय के मारे वह हाथ जोड़कर खड़ा हो गया। अत्रि ने उसे भयातुर देखकर उससे कहा, 'निषिद' बैठ जाओ। वह व्यक्ति निषादों की जाति का संस्थापक बना। वह धीवरों (मछुआरों) का जनक भी बना, जो वेन के पाप से पैदा हुए। विंध्य श्रेणी के तुखार और तुम्बुरा नामक अन्य निवासी भी उसी से पैदा हुए, जो क्रूर कर्म करते थे। फिर उन क्रुद्ध ऋषियों ने वेन के दाएं हाथ का मर्दन उसी प्रकार किया, जैसे अरणि किया जाता है। उससे पृथु पैदा हुआ। उसका शरीर साक्षात अग्नि जैसा जल रहा था।

वेन के पुत्र पृथु ने तब हाथ जोड़कर महान ऋषियों से कहा : 'कर्तव्य के सिद्धांतो को समझने के लिए प्रकृति ने मुझे अति अल्प बुद्धि प्रदान की है। कृपया बताएं, किस प्रकार मैं उसका उपयोग करूं। आप मुझे जो बताएंगे, निस्संदेह मैं वही करूंगा।' फिर उन देवताओं तथा महर्षियों ने उससे कहा,

'जो कर्तव्य बताया जाए, उसका बिना किसी संकोच के पालन करो, भले ही वह तुम्हें रुचिकर न हो, सभी प्राणियों के प्रति समदृष्टि रखो, काम, क्रोध, लोभ तथा अहंकार से दूर रहो। अपने भुजबल से उन सभी लोगों पर अंकुश रखो, जो सच्चाई के रास्ते से विमुख हो जाते हैं और कर्तव्य के प्रति सजग रहते हुए मन, वचन और कर्म से पृथ्वी के देवताओं (वेद अथवा ब्राह्मण) की रक्षा का व्रत लो और उस व्रत का सतत् पालन करते रहो। ... और वचन दो कि तुम ब्राह्मणों को दंड से मुक्त रखोगे, और समाज को वर्ण संकरता से बचाओगे।' इस पर ऋषियों के नेतृत्व वाले देवताओं को जिनका नेतृत्व ऋषि कर रहे थे, वेन के पुत्र ने उत्तर दिया : 'निश्चय ही मैं महान ब्राह्मणों का, जो मनुष्यों में उत्तम हैं, आदर करूंगा।' उन ऋषियों ने कहा, 'तथास्तु'। दिव्य ज्ञान के भंडार शुक्र उसके पुरोहित बने, बालखिल्य ऋषिगण तथा सारस्वेत्य ऋषिगण उसके मंत्री बने और पूजनीय गर्ग नामक महर्षि उसके ज्योतिषि बने।

दूसरा संघर्ष ब्राह्मणों तथा क्षत्रिय राजा पुरुरवा के बीच हुआ। *'महाभारत'* के 'आदि पर्व' में उसका संक्षिप्त उल्लेख मिलता है।

... उसके बाद इला के गर्भ से विद्वान पुरुरवा का जन्म हुआ। सुना जाता है कि इला पुरुरवा की माता भी थी और पिता भी। राजा पुरुरवा समुद्र के तेरह द्वीपों का शासन और उपभोग करते थे। महायशस्वी पुरुरवा मनुष्य होकर भी देवताओं से घिरे रहते थे। उन्होंने अपने पराक्रम से उन्मत्त हो ब्राह्मणों के साथ युद्ध किया, और ब्राह्मणों से उनके रत्नों को छीन लिया, जिसका उन्होंने तीव्र प्रतिकार भी किया था। ब्रह्म लोक से सनत्कुमार ने ब्रह्म लोक आकर उनकी भर्त्सना की, जिसका उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। तब क्रुद्ध महर्षियों के शाप से वह भस्म हो गए। वह बल के घमंड में अपनी विवेक-शक्ति खो बैठे थे। इस तेजस्वी राजा ने गंधर्व लोक से लाकर पृथ्वी पर यज्ञ के लिए अग्नियों की स्थापना की।

कहा जाता है कि तीसरा संघर्ष ब्राह्मणों और राजा नहुष के बीच हुआ। *'महाभारत'* के 'उद्योग पर्व' में उस कथा का विस्तार से वर्णन किया गया है। उसमें कहा गया है :

वृत्रासुर की हत्या करने के बाद इंद्र इस बात से भयभीत होकर कि उन्होंने ब्रह्म-हत्या की है (क्योंकि वृत्र को ब्राह्मण माना जाता था), जल में छिप गए। जब देवराज इंद्र अदृश्य हो गए तो भूतल तथा स्वर्ग का सभी कारोबार अस्त-व्यस्त हो गया। ऋषियों तथा देवताओं ने तब नहुष से राजा बन जाने की प्रार्थना की। पहले तो नहुष ने बहाना बनाया कि उनमें बल

का अभाव है, पर अंततः उन्होंने ऋषियों का आग्रह स्वीकार कर लिया। जब तक वह उच्च पद पर आसीन नहीं हुए थे, वह धर्माचरण करते रहे। लेकिन अब वह आमोद-प्रमोद और विषय-भोगों में लिप्त थे। यहां तक कि जब एक दिन उनकी दृष्टि इंद्राणी, अर्थात इंद्र की पत्नी, पर पड़ी, तब वह उसे पाने के लिए लालायित हो उठे। इंद्राणी ने देवताओं के गुरु अंगिरस वृहस्पति की शरण ली। वृहस्पति ने इंद्राणी को उसकी रक्षा का वचन दिया। इस हस्तक्षेप को सुनकर नहुष क्रुद्ध हो गए, लेकिन देवताओं ने उन्हें शांत करने का प्रयास किया और कहा कि पराई स्त्री को अपनी पत्नी बनाना पाप-कर्म है। लेकिन नहुष ने उनकी एक न सुनी और अपनी बात पर यह कहकर अड़े रहे कि वह इंद्र से किसी तरह कम नहीं हैं। उन्होंने कहा : 'इंद्र ने पूर्व-काल में यशस्वी ऋषि-पत्नी अहल्या का उसके पति के जीते-जी सतीत्व नष्ट किया था, तब आपने उसे क्यों नहीं रोका था? जब प्राचीन-काल में इंद्र ने अनेक पाप-कर्म और छल-कपट किए थे, तब उसे क्यों नहीं रोका गया था।' नहुष ने देवताओं से इंद्राणी को लाने के लिए कहा, लेकिन वृहस्पति ने उसे भेजने से इंकार कर दिया। लेकिन उनके सुझाव पर इंद्राणी ने नहुष से कुछ समय मांग लिया, ताकि इस बीच वह अपने पति की खोज-खबर ले-ले। अनुरोध स्वीकार कर लिया गया। उसके बाद इंद्र की ओर से देवताओं ने विष्णु से प्रार्थना की। विष्णु ने वचन दिया, 'यदि इंद्र मेरे लिए यज्ञ करे तो मैं इंद्र को पाप-मुक्त कर दूंगा और उसे पुनः उसका पद दिला दूंगा, और नहुष नष्ट हो जाएगा।' इंद्र ने तदनुसार यज्ञ किया और उसका फल इस प्रकार बताया गया है ; 'वसव (इंद्र) ने ब्रह्म-हत्या के पाप को वृक्षों, नदियों, पर्वतों, पृथ्वी और स्त्री समुदाय में बांट दिया और तब वह कष्टों और पाप से मुक्त होकर स्वाधीन हो गया।' इस प्रकार नहुष को इंद्र के पद से हटा दिया गया।

लेकिन (यहां वर्णन में कोई गड़बड़ी है) उसने निश्चित रूप से शीघ्र ही अपना स्थान प्राप्त कर लिया होगा, क्योंकि कहा जाता है कि इंद्र पुनः नष्ट हो गए और अदृश्य हो गए।

तब इंद्राणी अपने पति की खोज में निकलीं और रात्रि-देवी तथा रहस्यों (रात्रि की देवी और रहस्यों को उद्घाटित करने वाली) की सहायता से उसने इंद्र को खोज निकाला। वह हिमालय के उत्तर में सागर के भीतर स्थित महाद्वीप की एक झील में कमल की नाल में अत्यंत सूक्ष्म रूप से अवस्थित थे। इंद्राणी ने उन्हें नहुष के पापपूर्ण मंतव्य की सूचना दी और उनसे कहा, 'अब आप अपनी शक्ति का उपयोग कीजिए, संकट से मेरी रक्षा कीजिए और देवताओं के राज्य का शासन पुनः अपने हाथ में लीजिए।' पर इंद्र ने तुरत कोई हस्तक्षेप करने से इंकार कर दिया और कहा कि नहुष बहुत बलवान

हो गया है। उसने अपनी पत्नी को एक युक्ति सुझाई, जिसके द्वारा अनाधिकार चेष्टा करने वाले नहुष को उसके पद से हटाया जा सकता है। उसे यह बताया गया कि वह नहुष से यह कहे कि 'अगर तुम ऋषियों द्वारा ढोए गए दिव्य वाहन (पालिका) में बैठकर मेरे पास आओ, तब मैं सहर्ष तुम्हें स्वीकार कर लूंगी।' नहुष ने इंद्राणी के आने पर उसका सत्कार किया और इंद्राणी ने देवताओं की समस्या नहुष को सुनाई और यह प्रस्ताव रखा, 'हे देवराज, मेरी इच्छा है कि आपके पास एक ऐसा अपूर्व वाहन (पालकी) हो, जैसा कि विष्णु, रुद्र, असुर और राक्षसों के पास भी न हो। प्रभो, महर्षि मिलकर इस वाहन में आपको लाएं। राजन् इससे मुझे प्रसन्नता होगी।' इंद्राणी के ऐसा कहने पर देवराज नहुष को बात जंच गई और देवराज नहुष आत्म-प्रशंसा से भरकर बोले, 'जो ऋषियों को अपना वाहन बना सकता है, वही शक्तिशाली होता है। मैं परम शक्ति का अनन्य उपासक हूं। भूत, भविष्य और वर्तमान, तीनों का अधिपति हूं। मेरे कुपित होने पर यह संसार मिट जाएगा। मुझ पर ही सब कुछ टिका हुआ है।... अतः देवि, निश्चय ही मैं तुम्हारी इच्छा का पालन करूंगा। सारे सप्तर्षि और ब्रह्मर्षि मेरी पालकी ढोएंगे। हे सुंदरी, मेरे शौर्य और समृद्धि को तुम स्वयं देखना।' तद्नुसार उस दुराचारी, उग्र, मदांध, स्वेच्छाचारी नहुष ने ऋषियों को, जो उसके आदेश की अवज्ञा नहीं कर सके, अपनी पालकी में जोत दिया और उन्हें पालकी ले चलने के लिए कहा। इंद्राणी पुनः वृहस्पति के पास गई। वृहस्पति ने उसे पुनः आश्वासन दिया कि नहुष अपने गर्व के कारण शीघ्र ही भ्रष्ट हो जाएगा और वह उस अत्याचारी के नाश तथा इद्र के छिपने के स्थान का पता लगाने के लिए यज्ञ करेंगे। इसके बाद इंद्र का पता लगाने और उन्हें वृहस्पति के पास लाने के लिए अग्नि को भेजा जाता है। इंद्र के आने पर वृहस्पति उन्हें उनकी अनुपस्थिति में हुए कांड के बारे में बताते हैं। इंद्र जब कुबेर, यम, सोम और वरुण के साथ बैठकर नहुष के वध का उपाय सोच रहे थे, उसी समय वहां तपस्वी अगस्त्य दिखाई देते हैं। उन्होंने इंद्र को उनके प्रतिद्वंद्वी के पतन पर बधाई दी और सारा वृतांत बताया। उन्होंने कहा कि : महाभाग देवर्षि तथा निर्मल अंतःकरण वाले ब्रह्मर्षि पापाचारी नहुष को ढोते-ढोते जब थक गए, तब उन्होंने नहुष से एक शंका प्रकट की, 'विजयी, वीरों में श्रेष्ठ, हे वसव, बलि देने से पूर्व उसे अभिषिक्त करने के लिए जिन मंत्रों के उच्चारण का विधान वेद में निहित है, क्या आप उन्हें प्रामाणिक मानते हैं?' नहुष की बुद्धि अज्ञान के अंधकार से ग्रसित थी। उसने कहा, "मैं इन वेद-मंत्रों को प्रामाणिक नहीं मानता।' ऋषियों ने कहा, 'आप अधर्म में प्रवत्त हो रहे हैं। इसलिए धर्म का तत्व नहीं समझ रहे हैं। ये मंत्र पूर्व-काल में महर्षियों ने हमें सुनाए थे और हम इन्हे

प्रामाणिक मानते हैं।' अगस्त्य ने आगे कहा— तब नहुष मुनियों से विवाद करने लगा और क्रोध में भरकर उस पापी ने मेरे मस्तक पर अपने पैर से प्रहार किया। इससे उसका सारा तेज नष्ट हो गया और वह श्रीहीन हो गया। वह क्षुब्ध और भयभीत हो उठा। मैंने उससे कहा, 'मूर्ख तू उन पवित्र मंत्रों की निंदा करता है, जो सर्वदा से पूजनीय रहे हैं। जिनकी रचना प्राचीन ऋषियों ने की है, जिनको ब्रह्मर्षि उपयोग में लाते थे, तूने मेरे सिर पर अपने पैर से प्रहार किया है, तू ब्रह्मा के समान और अजेय ऋषियों से अपनी पालकी उठवाता है, इसलिए तू श्रीहीन हो गया है, तेरे सारे पुण्य नष्ट हो गए हैं, तेरा पतन हो, तू स्वर्ग से पृथ्वी पर गिरकर विशाल सर्प बनकर दस हजार वर्षों तक रेंगेगा। इस अवधि के पूरा होने पर पुनः स्वर्ग लोक को प्राप्त होगा।' इस प्रकार दुरात्मा नहुष स्वर्ग से निष्कासित हुआ।

उसके बाद राजा निमि और ब्राह्मणों के बीच संघर्ष का उल्लेख मिलता है। *'विष्णु पुराण'* में यह वृतांत इस प्रकार वर्णित है :

निमि ने ब्रह्मर्षि वशिष्ठ से प्रार्थना की कि वह यज्ञ में पुरोहित बनें। यज्ञ एक हजार वर्ष तक चलने वाला था। उत्तर में वशिष्ठ ने कहा कि वह पहले ही पांच सौ वर्ष के लिए इंद्र को वचन दे चुके हैं। उन्होंने आश्वासन दिया कि इस अवधि के समाप्त होने पर वह लौट आएंगे। राजा ने कुछ नहीं कहा। वशिष्ठ यह धारणा लेकर वहां से चले गए कि राजा इस व्यवस्था से सहमत हो गए हैं। लेकिन वापस लौटने पर उनको पता चला कि निमि ने (वशिष्ठ के स्तर के) ब्रह्मर्षि गौतम तथा अन्य ऋषियों को यज्ञ करने के लिए आमंत्रित कर रखा है। चूंकि उन्हें इसकी कोई पूर्व सूचना नहीं दी गई, इसलिए उन्होंने इसे अपनी अवहेलना समझा और तब कुपित होकर उन्होंने राजा को, जो उस समय सोया हुआ था, श्राप दिया कि उसका स्थूल शरीर नष्ट हो जाए। जब राजा सोकर उठे और पता चला कि उन्हें बिना किसी पूर्व चेतावनी के श्राप दे दिया गया तो उन्होंने भी प्रतिरोध में वशिष्ठ को वैसा ही श्राप दे डाला और अपना शरीर छोड़ दिया। इस श्राप के फलस्वरूप (*'विष्णु पुराण* 4, 5, 6 में आगे कहा गया है) वशिष्ठ का तेज मित्र और वरुण के तेज में प्रविष्ट कर गया और उसने उनके वीर्य से दूसरा शरीर प्राप्त कर लिया, जो उर्वशी को देखकर स्खलित हुआ था। निमि के शव को संलेपन द्वारा सुरक्षित रखा गया। जो यज्ञ निमि ने प्रारंभ किया था, उसके समापन पर पुरोहितों के अनुनय-विनय करने पर देवता निमि को पुनर्जीवित करने के लिए राजी हो गए। लेकिन निमि ने यह प्रस्ताव अस्वीकृत कर दिया और उनकी इच्छा के अनुसार देवताओं ने उन्हें सभी चेतन प्राणियों की आंखों में स्थान दे दिया। इसी तथ्य का यह प्रभाव है कि प्राणी सदा आंखें खोलते और बंद करते

रहते हैं (निमिष का अर्थ है, 'पलक की झपक')।

मनु ब्राह्मणों तथा राजा सुमुख के बीच हुए एक और संघर्ष का उल्लेख करता है। पर उसके बारे में कोई ब्यौरा प्राप्त नहीं है।

ये ब्राह्मणों तथा क्षत्रिय राजाओं के बीच हुए संघर्षों के उदाहरण हैं। इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि दो वर्गों के रूप में ब्राह्मणों और क्षत्रियों के बीच झड़पें नहीं हुईं। इसी तथ्य के प्रचुर प्रमाण मिलते हैं कि राजाओं से हुई झड़पों के अलावा इन दो वर्गों के बीच भी झड़पें हुईं। ये प्रमाण ऐतिहासिक महत्व की सामग्री हैं, जिस पर कोई संदेह नहीं किया जा सकता। इस प्रकार की तीन घटनाएं उल्लेखनीय हैं।

पहला विवाद तो क्षत्रिय विश्वामित्र और ब्राह्मण वशिष्ठ के बीच ठना। दोनों के बीच विवाद का मुद्दा था कि क्या कोई क्षत्रिय ब्राह्मणत्व प्राप्त कर सकता है। इसका वर्णन '*रामायण*' में इस प्रकार मिलता है :

> कहा जाता है कि प्राचीन-काल में कुश नामक एक प्रसिद्ध राजा हुए हैं। वह प्रजापति के पुत्र थे। कुश के पुत्र का नाम कुशानभ था। कुशानभ के पुत्र गाधि नाम से विख्यात थे। उन्हीं गाधि के पुत्र विश्वामित्र हुए। विश्वामित्र ने कई हजार वर्षों तक पृथ्वी पर शासन किया। एक समय की बात है कि जब वह पृथ्वी की परिक्रमा कर रहे थे तो वह महर्षि वशिष्ठ के आश्रम पर आ पहुंचे, जहां अनेक संत, महात्मा, ऋषि और भक्तगण निवास किया करते थे। वहां पहले तो उन्होंने आतिथ्य स्वीकार नहीं किया, पर बाद में अपनी सेना-सहित ब्रह्मा के पुत्र (वशिष्ठ) का आतिथ्य स्वीकार कर लिया। वहां विश्वामित्र एक अद्भुत गौ को देखकर ललचा उठे, जिसने अत्यंत स्वादिष्ट भोजन प्रदान किया था। सर्वप्रथम उन्होंने उस गौ को उन्हें एक सहस्त्र गौओं के बदले देने के लिए कहा। उन्होंने यह भी कहा—'यह गौ तो रत्न है और चूंकि रत्न राजा की संपत्ति होते हैं, अतः इस गौ पर मेरा अधिकार है।' जब वशिष्ठ ने इस मूल्य को स्वीकार नहीं किया तो विश्वामित्र ने और अधिक मूल्य देने का प्रस्ताव किया, पर उसका कोई फल नहीं हुआ। तब उसने कृतघ्नतापूर्वक और बलपूर्वक उस गौ को अपने अधीन कर लिया। वह गौ राजा के सेवकों को झटक कर अपने स्वामी के पास चली गई और कहने लगी कि उन्होंने उसका त्याग क्यों किया है। ब्रह्मर्षि ने उत्तर दिया कि वह उसका त्याग नहीं कर रहे हैं, पर राजा उनसे कहीं अधिक बलवान है। गौ उत्तर देती है, 'लोग क्षत्रिय के बल को नहीं स्वीकार करते। ब्राह्मण ही अधिक बलवान होते हैं। ब्राह्मण का बल दिव्य होता है। वह क्षत्रिय-बल से श्रेष्ठ होता है। आपका बल असीम है। भले ही विश्वामित्र महापराक्रमी है, पर आपसे

अधिक बलवान नहीं है। आपका तेज दुर्घर्ष है। आपने मुझे ब्रह्म-बल से प्राप्त किया है। आप तो केवल मुझे आज्ञा दीजिए। मैं इस दुरात्मा राजा के गर्व, बल और उद्यम को अभी नष्ट किए देती हूं।' गौ ने तब रंभाकर सैकड़ों पहलवानों की सृष्टि कर दी। उन्होंने विश्वामित्र की सारी सेना का संहार कर दिया। इसके बदले में विश्वामित्र ने उनका संहार कर दिया। तब गौ ने पुनः यवनों और शकों की सृष्टि कर दी, जो महापराक्रमी और नाना प्रकार के अस्त्र–शस्त्रों से सुसज्जित थे। उन्होंने विश्वामित्र की सारी सेना को भस्म कर डाला। पर विश्वामित्र ने उन वीरों को भी पराजित कर दिया। तब गौ ने रंभाकर अपने शरीर के विभिन्न भागों से विभिन्न प्रजातियों के अनेक योद्धाओं की सृष्टि की। उन्होंने पैदल सैनिकों, हाथियों, घोड़ों और रथ-सहित विश्वामित्र की समूची सेना का तत्काल संहार कर डाला। अपनी सेना की यह दशा देखकर विश्वामित्र के सौ पुत्र अत्यंत क्रोध से भर उठे और नाना प्रकार के अस्त्र-शस्त्र लेकर वशिष्ठ मुनि पर टूट पड़े, पर वे महर्षि के मुख से निकली ज्वाला में जलकर भस्म हो गए। इस प्रकार जब विश्वामित्र पूर्णतया परास्त एवं पराजित हो गए तो उन्होंने अपने एक पुत्र को अपना प्रतिनिधि नियुक्त कर दिया और हिमालय चले गए। वहां उन्होंने घोर तपस्या की और उसके द्वारा महादेव के दर्शन प्राप्त किए, जिन्होंने उनकी इच्छानुसार उन्हें युद्ध-विज्ञान के सभी अंग-उपांगों की शिक्षा दी और उन्हें दिव्य अस्त्र प्रदान किए, जिन्हें प्राप्त कर वह अभिमान से भर गए। उन्होंने वशिष्ठ के आश्रम को भस्म कर डाला और वहां के निवासी भाग खड़े हुए। वशिष्ठ ने विश्वामित्र को चुनौती दी और उन्होंने अपना ब्रह्मदंड उठा लिया। विश्वामित्र ने भी अपना आग्नेयास्त्र उठा लिया और चुनौती दी और कहा—'खड़ा रह।' वशिष्ठ ने भी उसे ललकारा और कहा, 'मैं तेरा घमंड अभी धूल में मिला दूंगा। क्षत्रिय-बल और ब्राह्मण के तेज में तुलना कैसी? देख, नीच क्षत्रिय, तू मेरे दिव्य ब्रह्म तेज को देख।' गाधि पुत्र विश्वामित्र ने जिस भयंकर आग्नेयास्त्र का संधान किया था, वह वैसे ही शांत हो गया, जैसे जल से अग्नि शांत हो जाती है। तब विश्वामित्र ने अपने प्रतिद्वंद्वी पर ब्रह्मपाश, कालपाश, वरुणपाश, विष्णुचक्र, शिव का त्रिशूलास्त्र आदि विविध प्रकार के दिव्यास्त्र चलाए, जिन्हें ब्रह्मा के पुत्र ने अपने सर्वभक्षी ब्रह्मदंड में समाहित कर लिया। अंत में विश्वामित्र ने ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया, जिससे सभी देवी-देवता कांप उठे। पर ब्रह्मर्षि पर वह भी निष्प्रभावी रहा। वशिष्ठ ने अब रौद्र रूप धारण कर लिया था, उनके रोमकूपों में से धूम्रयुक्त आग की लपटें निकलने लगीं और उनके हाथ में ब्रह्मदंड धूम्ररहित कालाग्नि के समान प्रज्ज्वलित हो उठा, मानो वह द्वितीय यमदंड हो। मुनियों द्वारा शांत किए जाने पर, जिन्होंने यह घोषित किया कि वह अपने प्रतिद्वंद्वी से श्रेष्ठ हैं, ब्रह्मर्षि ने अपना क्रोध शांत किया,

विश्वामित्र हताश होकर बोले, 'क्षत्रिय के बल को धिक्कार है। ब्रह्म तेज से प्राप्त होने वाला बल ही वास्तव में बल है। आज केवल एक ही ब्रह्मदंड के द्वारा मेरे सभी अस्त्र नष्ट हो गए।' अब अपमानित और पराजित राजा के पास केवल यही विकल्प रह गया कि या तो इस असहाय हीनता को चुपचाप स्वीकार कर लें या फिर ब्राह्मणत्व के पद पर उन्नत होने के लिए प्रयत्न करें। उन्होंने दूसरे विकल्प को अपनाया और कहा : 'इस पराजय के बारे में मैंने अच्छी तरह विचार किया। अब मैं अपने मन और इंद्रियों को एकाग्र कर महान तप करूंगा, जिससे मुझे ब्राह्मणत्व की प्राप्ति हो।' विश्वामित्र अत्यंत दुखी व संतप्त मन से अपने शत्रु के प्रति घृणा का भाव रख और उसे कोसते हुए अपनी रानी के साथ दक्षिण की ओर चले गए और वहां उन्होंने अपने संकल्प को पूरा करना आरंभ कर दिया। कहा जाता है कि उनके तीन पुत्र हुए – हविष्यांद, मधुष्यांद तथा दृढ़नेत्र। एक हजार वर्ष के बाद ब्रह्मा प्रकट हुए और उन्होंने घोषणा की कि विश्वामित्र ने राजर्षियों के लोक पर विजय प्राप्त कर ली और इस तपस्या के परिणामस्वरूप वह यह प्रमाणित करते हैं कि विश्वामित्र ने उस पद को प्राप्त कर लिया है। विश्वामित्र इस प्रस्ताव को सुनकर लज्जित, दुखी और क्रुद्ध हो गए और बोले – 'मैंने घोर तप किया था, तो भी देवता और ऋषि मुझे राजर्षि ही समझते हैं। लगता है कि तप आदि करने से कोई लाभ नहीं होता।' इस प्रकार निराश होने पर भी उनको एक पद ऊंचा तो मिल गया था, वह पुनः घोर तपस्या में लीन हो गए।

इस अवधि में उनकी तपस्या में निम्न घटनाओं से विघ्न पड़ा। इक्ष्वाकु के ही एक वंशज राजा त्रिशंकु के मन में एक ऐसा यज्ञ करने का विचार आया, जिसके पुण्य के बल से उन्हें सशरीर स्वर्ग की प्राप्ति हो। जब वशिष्ठ को बुलाकर राजा ने उन्हें अपना यह विचार बताया, तब उन्होंने इसे असंभव कहा। इसके बाद त्रिशंकु दक्षिण की ओर चले गए, जहां ऋषि के सौ पुत्र तप कर रहे थे। उसने उनसे वह प्रस्ताव किया, जिसे उनके पिता ने अस्वीकार कर दिया था। यद्यपि राजा ने अत्यंत श्रद्धापूर्वक और विनम्र होकर उनसे निवेदन किया था और यह कहा था कि इक्ष्वाकु संकट में अपने कुल-पुरोहितों की शरण में आते हैं और उनके पिता के बाद वे अब उसके संरक्षक हैं, फिर भी उसे उन क्रोधी ऋषियों की भर्त्सना ही सुनने को मिली। उन्होंने कहा, 'आशक्यम् मूर्ख, तुम्हारे सत्यनिष्ठ गुरु ने तुम्हें मना कर दिया है। तुमने उनका निरादर कर दूसरी शाखा का आश्रय कैसे लिया। समस्त इक्ष्वाकुवशियों के लिए कुल-गुरु ही परमगति हैं। उस सत्यनिष्ठ मुनि की बात को कोई अन्यथा नहीं कर सकता। दिव्य वशिष्ठ ऋषि ने जब यह घोषित कर दिया

है कि यह असंभव है, उसे हम लोग कैसे कर सकते हैं। राजन्, तुम मूर्ख हो। तुम अपनी राजधानी को लौट जाओ। मुनि वशिष्ठ तीनों लोकों का यज्ञ-कर्म कराने में समर्थ हैं। हम लोग उनकी अवज्ञा कैसे कर सकते हैं?' त्रिशंकु ने तब कहा, 'चूंकि मेरे गुरु और गुरु के शिष्यों ने मेरी प्रार्थना को अस्वीकृत कर दिया है, अतः मैं कोई दूसरा उपाय सोचूंगा।' जब राजा ने अपनी हठ नहीं छोड़ी, तब महर्षि के पुत्रों ने उसे चांडाल होने का शाप दे दिया। यह शाप शीघ्र ही प्रभावी हो गया और जब दुखी राजा की आकृति नीच चांडाल की हो गई, तब उसने विश्वामित्र की शरण ली, जो (जैसा कि हम देख चुके हैं कि उन दिनों वह भी दक्षिण में वास कर रहे थे) अपने तपोबल को बढ़ा रहे थे और अपने भाग्य को कोस रहे थे। विश्वामित्र त्रिशंकु की दशा देखकर द्रवित हो गए और उन्होंने उसे यज्ञ कराने का आश्वासन दे दिया तथा कहा, 'मैं तुम्हें इसी चांडाल के शरीर-सहित स्वर्ग में भेजूंगा, जो तुम्हें अपने गुरु के शाप से प्राप्त हुआ है। चूंकि तुम कुशिक के पुत्र की शरण में आ गए हो, इसलिए तुम यह समझो कि तुम स्वर्ग में हो।' फिर उन्होंने यज्ञ की तैयारी किए जाने और वशिष्ठ के परिवार-सहित सभी ऋषियों को यज्ञ में आमंत्रित किए जाने का आदेश दिया। विश्वामित्र के जो शिष्य उनका संदेश लेकर गए, उन्होंने लौटने पर इस प्रकार सूचना दी : 'आपका संदेश पाकर केवल महोदय (वशिष्ठ) को छोड़कर प्रायः संपूर्ण देशों में रहने वाले सभी ब्राह्मण आ रहे हैं और सभी महर्षि आ चुके हैं। वशिष्ठ के सौ पुत्रों ने क्रुद्ध हो जो कुछ कहा है, उसे आप सुनिए। वे कहते हैं कि देवता और ऋषिगण उस व्यक्ति के यज्ञ में हविष्य को कैसे स्वीकार कर सकते हैं, जो चांडाल हो और जिसका यज्ञ कराने वाला आचार्य क्षत्रिय हो? चांडाल का अन्न खाकर और विश्वामित्र के निमंत्रण पर तपस्वी ब्राह्मण स्वर्ग कैसे जा सकते हैं?' महोदय के साथ वशिष्ठ के सभी पुत्रों ने क्रोध से लाल आंखें करके ये उपर्युक्त कठोर वचन कहे। इस संदेश को सुनकर विश्वामित्र अत्यंत क्रुद्ध हो उठे और उन्होंने वशिष्ठ के सभी सौ पुत्रों को भस्म होने और नीच की जाति (मृतापह) में सात सौ बार पुनः जन्म लेने और महोदय को निषाद हो जाने का शाप दे दिया। विश्वामित्र ने यह जानकर कि शाप प्रभावी हो चुका है, त्रिशंकु की प्रशंसा करते हुए एकत्रित ऋषियों से यज्ञ आरंभ करने के लिए कहा। इस प्रस्ताव से वे इस डर से सहमत हो गए कि कहीं वे भी क्रोधी मुनि के कोप के भाजन न हो जाएं। उस यज्ञ में विश्वामित्र स्वयं याजक तथा अन्य ऋषि ऋत्विज हुए और सभी रीतियां संपन्न हुईं। तब विश्वामित्र ने नैवेद्य अर्पित करने के लिए सभी देवताओं का आवाहन किया, परंतु वे नहीं आए। इस पर उन्हें बड़ा क्रोध आया और वह यज्ञ की स्रुवा उठाकर त्रिशंकु से इस प्रकार बोले, 'हे राजन्! अब तुम तपस्या द्वारा अर्जित

मेरा बल देखो। मैं अभी तुम्हें अपनी शक्ति से सशरीर स्वर्ग पहुंचाता हूं। तुम सशरीर स्वर्ग लोक को जाओ, जो प्राणियों के लिए दुर्लभ है। निश्चय ही मैंने अपनी तपस्या का कुछ फल प्राप्त किया है।' मुनियों के देखते-देखते राजा त्रिशंकु तुरंत सशरीर स्वर्ग लोक चले गए। लेकिन इंद्र ने उन्हें वापस जाने और सिर के बल गिरने का आदेश दिया, क्योंकि वह अपने आध्यात्मिक गुरु से शापित हैं, देवताओं के निवास स्थान में रहने के अयोग्य हैं। तदनुसार वह सिर के बल गिरने लगे और अपने आध्यात्मिक संरक्षक से सहायता करने के लिए चिल्लाने लगे। इस पर विश्वामित्र अत्यंत क्रुद्ध हो गए और उन्होंने त्रिशंकु से वहीं रुकने के लिए कहा। तब उन्होंने अपने दिव्य ज्ञान तथा तपस्या के बल से दूसरे प्रजापति की भांति आकाश के दक्षिण भाग में एक नए सप्त ऋषि-मंडल की सृष्टि कर दी। आकाश के उस भाग में आने के बाद उस प्रख्यात ऋषि ने क्रुद्ध होकर अन्य ऋषियों के सम्मुख एक नए तारा-मंडल की सृष्टि की। उन्होंने घोषणा की, 'मैं एक दूसरे इंद्र की सृष्टि करूंगा अथवा संसार में कोई इंद्र नहीं रहेगा।' वह क्रोध में नए देवताओं की भी सृष्टि करने लगे। इससे ऋषि, देवता और असुर भयभीत हो उठे और विश्वामित्र से विनयपूर्वक बोले कि चूंकि त्रिशंकु अपने गुरुओं द्वारा शापित हैं, अतः जब तक वह कुछ तप न कर लें, तब तक सशरीर स्वर्ग में प्रविष्ट न किए जाएं। मुनि ने कहा कि वह त्रिशंकु को वचन दे चुके हैं। उन्होंने देवताओं से अनुनय की कि वे उनके शरणागत को सशरीर स्वर्ग में रहने दें, और उन्होंने जिन नक्षत्रों का निर्माण किया है, वे सब सदा बने रहें। देवताओं ने सहमति प्रकट की और कहा, 'आपके रचे हुए असंख्य नक्षत्र आकाश में रहेंगे, लेकिन वे सूर्य के पथ से बाहर रहेंगे और उन्हीं के बीच में त्रिशंकु भी अमर्त्य की भांति सदा सिर के बल उल्टे टंगे रहेंगे तथा ये सभी नक्षत्र उनका अनुसरण करेंगे। इस प्रकार उनका उद्देश्य पूरा हो जाएगा, उनकी प्रतिष्ठा बनी रहेगी और वे स्वर्ग के वासी की भांति हो जाएंगे।' इस प्रकार यह महान विवाद समझौते द्वारा तय हुआ और विश्वामित्र ने इसे स्वीकार कर लिया।

त्रिशंकु की यह कथा *'हरिवंश'* में प्राप्त उसकी कथा से जो नीचे उद्धृत है, मूलतः भिन्न है, लेकिन उससे वशिष्ठ और विश्वामित्र के बीच संघर्ष के स्वरूप की बड़ी ही स्पष्ट जानकारी मिलती है।

जब यज्ञ की पूर्णाहुति होने पर सभी देवता तथा ऋषि विदा हो गए तो विश्वामित्र ने अपने अनुचर भक्तों से कहा, 'इस दक्षिण दिशा में हमारी तपस्या में महान विघ्न हुआ है, अतः हम अब दूसरी दिशा में चलें और वहीं रहकर तपस्या करेंगे।' तदनुसार वह पश्चिम के एक वन में चले गए और पुनः तपस्या करने लगे।

यहां पर एक नई कथा का वर्णन प्रारंभ हो जाता है। वह कथा अयोध्या नरेश अंबरीष की है, जो *'रामायण'* के अनुसार इक्ष्वाकु के 28वें तथा त्रिशंकु के 22वें वंशज थे। कहा जाता है कि विश्वामित्र इन दोनों राजाओं के समकालीन थे। कथा में कहा गया है :

जब अंबरीष यज्ञ में लगे हुए थे तो इंद्र ने उनके यज्ञ-पशु को चुरा लिया। पुरोहित ने कहा कि यह अशुभ घटना राजा के कुशासन के कारण हुई है और अगर यज्ञ-पशु नहीं खोज लिया जाता, तो नर-बलि देनी पड़ेगी। खोजते-खोजते राजर्षि अंबरीश ब्रह्मर्षि भृगु के वंशज ऋचीक के पास पहुंचे और उनसे याचना की कि वह एक लाख गायें लेकर अपने एक पुत्र को बलि के लिए दे दें। ऋचीक ने कहा कि वह अपना ज्येष्ठ पुत्र नहीं देंगे, और उनकी पत्नी ने कहा कि वह अपना कनिष्ठ पुत्र नहीं देंगी। पत्नी ने कहा कि ज्येष्ठतम पुत्र प्रायः अपने पिता का और कनिष्ठतम अपनी मां का लाडला होता है। तब मझले पुत्र शुनःशेप ने कहा, 'उस दशा में मैं समझता हूं कि मझला पुत्र ही दिए जाने योग्य है। अतः तुम मुझे ले चलो।' तब एक करोड़ स्वर्ण मुद्रा, रत्नों के ढेर तथा एक लाख गायें दी गईं और शुनःशेप को लेकर चल दिए। जब वे पुष्कर से गुजर रहे थे तो शुनःशेप ने अपने मामा विश्वामित्र को देखा, जो अन्य ऋषियों के साथ वहां तप कर रहे थे। वह यह कहकर उनकी गोद में गिर पड़ा कि वह अनाथ, मित्ररहित और असहाय, ऋषि की दया का पात्र है और उसने उनसे सहायता की याचना की। विश्वामित्र ने उसे धीरज बंधाया और अपने पुत्रों से आग्रह किया कि वे शुनःशेप के स्थान पर बलि के लिए जाए। इस पर राजर्षि के मधुष्यांद आदि पुत्रों ने असहमति व्यक्त की, और उदंडता और तिरस्कारपूर्वक बोले, 'यह कैसा आचरण है कि आप अपने पुत्रों की बलि और दूसरे के पुत्रों की रक्षा कर रहे हैं। हम इसे अकर्तव्य समझते हैं और यह अपना मांस खाने जैसा ही है।' अपनी आज्ञा की अवमानना होते देख मुनि अत्यंत क्रुद्ध हो गए और उन्होने पुत्रों को शाप दे दिया, 'जाओ, वशिष्ठ के पुत्रों की भांति तुम्हारा जन्म भी एक सहस्त्र वर्षों तक अत्यंत नीच जाति में हो और तुम कुत्ते का मांस खाओ।' फिर उन्होंने शुनःशेप से कहा, 'जब तुम्हें अंबरीश के यज्ञ में कुश आदि के पवित्र पाशों में बांध तुम्हारे ऊपर लाल रंग की माला डाल और लाल चंदन का लेप कर विष्णु के यज्ञ स्तंभ से बांध दिया जाए, तब तुम अग्नि को संबोधित कर इन दो दिव्य गाथाओं का गान करना। इससे तुम्हारी इच्छा पूर्ण होगी।' दोनों गाथाए प्राप्त करते ही शुनःशेप ने राजा अंबरीष से तुरंत गंतव्य की ओर प्रस्थान करने के लिए कहा। जब शुनःशेप को लाल वस्त्र पहना कर बलि के लिए स्तंभ से बांध दिया गया, तब उसने

इंद्र और उनके छोटे भाई (विष्णु) की स्तुति की। सहस्त्राक्षि (इंद्र) गुप्त मंत्रों को सुन बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने शुनःशेप को दीर्घायु प्रदान की। राजा अंबरीष को भी इस यज्ञ के फलस्वरूप भारी पुण्यों की प्राप्ति हुई। इसके बाद विश्वामित्र पुनः अपनी तपस्या में लग गए और एक हजार वर्ष तक घोर तप करते रहे।

एक हजार वर्ष पूरे होने पर देवता विश्वामित्र के पास उन्हें तपस्या का फल देने के लिए आए। ब्रह्मा ने घोषणा की कि उन्होंने ऋषि का पद उन्नति स्वरूप प्राप्त कर लिया है। स्पष्टतः मुनि इससे संतुष्ट नहीं हुए और पुनः तपस्या में लग गए। इस प्रकार वह बहुत समय तक तपस्या करते रहे। एक बार इसी बीच उन्होंने अप्सरा मेनका को देखा, जो पुष्कर झील में स्नान करने के लिए आई हुई थी। वह उसके सौंदर्य पर मुग्ध हो गए। वह अपूर्व लावण्यमयी थी, जैसे बादलों में बिजली हो। उन्होंने उसे अपने आश्रम में साथ रहने के लिए बुला लिया। वह दस वर्ष तक मेनका के सम्मोहन से ग्रस्त रहे। इससे उनकी तपस्या में महान विघ्न पड़ा। वह अपनी इस अधम स्थिति पर बड़े लज्जित हुए। वह यह सोचकर कि यह सब मेरी तपस्या भंग करने के लिए देवताओं की चाल है, क्रुद्ध हो उठे। फिर उन्होंने समझा-बुझा कर अप्सरा को विदा किया और वह उत्तरी पर्वतमाला पर चले गए, जहां उन्होंने कौशिकी नदी के तट पर एक हजार वर्ष तक घोर तपस्या की। वह अपनी तपस्या में जो प्रगति कर रहे थे, उसे देखकर देवता भयभीत हो उठे। उन्होंने विश्वामित्र को महर्षि की पदवी देने का निर्णय किया। ब्रह्मा ने प्रायः सभी देवताओं की ऐसी इच्छा को ध्यान में रख उन्हें महर्षि की पदवी घोषित कर दी। विश्वामित्र हाथ जोड़ प्रणाम करके बोले, 'जब मुझे ब्रह्मर्षि का अनुपम पद प्रदान किया जाएगा, तभी मैं अपने आपको जितेंद्रिय समझूंगा।' तब ब्रह्मा ने उनसे कहा, 'तुमने अभी अपनी इंद्रियों को पूरी तरह अपने वश में करने की शक्ति नहीं प्राप्त की है। इसके लिए और प्रयास करो।' तब विश्वामित्र ने पुनः और भी घोर तपस्या प्रारंभ कर दी। वह दोनों भुजाएं ऊपर उठाकर बिना किसी आधार के खड़े होकर केवल वायु पीकर तथा ग्रीष्म ऋतु में पंचाग्नि (अर्थात एक-एक चारों दिशाओं और सिर पर सूर्य) के बीच, वर्षाकाल में खुले आकाश के नीचे और जाड़ों में दिन-रात पानी में खड़े रहकर तप करने लगे। इस प्रकार उन्होंने एक हजार वर्षों तक लगातार घोर तपस्या की। अंततः इंद्र और अन्य देवता विश्वामित्र को इस प्रकार पुण्य और तेज का संग्रह करते देख संत्रस्त हो उठे और देवताओं के राजा इंद्र ने अप्सरा रंभा से मुनि को अपने रूप तथा हाव-भाव से लुब्ध करने के लिए कहा। रंभा ने विकट स्वभाव के मुनि के क्रोध के सामने जाने से आनाकानी की,

लेकिन इंद्र के बार-बार आग्रह करने पर वह तैयार हो गई। इंद्र ने वचन दिया कि वह और कंदर्प (प्रेम के देवता) भी उसके साथ रहेंगे। मुनि ने इस षड्यंत्र को ताड़ लिया और अति कुपित होकर अप्सरा को शाप दे दिया कि वह एक हजार वर्षों तक पत्थर बन कर रहे। शाप प्रभावी हो गया और कंदर्प तथा इंद्र वहां से लज्जित हो खिसक लिए। इस प्रकार भले ही मुनि ने काम के प्रलोभन का तो प्रतिरोध कर लिया, पर क्रोध से तपस्या का पूर्णतः क्षय हो गया। उन्हें तप पुनः प्रारंभ करना पड़ा। उन्होंने निश्चय किया कि जब तक उन्हें मनचाहा ब्राह्मणत्व प्राप्त नहीं होगा, तब तक वह न तो क्रोध करेंगे और न किसी भी अवस्था में मुंह से कुछ बोलेंगे, सौ वर्षों तक श्वास भी नहीं लेंगे और अपने शरीर को सुखा डालेंगे। वह तब हिमालय पर्वत को छोड़ पूर्व की ओर चले गए। वहां प्रतिज्ञा के अनुसार उन्होंने एक हजार वर्षों तक मौन रहकर भंयकर तप किया, जैसा कि किसी ने नहीं किया था। अब तक उन्हें पूर्णत्व प्राप्त हो चुका था और अनेक बाधाओं के बावजूद वह कभी क्रुद्ध नहीं हुए थे। व्रत समाप्त होने पर उन्होंने अपने लिए भोजन तैयार किया, जिसे इंद्र ने ब्राह्मण के वेश में आकर मांगा। तद्नुसार विश्वामित्र ने वह अन्न उन्हें दे दिया। उस अन्न में से कुछ भी नहीं बचा और उन्हें भूखा रहना पड़ा। फिर भी उन्होंने ब्राह्मण से कुछ नहीं कहा। उन्होंने अपने व्रत का यथार्थ रूप से पालन किया। इसके बाद पुनः वह श्वास-रहित मौन व्रत में लीन हो गए। सांस न लेने के कारण उनके मस्तक से धुआं उठने लगा। इससे तीनों लोकों के प्राणी थर्रा उठे। इससे त्रस्त होकर देवताओं और ऋषियों आदि ने ब्रह्मा से कहा, 'देव! अनेक प्रकार से महामुनि विश्वामित्र को लोभ और क्रोध दिलाने की चेष्टा की गई, किंतु वह और भी निर्मल होते जा रहे हैं। यदि उनकी इच्छा पूरी नहीं की गई तो वे अपनी तपस्या से तीनों लोकों को नष्ट कर डालेंगे। सभी दिशाओं में अंधकार छा रहा है, कहीं भी प्रकाश नहीं है, समुद्र क्षुब्ध हो उठा है, सारे पर्वत चकनाचूर हुए जाते हैं, धरती कांप रही है और प्रचंड आंधी चलने लगी है। हे ब्रह्मा! हम इस बात की गारंटी नहीं दे सकते कि मानव-जाति नास्तिक नहीं होगी। अतः इससे पहले कि यह महान और तेजस्वी मुनि अग्नि के रूप में (सब-कुछ) भस्म कर दे, उन्हें प्रसन्न किया जाए।' तब ब्रह्मा सभी देवताओं को अपने साथ लेकर विश्वामित्र के पास जाकर बोले—'ब्राह्मण ऋषि, तुम्हारी जय हो। हम तुम्हारी तपस्या से अति प्रसन्न हुए। हे कौशिक, तुमने अपनी गहन तपस्या से ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लिया है। हे ब्राह्मण, मरुद्गणों-सहित मैं तुम्हें दीर्घायु प्रदान करता हूं। तुम्हारा हर प्रकार से कल्याण हो। जहां तुम्हारी इच्छा हो, वहां तुम जाओ।' मुनि ने प्रसन्न होकर समस्त देवताओं को प्रणाम किया और कहा, 'देवगण! यदि मुझे ब्राह्मणत्व और दीर्घायु प्राप्त हो गई है तो एकाक्षर ओंकार, वषट्कार

और वेद मुझे इस रूप मे स्वीकार करे, और ब्रह्मा के पुत्र वशिष्ठ जो छात्र-वेद तथा ब्रह्म-वेद (क्षत्रिय और ब्राह्मण विधाओ के ज्ञाता) हैं, मुझे इस रूप मे सबोधित करें।' देवताओं के अनुरोध पर वशिष्ठ ने विश्वामित्र के साथ सधि कर ली और उन्हें ब्रह्मर्षि होने का अधिकारी मान लिया।.. विश्वामित्र ने भी ब्रह्मर्षि का पद प्राप्त कर वशिष्ठ को पूर्ण सम्मान दिया।

दूसरी घटना का सबंध क्षत्रियो द्वारा ब्राह्मणो की हत्या से है। उसका उल्लेख *'महाभारत'* के 'आदि पर्व' में है। निम्न विवरण वहीं से उद्धृत है :

एक बार कृतवीर्य नामक एक राजा थे। उनकी कृपा से वेद-मर्मज्ञ भृगुवंशी जो उनके पुरोहित होते थे, धन-धान्य से आपूरित हो उठे। राजा के स्वर्गवासी होने पर उनके वंशजों को धन की जरूरत पड़ी। उन्होंने धनवान भृगुवंशियों से धन की याचना की। क्षत्रियों के डर से कुछ भृगुवंशियों ने अपना धन जमीन में गाड़ दिया, कुछ ने उसे ब्राह्मणों को दान कर दिया, पर कुछ अन्य ने क्षत्रियों को उनकी इच्छानुसार दिया। एक बार एक क्षत्रिय को भूमि खोदते समय एक भृगु के घर में कुछ धन गड़ा हुआ मिल गया। तब सभी क्षत्रिय एकत्र हुए और उन्होंने यह खजाना देखा। वह कुपित हो उठे। उन्हें भृगुवंश से घृणा हो गई। उन्होंने सभी भृगुवंशियों की, यहां तक कि जो गर्भस्थित शिशुओं के रूप में थे, उनकी भी हत्या कर दी। किसी तरह विधवाएं भागकर हिमालय पर्वत पर चली गईं। उनमें से एक ने अपना अजन्मा शिशु अपनी जंघा में छिपा लिया। एक ब्राह्मणी मुखबिर से क्षत्रियों को जब उस शिशु का पता चला तो उन्होंने उसे भी मार डालने का प्रयास किया, लेकिन वह अपार तेज-सहित अपनी माता की जंघा से पैदा हुआ और उसने हत्यारों को अंधा कर दिया। कुछ समय तक पर्वतों में विमूढ़ों की भांति भटकने के बाद उन्होंने विनयपूर्वक शिशु की माता से याचना की कि उनकी दृष्टि लौटा दी जाए। लेकिन माता ने कहा, 'जाओ, मेरे अलौकिक पुत्र और्व के पास जाओ। उसके भीतर वेदव्यास-सहित संपूर्ण वेदों का वास है। उसी ने अपने संबंधियों की हत्या के प्रतिशोध में तुम्हारी दृष्टि का हरण कर लिया है। वही तुम्हारी दृष्टि को वापस कर सकता है।' तद्नुसार वे उसकी शरण में गए और उनकी दृष्टि उन्हें पुनः वापस मिल गई। लेकिन और्व ने भृगुवंशियों की हत्या के प्रतिशोध में सभी चेतन प्राणियों के विनाश का निश्चय किया और उसके लिए तपस्या करने लगा। उससे सभी देव, असुर तथा मानव थर्रा उठे। लेकिन तभी उसके पितृगण स्वयं प्रकट हुए और उन्होंने उससे तपस्या से विमुख होने का आग्रह किया। उन्होंने कहा कि वे नहीं चाहते कि क्षत्रियों से प्रतिशोध लिया जाए। उन्होंने कहा कि धर्माता भृगुवंशियों ने क्षत्रियों से उनके द्वारा की गई हत्या का प्रतिशोध किसी कमजोरी के कारण नहीं लिया था। जब

हम बुढ़ापे से तंग आ गए, तो हमने स्वयं यह इच्छा की कि वे हमारी हत्या कर दें। उस भृगुवंशी के घर में जिस किसी ने धन गाड़ दिया था, उसका प्रयोजन क्षत्रियों को भड़काना था। हम तो स्वर्ग की कामना कर रहे थे, हमें धन से क्या लेना-देना था? उन्होंने कहा कि उन्होंने यह युक्ति इसलिए अपनाई कि वे आत्महत्या का पाप मोल नहीं लेना चाहते थे। उन्होंने और्व से आग्रह किया कि वह अपने क्रोध पर नियंत्रण करे और उस पाप को न करे, जो वह अपने मन में संजोए हुए है। उन्होंने कहा, 'वत्स! क्षत्रियों का विनाश न करो। तीनों लोकों का भी विनाश न करो। अपनी उस क्रोधाग्नि को शांत करो, जो तपोबल को नष्ट कर देती है।' लेकिन और्व ने उत्तर दिया, 'मैं अपने निश्चय को अधूरा नहीं छोड़ सकता। मेरी क्रोधाग्नि यदि किसी वस्तु को भस्म नहीं करेगी तो वह मुझे ही भस्म कर देगी। वह उस दया-भावना का जिसकी उसके पितृगणो ने शिक्षा दी थी, न्याय, अनिवार्यता और कर्तव्य के आधार पर विरोध करता है।' तब उसके पितृगणो ने उससे अनुरोध किया कि वह अपनी क्रोधाग्नि को समुद्र में फेंक दे, जहां वह जलतत्व को उद्वेलित करती रहेगी और इस प्रकार तुम्हारी प्रतिज्ञा भी पूर्ण हो जाएगी।

तीसरी घटना का संबंध ब्राह्मणों द्वारा क्षत्रियों की हत्या से है। *'महाभारत'* अनेक स्थानों पर इसकी कथा का उल्लेख है :

प्राचीन-काल में सहस्र-भुजाओं वाला परम कांतिमान कार्तवीर्य नामक एक हैहयवंशी राजा समुद्र से घिरी समस्त पृथ्वी पर, जिस पर अनेक महासागर और महाद्वीप अवस्थित हैं, निष्कंटक राज्य करता था। वह माहिष्मती नगरी में रहता था। उसने मुनि दत्तात्रेय से ये वरदान प्राप्त किए थे कि जब कभी वह विश्व-विजय के लिए निकले, तब युद्ध में उसके एक सहस्र भुजाएं हों। वह न्यायपूर्वक शासन करे और जब कभी वह अपने कर्तव्य में धर्म से विरत होने लगे, तब मुनि उसका मार्गदर्शन करेंगे। तब वह सूर्य के समान दीप्तमान रथ पर आरूढ़ हो अभिमानपूर्वक बोला, 'धैर्य, साहस, यश, शौर्य, पराक्रम, ऊर्जा और तेज में मेरे समान कौन है?' उसकी यह बात पूरी होते ही आकाशवाणी हुई, 'मूर्ख, तुझे तो पता नहीं है कि ब्राह्मण क्षत्रिय से भी श्रेष्ठ होता है। ब्राह्मण की सहायता से ही क्षत्रिय इस लोक में प्रजा पर शासन करता है।' अर्जुन ने उत्तर दिया, 'मैं प्रसन्न होने पर प्राणियों की सृष्टि और कुपित होने पर उन सभी का नाश कर सकता हूं। मनसा, वाचा और कर्मणा कोई भी ब्राह्मण मुझसे श्रेष्ठ नहीं है। पहला कथन है कि ब्राह्मण क्षत्रियों से श्रेष्ठ हैं; दूसरा कथन कि क्षत्रिय क्षेष्ठ हैं, तुमने ये दोनों कथन उनके आधार पर कहे, लेकिन इन दोनों में (बल की दृष्टि से) अंतर है। ब्राह्मण क्षत्रियों पर निर्भर है, क्षत्रिय ब्राह्मणों पर निर्भर नहीं है। वे वेद को ब्याज बनाए हुए हैं। न्याय,

अर्थात जनता की रक्षा, क्षत्रिय में अवस्थित है। ब्राह्मण उनसे जीविका पाते हैं, तब वे उनसे श्रेष्ठ किस प्रकार हो सकते हैं? मैं ब्राह्मणों को सदा अपने अधीन रखता हूं, जो सभी प्राणियों में प्रमुख हैं, जो भिक्षा पर जीवन यापन करते हैं, और जो अपने को श्रेष्ठ कहते हैं। चूंकि उस देवी गायत्री ने आकाशवाणी कर सत्य प्रकट कर दिया है, अतः मैं उन सभी दुर्विनीत ब्राह्मणों को अपने अधीन करूंगा, जिन्होंने मृगछाला पहन रखी है। तीनों लोकों में कोई भी देवता या मनुष्य मुझे राज-सिंहासन से नहीं हटा सकता। मैं प्रत्येक ब्राह्मण से श्रेष्ठ हूं। मैं उस विश्व को जिसमें ब्राह्मणों की श्रेष्ठता है, उस विश्व में बदल दूंगा जिसमें क्षत्रियों की श्रेष्ठता होगी, क्योंकि युद्ध में कोई भी मेरी शक्ति का सामना नहीं कर सकता।' अर्जुन की इस वाणी को सुनकर वह देवी जो रात्रि में संचरण करती है, भयभीत हो गई। तब अंतरिक्ष में स्थित वायु ने अर्जुन से कहा, 'इस कलुषित भाव को त्याग दो और ब्राह्मणों का आदर करो। यदि तुम उनको हानि पहुंचाओगे तो तुम्हारे राज्य में भयंकर उत्पात मच जाएगा। वे शक्तिशाली ब्राह्मण तुम्हें पराजित कर देंगे। वे तुम्हें तुम्हारे राज्य से निष्कासित कर देंगे।' इस पर राजा ने पूछा, 'आप कौन हैं?' वायु ने उत्तर दिया, 'राजन् मैं देवताओं का दूत वायु हूं और तुम्हें तुम्हारे हित की ही बात बता रहा हूं।' अर्जुन ने कहा, 'आपने यह कहकर ब्राह्मणों के प्रति प्रगाढ़ भक्ति का परिचय दिया है। लेकिन क्या ब्राह्मण पृथ्वी पर जन्में अन्य प्राणी के समान नहीं हैं?'

इस राजा का संघर्ष ब्रह्मर्षि जमदग्नि के पुत्र परशुराम से हुआ। इस संघर्ष की कथा इस प्रकार है :

कभी गाधि नामक कान्यकुब्ज का राजा था। उसकी पुत्री सत्यवती थी। इस राजकुमारी का विवाह ऋषि ऋचीक से हुआ। उन्हीं के पुत्र जमदग्नि थे। जमदग्नि और रेणुका के पांच पुत्र थे। उनमें सबसे छोटे थे, दुर्जेय परशुराम। अपने पिता के आदेश से उन्होंने अपनी माता का वध किया, बुरी वासना के कारण जिसका सतीत्व भंग हो गया था। उनके चारों बड़े भाइयों ने माता की हत्या करने से इंकार कर दिया था और वे अपने पिता के शाप के कारण बुद्धि-भ्रष्ट हो गए। परशुराम के आग्रह पर उनके पिता ने उनकी माता को पुनः जीवित कर दिया और उनके भाइयों को पुनः बुद्धि प्रदान कर दी तथा उन्हें मातृ-हत्या के पाप से मुक्त कर दिया। उनके पिता ने उन्हें वरदान दिया कि वह अजेय और दीर्घायु होंगे। कथा के अनुसार उनका पाला राजा अर्जुन (अथवा कार्तवीर्य) से पड़ा। कार्तवीर्य जमदग्नि के आश्रम पर आए। वहां मुनि की पत्नी ने उसका सादर स्वागत किया। लेकिन मुनि की यज्ञ-गौ (कामधेनु) के बछड़े बलात हरण और आश्रम के पेड़ों को नष्ट-भ्रष्ट कर उसने

उस आदर का तिरस्कार किया। इस उत्पात का समाचार पाकर परशुराम क्रोध से भर उठे। उन्होंने अर्जुन पर आक्रमण किया और उसकी हजार भुजाओं को काट डाला तथा उसका वध कर दिया। उसके बाद प्रतिशोध में अर्जुन के पुत्रों ने मुनि जमदग्नि की हत्या कर दी, जब वे ध्यानमग्न थे और उनके पुत्र परशुराम उस समय वहां नहीं थे।

परशुराम ने अपने पिता की अंत्येष्टि करने के बाद प्रतिज्ञा की कि वह समूची क्षत्रिय जाति को निर्मूल कर देंगे। अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार उन्होंने सबसे पहले अर्जुन के पुत्रों और उनके अनुचरों को मार डाला। उन्होंने इक्कीस बार समूचे भू-मंडल को क्षत्रिय-विहीन कर डाला। समंतपंचक में उन्होंने क्षत्रियों के रक्त से पांच तालाबों का निर्माण किया। उनमें उन्होंने अपने पितरों का तर्पण करके उन्हें तुष्ट किया। उन्होंने स्वयं अपने दादा ऋचीक के दर्शन किए। ऋचीक ने परशुराम के साथ साक्षात बात की। परशुराम ने महान यज्ञ करके इंद्र को प्रसन्न किया और यज्ञ के पुरोहितों को समस्त पृथ्वी दान में दे दी। उन्होंने अत्यंत तेजस्वी कश्यप को बत्तीस हाथ ऊंची सोने की वेदिका भी दान में दे दी। महामुनि कश्यप की अनुमति से यज्ञ के पुरोहितों ने भूमि आपस में बांट ली। इसके कारण इस क्षेत्र का नाम खांडववन पड़ गया। यज्ञभूमि आदि का दान कर परशुराम स्वयं महेंद्र पर्वत पर चले गए। इस तरह उनके और क्षत्रियों के बीच वैर उपजा और असीम शक्तिशाली परशुराम ने पृथ्वी को जीता।

परशुराम ने विभिन्न प्रदेशों के क्षत्रियों का वध किया। उनका वर्णन *'महाभारत'* के 'द्रोण पर्व' में इस प्रकार किया गया है, यथा कश्मीर, दरद, कुंति, क्षुद्रक, मालव, अंग, वंग, कलिंग, विदेह, ताम्रलिप्तक, मार्तिकावत, शिवि तथा अनेक अन्य राजन्य।

जिस प्रकार क्षत्रिय जाति का पुनरुद्धार हुआ, उसकी चर्चा भी ब्राह्मणों के द्वारा क्षत्रियों के विनाश की कथा में इस प्रकार की गई है :

इक्कीस बार पृथ्वी को क्षत्रियविहीन करने के बाद जमदग्नि के पुत्र परम रमणीक महेंद्र पर्वत पर जाकर तप करने लगे। जब उन्होंने संसार से क्षत्रियों का नाश कर दिया तो उनकी विधवाएं संतानोत्पत्ति की याचना से ब्राह्मणों के पास गईं। इन धर्मनिष्ठ ब्राह्मणों ने वासना से मुक्त होकर उचित ऋतुओं में इन स्त्रियों से समागम किया। इन स्त्रियों ने गर्भधारण किया और शूरवीर क्षत्रिय बालक एवं बालिकाओं को जन्म दिया। इस प्रकार क्षत्रिय जाति का वंश चला। इस प्रकार पवित्र भावना से क्षत्रिय महिलाओं के साथ ब्राह्मणों के समागम से क्षत्रिय जाति की वृद्धि हुई और वह दीर्घ काल तक चलती रही। उसी से ब्राह्मणों से निम्न स्तर की चार जातियां उत्पन्न हुईं।

5

जातिप्रथा का अभिशाप

जैसा कि मैं प्रथम निबंध[1] में बता चुका हूं, कोई जाति एकल संख्या में नहीं हो सकती। ज़ाति केवल बहुसंख्या में ही जिंदा रह सकती है। वास्तव में तो जाति समूह का विखंडन करके ही बनी रह सकती है। जाति की प्रकृति ही विखंडन और विभाजन करना है। जाति का यह अभिशाप भी है। लेकिन फिर भी कुछ लोग ही जानते हैं कि जांति का यह अभिशाप कितना बड़ा है। अतः यह आवश्यक है कि जाति द्वारा किए गए विखंडन की चर्चा करके इस अभिशाप की व्यापकता को दर्शाया जाए। यह तो असंभव है कि हर जाति की चर्चा की जाए और उसके विखंडन के क्रमिक प्रसार को दर्शाया जाए। किसी एक जाति के जातीय इतिहास को प्रस्तुत करके ही हमें सतोष करना पड़ेगा। मैं ब्राह्मणों के इतिहास को ही लेता हूं। वे तो जातिप्रथा के प्रवर्तक और पक्षधर रहे हैं। इससे पता चल जाएगा कि वे स्वयं भी जाति के इस कथित अभिशाप से कितने अधिक ग्रस्त व त्रस्त हैं। भारत के ब्राह्मण भी दो अलग-अलग बिरादरियों में बंटे हुए हैं। एक बिरादरी द्रविड़ों की है, तो दूसरी गौड़ों की।

लेकिन भूलकर भी ऐसी कल्पना नहीं करनी चाहिए कि द्रविड़ों और गौड़ों की एकल समजातीय इकाइयां हैं। वे अनगिनत इकाइयों में विभाजित और उप-विभाजित हैं। उनकी संख्या का अनुमान तो तभी लगाया जा सकता है, जब उनके उप-विभाजनों की वास्तविक सूचियां हमारी आंखों के सामने हों। आगे के पृष्ठों में एक सूची प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है, ताकि पता चल सके कि बिरादरी की हर उप-शाखा कितनी जातियों और उप-जातियों में बंटी हुई है।

I

द्रविड़ ब्राह्मण

द्रविड़ बिरादरी की पांच उप-शाखाएं हैं। उन्हें सामूहिक रूप से पंच-द्रविड़

1. देखिए, इस ग्रंथ-माला के खंड 1 में प्रकाशित 'भारत में जातिप्रथा'—संपादक।

कहा जाता है। उनकी पांच उप-शाखाएं हैं :

(1) महाराष्ट्रीय,

(2) आंध्र के ब्राह्मण,

(3) द्रविड़ (मूल) ब्राह्मण,

(4) कर्नाटक के ब्राह्मण, और

(5) गुर्जर।

अब हम देखेंगे कि पंच-द्रविड़ों की प्रत्येक उप-शाखा का कितनी जातियों और उप-जातियों में विखंडन हो गया है।

1. महाराष्ट्रीय ब्राह्मण

महाराष्ट्रीय ब्राह्मणों की निम्नलिखित जातियां और उप-जातियां हैं :

(1) देशस्थ, (2) कोंकणस्थ, (3) कर्हद, (4) कण्व, (5) मध्यन्दिन, (6) पाढ्य (7) देवरुख, (8) पलाश, (9) किरवंत, (10) तिर्गुल, (11) जवाल, (12) अभीर, (13) सावश, (14) कस्त, (15) कुंडा गोलक, (16) रंडा गोलक, (17) ब्राह्मण-जाइस, (18) सोपार, (19) खिस्ती, (20) हुसैनी, (21) कलंकी, (22) मैत्रायानी, (23) वरदी-मध्यन्दिन यजुर्वेदी, (24) वरदी-मध्यन्दिन ऋग्वेदी, और (25) झाडे।

शनवियों का नौ और उप-जातियों में विभाजन हो गया है:

(26) नर्वन्कर, (27) किलोस्कर, (28) बर्देश्कर, (29) कुदालदेष्कर, (30) पेडनेकर, (31) भालवेलेकर, (32) कुशस्थली (33) खडापे, और (34) खाजुले।

2. आंध्र के ब्राह्मण

आंध्र के ब्राह्मणों की निम्नलिखित जातियां और उप-जातियां हैं :

(1) वर्णासालू, (2) कमारुकुबी, (3) कराणाकामुल, (4) मध्यन्दिन, (5) तैलंग, (6) मुराकानाडू, (7) आराध्य, (8) याज्ञवल्क्य, (9) कसारानाडू, (10) वेलंडू, (11) वेन्गिनाडू, (12) वेडिनाडू, (13) सामवेदी, (14) रामानुजी, (15) मध्यवाचारी, और (16) नियोगी।

3. तमिल ब्राह्मण

उनकी निम्नलिखित जातियां हैं :

(1) ऋग्वेदी, (2) कृष्ण युजुर्वेदी, (3) शुक्ल यजुर्वेदी मध्यन्दिन, (4) शुक्ल युजुर्वेदी कण्व, (5) सामवेदी, (6) अथर्व, (7) वैष्णव, (8) वीर वैष्णव, (9) श्री वैष्णव, (10) भागवत, और (11) शक्त।

4. कर्नाटक के ब्राह्मण

उनकी निम्नलिखित जातियां हैं:

(1) ऋग्वेदी, (2) कृष्ण यजुर्वेदी, (3) शुक्ल यजुर्वेदी मध्यन्दिन, (4) शुक्ल यजुर्वेदी कण्व, (5) सामवेदी, (6) कुमे ब्राह्मण, और (7) नागर ब्राह्मण।

5. गुर्जर ब्राह्मण

गुर्जर ब्राह्मणों की निम्नलिखित जातियां हैं:

I. आन्दीच्य ब्राह्मण। इनकी निम्नलिखित उप-जातियां हैं:

(1) सिद्धपुर आन्दीच्य, (2) सिहोर आन्दीच्य, (3) तोलकिया आन्दीच्य, (4) कुन्बीगोर, (5) इनोंचिगोर, (6) दार्जिगोर, (7) ग्रांधापगोर (8) कोलिगोर, (9) मारवाड़ी आन्दीच्य, (10) काच्ची आन्दीच्य, (11) वाग्दीय आन्दीच्य।

II. नागर ब्राह्मण। नागर ब्राह्मणों की निम्नलिखित उप-जातियां हैं:

(12) वडानगर ब्राह्मण, (13) विशालनगर ब्राह्मण, (14) सतोदरा ब्राह्मण, (15) प्रश्नोरा, (16) कृष्णोरा, (17) चित्रोदा, (18) बारादा।

नागर ब्राह्मणों की तीन अन्य शाखाएं भी हैं, वे हैं:

(19) गुजराती नागर, (20) सोरठी नागर, और (21) अन्य नगरों के नागर।

III. गिरनार ब्राह्मण। इनकी निम्नलिखित जातियां हैं:

(22) जूनागढ़ैया गिरनार, (23) चौरवाड गिरनार, (24) आजकिया।

IV. मेवादास ब्राह्मण। इनकी निम्नलिखित जातियां हैं:

(25) भट्ट मेवादास, (26) त्रिवेदी मेवादास, (27)* चरोसी मेवादास।

---

* मूल अंग्रेजी की पांडुलिपि में संख्या 27 के बाद संख्या 46 दी गई है, अतः संख्या उसी क्रम में ही दी गई है–संपादक।

V. देशवाल ब्राह्मण। उनकी एक उप-जाति है, जिसका नाम है :

(46) देशवाल ब्राह्मण सुरति।

VI. रयाकावाल ब्राह्मण। उनकी दो उप-जातियां हैं :

(47) नवा (नए), और (48) मोठा (पुराने)

VII. खेडवाल ब्राह्मण। उनकी पांच उप-जातियां हैं :

(49) खेंडवाल वाज, (50) खेडवाल भितर, (51) खेडव वाज, (52) खेडव भितर।

VIII. मोढा ब्राह्मण। उनकी ग्यारह उप-जातियां हैं :

(53) त्रिवेदी मोढा, (54) चतुर्वेदी मोढा, (55) अगिहंस मोढा, (56) त्रिपाल मोढा, (57) खिजादिया सनवन मोढा, (58) एकादशध्र मोढा, (59) तंदुलोता मोढा, (60) उतंजलीय मोढा, (61) जेठीमल मोढा, (62) चतुर्वेदी धिनोजा मोढा, (63) धिनोजा मोढा।

IX. श्रीमाली ब्राह्मण। श्रीमाली ब्राह्मणों की निम्नलिखित जातियां हैं :

(64) मारवाड़ी श्रीमाली, (65) मेवाड़ी श्रीमाली, (66) काच्छी श्रीमाली, (67) काठियावाड़ी श्रीमाली, (68) गुजराती श्रीमाली।

निम्नलिखित में गुजराती श्रीमाली का और उप-विभाजन हो गया है :

(69) अह्मदाबादी श्रीमाली (70) सूरती श्रीमाली, (71) घोघारी श्रीमाली, और (72) खम्बाती श्रीमाली। खम्बाती श्रीमाली का पुनः इस प्रकार उप-विभाजन हुआ है : (73) यजुर्वेदी खम्बाती श्रीमाली, (74) सामवेदी खम्बाती श्रीमाली।

X. चौविशा ब्राह्मण। उनकी दो उप-जातियां हैं :

(75) मोटा (बड़े), और (76) लहना (छोटे)।

XI. सारस्वत ब्राह्मण। उनकी दो उप-जातियां हैं :

(77) सोरठिया सारस्वत, और (78) सिंधव सारस्वत।

XII. गुजराती ब्राह्मणों की निम्नलिखित जातियां हैं, पर उनकी उप-जातियां नहीं हैं :

(79) सचोरा ब्राह्मण, (80) उदम्बरा ब्राह्मण, (81) नरसीपारा ब्राह्मण, (82) वलादरा ब्राह्मण, (83) पंगोरा ब्राह्मण, (84) नंदोदरा ब्राह्मण,

(85) वयादा ब्राह्मण, (86) तमिल (अथवा द्रविड़) ब्राह्मण, (87) रोढावाल ब्राह्मण, (88) पदमीवाल ब्राह्मण, (89) गोमतीवाल ब्राह्मण, (90) इतावला ब्राह्मण, (91) मेधातवाल ब्राह्मण, (92) गयावाल ब्राह्मण, (93) अगस्त्यवाल ब्राह्मण, (94) प्रेतावाल ब्राह्मण, (95) उनेवाल ब्राह्मण, (96) राजावाल ब्राह्मण, (97) कनौजिया ब्राह्मण, (98) सरवरिया ब्राह्मण, (99) कनोलिया ब्राह्मण, (100) खरखेलिया ब्राह्मण, (101) परवलिया ब्राह्मण, (102) सोरठिया ब्राह्मण, (103) तंगमाडिया ब्राह्मण, (104) सनोदिया ब्राह्मण, (105) मोताल ब्राह्मण, (106) झालोरा ब्राह्मण, (107) रयापुला ब्राह्मण, (108) कपिल ब्राह्मण, (109) अक्षयमंगल ब्राह्मण, (110) गुगली ब्राह्मण, (111) नपाला ब्राह्मण, (112) अनावला ब्राह्मण, (113) वाल्मीकि ब्राह्मण, (114) कलिंग ब्राह्मण, (115) तैलंग ब्राह्मण, (116) भार्गव ब्राह्मण, (117) मालवी ब्राह्मण, (118) बांदुआ ब्राह्मण, (119) भारतन ब्राह्मण, (120) पुष्करण ब्राह्मण, (121) खदायता ब्राह्मण, (122) मारू ब्राह्मण (123) दाहिया ब्राह्मण, (124) जोविसा ब्राह्मण (125) जम्बू ब्राह्मण, (126) मराठा ब्राह्मण, (127) दधीचि ब्राह्मण, (128) ललता ब्राह्मण, (129) वलूत ब्राह्मण, (130) बोरशिध ब्राह्मण, (131) गोलवाल ब्राह्मण, (132) प्रयागवाल ब्राह्मण, (133) नायकवाल ब्राह्मण, (134) उत्कल ब्राह्मण, (135) पल्लिवाल ब्राह्मण, (136) मथुरा ब्राह्मण, (137) मैथिल ब्राह्मण, (138) कुलाभ ब्राह्मण, (139) बेदुआ ब्राह्मण, (140) रववाल ब्राह्मण, (141) दशहरा ब्राह्मण, (142) कर्नाटकी ब्राह्मण, (143) तलजिया ब्राह्मण, (144) परशरिया ब्राह्मण, (145) अभीर ब्राह्मण, (146) कुंडु ब्राह्मण, (147) हिरयजिया ब्राह्मण, (148) मस्तव ब्राह्मण, (149) स्थितिशा ब्राह्मण, (150) प्रेतादवाल ब्राह्मण, (151) रामपुरा ब्राह्मण, (152) जिल ब्राह्मण, (153) तिलोत्य ब्राह्मण, (154) दुरमल ब्राह्मण, (155) कोडव ब्राह्मण, (156) हनुशुना ब्राह्मण, (157) शेवाद ब्राह्मण, (158) तित्राग ब्राह्मण, (159) बसुलदास ब्राह्मण, (160) मगमार्य ब्राह्मण, (161) रयाथल ब्राह्मण, (162) चपिल ब्राह्मण, (163) बरादास ब्राह्मण, (164) भुकनिया ब्राह्मण, (165) गरोड ब्राह्मण, और (166) तपोर्णा ब्राह्मण।

II

गौड़ ब्राह्मण

द्रविड़ ब्राह्मणों की भांति गौड़ ब्राह्मणों की भी एक बिरादरी है और उसमें पांच अलग-अलग समूहों के ब्राह्मण हैं। ये पांच समूह हैं :

(1) सारस्वत ब्राह्मण, (2) कान्यकुब्ज ब्राह्मण, (3) गौड़ ब्राह्मण, (4) उत्कल ब्राह्मण, और (5) मैथिल ब्राह्मण।

पंच-गोड़ों के इन पांच में से प्रत्येक समूह के आंतरिक ढांचे को निरखने-परखने से पता चलता है कि उनकी स्थिति भी वैसी ही है, जैसी कि पंच-द्रविड़ों की बिरादरी के पांच समूहों की है। प्रश्न केवल इतना है कि पंच-द्रविड़ों में पाए जाने वाले आंतरिक विभाजनों और उप-विभाजनों से उनके ये विभाजन कम हैं या ज्यादा। इस प्रयोजन के लिए बेहतर होगा कि हर वर्ग पर अलग-अलग विचार किया जाए।

1. सारस्वत ब्राह्मण

सारस्वत ब्राह्मण तीन क्षेत्रीय वर्गों के हैं :

(I.) पंजाब के सारस्वत ब्राह्मण, (II.) कश्मीर के सारस्वत ब्राह्मण, और (III.) सिंध के सारस्वत ब्राह्मण।

पंजाब के सारस्वत ब्राह्मण

पंजाब के सारस्वतों के तीन उप-विभाजन हैं :

(क) लाहौर, अमृतसर, बटाला, गुरदासपुर, जालंधर, मुल्तान, झंग और शाहपुर जिलों के सारस्वत ब्राह्मण। पुनः वे उच्च जातियों और निम्न जातियों में बंटे हुए हैं।

उच्च जातियां

(1) नवले, (2) चुनी, (3) रवाडे, (4) सरवलिए, (5) पंडित, (6) तिखे, (7) झिंगन, (8) कुमाडिए, (9) जेतले, (10) मोहले अथवा मोले, (11) तिखे-आंडे, (12) झिंगन-पिंगन, (13) जेतली-पेतली, (14) कुमाडिए, लुमाडिए, (15) मोहले-बोहले, (16) बागे, (17) कपूरिए, (18) भटूरिए, (19) मालिए, (20) कालिए, (21) सानडा, (22) पाठक, (23) कुराल, (24) भारद्वाजी, (25) जोशी, (26) शौरी, (27) तिवाडी, (28) मरूड, (29) दत्ता, (30) मुझाल, (31) छिब्बर, (32) बाली, (33) मोहना, (34) लादा, (35) वैद्य, (36) प्रभाकर, (37) शामे-पोतरे, (38) भोज-पोतरे, (39) सिंघे-पोतरे, (40) वात्ते-पोतरे, (41) धन्नान-पोतरे, (42) द्रावडे, (43) गेंधार, (44) तख्त-ललाडी, (45) शामा दासी, (46) सेतपाल अथवा शेतपाल, (47) पुश्रात, (48) भारद्वाजी, (49) करपाले, (50) घोतके, (51) पुकरने।

निम्न जातियां

(52) डिड्डी, (53) श्रीधर, (54) विनायक, (55) मज्जू, (56) खिंडारिए, (57) हराड, (58) प्रभाकर, (59) वासुदेव, (60) पाराशर, (61) मोहना, (62) पनजान, (63) तिवारा, (64) कपाला, (65) भाखड़ी, (66) सोढ़ी, (67) कैजार, (68) संगड, (69) भारद्वाजी, (70) नागे, (71) मकावर, (72) वशिष्ट, (73) डंगवाल, (74) जालप, (75) त्रिपने, (76) भराते, (77) बंसले, (78) गंगाहर, (79) जोतशी, (80) रिखी अथवा रिशी, (81) मंदार, (82) ब्राह्मी, (83) तेजपाल, (84) पाल, (85) रूपाल, (86) लखनपाल, (87) रतनपाल, (88) शेतपाल, (89) भिंदे, (90) धामी, (91) चानन, (92) रंडेहा, (93) भूटा, (94) राटी, (95) कुंडी, (96) हसधीर, (97) पुंज, (98) सांधी, (99) बहोए, (100) विराड, (101) कलंद, (102) सूरन, (103) सूदन, (104) ओझे, (105) ब्राह्म-मुकुल, (106) हरिए, (107) गजेसू, (108) भनोट, (109) तिनूनी, (110) जल्ली, (111) टोले, (112) जालप, (113) चिचौट, (114) पाढे अथवा पांढे, (115) मरुद (116) ललादिए, (117) टोटे, (118) कुसारिट, (119) रमटाल, (120) कपाले, (121) मसोदरे, (122) रतनिए, (123) चंदन, (124) चुरावन, (125) मंधार, (126) मधारे, (127) लकरफार, (128) कुंद, (129) कर्दम, (130) ढांडे, (131) सहजपाल, (132) पभी, (133) राटी, (134) जैतके, (135) दैदरिए, (136) भटारे, (137) काली, (138) जलपोट, (139) मैत्रा, (140) खतरे, (141) लुदरा, (142) व्यास, (143) फलदू, (144) किरार, (145) पुजे, (146) इस्सर, (147) लट्टा, (148) धामी, (149) कल्हन, (150) मदारखंब, (151) बेदेसर, (152) सालवाहन, (153) ढांडे, (154) मरूद, (155) बटूरे, (156) जोटी, (157) सोयारी, (158) तेजपाल, (159) कुरालपाल, (160) कलास, (161) जालप, (162) तिनमानी, (163) तंगनिवते, (164) जलपोट, (165) पट्टू, (166) जसरावा, (167) जयचंद, (168) सनवाल, (169) अग्निहोत्री, (170) अगराफक्का, (171) रुथाडे, (172) भाजी, (173) कुच्ची, (174) सैली, (175) भाम्बी, (176) मेड्डू, (177) मेहदू, (178) यमये, (179) संगर, (180) सांग, (181) नेहर, (182) चकपालिए, (183) बिजराये, (184) नारद, (185) कुटवाल, (186) कोटपाल, (187) नाभ, (188) नाड, (189) परेंजे, (190) खेटी, (191) आरि, (192) चावहे, (193) बिबडे, (194) बांडू, (195) मच्चू, (196) सुदार, (197) कराडगे, (198) छिब्बे, (199) साढी, (200) तल्लन, (201) कर्दम, (202) झामन, (203) रांगडे, (204) भोग, (205) पांडे, (206) गांडे, (207) पांटे, (208) गांधे, (209) धिंडे, (210) तगाले, (211) दगाले, (212) लहाड, (213) टाड, (214) काई, (215) लुढ, (216) गंडार, (217) माहे, (218) सैली, (219) भागी, (220) पांडे, (221) पिपार, और (222) जठी।

(ख) कांगड़ा और उससे सटे पर्वत प्रदेश के सारस्वत ब्राह्मण। ये भी उच्च

वर्ग और निम्न वर्ग में बंटे हुए हैं :

उच्च जातियां

(1) ओसदी, (2) पंडित कश्मीरी, (3) सोत्री, (4) वेदवे, (5) नाग, (6) दीक्षित, (7) मिश्री कश्मीरी, (8) मादि हाटू, (9) पंचकर्ण, (10) रैने, (11) कुरूद, (12) आचारिए।

निम्न जातियां

(13) चिथू, (14) पनयालू, (15) दुम्बू, (16) देहाइदू, (17) रुखे, (18) पमबार, (19) गुत्रे, (20) द्याभुदु, (21) मैते, (22) प्रोत (पुरोहित) जदतोत्रोतिए, (23) विष्ट प्रोत, (24) पाधे सरोज, (25) पाधे खजूरे, (26) पाधे माहिते, (27) खजूरे, (28) छुतवान, (29) भनवाल, (30) रामबे, (31) मंगरुदिए, (32) खुर्वध, (33) गलवध, (34) डांगमार, (35) चालिवाले।

(ग) दत्तारपुर, होशियारपुर और उससे सटे प्रदेश के सारस्वत ब्राह्मण। ये भी उच्च वर्ग और निम्न वर्ग में बंटे हुए हैं :

उच्च जातियां

(1) डोगरे, (2) सरमाई, (3) दुबे, (4) लखनपाल, (5) पाधे ढोलबलवैया, (6) पाधे घोहासनिए, (7) पाधे दादिए, (8) पाधे खिंदादिया, (9) खजुरिवे।

निम्न जातियां

(10) कपाहाटिए, (11) भारधियाल, (12) चपरोहिए, (13) मकादे, (14) कुताल्लिदिए, (15) सारद, (16) दगादू, (17) वंतादे, (18) मुचले, (19) सम्मोल, (20) धोसे, (21) भटोल, (22) रजोहद, (23) थानिक, (24) पनयाल, (25) छिब्बे, (26) मदोटे, (27) मिसर, (28) छकोटर, (29) जलरेये, (30) लाहद, (31) सेल, (32) भसुल, (33) पंडित, (34) चंघियाल, (35) लाथ, (36) सांद, (37) लाइ, (38) गदोतरे, (39) चिर्नोल, (40) बधले, (41) श्रीधर, (42) पटडू, (43) जुवाल, (44) मैते, (45) काकलिए (46) टाक, (47) झोल, (48) भदोए, (49) तांडिक, (50) झुम्मूतियार, (51) आई, (52) मिरात, (53) मुकाति, (54) डलचल्लिए, (55) भटोहिए, (56) त्याहाए, और (57) भटारे।

कश्मीर के सारस्वत ब्राह्मण

कश्मीर के सारस्वतों की दो उप-शाखाएं हैं :

(क) जम्मू, जसरोता और उसके पड़ोस के पर्वतीय प्रदेश के सारस्वत ब्राह्मण,

उच्च, मध्य और निम्न, तीन वर्गों में विभाजित हैं।

उच्च जातियां

(1) अमगोत्रे, (2) थाप्पे, (3) दुबे, (4) सपोलिए पाधे, (5) बडियाल, (6) केसर. (7) नाघ, (8) खजूरे प्रहोत, (9) जामवाल पंडित, (10) वैद्य, (11) लव, (12) छिब्बर, (13) ओलिए, (14) मोहन, (15) बंमवाल।

मध्यवर्गी जातियां

(16) रैना, (17) सतोत्रे, (18) कतोत्रे, (19) ललोत्रे, (20) भंगोत्रे, (21) सम्नोत्रे, (22) कश्मीरी पंडित, (23) पंधोत्रे, (24) विल्हानोच, (25) बाड्डू, (26) कैरनाए पंडित, (27) दनाल पाधे, (28) माहिते, (29) सुघ्रालिए, (30) भाटियाड, (31) पुरोच, (32) अधोत्रे, (33) मिश्र, (34) पाराशर, (35) बवगोत्रे, (36) मंसोत्रे, (37) सुदाथिए।

निम्न जातियां

(38) सूदन, (39) सुखे, (40) भुरे, (41) चंदन, (42) जलोत्रे, (43) नभोत्रे, (44) खदोत्रे, (45) सगदोल, (46) भुरिए, (47) बगनाछल, (48) रजूलिए, (49) सांगदे, (50) मुंडे, (51) सुरनाचल, (52) लधंजन, (53) जखोत्रे (54) लखनपाल, (55) गौड़ पुरोहित, (56) शशगोत्रे, (57) खनोत्रे, (58) गरोच, (59) मरोत्रे, (60) उपाधे, (61) खिंधाइए पाधे, (62) कलंदरी, (63) जारद, (64) उदिहाल, (65) घोडे, (66) बस्नोत्रे, (67) बराट, (68) चरगट, (69) लवान्थै, (70) भरंगोल, (71) जरंघल, (72) गुहालिए, (73) धरियांचा, (74) पिंधाड, (75) रजूनिए, (76) बडकुलिवै, (77) श्रीखंडिए, (78) किरपाद, (79) बल्ली, (80) सलुर्न, (81) रतनपाल, (82) बनोत्रे, (83) यंत्रधारी, (84) ददोरिच, (85) मलोच, (86) छछियाले, (87) झंगोत्रे, (88) मगदोल, (89) फौनफान, (90) सरोच, (91) गुद्दे, (92) क्लिे (93) मंसोत्रे, (94) थम्मोत्रे, (95) थन्माथ, (96) ब्रामिए, (97) कुंदन, (98) गोकुलिए गोसांई, (99) चकोत्रे, (100) रोद, (101) बर्गोत्रे, (102) कावदे, (103) मगदियालिए, (104) माथर, (105) महीजिए, (106) ठाकरे पुरोहित, (107) गलहल, (108) चाम, (109) रोद, (110) लभोत्रे, (111) रेदाथिए, (112) पाटल, (113) कमानिए, (114) गंधर्गत्न, (115) पृथ्वीपाल, (116) मधोत्रे, (117) काम्बो, (118) सरमाई, (119) बच्छल, (120) मखोत्रे, (121) जाद, (122) बटियालिए, (123) कुदीदाव, (124) जाम्बे, (125) करन्थिए, (126) सुथादे, (127) सिगाद, (128) गरदिए, (129) माछर, 3(130) बघोत्रे, (131) सैन्हासन (132) उत्रियाल, (133) सुहंदिए, (134) 1झंधाद, (135) बट्टाल, (136) मैंखरे, (137) बिस्गोत्रे, (138) झालु,

(139) दाब्ब, (140) भूटा, (141) कठियालू, (142) पलाधू, (143) जखोत्रे, (144) पांगे, (145) सोलहे, (146) सुगुनिए, (147) सन्होच, (148) दुहाल, (149) बांदो, (150) कानूनगो, (151) झावदू, (152) झफादू, (153) कालिए, (154) खफांखो।

(ख) कश्मीर के सारस्वत[1] ब्राह्मणों की सूची इस प्रकार है :

(1) कौल, (2) राजदान, (3) गुर्टू (4) जुत्सी, (5) दर, (6) त्रकारी, (7) मुझी, (8) मुंशी, (9) बुतल, (10) जावी, (11) बजाज, (12) रेइ, (13) हंडू, (14) दिप्ती, (15) छिछबिल, (16) रुगी, (17) कल्ल, (18) सुम, (19) हंजी, (20) हस्तवली, (21) मट्टू, (22) तिक्कू (23) गइस, (24) गादी, (25) बरारी, (26) गंज, (27) वांगन, (28) वांगिन, (29) मट्ट, (30) भैरव, (31) मदन, (32) दीन, (33) शर्गल, (34) हक्सर, (35) हक, (36) कक्कड़, (37) छतारी, (38) सांनपुअर, (39) मत्ती, (40) खशं, (41) शकधर, (42) वैष्णव, (43) कोतर, (44) काक, (45) कचारी, (46) टोटे, (47) सराफ, (48) गुरह, (49) थांथर, (50) खर, (51) थर, (52) टेंग, (53) सइद, (54) त्रपिर, (55) मुठ, (56) सफ़ई, (57) भान, (58) दइन, (59) गड़िएल, (60) थपल, (61) नअर, (62) मसालदान, (63) मुश्रान, (64) तुरिक, (65) फोतेदार, (66) खरू, (67) करवंगी, (68) बठ्ठ, (69) किचलू, (70) छान, (71) मुक्दम, (72) खपिर, (73) बुलक, (74) कार, (75) जलाली, (76) सफाया, (77) बेतफली, (78) हिक, (79) कुकपिर, (80) कअलि, (81) जेअरि, (82) गंज, (83) किम, (84) मुइंड, (85) जंगल, (86) ज़िंट, (87) राख्युस, (88) बकई, (89) गैरी, (90) गारी, (91) कअलि, (92) पईज, (93) बइंग, (94) साहिब, (95) बेलाब, (96) रेइ, (97) गलीकरप, (98) चन्न, (99) कबाबी, (100) यछ, (101) ज़ालपुरी, (102) नवशहारी, (103) किस, (104) धुसी, (105) गामखिर, (106) ठठल, (107) पिस्त, (108) बदम, (109) त्रसल, (110) नादिर, (111) लडाइगिर, (112) प्यल, (113) कइब, (114) छत्री, (115) बन्टि, (116) वातुलु, (117) खइर, (118) बास, (119) पइट, (120) सबेज, (121) डंड, (122) रावल, (123) मिसिर, (124) सिब्ब, (125) सिंगअर, (126) मिर्ज़, (127) मल, (128) वारिक, (129) जान, (130) लुतिर, (131) पारिम, (132) हइल, (133) नक़ब, (134) मुंइन, (135) अम्बारदार, (136) बरथल, (137) केंठ, (138) बाली, (139) जंगली, (140) डुल, (141) परव, (142)

1. कश्मीर के ब्राह्मण सारस्वत हैं या नहीं, इस बारे में मतभेद है। कुछ कहते हैं कि वे हैं, कुछ कहते हैं कि वे नहीं हैं।

हरकार, (143) गागर, (144) पंडित, (145) जारी, (146) लांगी, (147) मुक्की, (148) बीही, (149) पडौर, (150) पाडे, (151) जांद, (152) टेंग, (153) टूंड, (154) दराबी (155) दराल, (156) फम्ब, (157) सज्जोल, (158) बख्शी, (159) उग्र, (160) निचिव, (161) पठान, (162) विचारी, (163) ऊठ, (164) कुचारी, (165) शाल, (166) बइब, (167) मखानी, (168) लाबिर, (169) खान, (170) खानकिट, (171) शाह, (172) पीर, (173) खरिद, (174) खइंक, (175) कल्पोश, (176) पिशन, (177) बिशन, (178) बुल, (179) च्युक, (180) चक, (181) रेइ, (182) प्रुइत, (183) पइट, (184) किचिल, (185) कहि, (186) जिजि, (187) किलमाक, (188) सलमान, (189) कदलबुज, (190) कंधारी, (191) बाली, (192) मनाटी, (193) बान्खन, (194) हकीम, (195) गरीब, (196) मंडल, (197) मंझ, (198) शइर, (199) नून, (200) तेली, (201) खलासी, (202) चन्द्र, (203) गदिइर, (204) जरेब, (205) सिहिर, (206) कल्विट, (207) नगरी, (208) मंगुविच, (209) खैबारी, (210) कुअल, (211) कइब, (212) ख्वस, (213) दुर्रानी, (214) तुली, (215) गरीब, (216) गाढी, (217) जती, (218) राक्सिस, (219) हरकार, (220) ग्रट, (221) वागिर, आदि आदि।

सिंघ के सारस्वत

सिंध के सारस्वतों का उप-विभाजन इस प्रकार है :

(1) शिकारपुरी, (2) बारोवी, (3) रवनजाही, (4) शैतपाल, (5) कुवा चांद, (6) पोखरन।

2. कान्यकुब्ज ब्राह्मण

कान्यकुब्जों का नाम कन्नौज नगर पर पड़ा है, जो .... साम्राज्य की राजधानी था। इन लोगों को कनौजिए भी कहते हैं। कान्यकुब्ज ब्राह्मणों के दो नाम हैं। एक सरवरिया कहलाते हैं, तो दूसरे कान्यकुब्ज। सरवरिया ब्राह्मणों का नाम प्राचीन नदी सरयू पर पड़ा है, जिसके पूर्व में वे मुख्यतः पाए जाते हैं। वह कनौजियों की प्रांतीय शाखा है और अब वे कनौजियों से विवाह नहीं करते। सामान्यतः सरवरियों के उप-विभाजन वैसे ही हैं, जैसे कि कनौजियों में पाए जाते हैं। अतः कनौजियों के उप-विभाजन का ब्यौरा काफी होगा। कान्यकुब्ज ब्राह्मणों की दस शाखाएं हैं :

(i) मिश्र, (ii) शुक्ला, (iii) तिवारी, (iv) दुबे, (v) पाठक, (vi) पांडे, (vii) उपाध्याय, (viii) चौबे, (ix) दीक्षित, (x) वाजपेयी।

इनमें से प्रत्येक शाखा की अनेक उप-शाखाएं हैं।

मिश्र

मिश्रों की निम्न उप-शाखाएं हैं :

(1) मधबनी, (2) चम्पारन, (3) पटलाल या पटलियाल, (4) रतनवाल, (5) बंदोल, (6) मतोल या मातेवाल, (7) सामवेद के कटारिया, (8) वत्स गोत्र के नागरिया, (9) वत्स गोत्र के पयासी (10) गना, (11) त्योंता या तेवन्ता, (12) मार्जनी, (13) गुर्हा, (14) मर्करा, (15) जिग्न्य, (16) पारायण, (17) पेपरा, (18) अतर्व या अथर्व, (19) हथेपारा, (20) सुगंती, (21) खेटा, (22) ग्रामबासी, (23) बिरहा, (24) कोसी, (25) केवती, (26) रेसी, (27) भहाजिया, (28) बेलवा, (29) उसरेना, (30) कोडिया, (31) तवकपुरी, (32) जिमालपुरी, (33) श्रृंगारपुरी, (34) सीतापुरी, (35) पुतावहा, (36) सिराजपुरी, (37) भामपुरी, (38) तेरका, (39) दुधागौमी, (40) रत्नापुरी, (41) सुन्हाला।

शुक्ला

शुक्लाओं की निम्न उप-शाखाएं हैं :

(1) दो ग्रामों के खखायिजखोर, (2) दो ग्रामों के मामखोर, (3) तिष्थी, (4) भेदी, (5) बकारुआ, (6) कंजाही, (7) खंडाइल, (8) बेला, (9) बांगे अवस्थी, (10) तेवरसी परभाकर, (11) मेहुलियार, (12) खरबहिया, (13) चंदा, (14) गर्ग, (15) गौतमी, (16) पारस, (17) तारा, (18) बरीखपुरी, (19) करयावा, (20) अजमदगढ़िया, (21) पिचौरा, (22) मसौवा, (23) सोन्थियान्वा, (24) औकिन्न, (25) बिर, (26) गोपीनाथ।

तिवारी

तिवारियों की निम्न उप-शाखाएं हैं :

(1) लोनाखार, (2) लोनापार, (3) मुंजौना, (4) मंगराइच, (5) झुनाडिया, (6) सोहगौरा, (7) तारा, (8) गोरखपुरिया, (9) दौराव, (10) पेंडी, (11) सिरजाम, (12) धतूरा, (13) पनौली, (14) नदौली अथवा तंदौली, (15) बुढ़ियावारी,

(16) गुरौली, (17) जोगिया, (18) दीक्षित, (19) सोनौरा, (20) अगोरी, (21) भार्गव, (22) बकिया, (23) कुकुरगरिया, (24) दामा, (25) गोपाल, (26) गोवर्धन, (27) तुके, (28) चत्तू, (29) शिवाली, (30) शखाराज, (31) उमारी, (32) मनोह्रा, (33) शिवराजपुर, (34) मंधना, (35) सापे, (36) मंडन त्रिवेदी, (37) लाहिरी त्रिवेदी, (38) जेठी त्रिवेदी।

दुबे

दुबे ब्राह्मणों की निम्न उप-शाखाएं हैं :

(1) कंचनी, (2) सिंधव, (3) बेलवा, (4) परवा, (5) करैया, (6) बरगैनिया, (7) पंचनी, (8) लथियाही, (9) गुर्दवन, (10) मेथीवर, (11) बरहमपुरिया, (12) सिंगिलवा, (13) कुचाला, (14) मुंजालव, (15) पालिया, (16) धेगवा, (17) सिसरा, (18) सिनानी, (19) कुदावरिये, (20) कटैया, (21) पनवा।

पाठक

पाठकों की निम्न उप-शाखाएं हैं :

(1) सोनारा, (2) अम्बातरा, (3) पाटखवालिया, (4) दिगावच, (5) भदारी।

पांडे

पांडे ब्राह्मणों की निम्न उप-शाखाएं हैं :

(1) त्रिफला या त्रिफाल, (2) जोरव, (3) मतैन्य, (4) तोरया, (5) नकचौरी, (6) परसिहा, (7) सहन्कोल, (8) बरहादिया, (9) गेगा, (10) खोरिया, (11) पिचौरा, (12) पिचौरा पयासी, (13) जुतीय या जात्य, (14) इतार अथवा इंतार, (15) बेश्तोल, अथवा वेश्तावला, (16) चारपंद, (17) सिला, (18) अधुर्ज, (19) मदारिया, (20) मजगाम, (21) दिलीपापर, (22) पाह्यत्या, (23) नगव, (24) तालव, (25) जम्बू।

उपाध्याय

उपाध्यायों की दस उप-शाखाएं हैं :

(1) हारैण्य या हिरण्य, (2) देवरैण्य, (3) खोरिया, (4) जैथिया, (5) दाहेन्द्र, (6) गौरात, (7) रानीसरप, (8) निजामाबाद, (9) दुधोलिया, (10) बसगवा।

चौबे

चौबों की प्रमुख उप-शाखाएं हैं :

(1) नयापुरा, (2) रारगदी, (3) चोखर, (4) कात्या, (5) रामपुरा, (6) पालिया, (7) हरदासपुरा, (8) तिबइया, (9) जामदुवा, (10) गार्गेय।

दीक्षित

दीक्षितों की निम्न उप-शाखाएं हैं :

(1) देवगोम, (2) ककारी, (3) नैवरशिया, (4) अंतैर, (5) सुकांत, (6) चौधरी, (7) जुजातवतिया।

वाजपेयी

वाजपेयी ब्राह्मणों की निम्न उप-शाखाएं हैं :

(1) ऊंचे, और (2) नीचे।

उपर्युक्त कान्यकुब्जों की शाखाओं तथा उप-शाखाओं के अलावा ऐसे कान्यकुब्ज हैं, जिन्हें नीचा माना जाता है। अतः वे मुख्य शाखाओं और उप-शाखाओं से अलग-थलग हो गए हैं। उनमें निम्नलिखित हैं :

(1) सामदारिया, (2) तिर्गूवती, (3) भौरहा, (4) कबीसा, (5) केवती, (6) चन्द्रावल, (7) कुसुमभिया, (8) बिसोहिया, (9) कनहाली, (10) खजूवई, (11) किसिरमान, (12) पैहतिया, (13) मसोनद, (14) बिजारा, (15) अंसनौरा।

3. गौड़ ब्राह्मण

गौड़ ब्राह्मणों का नाम प्रांत पर पड़ा है। यह प्रांत अब (भग्नावस्था में) गौड़ नगर है, जो चिरकाल तक बिहार और बंगाल की राजधानी (अंगों, बंगों या बंगों की राजधानी) रहा है। गौड़ ब्राह्मणों की उप-शाखाएं काफी बड़ी संख्या में हैं। उनमें से सर्वाधिक प्रमुख इस प्रकार है :

(1) गौड़ अथवा केवल गौड़, (2) आदि-गौड़, (3) शुक्लावाला आदि-गौड़,

(4) ओझा, (5) सांध्य गौड़, (6) चिंगला, (7) खांडेवाला, (8) दायमिया, (9) श्री-गौड़, (10) तम्बोली गौड़, (11) आदि-श्री गौड़, (12) गुर्जर गौड़, (13) टेक बड़ा गौड़, (14) चामर गौड़, (15) हरियाणा गौड़, (16) किरतनिया गौड़, (17) सुकुल गौड़।

4. उत्कल ब्राह्मण

उत्कल उड़ीसा का प्राचीन नाम है। उत्कल ब्राह्मणों का अर्थ है, उड़ीसा के ब्राह्मण। उनका विभाजन इस प्रकार हैं :

(1) शशानी ब्राह्मण, (2) श्रोत्रिय ब्राह्मण, (3) पांडा ब्राह्मण, (4) घाटिया ब्राह्मण, (5) महास्थान ब्राह्मण, (6) कलिंग ब्राह्मण।

'शशानी' ब्राह्मणों की निम्न उप-शाखाएं हैं :

(1) सावंत, (2) मिश्रा, (3) नंदा, (4) पाटे, (5) कारा, (6) आचार्य, (7) सत्पस्ती, (8) बेदी, (9) सेनापती, (10) पर्णाग्रही, (11) निशांक, (12) रैनपती।

'श्रोत्रिय' ब्राह्मणों की चार उप-शाखाएं हैं :

(1) श्रोत्रिय, (2) सोनारबनी, (3) तेलि, (4) अग्रबक्सा।

5. मैथिल ब्राह्मण

मैथिल ब्राह्मणों का नाम मिथिला पर पड़ा है। मिथिला भारत का प्राचीन प्रदेश है। उसमें तिरहुत, सारन, पूर्णिया के आधुनिक जिलों का एक बड़ा भाग और नेपाल से सटे प्रदेशों के भाग भी शामिल हैं। मैथिल ब्राह्मणों की निम्नलिखित उप-शाखाएं हैं :

(1) ओझा, (2) ठाकुर, (3) मिश्रा, (4) पुरा, (5) श्रोत्रिय, (6) भूमिहार।

मिश्राओं की निम्नलिखित उप-शाखाएं हैं :

(1) चंधारी, (2) राय, (3) परिहस्त, (4) खान, (5) कुमर।

III

अन्य ब्राह्मण

पंच-द्रविड़ उन ब्राह्मणों का सामान्य नाम है, जो विंध्य पर्वतमाला के नीचे रहते हैं और पंच-गौड़ उन ब्राह्मणों का सामान्य नाम है, जो विंध्य पर्वतमाला के ऊपर रहते हैं। या यूं कहिए कि उत्तर के ब्राह्मणों का नाम पंच-गौड़ है और

दक्षिण के ब्राह्मणों का नाम पंच-द्रविड़ है। लेकिन ध्यान देने योग्य बात यह है कि उत्तर की बिरादरी के ब्राह्मणों की पांच शाखाएं और दक्षिण के ब्राह्मणों की पांच शाखाएं उत्तर या दक्षिण भारत में रहने वाले ब्राह्मणों की सभी शाखाओं का प्रतिनिधित्व नहीं करती। विषय को पूर्णता देने के लिए यह जरूरी है कि न केवल उनका उल्लेख किया जाए, बल्कि उनकी उप-शाखाओं को भी दर्ज किया जाए।

दक्षिण भारत के अन्य ब्राह्मण

इस श्रेणी में निम्नलिखित आते हैं :

(1) कोंकणी ब्राह्मण[1], (2) हुबु[2], (3) गौकर्ण[3], (4) हाविका[4], (5) तुलवा[5], (6) अम्मा कोडग[6], (7) नम्बूद्री।

नम्बूद्री ब्राह्मण मलाबार में रहने वाले ब्राह्मणों के प्रमुख समूह हैं। नम्बूद्रियों के अलावा ब्राह्मणों की अन्य उप-शाखाएं भी हैं। वे हैं :

(1) पोट्टीस, (2) मुट्टाडूस (3) फ्लीडस, (4) रामनाड-रिट परसहास, (5) पट्टारास, (6) अम्बालवासीस।

अन्य राजपूत ब्राह्मण

जिन राजपूत ब्राह्मणों का उल्लेख गुर्जर ब्राह्मणों की सूची में नही किया गया है, वे हैं :

(1) श्रीमाली ब्राह्मण, (2) सचौदा ब्राह्मण, (3) पल्लीवलार ब्राह्मण, (4) नंदन ब्राह्मण, (5) पुष्कर ब्राह्मण, (6) पोखर सेवक ब्राह्मण, (7) मेदातवाला, (8) पारिख ब्राह्मण, (9) लावना ब्राह्मण, (10) डकोत ब्राह्मण, (11) गरुडिया ब्राह्मण, (12) अचारज ब्राह्मण, (13) बूड़ा ब्राह्मण, (14) कपिदास, (15) दाहिमा, (16) खंडेलवाल, (17) दिवास, (18) सिकवादास, (19) चमातवाल, (20) मरु, (21) श्रीवंत, (22) अभीर, (23) भारतन, (24) सनकदास, (25) वागदी, (26) मेवादास, (27) राजगुरु, (28) भाट, (29) चारण।

1. कोंकण ब्राहाण महाराष्ट्र के कोंकणस्थों से अलग हैं। कोंकणी ब्राह्मण गोआ के पुर्तगाली प्रदेश के हैं।
2. वे कारवाड के है।
3. वे (पांडुलिपि में स्थान का उल्लेख नहीं है) के है -संपादक।
4. वे तेल्लिचेरी के आस-पास पाए जाते है।
5. वे उडिपी के आस-पास पाए जाते हैं।
6. वे कुर्ग में पाए जाते हैं।

II

राजनीतिक

राजनीतिक विषयों पर अभी तक अप्रकाशित सात निबंधों को इस पुस्तक में 'राजनीतिक' श्रेणी के अधीन शामिल किया गया है।

6

करोड़ों की आबादी को नकारने का प्रयास

I. अस्पृश्यों की संख्या काफी समय तक अज्ञात रही,

II. सन् 1911 की जनगणना और पृथक गणना का पहला प्रयास,

III. सन् 1911 की जनगणना के निष्कर्षों की पुष्टि,

IV. लोथियन कमेटी और हिंदुओं का कोई 'अस्पृश्य नहीं' का नारा,

V. इस नारे के कारण, और

VI. पिछड़े वर्गों तथा मुस्लिमों का रवैया।

I

भारत के अस्पृश्यों की कुल आबादी कितनी है? जो व्यक्ति इन लोगों के बारे में कुछ जानना चाहेगा, उसका निश्चय ही पहला सवाल यही होगा। अब तो इस सवाल का जवाब आसानी से दिया जा सकता है। 1931 की भारत की जनगणना के अनुसार उनकी आबादी पांच करोड़ थी। जहां अब यह संभव है कि भारत में अस्पृश्यों की आबादी के बारे में कमोबेश सही आंकड़े दिए जा सकें, वहीं पहले काफी समय तक ऐसा करना संभव नहीं था।

इसके अनेक कारण थे। पहला कारण तो यह है कि अस्पृश्यता कोई कानूनी शब्द नहीं है। अस्पृश्यता की ऐसी कोई सटीक कानूनी परिभाषा नहीं है कि उसके द्वारा यह परिभाषित किया जा सके कि कौन अस्पृश्य है और कौन नहीं है। अस्पृश्यता एक सामाजिक धारणा है, जिसने एक प्रथा का रूप ले लिया है और चूंकि प्रथा का अलग-अलग रूप होता है, अतः वही दशा अस्पृश्यता की है। इसलिए इस बारे में सदा ही कुछ-न-कुछ कठिनाई आ रही है कि निश्चित गणितीय मापदंड के अनुसार अस्पृश्यों की आबादी का आकलन किया जा सके। दूसरे, सवर्ण हिंदू

सदा ही इस बात का तीव्र विरोध करते रहे हैं कि जनगणना रिपोर्ट के लिए जाति के अनुसार गणना की जाए। उनका आग्रह रहा है कि अनुसूचियों के लिए जाति संबंधी सवाल को न उठाया जाए और जाति तथा जनजाति के आधार पर जनसंख्या का वर्गीकरण न किया जाए। 1901 की जनगणना के बारे में इसी आशय का प्रस्ताव किया गया था। उसका मुख्य आधार था कि जनसंख्या में विभिन्न जातियों तथा जनजातियों का विभाजन लंबे अंतरालों के बाद बदलता है और यह जरूरी नहीं है कि हर दस साल के बाद होने वाली जनगणना में उनके आंकड़े प्राप्त किए जाएं।

जनगणना आयुक्त पर आपत्ति के इन आधारों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। आयुक्त के विचार में जाति के अनुसार गणना महत्वपूर्ण और आवश्यक थी। जनगणना आयुक्त की दलील थी :

> सामाजिक संस्था के रूप में जाति के गुण-दोषों के बारे में चाहे कुछ भी कहा जाए, परंतु यह स्वीकार करना असंभव है कि भारत में जनसंख्या संबंधी समस्या पर कोई भी विचार-विमर्श जिसमें जाति एक महत्वपूर्ण मुद्दा न हो, लाभप्रद हो सकता है। भारतीय समाज का ताना-बाना अभी जाति-व्यवस्था पर आधारित है और भारतीय समाज के विभिन्न स्तरों में परिवर्तन का निर्धारण अभी भी जाति के आधार पर होता है। प्रत्येक हिंदू (यहां इसका प्रयोग व्यापक अर्थ में किया जा रहा है) जाति में जन्म लेता है, उसकी वह जाति ही उसके धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक और पारिवारिक जीवन का निर्धारण करती है। यह स्थिति मां की गोद से लेकर मृत्यु की गोद तक रहती है। पश्चिमी देशों में समाज के विभिन्न स्तरों का निर्धारण, चाहे वह आर्थिक हो, शैक्षिक हो या व्यावसायिक हो, जिन प्रधान तत्वों के द्वारा होता है, वे अदलते-बदलते रहते हैं, वे उदार होते हैं और उनमें जन्म और वंश की कसौटी को बदलने की प्रवृत्ति होती है। भारत में आध्यात्मिक, सामाजिक, सामुदायिक तथा पैतृक व्यवसाय सबसे बड़े तत्व हैं, जो अन्य तत्वों की अपेक्षा प्रधान तत्व होते हैं। इसलिए पश्चिमी देशों में जहां जनगणना के समय आर्थिक अथवा व्यावसायिक वर्ग के आधार पर आंकड़े एकत्र किए जाते हैं, वहां भारत में जनगणना के समय धर्म और जाति का ध्यान रखा जाता है। राष्ट्रव्यापी और सामाजिक संस्था के रूप में जाति के बारे में कुछ भी क्यों न कहा जाए, इसकी उपेक्षा करने से कोई लाभ नहीं होगा और जब तक समाज में किसी व्यक्ति के अधिकार और उसके पद की पहचान जाति के आधार पर की जाती रहेगी, तब तक यह नहीं कहा जा सकता कि हर दस साल के बाद होने वाली जनगणना से इस अवांछनीय संस्था के स्थाई होते जाने में सहायता मिलती है।

सन् 1911 की जनगणना के अवसर पर जनगणना में जाति के अनुसार गणना किए जाने पर और अधिक जोरदार तरीके से आपत्तियां उठाई गईं। उस समय दस कसौटियो वाली एक विशेष प्रश्नावली जारी की गई। उद्देश्य यह था कि इन कसौटियों को पूरा करने वाली जातियों का एक समूह बना दिया जाए। इसमें संदेह नहीं कि ये ऐसी कसौटियां थीं, जो दलित वर्गों को सवर्ण हिंदुओं से अलग करती थीं। सवर्ण हिंदुओं को आशंका थी कि यह परिपत्र भारत मंत्री (सेक्रेटरी आफ स्टेट) के नाम मुस्लिम ज्ञापन का नतीजा था और इसका उद्देश्य दलित वर्गों को हिंदुओं से अलग कर देना था, ताकि हिंदू समाज की संख्या और उसकी महत्ता को कम कर दिया जाए।

यह प्रतिरोध निष्फल रहा और उन दस कसौटियों को पूरा करने वाली जातियों की गणना जनसंख्या रिपोर्ट में अलग से करने के उद्देश्य को पूरा किया गया। लेकिन प्रतिरोध पूर्णतः शांत नहीं हुआ। 1921 की जनगणना के समय वह पुनः उभरा। इस अवसर पर औपचारिक रीति से जातीय विवरणी पर आपत्ति उठाने का प्रयास किया गया। 1920 में सम्राट की विधायिका (इंपीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल) में एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया। इसमें जाति संबंधी पूछताछ की आलोचना की गई। आलोचना के आधार थे : (क) जातिभेद की प्रथा को सरकारी प्रयास द्वारा मान्यता देना और बनाए रखना वांछनीय नहीं है, और (ख) विवरणियां गलत और व्यर्थ हैं, क्योंकि निम्न जातियों ने स्वयं को उच्चतर स्तर के समूहों के रूप में प्रदर्शित करने के अवसर का लाभ उठाया है। यदि यह प्रस्ताव पारित हो जाता तो अस्पृश्यों की संख्या की जानकारी पाना संभव न हो पाता। सौभाग्य से प्रस्तावक की अनुपस्थिति के कारण प्रस्ताव पर चर्चा नहीं हुई और 1921 का जनगणना आयुक्त सामान्य रीति से अपनी जांच करने के लिए स्वतंत्र रहा।

तीसरे, 1911 से पहले किसी भी जनगणना आयुक्त ने अस्पृश्यों की अलग से गणना करने का कोई प्रयास नहीं किया। भारत में पहली बार आम जनगणना 1881 में हुई थी। 1881 की जनसंख्या रिपोर्ट में भारत की कुल जनगणना करने के लिए यहां की प्रजातियों की सूची बनाने और उनका कुल योग करने के अतिरिक्त कुछ नहीं किया गया। इस रिपोर्ट में विभिन्न हिंदू जातियों का उच्च या निम्न अथवा स्पृश्य या अस्पृश्य जातियों के रूप में कोई वर्गीकरण नहीं किया गया। भारत की दूसरी आम जनगणना 1891 में हुई। इस जनगणना में पहली बार जनगणना आयुक्त ने जनसंख्या को जाति, प्रजाति और उच्च या निम्न जाति के रूप में वर्गीकृत करने की कोशिश की।

भारत की तीसरी आम जनगणना 1901 में हुई थी। इस जनगणना में वर्गीकरण का एक नया सिद्धांत अपनाया गया, अर्थात 'देशी जनमत द्वारा मान्य

सामाजिक पूर्वता के आधार पर वर्गीकरण।' हिंदू समाज जैसे समाज के लिए यह सिद्धांत सर्वाधिक उपयुक्त सिद्धांत था, क्योंकि वह समता को स्वीकार नहीं करता और उसकी समाज-व्यवस्था उच्चतर तथा निम्नतर के श्रेणीकरण की व्यवस्था है। भारतीय जनता का जो विशाल वर्ग प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से जाति के आधार पर संगठित है, उसके सामाजिक जीवन और समूहन का जितना सुस्पष्ट चित्र सामाजिक पूर्वता का यह सिद्धांत प्रस्तुत कर सकता है, उतना अन्य कोई नहीं कर सकता।

II

जनगणना आयुक्त ने स्पष्ट रूप से तथा समझ-बूझकर अस्पृश्यों की संख्या सुनिश्चित करने का प्रथम प्रयास 1911 में किया। 1911 की जनगणना से ठीक पहले का समय ऐसा था, जब मार्ले-मिंटो सुधार प्रारंभिक अवस्था में थे। यह वह समय था, जब भारत के मुसलमानों ने पृथक निर्वाचक-मंडलों के जरिए विधान-मंडलों में पर्याप्त प्रतिनिधित्व पाने के लिए आंदोलन शुरू कर दिया था। अपने प्रचार के अंग के रूप में मुसलमानों का प्रतिनिधि-मंडल कौंसिल में तत्कालीन भारत मंत्री लार्ड मार्ले से मिला और उसने उन्हें 27 जनवरी 1909 को एक ज्ञापन प्रस्तुत किया। उस ज्ञापन में कहा गया ... (बयान मूल अंग्रेजी की पांडुलिपि में दर्ज नहीं है—संपादक)।

सन् 1907 में अस्पृश्यों के बारे में मुस्लिम प्रतिनिधि-मंडल ने अपने ज्ञापन में जो आग्रह किया, उसका कोई संबंध चार वर्ष बाद के अस्पृश्यों की अलग से गणना करने के जनगणना आयुक्त के विचार से है या नहीं, यह एक ऐसा मामला है, जिसके बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। हो सकता है कि जनगणना आयुक्त ने 1911 में जिस कार्य का प्रस्ताव रखा, वह केवल उन उपायों की चरम परिणति हो, जिन्हें उसके पूर्व के आयुक्तों ने जनसंख्या के अध्ययन के लिए अपनाया। जो भी हो, हिंदुओं ने उस समय भारी हंगामा किया, जब जनगणना आयुक्त ने अस्पृश्यों की अलग से गणना करने की अपनी योजना का एलान किया। ऐसा कहा गया है कि जनगणना आयुक्त का यह प्रयास उस साजिश का नतीजा था, जिसे हिंदू समाज में फूट डालने और उसे निर्बल बनाने के लिए मुसलमानों तथा अंग्रेजों ने रची थी। कहा गया कि इस प्रयास के पीछे यह सच्ची कामना नहीं थी कि अस्पृश्यों की संख्या मालूम की जाए, बल्कि यह कामना थी कि स्पृश्यों से अस्पृश्यों को अलग करके हिंदू समाज की एकजुटता को भंग कर दिया जाए। हिंदुओं ने देश-भर में प्रतिरोध में अनेक सभाएं कीं और जनगणना आयुक्त की इस योजना की कठोरतम शब्दों में निंदा की।

तथापि, प्रतिरोध के इस तूफान से विचलित हुए बिना जनगणना आयुक्त ने

अपनी योजना को पूरा करने का निश्चय किया। इसमें संदेह नहीं कि अस्पृश्यों की अलग से गणना करने का जो तरीका उन्होंने अपनाया, वह अनोखा था। जनगणना आयुक्त ने विभिन्न प्रांतों के जनगणना अधीक्षकों को अनुदेश दिया कि जिन जातियों तथा जनजातियों का वर्गीकरण हिंदुओं के रूप में किया गया है, पर जो कतिपय मापदंडों को पूरा नहीं करतीं अथवा जो कतिपय निर्योग्यताओं से ग्रस्त हैं, उनकी गणना अलग से की जाए।

इन कसौटियों के अनुसार जनगणना अधीक्षकों ने उन जातियों तथा जनजातियों की अलग से गणना की : (1) जो ब्राह्मणों की श्रेष्ठता को नहीं मानते, (2) जो किसी ब्राह्मण या अन्य मान्यता प्राप्त हिंदू से गुरु-दीक्षा नहीं लेते, (3) जो वेदों की सत्ता स्वीकार नहीं करते, (4) जो बड़े-बड़े हिंदू देवी-देवताओं की पूजा नहीं करते, (5) ब्राह्मण जिनकी यजमानी नहीं करते, (6) जिनका कोई ब्राह्मण पुरोहित बिल्कुल भी नहीं होता, (7) जो साधारण हिंदू मंदिरों के गर्भ-गृह में प्रवेश नहीं कर सकते, (8) जिनसे छूत लगती है, (9) जो अपने मुर्दों को दफनाते हैं, और (10) जो गोमांस खाते हैं, और गाय की पूजा नहीं करते।

जनगणना आयुक्त की छानबीन ने अटकल की कोई गुंजाइश ही नहीं छोड़ी। उन्होंने तथ्यतः यह मालूम कर लिया कि अस्पृश्यों की आबादी कितनी थी। 1911 के जनगणना आयुक्त की खोज के अनुसार प्रांतवार अस्पृश्यों की संख्या निम्न सारणी में दर्शाई गई है[1] :

प्रांत	कुल आबादी (दस लाख में)	दलित वर्गों की आबादी (दस लाख में)	कुल सीटें	दलित वर्गों के लिए सीटें
मद्रास	39.8	6.3	120	2
बंबई	19.5	0.6	113	1
बंगाल	45.0	9.9	127	1
संयुक्त प्रांत	47.0	10.1	120	1
पंजाब	19.5	1.7	85	-
बिहार तथा उड़ीसा	32.4	9.3	100	1
मध्य प्रांत	12.0	3.7	72	1
असम	6.0	0.3	54	-
	221.2	41.9	791	7

1. यह सारणी इस ग्रंथ-माला के खंड 4, पृ. 75, से पुनः मुद्रित की गई है। मूल अंग्रेजी की पांडुलिपि में यह दर्ज नहीं है—संपादक।

हो सकता है कि बाहर वाला कोई व्यक्ति इन कसौटियों की महत्ता और प्रभाव को न समझ पाए। वह पूछ सकते हैं कि इस सबका अस्पृश्यता से क्या लेना-देना है। लेकिन अस्पृश्यों की आबादी सुनिश्चित करने से संबंधित प्रश्न के संदर्भ में उनकी महत्ता और प्रभाव को वह समझ पाएगा। जैसा कि बताया जा चुका है, अस्पृश्यता की कोई कानूनी परिभाषा नहीं है और कोई परिभाषा हो भी नहीं सकती। अस्पृश्ता स्वयं को सिर के बाल या चमड़ी के रंग के द्वारा व्यक्त नहीं कर सकती। इसका रक्त से कोई संबंध नहीं है। कतिपय प्रथाओं के पालन और व्यवहार के तरीकों में अस्पृश्यता परिलक्षित होती है। अस्पृश्य वह व्यक्ति है, जिसके साथ हिंदू एक निश्चित प्रकार का व्यवहार करते हैं और जो हिंदुओं से भिन्न कतिपय रीति-रिवाजों का पालन करता है। सामाजिक मामलों में अस्पृश्यों के साथ हिंदू निश्चित प्रकार का व्यवहार करते हैं। अस्पृश्य उन निश्चित प्रथाओं का पालन करते हैं। जब स्थिति यह है तो कौन अस्पृश्य है, इसका पता लगाने का केवल यही तरीका है कि उनके रीति-रिवाजों को कसौटी माना जाए और यह पता लगाया जाए कि कौन-सी जातियां उनका पालन करती हैं। अन्य कोई उपाय है ही नहीं। यदि बाहर वाला व्यक्ति इस बात को ध्यान में रखता है तो वह समझ पाएगा कि यद्यपि जनगणना आयुक्त द्वारा निर्धारित कसौटियां अस्पृश्यता का कोई रंग नहीं दर्शातीं, फिर भी तथ्य यह है कि वे अस्पृश्यता के प्रमाण-चिन्ह हैं। जब स्थिति यह है तो इस बारे में कोई संदेह नहीं रह सकता कि प्रक्रिया उचित थी और कसौटियां खरी थीं। अतः यह कहना सही होगा कि जहां तक इस प्रकार के मामले हो सकते हैं, इस छानबीन के नतीजे महत्वपूर्ण थे और प्राप्त आंकड़े सही थे।

III

अस्पृश्यों की कुल आबादी के बारे में 1911 के जनगणना आयुक्त के निष्कर्षों की पुष्टि 1921 के जनगणना आयुक्त ने की।

सन् 1921 के जनगणना आयुक्त ने अस्पृश्यों की आबादी को सुनिश्चित करने के लिए छानबीन भी की। इस रिपोर्ट के भाग I में जनगणना आयुक्त ने कहा है :

> हाल के वर्षों में समाज के कतिपय वर्ग को 'दलित वर्ग' कहने का रिवाज सा हो गया है। जहां तक मुझे मालूम है 'दलित वर्ग' शब्द की कोई अंतिम परिभाषा नहीं है, और न ही निश्चित रूप से इससे यह पता चलता है कि कौन-कौन उसके अंतर्गत आता है। 1912/17 तक की शिक्षा संबंधी प्रगति के बारे में पंचवर्षीय समीक्षा (अध्याय 18, पैरा 505) में शिक्षा-सहायता तथा प्रगति की दृष्टि से दलित वर्गों पर विशेष रूप से विचार किया गया है। उस रिपोर्ट के परिशिष्ट XIII में एक सूची दी गई है। उसमें इस समुदाय के इस वर्ग की जातियों तथा जनजातियों का उल्लेख किया गया है। इस

सूची के अनुसार दलित के रूप में वर्गीकृत कुल आबादी तीन करोड़ दस लाख अथवा ब्रिटिश भारत की हिंदू जनजातीय आबादी का 29 प्रतिशत बताई गई है। इसमें संदेह नहीं कि एक सरकारी रिपोर्ट में संभवतः आपत्तिजनक लगने वाले सामाजिक विभेद को प्रकाशित करने में अप्रसन्नता का कुछ जोखिम है, लेकिन यह तथ्य है कि सूचियां प्रकाशित हो चुकी हैं और विशेषतः दक्षिण भारत में दलित वर्गों में वर्ग-चेतना और वर्ग-संगठन पैदा हो चुका है, और उनकी सेवा वे विशेष मिशन कर रहे हैं, जिन्हें परोपकारी संस्थाओं ने खड़ा किया है तथा जिन्हें अधिकृत रूप से विधान-मंडलों में प्रतिनिधित्व प्राप्त है। इस तथ्य को देखते हुए निश्चय ही यह उचित दीख पड़ता है कि तथ्यों का सामना किया जाए और उनकी संख्या के बारे में आंकड़ों का कुछ आकलन प्राप्त किया जाए। अतः मैने प्रांतीय अधीक्षकों से कहा कि वे मेरे सामने एक आकलन प्रस्तुत करें। मैंने उनसे कहा कि आकलन में उन जातियों की कमोबेश सही संख्या के लिए जनगणना के आंकड़ों को आधार बनाया जाए, जिन्हें आमतौर पर दलित की श्रेणी में शामिल किया गया है।

मुझे सभी प्रांतों तथा राज्यों से किसी-न-किसी प्रकार की सूचियां प्राप्त हुईं, पर संयुक्त प्रांत इसका अपवाद रहा। वहां की सरकारी मनोदशा की छुईमुई नजाकत ने मोटा अनुमान देने की कोशिश भी गवारा नहीं की। दिए गए आंकड़े सही तथा समान कसौटियों पर आधारित नहीं हैं, क्योंकि भारत के अलग-अलग हिस्सों में एक जैसे समूहों की स्थिति के बारे में अलग दृष्टि अपनाई जाती है। अतः कुछ मामलों में मुझे आकलनों में संशोधन करना पड़ा। इसके लिए मैंने शिक्षा संबंधी रिपोर्ट के आंकड़ों और 1911 की रिपोर्ट तथा सारणियों की सूचना को आधार बनाया। वे भी इस पूर्वोक्त सामान्य त्रुटि से ग्रस्त हैं कि किसी जाति की कुल संख्या दर्ज नहीं की गई है। लेकिन विवरण इस बारे में मोटा अनुमान दे देता है कि वह कौन-सी 'न्यूनतम' संख्या है, जिसे हिंदू समाज का 'दलित वर्ग' माना जा सकता है। इन प्रांतीय आंकड़ों का कुल जोड़ पांच करोड़ तीस लाख के लगभग बैठता है। लेकिन इसे भी एक निम्न तथा अनुदार आकलन मानना होगा। इसमें (1) संबद्ध जातियों और जनजातियों की कुल संख्या नहीं दी गई है, और (2) न ही उसमें उन आदिम जातियों के लोगों की संख्या दी गई है, जो अभी हाल में हिंदू धर्म में शामिल हुए हैं और जिनमें से अनेक को अपवित्र माना जाता है। हम निश्चय के साथ कह सकते हैं कि जिन दलित वर्गों को अपवित्र माना जाता है, उन सबकी संख्या भारत में ही साढ़े पांच और छह करोड़ के बीच होगी।

फिर साइमन कमीशन ने जांच की। इस कमीशन को 1929 में ब्रिटिश संसद ने नियुक्त किया। उससे कहा गया कि वह 1919 के भारत सरकार के अधिनियम

के अधीन लागू किए गए सुधारों के कार्य की जांच करे और अन्य सुधारों का सुझाव दे।

उस समय जब उन सुधारों पर चर्चा हो रही थी जिन्हें बाद में 1919 के अधिनियम में शामिल किया गया, मोंटेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट तैयार करने वालों ने स्पष्टतः अस्पृश्यों की समस्या को स्वीकार किया। उन्होंने प्रतिज्ञा की कि वे विधान-मंडलों में उनके प्रतिनिधित्व के लिए सर्वोत्तम व्यवस्था करेंगे। लेकिन लार्ड साउथबरो की अध्यक्षता में मताधिकार तथा मतदान प्रणाली सुझाने के लिए जो कमेटी नियुक्त की गई, उसने उनकी पूर्ण उपेक्षा की। पर भारत सरकार ने उसकी इस उपेक्षा का अनुमोदन नहीं किया और निम्न टिप्पणी की :

> वे (अस्पृश्य) कुल आबादी का पांचवां भाग हैं और उन्हें मार्ले–मिंटो कौंसिलों में कोई प्रतिनिधित्व नहीं दिया गया है। कमेटी की रिपोर्ट में उनका (अस्पृश्यों के रूप में) दो बार उल्लेख किया गया है, लेकिन केवल यह जताने के लिए कि संतोषजनक निर्वाचन-क्षेत्र न होने की दशा में उनके लिए नाम निर्देशन की व्यवस्था कर दी गई है। उसमें यह उल्लेख नहीं किया गया है कि इन लोगों की स्थिति क्या है और उनमें स्वयं अपनी देखरेख करने की कितनी क्षमता है। न ही उसमें यह बताया गया है कि उसने इन लोगों के लिए कितने नामंकन का सुझाव दिया है... कितने प्रतिनिधित्व का प्रस्ताव किया है। उसने सुझाव दिया कि ब्रिटिश भारत की कुल आबादी के पांचवें भाग के लिए लगभग आठ सौ सीटों में से सात सीटें अलॉट की जाएं। यह सच है कि सभी कौंसिलों में अधिकारियों का लगभग छठा भाग ऐसा होगा, जिनसे यह आशा की जा सकती है कि वे (अस्पृश्यों) के हितों का ध्यान रखेंगे, पर हमारी राय में सुधारों संबंधी रिपोर्ट का यह लक्ष्य नहीं है। रिपोर्ट तैयार करने वालों ने कहा कि (अस्पृश्यों) को भी आत्मरक्षा का पाठ पढ़ना चाहिए। निश्चय ही, यह कैसी बेतुकी आशा है कि एक ऐसी विधायिका में जहां साठ-सत्तर सवर्ण हिंदू हों, इस समुदाय के एक अकेले प्रतिनिधि को शामिल करके वह नतीजा हासिल किया जा सकेगा। यदि रिपोर्ट के सिद्धांतों को सार्थक बनाना है, तो हमें बहिष्कृतों के प्रति और अधिक उदार व्यवहार करना ही होगा।

सरकार ने सिफारिश की कि कमेटी ने अस्पृश्यों के लिए जितनी सीटें अलॉट की हैं, उनकी संख्या को दुगना कर दिया जाए। तदनुसार सात के स्थान पर उन्हें चौदह सीटें दी गईं। हम देखेंगे कि यदि व्यवहार की कसौटी पर हम भारत सरकार की उदारता को परखें, तो वह नगण्य-सी है। निश्चय ही, वह अस्पृश्यों को समुचित न्याय प्रदान नहीं करती।

जिन समस्याओं का 1919 में समुचित समाधान नहीं किया गया, उनमें अस्पृश्यों की समस्या भी थी, जो साइमन कमीशन के सामने सुरसा बन कर खड़ी हो गई। अति अप्रत्याशित रूप से लार्ड बर्कनहेड (दिवंगत) ने इस समस्या पर विशेष बल दिया। वह उस समय भारत मंत्री थे। साइमन कमीशन की नियुक्ति से ठीक पूर्व ...[1] को दिए गए एक वक्तव्य में उन्होंने कहा ... (मूल अंग्रेजी की पांडुलिपि में स्थान खाली छोड़ दिया गया है—संपादक।

स्वाभाविक है कि समस्या साइमन कमीशन के लिए एक विशेष कठोर कर्म बन गई। भले ही यथा प्रस्तुत समस्या प्रतिनिधित्व देने की थी और उस अर्थ में राजनीतिक समस्या थी, पर वास्तव में समस्या यह थी कि अस्पृश्यों की संख्या सुनिश्चित की जाए। क्योंकि जब तक संख्या सुनिश्चित नहीं की जाती, तब तक यह तय नहीं किया जा सकता था कि विधान-मडल में कितना प्रतिनिधित्व प्रदान किया जाए।

अतः साइमन कमीशन को अस्पृश्यों की संख्या के बारे में सूक्ष्म जांच करनी पड़ी। उसने विभिन्न प्रांतीय सरकारों से आग्रह किया कि वे अपने क्षेत्र में बसे अस्पृश्यों की संख्या के बारे में विवरणियां प्रस्तुत करें। कौन नहीं जानता कि इन विवरणियों को तैयार करते समय प्रांतीय सरकारों ने विशेष सावधानी बरती। अतः अस्पृश्यों की कुल संख्या के सही होने के बारे में कोई शंका नहीं हो सकती। निम्न सारणी[2] में अस्पृश्यों की आबादी के आंकड़े उस रूप में दिए गए हैं, जिस रूप में वे साउथबरो कमेटी तथा साइमन कमीशन को प्राप्त हुए।

IV

अतः यह स्पष्ट है कि अस्पृश्यों की आबादी पांच करोड़ के आसपास आंकी गई है। अस्पृश्यों की इतनी आबादी है, इसका पता 1911 के जनगणना आयुक्त ने लगाया। उसकी पुष्टि 1921 के जनगणना आयुक्त ने तथा 1929 में साइमन कमीशन ने की। बीस साल तक यह तथ्य रिकार्ड में दर्ज रहा। उस बीच किसी भी हिंदू ने उसे कभी भी चुनौती नहीं दी। वास्तव में हिंदू दृष्टिकोण को उन विभिन्न कमेटियों की रिपोर्टों के आधार पर मापा जाए, जिन्हें साइमन कमीशन से सहयोग करने के लिए प्रांतीय तथा केंद्रीय विधान-मडलों ने नियुक्त किया था, तो इसमें कोई संदेह नहीं रह जाता कि उन्होंने इस आंकड़े को बिना किसी आपत्ति के स्वीकार किया।

लेकिन 1932 में जब लोथियन कमेटी बनी और उसने जांच-पड़ताल शुरू

1. मूल अंग्रेजी की पांडुलिपि में तिथि नहीं दी गई है।
2. मूल अंग्रेजी की पांडुलिपि में सारणी नहीं दी गई है।

की तो अचानक हिंदुओं ने चुनौती-भरा रुख अपनाया और उसने इन आंकड़ों को सही मानने से इंकार कर दिया। कुछ प्रांतों में तो हिंदुओं ने यहां तक कहा कि वहां तो कोई अस्पृश्य है ही नहीं। यह घटना हिंदुओं की मनोवृत्ति को दर्शाती है। अतः वांछनीय है कि उस पर कुछ विस्तार से चर्चा की जाए।

लोथियन कमेटी की नियुक्ति भारतीय गोलमेज सम्मेलन की मताधिकार संबंधी उप-समिति की सिफारिशों के फलस्वरूप की गई थी। कमेटी ने समूचे भारत का दौरा किया और मध्य प्रांत तथा असम को छोड़कर शेष सभी प्रांतों की यात्रा की। कमेटी की मदद के लिए प्रांतीय सरकार ने हर प्रांत में प्रांतीय कमेटियों का गठन किया। उनमें यथासंभव हर प्रांत में मौजूद विभिन्न विचारधाराओं के विभिन्न राजनीतिक हितों के प्रवक्ता शामिल किए गए। इन प्रांतीय कमेटियों में मुख्य प्रांतीय कौंसिलों के सदस्य थे। उनका अध्यक्ष गैर-सरकारी लोगों को बनाया गया। चर्चा को केंद्रित करने के लिए भारतीय मताधिकार कमेटी ने एक प्रश्नावली जारी की। प्रश्नावली विचारार्थ विषय के क्षेत्र पर आधारित थी। मताधिकार कमेटी ने यह प्रक्रिया निर्धारित की कि प्रांतीय सरकारें प्रश्नावली में उठाए गए मुद्दों पर अपने निजी दृष्टिकोण निर्धारित करें और उनके बारे में कमेटी से चर्चा करें। प्राधिकृत सलाहकार के रूप में मान्य प्रांतीय कमेटियां स्वतंत्र रूप से अपने दृष्टिकोण निर्धारित करें और स्व-विवेक से साक्षियों के लिखित बयानों के आधार पर प्रारंभिक पड़ताल करें। अतः भारतीय मताधिकार कमेटी की रिपोर्ट विरतृत पड़ताल पर आधारित पूर्ण दस्तावेज है।

प्रधानमंत्री ने भारतीय मताधिकार कमेटी के अध्यक्ष लार्ड लोथियन को एक अनुदेश-पत्र भेजा था। उसमें कमेटी के विचारार्थ विषय का उल्लेख था। उसमें यह विचार व्यक्त किया गया :

> (भारतीय गोलमेज सम्मेलन) में विभिन्न मुद्दों के बारे में जो चर्चाएं हुईं, उनसे स्पष्ट हो गया है कि नए संविधान में दलित वर्गों के प्रतिनिधित्व के बारे में पर्याप्त व्यवस्था करनी होगी और अब नामांकन द्वारा प्रतिनिधित्व की पद्धति को उपयुक्त नहीं माना जाता है। जैसा कि आपको मालूम ही है, इस बारे में मतभेद है कि दलित वर्गों के लिए पृथक निर्वाचक-मंडलों की व्यवस्था की जाए या नहीं। अतः आपकी कमेटी की जांच-पड़ताल से इस प्रश्न के निर्णय की दिशा में योगदान मिलना चाहिए। वह बताए कि आपकी सिफारिश के अनुसार मताधिकार के सामान्य विस्तार के जरिए किस हद तक दलित वर्ग सामान्य निर्वाचन-क्षेत्रों में मताधिकार प्राप्त कर सकेंगे। दूसरी ओर, यदि यह निश्चय किया जाए कि दलित वर्गों के लिए अलग निर्वाचक-मंडलों का गठन या तो सामान्यतः या फिर उन प्रांतों में किया जाए जहां आबादी में

उसका स्पष्ट तथा अलग अंश है, तो आपकी कमेटी मताधिकार के विस्तार की सामान्य समस्या की पड़ताल करे और ऐसे तथ्य हासिल करे, जिससे दलित वर्गों के लिए अलग प्रतिनिधित्व का तरीका खोजने में सुविधा मिल सके।

तदनुसार भारतीय मताधिकार कमेटी ने जो प्रश्नावली जारी की, उसमें यह प्रश्न भी शामिल था : 'किन जातियों को आप दलित वर्गों में शामिल करेंगे? क्या आप अस्पृश्यों से इतर वर्गों को शामिल करेंगे, यदि हां तो किन्हें?'

मैं भारतीय मताधिकार कमेटी का सदस्य था। जब मैं इस कमेटी का सदस्य बना तो मुझे मालूम था कि जिस मुख्य प्रश्न पर मुझे सवर्ण हिंदुओं से जूझना पड़ेगा, वह था अस्पृश्यों के लिए संयुक्त निर्वाचन-क्षेत्र बनाम पृथक निर्वाचक-मंडल का प्रश्न। मुझे पता था कि भारतीय मताधिकार कमेटी में अस्पृश्यों के विरोध में स्पृश्यों का पलड़ा भारी होगा। वहां कमेटी में मैं अस्पृश्यों का अकेला प्रतिनिधि हूंगा, जब कि सवर्ण हिंदुओं के आधा दर्जन प्रतिनिधि होंगे। ऐसे विषम संघर्ष के लिए मैंने स्वयं को तैयार कर लिया था। भारतीय मताधिकार कमेटी की सदस्यता स्वीकार करने से पूर्व मैंने यह शर्त रख दी थी कि अस्पृश्यों के लिए संयुक्त निर्वाचन-क्षेत्र रखे जाएं या पृथक निर्वाचक-मंडल, यह प्रश्न कमेटी के विचारार्थ विषय में शामिल न किया जाएं। इस शर्त को मान लिया गया और प्रश्न को भारतीय मताधिकार कमेटी के विचार के दायरे से अलग रखा गया। अतः मुझे इस बात का कोई डर नहीं था कि कमेटी में मुझे इस प्रश्न पर मतदान में हरा दिया जाएगा। यह एक ऐसी रणनीति थी, जिसके लिए मुझे हिंदू सदस्यों ने क्षमा नहीं किया। लेकिन एक दूसरी ही समस्या उठ खड़ी हुई, जिसका मुझे तनिक भी आभास नहीं था। वह समस्या अस्पृश्यों की संख्या की थी, जिसकी पड़ताल 1911 और 1929 के बीच चार अलग-अलग प्राधिकारियों ने की थी। उन्होंने पाया था कि अस्पृश्यों की आबादी कोई पांच करोड़ के लगभग होगी। मुझे इसका कोई आभास नहीं था कि भारतीय मताधिकार कमेटी के सामने इस प्रश्न पर कोई विवाद खड़ा हो जाएगा। भले ही विचित्र लगे, पर यह तथ्य है कि भारतीय मताधिकार कमेटी के सामने संख्या के मसले पर बड़ी कट्टरता से विवाद किया गया और उस पर लंबी खीचातानी हुई। कमेटी की अनगिनत बैठकें हुईं और अनगिनत साक्षी हाजिर हुए और उन्होंने अस्पृश्यों के अस्तित्व को नकारा। यह एक विचित्र घटना थी और मुझे उसका सामना करना पड़ा। यह तो संभव नहीं होगा कि उस प्रत्येक साक्षी के बयान का उल्लेख किया जाए, जिसने हाजिर होकर अस्पृश्य जैसे वर्ग के अस्तित्व को नकारा। अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए इतना पर्याप्त होगा कि मैं अस्पृश्यों की आबादी के प्रश्न के बारे में प्रांतीय मताधिकार कमेटियों तथा उनके सदस्यों के विचारों का उल्लेख कर दूं।

पंजाब

पंजाब सरकार की राय :

पंजाब सरकार की राय है कि पट्टेदार को मताधिकार देने से दलित वर्गों के काफी लोगों को मताधिकार मिल जाएगा और उस हद तक कौंसिल के लिए प्रतिनिधि चुनने में उनका प्रभाव बढ़ जाएगा।[1]

जहां तक दलित वर्गों का संबंध है, पंजाब सरकार को ऐसा कोई कारण नहीं दीखता कि वह अपने उस दृष्टिकोण से विमुख हो जाए, जिसे वह ज्ञापन के पैरा 25 में व्यक्त कर चुकी है। इस ज्ञापन में भारतीय सांविधिक आयोग की सिफारिशों के बारे में पंजाब सरकार के सरकारी सदस्यों के ये विचार हैं कि पंजाब में इन वर्गों की कोई तात्कालिक समस्या नहीं है और उन्हें पट्टेदारों के रूप में कुछ प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाएगा।[2]

पंजाब प्रांत की मताधिकार कमेटी की राय :

के.बी.दीन मुहम्मद तथा श्री हंसराज (जो कमेटी में अस्पृश्यों के प्रतिनिधि थे) की राय है कि जहां मुसलमानों में कोई दलित वर्ग नहीं है, वहां हिंदुओं तथा सिखों में दलित वर्ग हैं। ...उनकी कुल संख्या 1,310,709 है। श्री हंसराज का विचार है कि यह सूची अधूरी है।

उनकी राय है कि दलित वर्गों को एक अलग समुदाय मानकर उनके लिए पृथक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था की जाए। श्री नाजिर हुसैन, राय बहादुर चौधरी, श्री छोटू राम, श्री ओम राबर्ट्स, के.बी. मुहम्मद हयात, श्री कुरेशी, श्री चटर्जी, सरदार भूटा सिंह और पंडित नानक चंद की राय है कि यह कहना असंभव है कि पंजाब में इस अर्थ में कोई दलित वर्ग है कि अपने धर्म के कारण किसी व्यक्ति के नागरिक अधिकार का हनन होता है। अध्यक्ष पंडित नानक चंद तथा सरदार भूटा सिंह की राय है कि जिस अर्थ में दक्षिण भारत में दलित वर्ग विद्यमान हैं, उस अर्थ में वे पंजाब में नहीं हैं। जहां गांवों में कुछ ऐसे वर्ग हैं जिनकी आर्थिक तथा सामाजिक स्थिति निश्चय ही अति दीन व हीन है, वहां यह संभव नहीं है कि जिस हिंदू चर्मकार या चमार को दलित वर्ग का कहा जाता है, उसका विभेद उस मुसलमान चर्मकार या मोची से किया जाए, जिसके बारे में कोई नहीं कहता कि वह अलग वर्ग का है।[3]

अतः इससे स्पष्ट हो जाता है कि पंजाब प्रांत की सरकार इस प्रश्न का उत्तर

1. भारतीय मताधिकार कमेटी को दिया गया पंजाब सरकार का ज्ञापन, आई.एफ.सी., खंड 3
2. पंजाब सरकार का अनुपूरक ज्ञापन, आई.एफ.सी., खंड 3, पृ. 29
3. पंजाब प्रांत की मताधिकार कमेटी का ज्ञापन, आई.एफ.सी., खंड 3, पृ. 35

देने से कतरा गई। पंजाब प्रांत की कमेटी ने बहुमत से इंकार कर दिया कि प्रांत में दलित अथवा अस्पृश्य जैसा कोई वर्ग है।

संयुक्त प्रांत

प्रांतीय मताधिकार कमेटी की राय:

संयुक्त प्रांत मताधिकार कमेटी की राय है कि केवल उन्हीं वर्गों को 'दलित' कहा जाए, जो अस्पृश्य हैं। इस कसौटी के अनुसार इन प्रांतों में अस्पृश्यता की समस्या है ही नहीं। अपवाद केवल भंगियों, डोमों तथा धानुकों का है। उनकी कुल संख्या स्पृश्य वर्गों सहित केवल 582,000 है।[1]

संयुक्त प्रांत की प्रांतीय मताधिकार कमेटी में अस्पृश्यों का प्रतिनिधित्व करने वाले सदस्य बाबू रामसहाय ने अपने विमत टिप्पण में कहा कि संयुक्त प्रांत में अस्पृश्यों की संख्या[2] 1,14,35,117 है। संयुक्त प्रांत की प्रांतीय मताधिकार कमेटी में दलित वर्गों का प्रतिनिधित्व करने वाले एक और सदस्य राय साहब बाबू रामचरन ने अपने विमत टिप्पण में कहा कि संयुक्त प्रांत में दलित वर्गों की संख्या[3] दो करोड़ है।

संयुक्त प्रांत की सरकार ने सूचना[4] दी कि अधिकतम अनुमान एक करोड़ 70 लाख का है और न्यूनतम अनुमान 10 लाख से कुछ कम है। उनकी राय में संख्या 67,73,814 से अधिक नहीं है।

बंगाल

बंगाल प्रांत की मताधिकार कमेटी ने अपनी पहली रिपोर्ट[5] में कहा :

कमेटी इस प्रश्न के बारे में किसी निर्णय पर नहीं पहुंच सकी और उसने संकल्प किया कि उसे केंद्रीय कमेटी के पास विचार के लिए वापस भेज दिया जाए।

अपनी अंतिम रिपोर्ट में उसी कमेटी ने कहा :

निर्धारित कसौटी के अनुसार, अर्थात अस्पृश्यता और असामीप्यता के अनुसार, जैसा कि इन शब्दों से भारत के अन्य भागों में अभिप्रेत है, कमेटी का विचार है कि केवल भुईमाली को छोड़कर बंगाल में ऐसा कोई अन्य वर्ग नहीं है।[6]

---

1. आई. एफ. सी., खंड 5, पृ. 398
2. वही, पृ. 440
3. वही, पृ. 285
4. वही, पृ. 297-98
5. वही, पृ. 189
6. वही, पृ. 230

बंगाल प्रांत की मताधिकार कमेटी में दलित वर्गों के प्रतिनिधि श्री मल्लिक ने अपने विमत टिप्पण में अनुसूचित वर्गों की 86 जातियों की सूची प्रस्तुत की।

बिहार और उड़ीसा

बिहार तथा उड़ीसा में 1911 की जनगणना के अनुसार दलित वर्गों की आबादी 93,00,000 थी और 1921 की जनगणना के अनुसार 8,000,000 थी।

लेकिन बिहार तथा उड़ीसा की प्रांतीय मताधिकार कमेटी ने अपने प्रांतीय ज्ञापन[1] में कहा :

> दलित वर्गों की परिभाषा के अंतर्गत आने वाली जातियों अथवा संप्रदायों की संपूर्ण सूची देना कठिन कार्य है। केवल इन वर्गों को दलित कहा जा सकता है, जैसे मुशहर, दुसाध, चमार, डोम और मेहतर। उनकी संख्या इतनी विशाल नहीं है कि एक पृथक मतदाता सूची में उनके समूहन के औचित्य को सिद्ध किया जा सके। बिहार में दलित वर्गों की समस्या बंबई अथवा दक्षिण भारत जैसी विकट नहीं है। कमेटी का विचार है कि दलित वर्गों के लिए विशेष प्रतिनिधित्व की कोई जरूरत नहीं है।

पर इस कमेटी ने अपनी अंतिम रिपोर्ट[2] में कहा :

> जिन वर्गों को आमतौर पर अस्पृश्य माना जाता है, वे हैं, चमार, दुसाध, डोम, हलालखोर, हरि, मोची, मुशहर, पानपासी। ... लेकिन कमेटी के बहुमत सदस्यों का विचार है कि दलित वर्गों के रूप में विशेष प्रतिनिधित्व दिए जाने की कोई जरूरत नहीं है, क्योंकि उनकी शिकायतें बंबई या दक्षिण भारत जैसी विकट नहीं हैं।

क्या कारण था कि हिंदुओं ने अचानक अपना रुख बदल लिया और अस्पृश्यों करोड़ों की आबादी को नकारने का प्रयास किया? पांच करोड़ की संख्या ' के रिकार्ड में मौजूद थी। किसी ने भी उस पर आपत्ति नहीं की। क्या इस आंकड़े की सच्चाई को चुनौती देने का कोई कारण न होने हिंदुओं ने इतने दृढ़ निश्चय से प्रयास किया।

1932 तक अस्पृश्यों का कोई राजनीतिक महत्व नहीं था। ये हिंदू समाज की परिधि से बाहर थे, क्योंकि हिंदू ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों, को मान्यता लिए उन्हें हिंदू समाज का अंग माना जाता

था। अतः राजनीतिक प्रयोजनों के लिए, जैसे विधान-मंडल आदि में प्रतिनिधित्व के लिए अस्पृश्यों की आबादी का प्रश्न कोई महत्व नहीं रखता था। 1932 तक राजनीतिक प्रश्न विधान-मंडल में केवल हिंदुओं तथा मुसलमानों के बीच सीटों के बंटवारे का प्रश्न था। सीटों के बारे में ऐसा कोई प्रश्न नहीं था कि हिंदुओं के हिस्से में जो सीटें आएं, उनका बंटवारा स्पृश्यों और अस्पृश्यों के बीच हो। चूंकि पूरे-का-पूरा हिस्सा स्पृश्यों को मिलता था, अतः उन्होंने यह जानने की परवाह ही नहीं की कि अस्पृश्यों की आबादी कितनी थी। 1932 तक यह स्थिति पूर्णतया बदल गई। अब बंटवारे का प्रश्न हिंदुओं और मुसलमानों के बीच, बंटवारे का प्रश्न नहीं रह गया था। अस्पृश्य यह दावा करने लगे थे कि बंटवारा न केवल हिंदुओं और मुसलमानों के बीच हो, बल्कि हिंदुओं को जो हिस्सा मिले, उसका और बंटवारा हो और अस्पृश्यों को उनका हिस्सा अलग से मिले और वे ही उसका उपयोग करें। अलगाव के इस दावे को मान लिया गया और अस्पृश्यों को छूट दी गई कि भारतीय गोलमेज सम्मेलन में उनके अपने सदस्य उनका प्रतिनिधित्व करें। इस प्रकार न केवल अस्पृश्यों के अलग अस्तित्व को स्वीकार किया गया, बल्कि भारतीय गोलमेज सम्मेलन की अल्पसंख्यक उप-समिति ने तो यह सिद्धांत भी स्वीकार कर लिया कि नए संविधान के अधीन दलित वर्गों को उनकी आबादी के अनुपात में सभी विधान-मंडलों में प्रतिनिधित्व प्रदान किया जाए। इस प्रकार अस्पृश्यों की आबादी के विषय को महत्ता प्राप्त हुई। जितनी कम आबादी अस्पृश्यों की होगी, राजनीतिक प्रतिनिधित्व का उतना ही बड़ा हिस्सा स्पृश्य हिंदुओं को प्राप्त होगा। इससे स्पष्ट हो जाएगा कि जो हिंदू 1932 से पहले अस्पृश्यों की आबादी के प्रश्न पर कोई विवाद करना नहीं चाहते थे, क्यों वे 1932 के बाद अस्पृश्य जैसे वर्ग के अस्तित्व को ही नकारने लगे।

लोथियन कमेटी के सामने अस्पृश्यों की संख्या घटाने के लिए हिंदुओं ने दो दिखावटी आधारों पर जोर दिया। एक यह था कि जनगणना आयुक्त ने जो आंकड़े दिए वे दलित वर्गों के बारे में थे, अस्पृश्यों के बारे में नहीं थे, और दलित वर्ग में अस्पृश्यों के अलावा अन्य वर्ग भी शामिल थे। उनका दूसरा आधार यह था कि अस्पृश्य शब्द की व्याख्या समूचे भारत में एक जैसी होनी चाहिए और अस्पृश्यों की आबादी तय करने के लिए उसे सभी प्रांतों में लागू किया जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में, उन्होंने अस्पृश्यता की स्थानीय कसौटी पर आपत्ति की।

पहला दावा नितांत असत्य था। 'दलित वर्ग' शब्द का प्रयोग अस्पृश्यों के पर्याय के रूप में किया गया था। 'अस्पृश्य' शब्द के स्थान पर 'दलित' शब्द का प्रयोग इसलिए किया गया था कि यह सोचा गया कि 'अस्पृश्य' शब्द उन लोगों की भावनाओं को ठेस पहुंचाएगा, जिन्हें इस शब्द की परिधि में लाया जाना था। 'दलित' शब्द का प्रयोग केवल अस्पृश्यों के लिए किया गया था और इसमें

आदिवासी तथा जरायम-पेशा लोग शामिल नहीं थे। यह बात उस बहस में स्पष्ट कर दी गई थी, जो 1916 में सम्राट की विधायी परिषद (इंपीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल) में माननीय श्री दादाभाई द्वारा प्रस्तुत संकल्प पर हुई थी। सवर्ण हिंदुओं का दूसरा दावा यह था कि अस्पृश्यता की कसौटी एक जैसी होनी चाहिए। इस दावे को प्रस्तुत करने का उद्देश्य अस्पृश्यों की संख्या को कम करना था। सभी जानते हैं कि भारत के अलग-अलग भागों में अस्पृश्यता के अलग-अलग रूप हैं। भारत के कुछ भागों में अस्पृश्य दृष्टिवर्जित हैं, यानी यदि उन पर किसी स्पृश्य हिंदू की दृष्टि पड़ जाती है, तो वह अपवित्र हो जाता है। कुछ भागों में वे सामीप्यवर्जित हैं, यानी वे अपवित्र कर देते हैं यदि वे किसी स्पृश्य हिंदू के पास निश्चित दूरी के भीतर आ जाते हैं। इन सामीप्यवर्जितों के भी दो वर्ग हैं। एक वर्ग वह है, जो स्पृश्य हिंदू के पास किसी निश्चित दूरी के भीतर नहीं जा सकता। सामीप्यवर्जितों का दूसरा वर्ग वह है, जो किसी हिंदू के इतना निकट नहीं जा सकता कि उसकी छाया हिंदू पर पड़ जाए। भारत के कुछ भागों में अस्पृश्य दृष्टिवर्जित या सामीप्यवर्जित नहीं है। केवल उसका शारीरिक स्पर्श ही अपवित्र करता है। कुछ भागों में अस्पृश्य वह है, जिसे जल या अन्न को छूने नहीं दिया जाता। कुछ भागों में अस्पृश्य वह है, जिसे मंदिर में प्रवेश नहीं करने दिया जाता। इन भिन्नताओं से यह स्पष्ट है कि यदि दृष्टिवर्जनीयता को ही अस्पृश्यता की एकमात्र कसौटी माना जाए, तो सामीप्यवर्जितों को अस्पृश्यों की श्रेणी से अलग करना होगा। यदि सामीप्यवर्जनीयता को कसौटी माना जाए, तो स्पर्श मात्र से अपवित्र करने वालों को अस्पृश्यों की श्रेणी से अलग करना होगा। यदि स्पर्श द्वारा अपवित्रता को कसौटी माना जाए तो उन लोगों को अलग करना होगा, जो जल या अन्न नहीं छू सकते। हिंदू यही करना चाहते थे। एक जैसी कसौटी पर आग्रह करके वे कतिपय वर्गों को अस्पृश्यों की श्रेणी से अलग करना चाहते थे, जिससे कि अस्पृश्यों की संख्या कम हो जाए। जाहिर है कि उनका दृष्टिकोण भ्रामक था। अस्पृश्यता किसी व्यक्ति के प्रति किसी हिंदू की आंतरिक घृणा की बाह्य अभिव्यक्ति है। यह घृणा कैसा रूप धारण करती है, वह अपेक्षतः एक नगण्य मामला है। रूप तो केवल घृणा की मात्रा को दर्शाता है। घृणा है जहां, अस्पृश्यता है वहां। यह सहज सत्य हिंदुओं से छिपा नहीं था।

पर वे जोरशोर से कसौटी की एकरूपता का राग अलापते रहे, क्योंकि वे चाहते थे कि जैसे भी हो, अस्पृश्यों की संख्या को कम किया जाए और राजनीतिक प्रतिनिधित्व के बड़े हिस्से को हड़प लिया जाए।

V

इसमें संदेह नहीं कि हिंदुओं और अस्पृश्यों के संघर्ष पर मुख्य उपाख्यान

आधारित है। पर इस उपाख्यान के भीतर एक और उप-कथा है, जो महत्व से भरपूर है। यह है, पिछड़े वर्गों तथा अस्पृश्यों के बीच का संघर्ष। पिछड़े वर्गों के प्रतिनिधियों का कहना था कि दलित वर्ग नामक श्रेणी में उस शब्द के सीमित अर्थ के अनुसार केवल अस्पृश्यों को ही शामिल न किया जाए, अपितु आर्थिक तथा शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े वर्गों को भी शामिल किया जाए। जो लोग यह चाहते थे कि न केवल अस्पृश्यों को, बल्कि शैक्षिक तथा आर्थिक दृष्टि से पिछड़े लोगों को भी अलग प्रतिनिधित्व दिया ही जाना चाहिए, उनका यह उद्देश्य प्रशंसनीय था। अपने इस सुझाव के द्वारा वे किसी नई चीज की मांग नहीं कर रहे थे। 1920 में जो संशोधित संविधान लागू हुआ, उसके अनुसार भारत के दो प्रांतों, अर्थात बंबई और मद्रास, में आर्थिक तथा शैक्षिक दृष्टि से पिछड़ी जातियों के अधिकार को मान्यता दी गई। बंबई में मराठों तथा संबद्ध जातियों को और मद्रास में गैर-ब्राह्मणों को केवल इस आधार पर कि वे शैक्षिक तथा आर्थिक दृष्टि से पिछड़े थे, अलग प्रतिनिधित्व दिया गया। आशंका यह थी कि यदि इन जातियों को विशेष प्रतिनिधित्व नहीं दिया गया, तो सवर्ण हिंदुओं के अल्पसंख्यक जैसे ब्राह्मण तथा संबद्ध जातियां राजनीति के क्षेत्र में उनका दमन करेंगी। अन्य प्रांतों में भी ऐसी ही स्थिति वाली अनेक जातियां हैं। उन्हें विशेष राजनीतिक प्रतिनिधित्व की जरूरत है, ताकि उच्च जातियां उनका दमन न कर सकें। अतः हिंदुओं में से पिछड़े वर्गों के प्रतिनिधियों का यह दावा पूर्णतया उचित ही था कि उनके लिए विशेष प्रतिनिधित्व प्रदान किया जाए।[1] यदि उनके दृष्टिकोण को स्वीकार कर लिया जाता तो दलित वर्गों के लोगों की संख्या में भारी वृद्धि हो जाती। लेकिन उन्हें अस्पृश्यों अथवा सवर्ण हिंदुओं से कोई समर्थन नहीं मिला। हिंदू ऐसे किसी भी प्रयास के विरुद्ध थे, जिसका उद्देश्य दलित वर्गों की संख्या में वृद्धि करना हो। अस्पृश्य यह नहीं चाहते थे कि उनकी श्रेणी में किसी ऐसे वर्ग के लोगों को शामिल किया जाए, जो वास्तव में अस्पृश्य न हो। इन पिछड़ी जातियों के लिए उचित मार्ग यही था कि वे मांग करते कि स्पृश्य हिंदुओं का विभाजन उन्नत तथा पिछड़े लोगों के रूप में किया जाए, और पिछड़े लोगों को अलग

1. संयुक्त प्रांत में पिछड़े वर्गों के लिए ऐसी व्यवस्था की जरूरत थी। यह मांग भी मुख्यतः वहीं से की गई थी। साइमन कमीशन को दिए गए अपने ज्ञापन में संयुक्त प्रांत की सरकार ने जो कहा है, उससे यह जरूरत पर्याप्त रूप से स्पष्ट हो जाती है। संयुक्त प्रांत के विधान-मंडल के गठन के बारे में उसमें कहा गया है- 'समग्र रूप से प्रांत में कुल हिंदू आबादी का 21.5 प्रतिशत भाग चार प्रमुख हिंदू जातियों, यानी ब्राह्मणों, ठाकुरों, वैश्यों और कायस्थों का है, लेकिन इन चार जातियों में से कौंसिल में 93 प्रतिशत के लगभग हिंदू सदस्य आए हैं। आबादी का 1.8 प्रतिशत भाग जाटों का है। उसमें से और पांच प्रतिशत हिंदू सदस्य आए हैं। अन्य हिंदू जातियों के असंख्य लोगों में शामिल करोड़ों लोग जिनमें वास्तव में काश्तकार जातियां भी हैं, भले ही वे हिंदू आबादी का 76 प्रतिशत भाग है, केवल दो प्रतिशत प्रतिनिधित्व प्राप्त कर सकते हैं।' पृ. 500

से प्रतिनिधित्व दिया जाए। उस प्रयास में अस्पृश्य उनका समर्थन करते। लेकिन वे इसके लिए सहमत नहीं हुए और आग्रह करते रहे कि उन्हें दलित वर्गों में शामिल किया जाए। उसका मुख्य कारण यह था कि उनका विचार था कि यह उनके उद्देश्य को पूरा करने का आसान तरीका था। लेकिन चूंकि अस्पृश्यों ने इसका विरोध किया, अतः पिछड़े वर्ग विमुख हो गए और उन्होंने हिंदुओं से भी अधिक उग्र रूप से अस्पृश्यों के अस्तित्व को नकारने में हिंदुओं का साथ दिया।

स्पृश्यों और अस्पृश्यों के इस संघर्ष में अस्पृश्यों को मुसलमानों से कोई समर्थन नहीं मिला। इस ओर ध्यान देना होगा कि पंजाब प्रांत की मताधिकार कमेटी में केवल एक मुसलमान ने अस्पृश्यों के प्रतिनिधि के उस आग्रह का समर्थन किया कि पंजाब में ऐसी जातियां हैं, जिन्हें अस्पृश्य माना जाता है। कमेटी के शेष मुस्लिम सदस्यों ने समर्थन नहीं किया। बंगाल में बंगाल प्रांत की मताधिकार कमेटी के हिंदू तथा मुस्लिम सदस्य इस बारे में सहमत हो गए कि वे इस मामले पर कोई विचार व्यक्त नहीं करेंगे। यह कैसी अजीब बात है कि मुसलमान सदस्यों ने चुप्पी साध ली। यह तो उनके हित में था कि अस्पृश्यों को पृथक राजनीतिक समुदाय के रूप में स्वीकार किया जाए। स्पृश्यों तथा अस्पृश्यों का यह अलगाव उनके हित में था। संख्या-वृद्धि के इस संघर्ष में मुसलमानों ने अस्पृश्यों की क्यों मदद नहीं की? मुसलमानों के इस रवैए के दो कारण थे। एक तो यह है कि मुसलमान अपनी आबादी के अनुपात से कहीं अधिक प्रतिनिधित्व की मांग कर रहे थे। भारत की राजनीतिक शब्दावली के अनुसार वे अधिप्रतिनिधित्व की मांग कर रहे थे। वे जानते थे कि उनके अधिप्रतिनिधित्व से निश्चय ही हिंदुओं को घाटा होगा और प्रश्न केवल यह था कि हिंदुओं का कौन-सा वर्ग वह घाटा उठाए। स्पृश्य हिंदू इस अधिप्रतिनिधित्व की परवाह नहीं करेंगे, यदि वह उनके हिस्से में कमी किए बिना दिया जा सके। समस्या यह थी कि इसे कैसे किया जाए, और इसका एकमात्र रास्ता यही था कि अस्पृश्यों का हिस्सा कम कर दिया जाए। हिस्सा कम करने का अर्थ था, संख्या को कम करना। एक कारण तो यह है, जिसकी वजह से संख्या के इस संघर्ष में मुसलमानों ने अस्पृश्यों का साथ नहीं दिया। दूसरा कारण यह था कि मुसलमानों को डर था कि हिंदू उनका पर्दाफाश कर देंगे। यद्यपि इस्लाम एक ऐसा धर्म है, जो जाति और रंग को लांघकर अलग-अलग लोगों को भाईचारे की डोर में बांध सकता है, फिर भी भारत में इस्लाम भारतीय मुसलमानों में से जाति को निर्मूल करने में सफल नहीं हो सका है। मुसलमानों में जातीयता की भावना उतनी उग्र नहीं है, जितनी कि हिंदुओं में है। लेकिन यह असलियत है कि उनमें वह भावना है। मुसलमानों में इस जातीयता की भावना से सामाजिक वर्गीकरण होता है और यह भारत में मुस्लिम संप्रदाय की विशिष्टता है, इस ओर उन सभी लोगों का ध्यान गया है, जिन्हें इस विषय के अध्ययन का अवसर मिला है। बंगाल के जनगणना आयुक्त ने अपनी रिपोर्ट में कहा है:

(उद्धरण पांडुलिपि में दर्ज नहीं है— संपादक)

हिंदू इन तथ्यों से भली-भांति अवगत हैं और वे मुस्लिमों के खिलाफ उन्हें उद्धृत करने के लिए पूर्णतया तैयार थे, यदि मुस्लिम हद से आगे बढ़कर संख्या के इस संघर्ष में अस्पृश्यों का साथ देते और उसके कारण विधान-मंडल में सवर्ण हिंदुओं की सीटें घट जातीं। मुसलमान अपने कमजोर पक्षों को जानते थे। वे नहीं चाहते थे कि हिंदुओं को बहाना मिले और वे मुसलमानों के बीच सामाजिक फूट को भड़काएं। उन्होंने सोचा कि उनका सर्वोत्तम हितसाधन तटस्थ रहने में होगा।

इस प्रकार अपनी संख्या के संघर्ष में अस्पृश्य अकेले पड़ गए। लेकिन उन पर भी ध्येयपूर्ति के लिए भरोसा नहीं किया जा सकता था। जब हिंदुओं ने देखा कि वे अस्पृश्यों की संख्या घटाने में सफल नहीं हो सकते, तो उन्होंने अस्पृश्यों को गुमराह करने की कोशिश की। वे अस्पृश्यों से कहने लगे कि सरकार अस्पृश्य जातियों की सूची तैयार कर रही है और ऐसी सूची में किसी जाति का नाम दर्ज कराना गलत होगा, क्योंकि इससे उन पर सदा के लिए अस्पृश्यता का ठप्पा लग जाएगा। उनकी सलाह मानकर अनेक जातियों ने जो वास्तव में अस्पृश्य जातियां थी, याचिका भेजकर कहा कि वे अस्पृश्य वर्ग की नहीं हैं और उनका नाम सूची में दर्ज न किया जाए। ऐसी याचिकाओं को वापस ले लिए जाने की प्रेरणा देने के लिए ऐसी जातियों से काफी माथापच्ची करनी पड़ी। उन्हें सूचित किया गया कि असली उद्देश्य उनकी संख्या का आकलन करने का है, ताकि विधान-मंडल में उनकी सीटों की संख्या तय की जा सके।

सभी के लिए सौभाग्य की बात है कि यह संघर्ष और विवाद अब समाप्त हो चुका है। अब अस्पृश्यों की संख्या के बारे में कभी भी विवाद नहीं उठाया जा सकता। अब कानूनी तौर पर अस्पृश्यों की परिभाषा कर दी गई है। कौन अस्पृश्य हैं, इसकी व्यवस्था भारत सरकार अधिनियम, 1935 की एक अनुसूची में कर दी गई है और उसमें उन्हें अनुसूचित जातियों के रूप में दर्शाया गया है। लेकिन संघर्ष हिंदू चरित्र की प्रवृत्ति को उजागर करता है। यदि अस्पृश्य कोई आवाज नहीं उठाता तो हिंदू उसकी दशा पर लज्जित नहीं होता और उनकी संख्या के बारे में उदासीन रहता है। चाहे वे हजारों में हों या करोड़ों में, उसे इससे कोई सरोकार नहीं। लेकिन यदि अस्पृश्य आवाज उठाते हैं और मान्यता की मांग करते हैं, तो वह इसके लिए कमर कस लेता है कि उनके अस्तित्व को नकार दे, अपने दायित्व को न ओढ़े, अपने अधिकार का बंटवारा न करे और दया तथा ममता से किनारा कर ले।

अस्पृश्यों का त्रास ही हिंदुओं का अपराध है। हिंदुओं की धार्मिक मनोवृत्ति में क्रांति के लिए अस्पृश्यों को कितना इंतजार करना पड़ेगा? इसका उत्तर तो वही दें, जो भविष्यवाणी करने की योग्यता रखते हैं।

–भीमराव अम्बेडकर

7

अस्पृश्यों का विद्रोह

हिंदू समाज-व्यवस्था के विरुद्ध अस्पृश्यों के आंदोलन के पीछे, खासकर महाराष्ट्र में, एक लंबा इतिहास है। इस इतिहास को दो चरणों में बांटा जा सकता है। प्रथम चरण में याचिकाओं और प्रतिरोधों का जोर था। दूसरे चरण में स्थापित हिंदू-व्यवस्था के विरुद्ध सीधी कार्यवाही के रूप में खुला विद्रोह है। रवैए में यह परिवर्तन दो परिस्थितियों के कारण आया। एक तो इस अनुभूति के कारण आया कि याचिकाएं और प्रतिरोध हिंदुओं पर प्रभाव नहीं डाल सके। दूसरा कारण यह था कि सरकारों ने यह ऐलान कर दिया कि सभी, सार्वजनिक सुविधाएं और सार्वजनिक संस्थाएं अस्पृश्यों समेत सभी के लिए खुली हैं। औरों के साथ-साथ ब्रिटिश भारत का कानून अस्पृश्यों को भी कुछ अधिकार देता है। उनमें यह अधिकार भी है कि वे जैसा चाहें कपड़ा या गहना पहनें। इनमें सार्वजनिक सुविधाओं और संस्थाओं के उपयोग के अधिकार भी जोड़ दिए गए, जैसे कुओं, स्कूलों, बसों, ट्रामों, रेलगाड़ियों, सरकारी कार्यालयों आदि के उपयोग में अब कोई संशय नहीं रह गया था। लेकिन हिंदुओं के विरोध के कारण अस्पृश्य उनका उपयोग नहीं कर सके। इस स्थिति का सामना करने के लिए अस्पृश्यों ने तरीकों को बदलने का फैसला किया। उन्होंने बुराइयों को मिटाने के लिए सीधी कार्यवाही करने का निश्चय किया। 1920 के आसपास यह परिवर्तन आया।

I

सीधी कार्यवाही के प्रयासों में से केवल कुछ का उल्लेख किया जा सकता है। उससे हिंदू समाज-व्यवस्था के विरुद्ध अस्पृश्यों के विद्रोह का आभास हो जाएगा। सार्वजनिक सड़कों पर चलने का अधिकार प्राप्त करने के लिए जो प्रयास किए गए, उनमें एक का उल्लेख करना काफी होगा। इस संबंध में सर्वाधिक उल्लेखनीय प्रयास 1924 में ट्रावनकोर स्टेट के अस्पृश्यों ने किया। वह वाइकोम मंदिर के इर्दगिर्द बनी सड़कों के इस्तेमाल के बारे में था। ये सार्वजनिक सड़कें थीं। हर कोई उनका इस्तेमाल कर सकता था और उनका रखरखाव स्टेट करती

थी। लेकिन चूंकि वे मंदिर के भवन के निकट थीं, अतः अस्पृश्यों को उनके उन कतिपय भागों पर चलने की अनुमति नहीं दी जाती थी, जो मंदिर के इर्दगिर्द थे। अंततः सत्याग्रह किया गया। उसके फलस्वरूप मंदिर के आंगन को चौड़ा किया गया और सड़क को पुनः इस प्रकार बनाया गया कि यदि उसका इस्तेमाल अस्पृश्य भी करें, तो वे मंदिर को अपवित्र करने वाले फासले से परे रहें।

II

पानी प्राप्त करने के सार्वजनिक स्थानों से पानी लेने का अधिकार पाने के लिए जो प्रयास किए गए, उनमें चावदार तालाब के मामले का उल्लेख पर्याप्त होगा।

यह चावदार तालाब बंबई प्रेसिडेंसी के कोलाबा जिले के महाड नगर में स्थित है। यह एक अति विशाल तालाब है। इसमें मुख्यतः वर्षा का और कुछ प्राकृतिक स्रोतों का पानी आता है। तालाब के चारों ओर तटबंध हैं। तालाब के चारों ओर व्यक्तिगत स्वामित्व वाली जमीन की छोटी-छोटी पट्टियां हैं। जमीन की इस पट्टी के परे तालाब के चारों ओर नगरपालिका की सड़क है। सड़क के परे स्पृश्यों के अपने निज़ी मकान हैं। तालाब हिंदू क्षेत्रों के बीचों-बीच स्थित है और हिंदू भवनों से घिरा है।

यह एक प्राचीन तालाब है। कोई नहीं जानता कि उसे किसने और कब बनवाया। लेकिन 1869 में जब सरकार ने महाड नगर के लिए नगरपालिका की स्थापना की, तो सरकार ने उसे नगरपालिका को सौंप दिया। तब से उसे नगरपालिका का तालाब, यानी सार्वजनिक तालाब माना जाता है।

महाड एक व्यावसायिक केंद्र है। वह तालुका का प्रधान कार्यालय भी है। अस्पृश्यों को वहां खरीदारी करने तथा ग्राम सेवक के रूप में अपना कर्तव्य निभाने के लिए आना पड़ता था। वे तालुका के अधिकारी को या तो ग्राम अधिकारी द्वारा भेजी गई चिट्ठी-पत्री देते थे या फिर ग्राम अधिकारी द्वारा एकत्र किया गया लगान सरकारी खजाने में जमा करते थे। चावदार तालाब ही एकमात्र ऐसा तालाब था, जहां से बाहर से आने वाला कोई व्यक्ति पानी ले सकता था। लेकिन अस्पृश्यों को इस तालाब से पानी लेने नहीं दिया जाता था। अस्पृश्यों को पानी केवल महाड नगर के अस्पृश्यों के क्षेत्रों में स्थित कुएं से ही मिल सकता था। यह कुआं नगर के मध्य से कुछ दूरी पर था। नगरपालिका की उपेक्षा के कारण वह गंदगी से अटा पड़ा था।

अतः पानी के मामले में अस्पृश्यों को काफी कठिनाई का सामना करना पड़ता था। मामला सुधरने तक यह सब चलता रहा। 1923 में बंबई की विधान परिषद

ने इस आशय का संकल्प पारित किया कि अस्पृश्य वर्गों को छूट दी जाए कि वे उन सभी सार्वजनिक जलाशयों, कुओं, धर्मशालाओं का इस्तेमाल कर सकते हैं, जिनका निर्माण और रखरखाव सार्वजनिक निधि से किया जाता हो या जो सरकार द्वारा नियुक्त या कानूनी तौर पर बनाए गए निकायों की देखरेख में हों। यह भी कहा गया कि वे सरकारी स्कूलों, अदालतों, कार्यालयों और डिस्पेंसरियों का इस्तेमाल भी कर सकते हैं। सरकार ने यह संकल्प स्वीकार कर लिया और यह आदेश जारी कर दिया :

> परिषद के पूर्वोक्त संकल्प के अनुसार बंबई सरकार सहर्ष यह निर्देश देती है कि जहां तक संकल्प का संबंध सरकारी स्वामित्व और देखरेख वाले सार्वजनिक स्थलों, संस्थाओं से है, कार्यालयों के सभी अध्यक्ष उसे लागू करें। कलेक्टरों से अनुरोध किया जाए कि वे अपने अधिकार-क्षेत्र में आने वाले स्थानीय निकायों को सलाह दें कि वे संकल्प में की गई सिफारिशों को स्वीकार करने की वांछनीयता पर विचार करें।

सरकार के इस आदेश के अनुसार कोलाबा के कलेक्टर ने महाड नगरपालिका के विचारार्थ उसकी एक प्रति भेजी। महाड नगरपालिका ने 5 जनवरी 1924 को इस आशय का संकल्प पारित किया कि नगरपालिका को इस बारे में कोई आपत्ति नहीं है कि अस्पृश्यों को तालाब का इस्तेमाल करने दिया जाए। इस संकल्प के पास हो जाने के शीघ्र पश्चात महाड में कोलाबा जिले के अस्पृश्यों का एक सम्मेलन मेरी अध्यक्षता में हुआ। सम्मेलन की बैठक दो दिन–18 और 20 मार्च 1927 को हुई। कोलाबा जिले में अस्पृश्यों का यह सर्वप्रथम सम्मेलन था। सम्मेलन में 2,500 से अधिक अस्पृश्यों ने हिस्सा लिया। उनमें बड़ा उत्साह था। सम्मेलन के प्रथम दिवस पर मैंने अध्यक्ष पद से अपना भाषण दिया। उसमें मैंने उन्हें प्रेरणा दी कि वे अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करें, वे अपनी गंदी तथा बुरी आदतों को त्याग दें और मानवता की पूरी बुलंदी को स्पर्श करें। उसके बाद वहां उपस्थित तथा अस्पृश्यों की दोस्ती का दम भरने वाले सवर्ण हिंदुओं ने सभा को संबोधित किया। उन्होंने अस्पृश्यों से कहा कि वे साहस से काम लें और अपने कानूनी अधिकार का इस्तेमाल करें। इसके साथ पहले दिन की कार्यवाही समाप्त हुई। रात को विषय समिति की बैठक हुई। उसमें विचार किया गया कि अगले दिन खुले सम्मेलन में क्या संकल्प प्रस्तुत किया जाए। विषय समिति में कुछ लोगों ने इस बात की ओर ध्यान दिलाया कि पीने का पानी प्राप्त करने में अस्पृश्यों को महाड में भारी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। खासकर यह कठिनाई सम्मेलन की स्वागत समिति के सदस्यों ने अनुभव की। उन्हें सम्मेलन में भाग लेने वालों के लिए पर्याप्त मात्रा में पानी मंगाने के लिए सवर्ण हिंदुओं को लगाना पड़ा और 15 रुपये की विपुल राशि खर्च करनी पड़ी।

अगले दिन 20 तारीख को प्रातः 9 बजे सम्मेलन की बैठक हुई। उसमें विषय समिति द्वारा तय संकल्प प्रस्तुत किए गए। सम्मेलन ने उन्हें पास कर दिया। इसमें कुल मिलाकर कोई तीन घंटे लगे। अंत में मेरे एक सहयोगी ने अध्यक्ष तथा सम्मेलन को सफल बनाने वाले अन्य लोगों के प्रति धन्यवाद का प्रस्ताव प्रस्तुत करते हुए जल-प्राप्ति की कठिनाई के प्रश्न का उल्लेख किया। उन्होंने उपस्थित अस्पृश्यों को प्रोत्साहित किया कि वे चावदार तालाब पर जाकर पानी लेने के अधिकार का इस्तेमाल करें, खासकर उस स्थिति में जब कि नगरपालिका ने अपने संकल्प द्वारा घोषणा कर दी है कि वह अस्पृश्यों के लिए खुल गया है और उनके हिंदू मित्र उनकी मदद करने को तैयार हैं। जिन हिंदुओं ने उन्हें प्रोत्साहित किया था कि वे निर्भय होकर अपने अधिकारों का इस्तेमाल करने लगें, उन्होंने तत्काल अनुभव किया कि यह तो विस्फोटक स्थिति पैदा हो गई है और वे तुरंत भाग खड़े हुए। लेकिन अस्पृश्यों पर इसका भिन्न प्रभाव पड़ा। इस ललकार से तो उनकी रगों में जैसे बिजली दौड़ गई। वे एकजुट होकर खड़े हो गए और मेरे तथा मेरे सहयोगियों के नेतृत्व में 2,500 अस्पृश्य लोगों के जत्थे ने मुख्य सड़कों पर जुलूस निकाला। यह समाचार दावाग्नि की भांति फैल गया और जुलूस देखने के लिए सड़कों पर लोगों की भीड़ जमा हो गई।

नगर के हिंदुओं ने यह दृश्य देखा। वे अवाक रह गए। उनके लिए यह एक अभूतपूर्व दृश्य था। कुछ क्षणों के लिए तो लगा कि वे स्तब्ध रह गए थे। चार-चार की कतार में जुलूस चलता रहा। वह चावदार तालाब पर पहुंचा। अस्पृश्यों ने पहली बार वहां पानी पीया। शीघ्र ही हिंदुओं ने अनुभव किया कि यह सब क्या हो गया। उन पर पागलपन सवार हो गया और उन्होंने उन अस्पृश्यों पर जी-भर कर जुल्म ढाए, जिन्होंने पानी को भ्रष्ट करने का दुस्साहस किया था। उनके अत्याचारों का उल्लेख उपयुक्त स्थानों पर किया जाएगा।

महाड में चावदार तालाब पर अस्पृश्यों के प्रवेश करने पर जब हिंदुओं ने उन पर आक्रमण किया, तो निस्संदेह वह उनके लिए एक चुनौती बन गया। इसके अलावा अस्पृश्य इस बात के लिए तुले हुए थे कि वे केवल अपने अधिकार के इस्तेमाल से ही संतुष्ट नहीं हो जाएंगे, बल्कि देखेंगे कि वह अच्छी तरह स्थापित भी हो जाए। उनके लिए यह सोचना स्वामाविक ही था कि वे हिंदुओं की चुनौती को स्वीकार करें ही। तदनुसार अस्पृश्यों का एक दूसरा सम्मेलन बुलाया गया। अस्पृश्यों को बताया गया कि वे सत्याग्रह के लिए (अर्थात सविनय अवज्ञा तथा जेल जाने के लिए भी) पूरी तरह तैयार होकर आएं।

जब हिंदुओं को इसका पता चला तो उन्होंने कोलाबा के जिला मजिस्ट्रेट से आवेदन किया कि वह दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 144 के अधीन आदेश

जारी कर दें, ताकि अस्पृश्य चावदार तालाब पर जाकर उसके जल को अपवित्र न कर सकें। जिला मजिस्ट्रेट ने मना कर दिया और कहा कि तालाब एक सार्वजनिक तालाब है और सभी नागरिकों के लिए खुला हुआ है, और वह कानून के अनुसार अस्पृश्यों को वहां से पानी लेने से नहीं रोक सकते। मजिस्ट्रेट ने उन्हें सलाह दी कि वे अदालत में जाएं और अपने एकमात्र उपभोक्ता होने के अधिकार को सिद्ध करें। यह तय किया गया कि सम्मेलन 25, 26, 27 दिसंबर 1927 को होगा। तिथियां नजदीक आती गईं और उन्होंने सुना कि अस्पृश्य नितांत गंभीर थे। उन्हें यह भी पता था कि जिला मजिस्ट्रेट ने उनकी सहायता करने से इंकार कर दिया था। अतः उनके पास केवल एक ही उपाय रह गया कि वे अपने इस अधिकार को कानून द्वारा सिद्ध करें कि सार्वजनिक तालाब से अस्पृश्य पानी नहीं ले सकते। तदनुसार विभिन्न जातियों के नौ हिंदू वादी बने और उन्होंने मिलकर 12 दिसंबर 1927 को 1927 का दावा संख्या 405 दायर किया। हिंदुओं के प्रतिनिधियों ने यह दावा महाड के उप-न्यायाधीश की अदालत में दायर किया। अस्पृश्यों के प्रतिनिधि के रूप में मैं तथा चार अन्य लोग प्रतिवादी बने। दावे का उद्देश्य था कि अदालत से यह आदेश प्राप्त किया जाए कि 'उक्त चावदार तालाब केवल स्पृश्य वर्गों की निजी संपत्ति है और अस्पृश्यों को कोई अधिकार नहीं है कि वे उस तालाब पर जाकर वहां से पानी लें। इस बारे में भी स्थाई आदेश दिया जाए कि इनमें से कोई भी कार्य प्रतिवादी नहीं कर सकते।' जिस दिन दावा दायर किया गया, उसी दिन वादियों ने अदालत से आवेदन किया कि प्रतिवादियों के खिलाफ अस्थाई आदेश दिया जाए, ताकि वे मुकदमे के फैसले तक तालाब पर जाकर वहां से पानी न ले सकें। न्यायाधीश ने यह मानकर कि यह एक उपयुक्त केस है, 14 दिसंबर 1927 को मेरे तथा अन्य प्रतिवादियों के खिलाफ अस्थाई निषेधाज्ञा दे दी।

न्यायाधीश द्वारा जारी की गई अस्थाई निषेधाज्ञा बंबई भेजी गई और मुझ पर सम्मेलन होने से दो-तीन दिन पहले तामील की गई। सलाह के लिए कोई समय था ही नहीं और सम्मेलन को स्थगित भी नहीं किया जा सकता था। मैंने निर्णय का मामला सम्मेलन पर छोड़ दिया।

सम्मेलन बुलाने का खास उद्देश्य था कि तालाब से पानी लेने के जिस अधिकार को पिछली बार हिंदुओं ने चुनौती दी, उसे स्थापित किया जाए। जिला मजिस्ट्रेट ने मार्ग को खुला रखा था। लेकिन अब तो न्यायाधीश ने ऐसी कार्यवाही पर रोक का आदेश जारी कर दिया था। स्वाभाविक है कि जब सम्मेलन की बैठक हुई तो उसके विचारार्थ सबसे पहला सवाल यह था कि अदालत द्वारा जारी की गई निषेधाज्ञा को भंग करके तालाब पर प्रवेश किया जाए या नहीं। पहले जो जिला मजिस्ट्रेट अस्पृश्यों के प्रति सहानुभूति रखता था, अब उसने एक भिन्न

रवैया अपनाया। सम्मेलन को जब स्वयं आकर मजिस्ट्रेट ने संबोधित किया तो उसने अपने दृष्टिकोण को पूर्णतया स्पष्ट कर दिया। उसने कहा कि यदि दीवानी अदालत ने निषेधाज्ञा जारी न की होती तो वह सवर्ण हिंदुओं की उपेक्षा करके तालाब पर आने के अस्पृश्यों के प्रयास में उनकी सहायता करता, लेकिन चूंकि उप-न्यायाधीश ने अपना आदेश जारी कर दिया था, अतः उसकी स्थिति भिन्न हो गई है। वह अस्पृश्यों को तालाब पर जाने की अनुमति नहीं दे सकता, क्योंकि ऐसे कार्य का परोक्ष अर्थ होगा कि बिना किसी दंड के सम्राट के न्यायालय के आदेश को भंग करने में उन्हें सहायता दी जाए। अतः उसे लगा कि उसे बाध्य होकर अस्पृश्यों पर रोक लगाने का आदेश जारी करना पड़ेगा, यदि वे निषेधाज्ञा के होते हुए तालाब पर जाने का आग्रह करें। कारण यह नहीं था कि वह हिंदुओं का पक्ष लेना चाहता था, बल्कि यह था कि वह दीवानी अदालत की गरिमा की रक्षा के लिए बाध्य था और उसे देखना था कि आदेश का पालन हो।

सम्मेलन ने कलेक्टर के कथन पर और हिंदुओं की उस प्रतिक्रिया पर भी विचार किया, जो अदालत से प्राप्त आदेश का उल्लंघन करके तालाब पर जाने के अस्पृश्यों के प्रयास के प्रति हिंदुओं की होती। अंततः सम्मेलन इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि उनकी बेहतरी और सुरक्षा इसी में होगी कि कानून का पालन किया जाए और देखा जाए कि अधिकार प्राप्त करने में वह कहां तक मददगार सिद्ध हो सकता है। अतः निश्चय किया गया कि मुकदमे का अंतिम फैसला होने तक न्यायाधीश के आदेश की सविनय अवज्ञा को स्थगित कर दिया जाए।

सविनय अवज्ञा की कभी नौबत ही नहीं आई, क्योंकि मुकदमे में अस्पृश्यों की जीत और हिंदुओं की हार हुई। जिन कारणों से अस्पृश्यों ने कानून का पालन किया और सविनय अवज्ञा को स्थगित किया, उनमें से एक प्रमुख कारण यह था कि वे इस प्रश्न पर अदालत का निर्णय पाना चाहते थे कि क्या अदालत अस्पृश्यता की प्रथा को वैध ठहरा सकती है? कानून का नियम है कि जिस प्रथा को वैध ठहराना हो, उसे अति प्राचीन होना ही चाहिए, उसे निश्चित होना ही चाहिए, उसे ऐसा होना ही चाहिए कि वह नैतिकता अथवा लोक-नीति के प्रतिकूल न हो। अस्पृश्यों का दृष्टिकोण है कि यह ऐसी प्रथा है, जो नैतिकता और लोक-नीति के प्रतिकूल है। लेकिन इसकी सार्थकता तभी है, जब कोई न्यायाधिकरण उसके बारे में ऐसी घोषणा करे। अस्पृश्यता की प्रथा को अवैध घोषित करने वाला ऐसा कोई निर्णय निश्चय ही नागरिक अधिकारों के लिए अस्पृश्यों के संघर्ष में अति महत्वपूर्ण सिद्ध होगा, क्योंकि नागरिक मामलों में अस्पृश्यता को लाना अवैध दीख पड़ेगा। चावदार तालाब विवाद में अस्पृश्यों की जीत कोई मामूली जीत नहीं थी। लेकिन एक प्रकार से वह निराशाजनक थी, क्योंकि बंबई उच्च न्यायालय ने इस प्रश्न का निर्णय नहीं किया कि अस्पृश्यता की प्रथा वैध थी या नहीं।

उसने मुकदमे का फैसला हिंदुओं के खिलाफ इस आधार पर दिया कि हिंदू यह सिद्ध नहीं कर सके कि तालाब के मामले में उन्होंने जिस प्रथा का हवाला दिया, वह अति प्राचीन थी। उसकी राय थी कि स्वयं प्रथा को सिद्ध नहीं किया जा सका। तालाब अस्पृश्यों के लिए खोल दिया गया। लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि अस्पृश्यों ने अपना उद्देश्य प्राप्त कर लिया। मुख्य मुद्दा यह था कि अस्पृश्यता की प्रथा वैध प्रथा थी या नहीं। दुर्भाग्य से उच्च न्यायालय ने उस प्रश्न पर निर्णय नहीं दिया। अतः अस्पृश्यों को अपना संघर्ष जारी रखना पड़ा।

III

सीधी कार्यवाही के इस इतिहास में जो दूसरा उल्लेखनीय प्रयास है, उसका संबंध नासिक के कालाराम मंदिर नामक प्रसिद्ध हिंदू मंदिर में अस्पृश्यों के प्रवेश से है। सीधी कार्यवाही के ये वे उदाहरण हैं, जिनका लक्ष्य विशिष्ट प्रयोजनों की प्राप्ति था। इस आंदोलन में सीधी कार्यवाही के दो मामले शामिल हैं। उनका उद्देश्य था कि हिंदू समाज-व्यवस्था को बारूद लगाकर समूल नष्ट कर दिया जाए। एक तो *'मनुस्मृति'* का जलाया जाना है। दूसरा है कि अस्पृश्यों ने सामूहिक रूप से कह दिया कि वे न तो हिंदुओं के मृत पशुओं को उठाएंगे और न ही उनकी खाल उतारेंगे।

'मनुस्मृति' को महाड में 20 दिसंबर 1927 को जलाया गया। यह समारोह इस अभियान का अंग था कि चावदार तालाब से पानी लेने के अधिकार को स्थापित किया जाए। *'मनुस्मृति'* को खुलेआम सार्वजनिक रूप से जलाया गया। इस अवसर पर अस्पृश्यों का एक सम्मेलन हुआ। *'मनुस्मृति'* को जलाने से पूर्व सम्मेलन ने कतिपय संकल्प पारित किए। इन संकल्पों ने अस्पृश्यों के आंदोलन के इतिहास में एक कीर्तिमान स्थापित किया है। अतः उन्हें नीचे उद्धृत किया जाता है :

संकल्प संख्या 1 — हिंदू के अधिकारों की घोषणा

इस सम्मेलन का यह दृढ़ मत है कि हिंदू समाज की वर्तमान दयनीय दशा केवल यह दर्शाती है कि किस प्रकार किसी समाज का पतन हो जाता है, जब वह सामाजिक अन्याय को सहन करने लगता है, गलत धार्मिक आस्थाओं का अनुसरण करने लगता है और आर्थिक अन्यायों का समर्थन करने लगता है। हिंदू समाज का पतन केवल इस कारण हुआ है कि आम लोगों ने यह जानने की चेष्टा नहीं की है कि किसी मानव के जन्मसिद्ध अधिकार क्या हैं। इसकी भी उन्होंने चेष्टा नहीं की है कि उन्हें मान्यता मिले और स्वार्थी लोगों के घटिया कारनामों और कुकृत्यों की अवज्ञा की जाए। हर

व्यक्ति का यह पुनीत कर्तव्य है कि वह जाने कि मानव के ये जन्मसिद्ध अधिकार क्या हैं, वह यह देखने का प्रयास करे कि मानव और मानव तथा वर्ग और वर्ग के बीच इस संघर्ष में वे पैरों तले कुचले न जाएं। हो सकता है कि हर हिंदू को यह पता न हो कि सम्मेलन की राय में मानव के जन्मसिद्ध अधिकार क्या हैं। अतः यह सम्मेलन संकल्प करता है कि वह उनकी सूची वाली निम्न उद्घोषणा जारी करे–

(i) सभी हिंदुओं की सामाजिक हैसियत जन्म से एक जैसी होती है। सामाजिक हैसियत की यह समता उनका एक ऐसा गुण है, जो मृत्यु-पर्यन्त बना रहता है। हो सकता है कि समाज में उनके कृत्यों की दृष्टि से उनमें विभेद और अंतर हों। लेकिन उनके कारण उनकी हैसियत में कोई अंतर नहीं होने चाहिएं। अतः यह सम्मेलन ऐसे किसी भी कार्य का विरोध करता है, भले ही वह जीवन के राजनीतिक, आर्थिक अथवा सामाजिक क्षेत्र में हों, जिसके कारण सामाजिक हैसियत में अंतर पैदा होता हो।

(ii) सभी राजनीतिक, आर्थिक अथवा सामाजिक परिवर्तनों का अंतिम लक्ष्य यही होना चाहिए कि सभी हिंदुओं की समान हैसियत ज्यों की त्यों बनी रहे। सम्मेलन का यह दृष्टिकोण है, अतः वह हिंदुओं के ऐसे समूचे साहित्य का, चाहे वह प्राचीन हो या आधुनिक, घोर विरोध करता है, जो हिंदू समाज-व्यवस्था में व्याप्त असमानता के घृणित सिद्धांत का किसी भी प्रकार समर्थन करता है।

(iii) समस्त सत्ता की स्रोत है, जनता। किसी व्यक्ति अथवा वर्ग का विशेषाधिकारों का दावा तब तक वैध नहीं होता, जब तक उसे जनता मान्यता न दे। अतः यह सम्मेलन हिंदुओं के कुछ वर्गों को प्राप्त सामाजिक तथा धार्मिक विशेषाधिकारों का खंडन करता है, क्योंकि वे वेदों, स्मृतियों और पुराणों पर आधारित हैं, न कि स्वतंत्र लोक-मत पर।

(iv) हर व्यक्ति का यह जन्मसिद्ध अधिकार है कि उसे काम करने और बोलने की आजादी हो। इस आजादी पर केवल इसलिए अंकुश लगाया जा सकता है कि उसकी आजादी किसी अन्य व्यक्ति के अधिकार में बाधा न डाले। इसके अलावा यह अंकुश केवल ज़नादेश से लगाया जा सकता है, हिंदू शास्त्रों की किसी निषेधाज्ञा से नहीं। अतः सम्मेलन धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक आजादी संबंधी उन सभी प्रतिबंधों का खंडन करता है, जो हिंदुओं के विचार और कर्म

पर लगाए गए हैं, क्योंकि उन्हें शास्त्रों ने लगाया है, जनता ने नहीं।

(v) हिंदुओं को जन्मसिद्ध अधिकारों के अलावा उनके अन्य अधिकारों से केवल कानून द्वारा ही वंचित किया जा सकता है। कानून जिसका निषेध नहीं करता, उसे करने की पूरी छूट हिंदू को होनी ही चाहिए और कानून जिसे बाध्यकारी नहीं ठहराता, उसे करने के लिए हिंदू को बाध्य नहीं किया जाना चाहिए। इस कारण व्यक्तियों के लिए ऐसी कोई रोक होनी ही नहीं चाहिए कि वे सार्वजनिक मंदिरों तथा अन्य सार्वजनिक सुविधाओं का उपयोग नहीं कर सकते। जिन मामलों पर कानून ने रोक नहीं लगाई है, उनमें जो रोक लगाते हैं, वे सम्मेलन की राय में जन-शत्रु हैं।

(vi) कानून किसी व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह का आदेश नहीं है। कानून तो परिवर्तन के लिए जनादेश है। ऐसी स्थिति में श्रद्धास्प्रद कानून को सबकी सहमति से ही बनाया जाए और निश्चय ही उसे बिना किसी भेदभाव के सब पर लागू किया जाए। जरूरी होने पर सामाजिक विभाजन समाज के हित में किए जा सकते हैं, लेकिन उसका एकमात्र आधार योग्यता (कर्म) हो, न कि जन्म। यह सम्मेलन हिंदू समाज-व्यवस्था का खंडन एक तो इस आधार पर करता है कि वह समाज का अहित करती है। दूसरा आधार यह है कि वह जन्म पर आधारित है। तीसरा यह कि उसे कोई जनादेश प्राप्त नहीं है।

संकल्प संख्या 2 — 'मनुस्मृति' की प्रति को भस्म करने की घोषणा

इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि हिंदुओं के लिए संहिता के रूप में मान्य '*मनुस्मृति*' में जो नियम दिए गए हैं, और जिनकी घोषणा हिंदू कानून के निर्माता मनु के नाम से की जाती है, वे मानव मात्र को उसके अधिकारों से वंचित करते हैं और उसके व्यक्तित्व को रौंदते हैं। समूचे सभ्य जगत में मान्य मानव अधिकारों से उनकी तुलना करते हुए इस सम्मेलन की राय है कि इस '*मनुस्मृति*' का आदर नहीं होना चाहिए और उसे पवित्र पुस्तक भी नहीं कहा जाना चाहिए तथा उसके प्रति घोर घृणा और अनादर व्यक्त करने के लिए यह सम्मेलन उसकी एक प्रति को भस्म करने का संकल्प करता है। यह कार्य सम्मेलन की समाप्ति पर धर्म की आड़ में सामाजिक असमता को बनाए रखने वाली प्रथा के प्रतिरोध में होगा।

इन संकल्पों को सरसरी तौर पर देखने से ही पता चल जाएगा कि सम्मेलन ने किस नीति को अपनाया। भले ही सम्मेलन अन्याय-विशेष को दूर करने के

लिए हुआ था, फिर भी उसने दिखा दिया कि वह छोटे-मोटे अन्यायों के प्रतिकार से ही संतोष नहीं कर लेगा। सम्मेलन को लगा कि अब समय आ गया है कि अस्पृश्यों के लक्ष्य का निर्धारण किया जाए। निर्धारित लक्ष्य अति दूरगामी प्रभाव वाला है। सम्मेलन ने घोषणा की कि अस्पृश्य चाहते हैं कि हिंदू समाज-व्यवस्था में आमूल परिवर्तन हों। उसने घोषणा की कि इस पुनर्निर्माण का भवन निश्चय ही शास्त्रों की पुरानी नीवों पर खड़ा नहीं किया जाएगा। उसने घोषणा की कि नए आधारों का जो भी रूप हो, उनका सुर निश्चय ही हिंदू और हिंदू के बीच न्याय और साम्य के सुर से मिलना चाहिए। इस बारे में भी कोई संदेह नहीं होना चाहिए कि उनके पुनर्निर्माण के मामले में वे हिंदू शास्त्रों की दुहाई की अनुमति नहीं देंगे। सम्मेलन ने न केवल उनका खंडन किया, बल्कि उसने तो उन्हें जलाकर भस्म भी कर दिया।

वह तो वाल्टेयर की उस निंदा की प्रतिध्वनि ही थी, जो उन्होंने कैथोलिक चर्च की अपने समय में की थी। पहली बार हिंदू समाज-व्यवस्था के विरुद्ध यह आवाज उठाई गई कि वह 'कुत्सित वस्तु के रूप में दयनीय' है। यह भी स्पष्ट है कि इन संकल्पों का स्वरूप नितांत क्रांतिकारी था।

हिंदू समाज-व्यवस्था को *'मनुस्मृति'* की चट्टान पर खड़ा किया गया है। वह हिंदू धर्म-ग्रंथों का अंश है। अतः वह सभी हिंदुओं के लिए पवित्र है। पवित्र होने के कारण वह अकाट्य और अजेय है। हर हिंदू उसे पवित्र मानता है और उसके आदेशों का पालन करता है। मनु न केवल जाति और अस्पृश्यता का समर्थन करता है, बल्कि उसे कानूनी मान्यता भी प्रदान करता है। *'मनुस्मृति'* को भस्म करना असीम साहस का काम था। वह तो हिंदू धर्म के गढ़ पर ही प्रहार था। *'मनुस्मृति'* में विसमता की भावना व्याप्त है और उसमें हिंदू जीवन-शैली तथा विचारधारा का आधार ठीक उसी प्रकार है, जिस प्रकार बेसिले फ्रांस में प्राचीन शासन–व्यवस्था की भावना का प्रतीक था। 1927 में महाड में अस्पृश्यों द्वारा *'मनुस्मृति'* की प्रति को जलाए जाने वाली घटना का अस्पृश्यों के मुक्ति के इतिहास में वही महत्व तथा सार्थकता है, जो फ्रांस और यूरोप में जन-मुक्ति के इतिहास में बेसिले के पतन का था।

स्वयं हिंदू समाज-व्यवस्था के ढांचे के विरुद्ध सीधी कार्यवाही की दूसरी मिसाल यह है कि अस्पृश्यों ने हिंदुओं के मृत पशुओं की खाल उतारने और उन्हें उठाने से इंकार कर दिया।

प्रायः अस्पृश्यों की निंदा इसलिए की जाती है कि अस्पृश्यता का अभिशाप तो उन्होंने स्वयं ओढ़ा है। इस आरोप का प्रमुख आधार यह बताया जाता है कि अस्पृश्यों ने यह धंधा अपनाया है कि वे हिंदुओं के मृत पशुओं को उठाते हैं,

उनकी खाल उतारते हैं और उनका सड़ा-गला मांस खाते हैं।

दलितों के अबी दुबोई जैसे महान मित्र ने भी मद्रास प्रेसिडेंसी के पेरियाओं (अस्पृश्यों) के बारे में लिखा है :

> अन्य मूल निवासियों के लिए मुख्य घृणा का विषय पेरियाओं का घिनौना भोजन है। सड़े-गले मांस की गंध से आकर्षित होकर उनकी भीड़ मृत पशु के चारों ओर एकत्र हो जाती है और वे उस सड़े मांस के लिए कुत्तों, गीदड़ों, कौओं तथा अन्य मांसाहारी पशुओं से हाथापाई करते हैं। फिर वे अर्ध-सड़े मांस को बांटकर अपनी-अपनी झोपड़ियों में ले जाते हैं। वहां वे उसे खाते हैं और प्रायः उसकी गंध को कम करने वाले किसी पदार्थ या भात के बिना ही चट कर जाते हैं। उन्हें इसकी परवाह नहीं होती कि पशु किसी रोग से ग्रस्त होकर मरा है। कभी-कभी तो वे चुपचाप गायों अथवा भैंसों को विष देकर मार डालते हैं, ताकि वे बाद में सड़े-गले अवशेषों की दावत उड़ा सकें। गांव में मरने वाले पशु के शव पर तोटी अथवा झाड़ू लगाने वाले का अधिकार होता है। वह उस मांस को बड़ी सस्ती कीमत पर पड़ोस के पेरियाओं को बेच देता है। इस प्रकार प्राप्त मांस को जब वे एक दिन में नहीं खा पाते, तो वे शेष मांस को धूप में सुखा लेते हैं और उसे अपनी झोंपड़ी में किसी आड़े वक्त के लिए रख लेते हैं। पेरियाओं के चंद घर ही ऐसे होते हैं, जहां इन घिनौने मांस के लोथड़ों की बंदनवार नहीं लटकी होती। भले ही स्वयं पेरियाओं पर इस दुर्गंध का प्रभाव नहीं दीख पड़ता, लेकिन उनके ग्राम के पास से गुजरने वाले यात्री तुरंत ही उसे पहचान लेते हैं और वे तुरंत ही बता सकते हैं कि वहां किस जाति के लोग रह रहे हैं। ...
>
> अभी जो कुछ बताया गया है, उसके बाद क्या हम इस बात पर अचरज कर सकते है कि अन्य जातियां उनसे घृणा करती हैं? क्या उनकी निंदा इस बात के लिए की जा सकती है कि वे इन बर्बरों से कोई वास्ता नहीं रखते अथवा उन्हें बाध्य करते है कि वे स्वयं को अलग-थलग रखें और अलग घरों मे रहें।

यह सच है कि इस धंधे ने हिंदुओं के मानस में उनके प्रति घृणा पैदा कर दी है। लेकिन अबी अथवा उनके तर्क को मानने वाले लोग दो अति महत्वपूर्ण प्रश्न उठाना भूल जाते हैं। एक तो यह कि अस्पृश्य सड़ा-गला मांस क्यों खाते हैं? क्या अस्पृश्यों को हिंदू इस बात की छूट देंगे कि वे उनके मृत पशुओं को उठाना और उनकी खाल उतारना बंद कर दें? पिछले एक अध्याय में इस प्रश्न का उत्तर दिया जा चुका है कि अस्पृश्य सड़ा-गला मांस क्यों खाते हैं?

यदि ताजा मांस उपलब्ध हो तो कोई भी सड़ा-गला मांस खाना पसंद नहीं

करेगा। अस्पृश्य सड़ा-गला मांस खाकर जिंदा रहते हैं, इसका कारण यह नहीं है कि वे उसे पसंद करते हैं। वे सड़ा-गला मांस इसलिए खाते हैं कि उनके पास जिंदा रहने के लिए और कोई साधन नहीं है। अस्पृश्यता के कारण उनके पास जीवन-निर्वाह का अन्य कोई उपाय नहीं होता। जो लोग इसे अनुभव करते हैं, उन्हें इस बात को समझने में कोई कठिनाई नहीं होगी। सभी धंधों के द्वार उनके लिए बंद होते हैं। उनके पास न तो भूमि होती है, जिसकी पैदावार पर वे जिंदा रह सकें। वे कोई व्यापार भी नहीं कर सकते। अतः उनके जीवन का मुख्य आधार वह भोजन होता है, जो वे गांव वालों से एकत्र करते हैं। इसके अलावा तो सड़ा-गला मांस ही उनके लिए शेष रहता है। सड़े-गले मांस के अभाव में तो वे वस्तुतः भूखे ही मर जाएंगे। अतः यह स्पष्ट है कि दोष अस्पृश्यों का नहीं है। यदि वे सड़ा-गला मांस खाते हैं, तो उसका कारण यह है कि हिंदुओं ने रोजी-रोटी कमाने का कोई सम्मानजनक रास्ता उनके लिए छोड़ा ही नहीं है।

दूसरे प्रश्न का उत्तर भी उतना ही स्पष्ट है। यदि अस्पृश्य लोग हिंदुओं के मृत पशुओं को उठाते हैं और उनकी खाल उतारते हैं, तो उसका कारण यह है कि उनके पास और कोई विकल्प नहीं होता। उन्हें विवश होकर ऐसा करना पड़ता है। यदि वे ऐसा करने से इंकार करते हैं तो उन पर जुर्माना किया जाता है। जुर्माना वैध है। कुछ प्रांतों में इस घिनौने काम को करने से इंकार करना ठेके को भंग करना है। अन्य प्रांतों में यह दंडनीय अपराध है और जुर्माना किया जा सकता है। बंबई जैसे प्रांतों में अस्पृश्य गांव के सेवक हैं। गांवों के सेवकों के रूप में उन्हें सरकार की सेवा करनी पड़ती है और हिंदुओं की भी। इस सेवा के बदले में उन्हें जमीनें दी जाती हैं। वे उनमें खेती करते हैं और उसकी उपज से अपनी जीविका चलाते हैं। अस्पृश्यों का एक कर्तव्य यह है कि वे गांवों में हिंदुओं के मृत पशुओं को उठाएं और उनकी खाल उतारें। यदि हिंदुओं के प्रति अस्पृश्य अपना कर्तव्य निभाने से इंकार कर दें, तो जिस भूमि से वे अपनी गुजर-बसर करते हैं, उसे जब्त किया जा सकता है। उन्हें दो में से एक को चुनना होता है कि या तो घिनौना कार्य करें या फिर भूखे मर जाएं।

संयुक्त प्रांत जैसे प्रांतों में जमादार यदि सफाई करने से इंकार कर दे, तो उसे अपराध माना जाता है। 1916 के संयुक्त प्रांत नगरपालिका अधिनियम II की धारा 201 में ये उपबंध हैं :

(क) यदि कोई जमादार जिसका किसी घर या भवन की घरेलू सफाई का प्रथागत अधिकार है (इसमें इसके पश्चात वह प्रथागत जमादार कहलाएगा), उचित ढंग से ऐसी सफाई नहीं करता है, तो घर या भवन का निवासी अथवा बोर्ड मजिस्ट्रेट से शिकायत कर सकता है।

(ख) मजिस्ट्रेट ऐसी शिकायत मिलने पर जांच कराएगा और यदि उसे दीख पड़े कि प्रथागत जमादार ने समुचित ढंग से या उचित अंतराल पर घर या भवन की सफाई नहीं की है, तो वह ऐसे जमींदार पर 10 रुपये तक का जुर्माना कर सकता है और यदि उसी घर या भवन के बारे में दूसरी अथवा बाद की कोई दोषसिद्धि हो, तो वह यह निर्देश भी दे सकता है कि घर अथवा भवन की घरेलू सफाई का प्रथागत जमादार का अधिकार जब्त कर लिया जाए और उसके फलस्वरूप ऐसा अधिकार जब्त हो जाएगा।

ठीक ऐसा ही उपबंध 1911 के पंजाब नगरपालिका अधिनियम की धारा 165 में पाया जाता है। पंजाब अधिनियम, संयुक्त प्रांत अधिनियम से इस अर्थ में बढ़कर है कि वह उस जमादार के लिए भी दंड की व्यवस्था करता है, जो प्रथागत जमादार न होकर ठेके पर काम करने वाला जमादार होता है। पंजाब अधिनियम में कहा गया है :

(ग) यदि प्रथागत जमादार के अलावा कोई जमादार जो किसी ठेके के अधीन किसी घर या भवन की घरेलू सफाई करता है, अपने नियोजक को 14 दिन का नोटिस दिए बिना अथवा उचित कारण के बिना ऐसी घरेलू सफाई करना बंद कर देता है, तो दोषसिद्धि हो जाने पर उस पर 10 रुपये तक का जुर्माना किया जा सकता है। धारा 165 के अधीन जब्ती के हर आदेश पर अगली बड़ी अदालत में अपील नहीं की जा सकेगी।

लोगों को यह पढ़कर धक्का लग सकता है कि ऐसा कानूनी उपबंध है, जो बेगार को मान्यता देता है। निस्संदेह यह गुलामी है। गुलामी और स्वतंत्र श्रम में अंतर है। गुलामी के अधीन सेवा संबंधी ठेके को तोड़ना ऐसा अपराध है, जिसके लिए जुर्माना या जेल की सजा दी जा सकती है। स्वतंत्र श्रम के अधीन सेवा के ठेके को तोड़ना केवल सिविल (दीवानी) दोष है। उसके लिए श्रमिक को केवल हर्जाना देना पड़ेगा। इस कसौटी के अनुसार सफाई का कर्म एक वैध दायित्व है। वह अस्पृश्यों पर थोपा गया है और उससे वे बच नहीं सकते।

इन परिस्थितियों में अस्पृश्यों पर कैसे यह आरोप लगाया जा सकता है कि वे यह घिनौना कर्म अपनी इच्छा से कर रहे हैं।

यह प्रश्न वास्तव में संगत नहीं है कि अस्पृश्यों पर यह आरोप लगाया जा सकता है या नहीं कि हिंदुओं के इस घिनौने कार्य को करके उन्होंने स्वयं अस्पृश्यता के अभिशाप को न्यौता दिया है। उल्लेखनीय बात तो यह है कि महाड

में अस्पृश्यों के सम्मेलन ने संकल्प किया कि न तो कोई अस्पृश्य हिंदुओं के मृत पशुओं की खाल उतारेगा, न ही उसे उठाएगा और न उसके सड़े-गले मांस को खाएगा। इन संकल्पों का दोहरा उद्देश्य था। एक तो यह था कि अस्पृश्यों में आत्म-सम्मान और आत्म-प्रतिष्ठा का भाव जगाया जाए। यह गौण उद्देश्य था। प्रमुख उद्देश्य था, हिंदू समाज-व्यवस्था पर करारा प्रहार। हिंदू समाज-व्यवस्था श्रम के विभाजन पर टिकी है। वह हिंदुओं के लिए स्वच्छ और सम्मानजनक धंधे आरक्षित करती है और घिनौने तथा घटिया धंधे अस्पृश्यों के मत्थे मढ़ती है। इस प्रकार वह हिंदुओं को यश का भागी बनाती है और अस्पृश्यों को अपयश के गर्त में धकेलती है। संकल्प, हिंदू समाज-व्यवस्था की इस कुचेष्टा के विरुद्ध विद्रोह था। इनका उद्देश्य था कि हिंदू अपने घिनौने धंधे खुद अपने हाथों से करें।

यह है, हिंदुओं की स्थापित व्यवस्था के विरुद्ध अस्पृश्यों के विद्रोह के इतिहास का संक्षिप्त विवरण। इसकी शुरुआत तो बंबई में हुई, पर यह भारत के सभी भागों में फैल गया है।

8

असहाय स्थिति

I. अस्पृश्यों के विद्रोह के प्रति हिंदुओं की प्रतिक्रिया,

II. निर्मम दमन के लिए अवैध साधन,

III. अस्पृश्य—एक कमजोर शक्ति,

IV. निर्लज्ज पक्षपाती अधिकार, और

V. अस्त्र को कुंठित कर दिया गया।

I.

अस्पृश्यों का विद्रोह बताता है कि किस प्रकार पुरानी व्यवस्था समाप्त हो रही है और नई व्यवस्था शुरू हो रही है। इस विद्रोह के प्रति हिंदुओं की क्या प्रतिक्रिया है? जो कोई इसके बारे में कुछ भी जानता है, वह बिना किसी संकोच के इस प्रश्न का उत्तर दे सकता है, क्योंकि यह स्पष्ट है कि उनका रवैया विरोध का है। यह समझने में तो कठिनाई हो सकती है कि हिंदू क्यों विरोध करते हैं, लेकिन इस बारे में कोई शंका नहीं हो सकती है कि वे विरोध करते हैं।

किन कारणों से हिंदू अस्पृश्यों के इस अधिकार-संघर्ष का विरोध करते हैं, उन्हें समझना सरल हो जाएगा, यदि सवर्ण हिंदुओं और अस्पृश्यों के वर्तमान संबंधों की कतिपय महत्वपूर्ण बातों को ध्यान में रखा जाए।

जिस सर्वप्रथम तथा सर्वोपरि बात को सदैव याद रखना ही होगा, वह है स्पृश्यों और अस्पृश्यों के बीच की स्पष्ट विभाजन रेखा। हर गांव दो भागों में बंटा होता है, स्पृश्यों के घर और अस्पृश्यों के घर। भौगोलिक दृष्टि से ये दोनों भाग बिल्कुल अलग होते हैं। सदा ही दोनों के बीच काफी दूरी होती है। किसी भी स्थिति में दोनों प्रकार के घर अगल-बगल नहीं होते और न ये पास ही होते हैं। अस्पृश्यों के घरों के नितांत अलग नाम होते हैं, जैसे महारवाड़ा, मांगवाड़ा,

चमरोट्टी, खाटिकाना, आदि। कानूनी तौर पर राजस्व प्रशासन या डाक संदेश के लिए अस्पृश्यों के घर गांव का हिस्सा माने जाते हैं, लेकिन असलियत में वे गांव से अलग होते हैं। गांव में रहने वाला हिंदू जब गांव की बात करता है तो उसका आशय उसमें केवल सवर्ण हिंदू निवासियों को शामिल करना होता है, जो स्थानीयं रूप से वहां रहते हैं। इसी प्रकार जब कोई अस्पृश्य गांव की बात करता है तो उसका आशय उस गांव में से अस्पृश्यों और उनके घरों से रहित गांव से होता है। यह जरूरी नहीं कि इन दोनों को मिलाकर ही गांव बने। इस प्रकार हर गांव में स्पृश्यों और अस्पृश्यों के दो अलग-अलग समूह होते हैं। उनमें कोई समानता नहीं होती। उनका एकल जनसमूह नहीं होता। यह पहली ध्यान देने योग्य बात है।

गांव में इस प्रकार के विभाजन के बारे में दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि ये समूह स्वयं में अलग-थलग एक इकाई होते हैं और कोई भी एक-दूसरे को अपने में शामिल नहीं करता। यह ठीक ही कहा गया है कि अमरीका या यूरोप में रहने वाला व्यक्ति विभिन्न प्रकार के समूहों का होता है और वह उनमें से अधिकांश का सदस्य बनता है। वह निश्चय ही एक परिवार में जन्म लेता है, लेकिन वह उस परिवार में सारी जिंदगी रहने के बजाए जब तक चाहे तभी तक उस परिवार में रहता है। वह कोई भी व्यवसाय या कोई भी निवास स्थान चुन सकता है, किसी के भी साथ विवाह कर सकता है, किसी भी राजनीतिक दल में शामिल हो सकता है। वह किसी दूसरे के द्वारा किए गए कार्य के बजाए केवल अपने कार्यों के लिए जिम्मेदार होता है। वह पूर्ण अर्थ में 'व्यक्ति' होता है, क्योंकि उसके सभी संबंध और सभी कार्य उसी के द्वारा अपने लिए निर्धारित होते हैं। लेकिन स्पृश्य अथवा अस्पृश्य व्यक्ति किसी भी अर्थ में 'व्यक्ति' नहीं होता, क्योंकि उसके सभी या लगभग सभी संबंध तभी निश्चित हो जाते हैं, जब उसका जन्म किसी वर्ग-विशेष में हो जाता है। उसका व्यवसाय, उसका निवास उसकी राजनीति, आदि सभी-कुछ उस वर्ग द्वारा उसके लिए निश्चित हो जाते हैं, जिसमें उसका जन्म हो गया होता है। ये स्पृश्य और अस्पृश्य व्यक्ति एक-दूसरे से जब मिलते हैं तो इस तरह नहीं मिलते जैसे एक इंसान दूसरे इंसान से मिल रहा होता है, बल्कि वे ऐसे मिलते हैं जैसे एक समुदाय का व्यक्ति दूसरे समुदाय से या दो विभिन्न राष्ट्रों के व्यक्ति आपस में मिल रहे हों।

गांव में स्पृश्यों और अस्पृश्यों के आपसी संबंधों पर इस बात का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। यह संबंध उन्हीं के सदृश होते हैं जैसे आदिम-काल में दो विभिन्न कबीलों के बीच होते थे। आदिम समाज में एक कबीले के व्यक्ति यह दावा करते थे कि वही हर चीज के अधिकारी हैं और बाहरी व्यक्ति के रूप में बाहरी व्यक्ति के ऊपर कृपा तो की जा सकती है, लेकिन वह अपने कबीले के अलावा किसी

अन्य कबीले से 'न्याय' की गुहार नहीं कर सकता। एक कबीले के साथ दूसरे कबीले के संबंध युद्ध या मैत्री के संबंध समझे जाते थे, न कि किसी कानून के संबंध। और जो व्यक्ति किसी कबीले का नहीं होता था, वह 'बाहरी' समझा जाता था... असलियत में और नाम से भी। इसलिए बाहरी व्यक्तियों के विरुद्ध कानून की अनदेखी कर व्यवहार करना कानून में जायज था। चूंकि अस्पृश्य व्यक्ति स्पृश्यों के वर्ग का सदस्य नहीं है, इसलिए वह बाहरी व्यक्ति है। उससे उनका कोई संबंध नहीं है। वह कानून के लाभ से बहिष्कृत व्यक्ति है। वह ऐसे न्याय अथवा अधिकार की मांग नहीं कर सकता, जिसे स्पृश्य के लिए आदर की दृष्टि से देखना अनिवार्य है।

तीसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि स्पृश्यों और अस्पृश्यों के बीच निश्चित संबंध होते हैं। यह हैसियत का सवाल बन गया है। निश्चय ही इस कारण स्पृश्यों के मुकाबले अस्पृश्यों को हीन स्थिति में रखा गया है। यह हीनता सामाजिक आचार-संहिता में वर्णित है और अस्पृश्यों को उसका पालन करना ही चाहिए। वह संहिता कैसी है, उसका उल्लेख किया जा चुका है। अस्पृश्य उसका पालन नहीं करना चाहता। वह यह मानने के लिए तैयार नहीं कि जिसके पास लाठी है, भैंस भी उसी की है। अस्पृश्य चाहते हैं कि स्पृश्यों के साथ उनके संबंध किसी सहमति पर आधारित हों। लेकिन स्पृश्य चाहते हैं कि अस्पृश्य निश्चित दर्जे के नियमों के अनुसार चलें और उससे ऊपर उठने की कोशिश न करें। इस प्रकार गांव के दो वर्ग, अर्थात स्पृश्य और अस्पृश्य, उस व्यवस्था को पुनः व्यवस्थित करने के लिए संघर्षरत हैं, जिसे स्पृश्य समझते हैं कि यह हमेशा के लिए निर्णीत हो चुकी है। यह संघर्ष इस प्रश्न को लेकर है कि इस संबंध का आधार क्या हो? क्या इसका आधार कोई समझौता हो या उसका आधार हैसियत को माना जाए?

यही वह प्रश्न है, जिसने हिंदुओं को उत्तेजित कर रखा है। अस्पृश्यों के विद्रोह को हिंदू इस दृष्टि से नहीं देखता कि यह अस्पृश्यों का अपनी सामाजिक और आर्थिक उन्नति के लिए एक प्रयास है। हिंदू का विचार है कि यह प्रयास उसके विरुद्ध है और उसकी बराबरी पर आने का प्रयास है। यही उसके विरोध का कारण है।

II

हिंदुओं का प्रतिरोध सोचा-समझा प्रतिरोध है। वे इस विद्रोह को हर हालत में दबा देना चाहते हैं। इसके लिए वे कुछ भी करने और किसी भी सीमा तक जाने के लिए तैयार हैं। अस्पृश्यों के विद्रोह का जवाब हिंदुओं ने भी अपने आक्रमण के पत्थर से दिया है। अस्पृश्यों के इस विद्रोह का दमन हिंदुओं ने कितनी क्रूरता से किया है, वह एक दो उदाहरणों से स्पष्ट हो जाएगा।

सार्वजनिक स्थान से पानी लेने के अपने अधिकार को जताने के लिए महाड के चावदार तालाब पर जब अस्पृश्य गए तो उन पर हमला किया गया। अस्पृश्य सम्मेलन में भाग लेने के लिए आए थे और वे तालाब पर जाने वाले जुलूस में शामिल हुए थे। *'बोंबे क्रानिकल'* में इस हमले का वर्णन इस प्रकार किया गया है :

> जुलूस में अशांति का कोई चिन्ह नहीं था और सब-कुछ पूर्ण शांति से चल रहा था। लेकिन दो घंटे के बाद नगर के कुछ दुष्टमना नेताओं ने यह गलत अफवाह उड़ा दी कि दलित वर्ग के लोग वीरेश्वर मंदिर में प्रवेश करने की योजना बना रहे हैं। इस पर डंडों से लैस दंगाइयों की भारी भीड़ इकट्ठा हो गई। शीघ्र ही भीड़ ने आक्रामक रवैया अपना लिया। तुरंत ही समूचा नगर उपद्रवियों का उफनता सागर-सा बन गया। लगता था, जैसे वे दलित वर्ग के लोगों के खून के प्यासे हों!
>
> दलित वर्ग के लोग अपने-अपने गांवों को लौटने से पूर्व भोजन कर रहे थे। जब उनमें से अधिकांश नगर से चले गए तो उपद्रवी उस रसोईघर में घुस गए, जहां दलित वर्ग के लोग खाना खा रहे थे। दोनों वर्गों के बीच घमासान संघर्ष छिड़ जाता, लेकिन दलित वर्गों को उनके नेताओं ने रोक दिया। अतः बहुत ही गंभीर दंगा टल गया। जब उपद्रवियों को उत्तेजना का कोई बहाना नहीं मिला तो वे मुख्य सड़क पर घूमने लगे और दलित वर्गों के उन इक्के-दुक्के जत्थों को मारने-पीटने लगे, जो अपने घरों को वापस लौट रहे थे। वे जबरदस्ती कई दलित वर्गों के लोगों के घरों में घुस गए और उन्होंने उनकी जमकर पिटाई की। अनुमान है कि कुल मिलाकर दलित वर्गों के कोई बीस लोग घायल हो गए। इस घटना में जहां दलित वर्गों के लोगों का रवैया प्रशंसनीय था, वहां उच्च वर्गों के अनेक लोगों का रवैया अशोभनीय था। दलित वर्गों के एकत्रित लोगों की संख्या उच्च वर्गों के लोगों से बहुत अधिक थी। लेकिन उनके नेताओं का उद्देश्य था कि हर काम नितांत संवैधानिक तथा अहिंसात्मक ढंग से हो। अतः उन्होंने प्रयास किया कि दलित वर्ग के लोगों की ओर से कोई आक्रमण न हो। इसके लिए दलित वर्गों की जितनी प्रशंसा की जाए, वह थोड़ी है। भले ही उनके सामने उत्तेजना का पहाड़ था, पर उन्होंने अपना संयम बनाए रखा। महाड सम्मेलन ने बता दिया है कि उच्च वर्ग नहीं चाहते कि सार्वजनिक स्थानों से पानी लेने जैसे प्रारंभिक नागरिक अधिकार भी दलित वर्ग प्राप्त करें।

महाड और कोलाबा जिले के सवर्ण हिंदुओं के आचरण का सर्वाधिक निंदनीय पक्ष यह था कि तुरंत विभिन्न गांवों में संदेश भेजे गए और उच्च-वर्ग के लोगों से कहा गया कि जैसे ही दलित वर्ग के प्रतिनिधि सम्मेलन से

अपने-अपने गांव लौटें, उन्हें दंड दिया जाए। इस आदेश के अनुसार सम्मेलन के बाद अपने गांव पहुंचने से पूर्व या पहुंचने के बाद अनेक महारों पर हमला किया गया। वहां दलित वर्गों को यह घाटा है कि सवर्ण हिंदुओं के मुकाबले उनकी संख्या नहीं के बराबर है। दलित वर्गों के नेताओं ने अधिकारियों से सुरक्षा की अपील की है और जिला पुलिस अधीक्षक समेत जिला अधिकारी मौके पर जांच-पड़ताल कर रहे हैं। लेकिन यह कहना ही पड़ेगा कि यदि रेजीडेंट मजिस्ट्रेट दो घंटे के मूल्यवान समय तक हाथ-पर-हाथ धरकर न बैठा रहता तो संभव था कि दंगे की नौबत नहीं आती।

कालाराम मंदिर सत्याग्रह के कारण अस्पृश्यों पर जो हमला किया गया, वह भी कम गंभीर नहीं था।

तीसरा उदाहरण अभी हाल का है। वह हमला 1935 में बंबई प्रेसिडेंसी के अहमदाबाद जिले के धोल्का तालुका में कवीथा नामक गांव में हुआ।

बंबई सरकार ने आदेश जारी किए कि सार्वजनिक स्कूलों में अस्पृश्यों के बच्चे दाखिल किए जाएं। उसके बारे में समाचार है[1]:

आठ अगस्त 1935 को कवीथा गांव के अस्पृश्य अपने चार बच्चों को स्कूल में दाखिल कराने के लिए ले गए। इसे देखने के लिए गांव के बहुत से सवर्ण हिंदू स्कूल के चारों तरफ जमा हो गए। दाखिले की कार्यवाही शांतिपूर्वक संपन्न हो गई और कोई अप्रिय घटना नहीं हुई। लेकिन अगले दिन गांव के सवर्ण हिंदुओं ने अपने-अपने बच्चों को उस स्कूल से हटा लिया, क्योंकि वे नहीं चाहते थे कि उनके बच्चे अस्पृश्यों के बच्चों के साथ पढ़ें और उन्हें छूत लग जाए।

उसके कुछ समय पश्चात एक ब्राह्मण ने गांव के एक अस्पृश्य पर हमला किया। 12 अगस्त को गांव के अस्पृश्य लोग उस ब्राह्मण के खिलाफ मजिस्ट्रेट की कचहरी में फौजदारी की शिकायत लिखवाने के लिए धोल्का पहुंचे। जब गांव के हिंदुओं को पता चला कि अस्पृश्यों के बालिग लोग गांव में नहीं हैं, तो उन्होंने अस्पृश्यों के घरों पर हमला कर दिया। वे डंडों, भालों और तलवारों से लैस थे। हमलावरों में सवर्ण हिंदू महिलाएं भी शामिल थीं। उन्होंने अस्पृश्य बूढ़ों और औरतों को मारना-पीटना शुरू कर दिया।

इनमें से कुछ तो जंगलों में भाग गए, कुछ अपने घरों के भीतर दरवाजे बंद करके छिप गए। इन हमलावरों ने अपना गुस्सा उन अस्पृश्यों पर उतारा,

1. घटना का यह विवरण उस विवरण का अनुवाद है जो मेरे पास धोल्का के नवयुग मंडल के मंत्री ने भेजा है।

जिनके बारे में शक था कि उन्होंने गांव के स्कूल में अपने बच्चों को भर्ती कराने के मामले में अगुवाई की थी। वे दरवाजे तोड़कर भीतर घुस गए और जब घरों के भीतर कोई नहीं मिला, तो उन्होंने घरों की छतों की खपरैल और धन्नियां तहस-नहस कर दीं।

जिन अस्पृश्यों को मारा-पीटा गया, वे आतंकित थे। वे अपने उन बड़े-बूढ़ों की सुरक्षा के बारे में चिंतित थे, जो धोल्का गए हुए थे और उसी रात्रि को लौटने वाले थे। सवर्ण हिंदुओं को तो पता था कि अस्पृश्यों के जो नेता धोल्का गए हुए हैं, वे रात को किसी समय लौटेंगे। अतः वे हथियारों से पूरी तरह लैस होकर अस्पृश्यों पर हमला करने के लिए गांव से बाहर चले गए। वे गांव के रास्ते में झाड़ियों में छिपकर बैठ गए। जब एक अस्पृश्य वृद्धा को इसका पता चला तो वह रात के अंधेरे में छिपकर गांव के बाहर निकल गई। वह गांव वापस आ रहे नेताओं से मिली। उसने उन्हें बता दिया कि सवर्ण हिंदुओं की सशस्त्र टोलियां उनकी घात में छिपी बैठी हैं। अतः उन्हें गांव में नहीं आना चाहिए। उन्होंने यह सोचकर वृद्धा की बात को अनसुनी कर दिया कि उनकी गैर-हाजिरी में तो सवर्ण हिंदू और अधिक जुल्म ढा सकते हैं। साथ ही उन्हें डर था कि यदि वे गांव में गए तो उन पर हमला हो सकता है। अतः उन्होंने फैसला किया कि वे मध्य-रात्रि के बाद तक गांव के बाहर खेतों में प्रतीक्षा करेंगे। इधर सवर्ण हिंदुओं की जो टोलियां घात में बैठी हुई थीं, वे प्रतीक्षा करती रहीं और अंत में वे चली गईं। अस्पृश्यों के नेता गांव में प्रातः कोई तीन बजे के बाद घुसे। यदि वे इससे पूर्व आते और कातिल टोलियों के हत्थे चढ़ जाते, तो हो सकता था कि उन्हें मौत के घाट उतार दिया जाता। जान व माल की क्षति देखकर पौ फटने से पहले ही वे गांव छोड़कर अहमदाबाद के लिए रवाना हो गए और वहां उन्होंने हरिजन सेवक संघ के मंत्री को सूचना दे दी। यह संस्था वही है, जो गांधी ने अस्पृश्यों के कल्याण के लिए स्थापित की है। लेकिन मंत्री भी लाचार था। सवर्ण हिंदुओं ने न केवल मारपीट की, बल्कि उन्होंने ऐसी साजिश भी की कि अस्पृश्यों का जीना ही दूभर हो जाए। उन्होंने अस्पृश्यों को मजदूरी पर रखने और उन्हें खाने की चीजें बेचने से भी मना कर दिया। वे अस्पृश्यों के मवेशियों को चरने देने से रोकने लग गए हैं और जब-तब मौका पाकर अस्पृश्य औरतों और आदमियों को मारने-पीटने लगे हैं। यही नहीं, अपने उन्माद में सवर्ण हिंदुओं ने उस कुएं में मिट्टी का तेल डाल दिया, जिससे अस्पृश्य अपने पीने का पानी लिया करते हैं। ऐसा उन्होंने कई दिनों तक किया। इसका नतीजा यह हुआ कि गांव के अस्पृश्य पीने के पानी के लिए तरस गए। जब नौबत यहां तक पहुंच गई, तो अस्पृश्यों ने सोचा कि इस

बारे में मजिस्ट्रेट के यहां फौजदारी का मामला दायर कर दिया जाए। उन्होंने यह मुकदमा 17 अक्तूबर को दायर कर दिया। यह मुकदमा सवर्ण हिंदुओं के खिलाफ दायर किया गया है।

इस मामले में सबसे अजीब पक्ष श्री गांधी और उनके सहयोगी वल्लभभाई पटेल की भूमिका का है। श्री गांधी ने यह पूरी घटना जानते हुए कि कवीथा गांव के सवर्ण हिंदुओं ने अस्पृश्यों पर क्या-क्या अत्याचार और जुल्म किए थे, अस्पृश्यों को केवल यही सलाह देना ही काफी समझा कि अस्पृश्य गांव छोड़ दें। उन्होंने तो इतना भी सुझाव नहीं दिया कि उपद्रवियों को अदालत के कटघरे में खड़ा किया जाए। उनके सहयोगी वल्लभभाई पटेल की भूमिका तो और भी विचित्र रही। वह सवर्ण हिंदुओं को यह समझाने गए कि वे अस्पृश्यों पर जुल्म न करें। लेकिन सवर्णों ने उनकी एक न सुनी। फिर भी इन्हीं महाशय ने अस्पृश्यों की इस बात का विरोध किया कि हिंदुओं पर मुकदमा दायर किया जाए और अदालत से उन्हें सजा दिलाई जाए। उनके विरोध की परवाह न करते हुए अस्पृश्यों ने शिकायत दर्ज कराई। लेकिन अंततः श्री पटेल ने अस्पृश्यों को विवश किया कि वे सवर्ण हिंदुओं के खिलाफ अपनी शिकायत वापस ले लें। उन्होंने एक प्रकार के वायदे का नाटक रचा कि हिंदू छेड़छाड़ नहीं करेंगे। यह एक ऐसा वायदा था, जिसे अस्पृश्य कभी लागू नहीं करवा सकते। नतीजा यह हुआ कि अस्पृश्यों ने अत्याचार सहा और उन पर अत्याचार करने वाले लोग श्री गांधी के मित्र, श्री वल्लभभाई पटेल की मदद से बचकर साफ निकल गए।

सवर्ण हिंदू अस्पृश्यों पर यह क्रमबद्ध अत्याचार छोटे-मोटे मामलों में भी करते रहते हैं, जैसे उन्हें अच्छे कपड़े और जेवर नहीं पहनने दिए जाते।

III

अंत में कौन जीतेगा, यह एक दिलचस्प अटकल है। जो लोग अस्पृश्यों के आंदोलन की अगुवाई कर रहे हैं, वे स्थिति को सावधानी से निरख-परख रहे हैं। अंततः नतीजा जो भी हो, पर एक बात स्पष्ट है कि इस संघर्ष में अस्पृश्यों का पलड़ा हल्का है।

हिंदुओं के साथ इस संघर्ष में सदैव अस्पृश्यों को ही दबाया जाता है। जब भी हिंदू अराजकता पर उतर आते हैं तो अस्पृश्य सदा ही असहाय हो जाते हैं। सवाल यह है कि सदैव उन्हें ही क्यों दबाया और मारा-पीटा जाता है? यह महत्वपूर्ण सवाल है, और इसका जवाब दिया जाना चाहिए।

सवर्ण हिंदुओं के साथ इस संघर्ष में अस्पृश्य क्यों असहाय स्थिति में रहते

हैं, इसके कारण नितांत स्पष्ट हैं। एक तो यह है कि जहां तक संख्या का संबंध है, दोनों समूह बराबर के जोड़ के नहीं हैं। किसी भी गांव में सवर्ण हिंदुओं की तुलना में अस्पृश्यों की संख्या अधिक नहीं है। अधिकांशतः उनके कुछ ही परिवार होते हैं, और उनकी संख्या इतनी नगण्य होती है कि वे सवर्ण हिंदुओं के किसी हमले का सामना नहीं कर सकते। भले ही अस्पृश्यों की संख्या पांच करोड़ है और वह काफी बड़ी संख्या दीख पड़ती है, पर वास्तव में वे भारत-भर के गांवों में बिखरे हुए हैं। अतः हर गांव में वे अति अल्प संख्या में हैं और उनकी तुलना में सवर्ण हिंदुओं का भारी बहुमत है। सामरिक महत्व की दृष्टि से देखा जाए तो वे इतनी बुरी तरह बिखरे हुए हैं कि वे सवर्ण हिंदुओं पर हावी नहीं हो सकते, अपितु सवर्ण हिंदू ही उन पर हावी होंगे।

जहां तक संख्या का संबंध है, कुछ प्रांतों के गांवों में मुसलमानों की स्थिति भी अस्पृश्यों जैसी ही है। वे भी गांवों में बिखरे हुए हैं और कुछ गांवों में तो उनकी संख्या अस्पृश्यों की संख्या से भी कहीं कम है, फिर भी मुसलमानों को अस्पृश्यों की भांति हिंदुओं से असुविधाएं तथा अपमान नहीं झेलने पड़ते। यह कुछ विचित्र-सी बात है, क्योंकि हिंदुओं और मुसलमानों के बीच भी उतना ही गहरा मनमुटाव है, जितना कि हिंदुओं और अस्पृश्यों के बीच। व्यवहार से यह अंतर एक लाभ के कारण है। मुसलमानों को यह लाभ मिलता है, पर अस्पृश्यों को नहीं मिलता।

सभी प्राचीन समाजों का यह नियम था कि अजनबी पवित्र हैं। अनादर और आघात से उसके व्यक्तित्व की रक्षा की ही जानी चाहिए। रोमनों के आतिथ्य संबंधी अपने नियम थे और अजनबी के प्रति कर्तव्य, रिश्तेदार के प्रति कर्तव्यों से भी कठोर थे। प्लेटो कहते हैं, 'जिसमें सावधानी का जरा-सा भी कतरा बाकी है, वह इस बात का भरसक प्रयास करेगा कि वह जीवन-भर अजनबी के प्रति पापाचरण नहीं करेगा।' यह विचित्र बात है कि किसी अजनबी के व्यक्तित्व को इतनी पवित्रता प्रदान की जाए। इसमें संदेह नहीं कि अजनबी के व्यक्तित्व के प्रति यह पवित्रता विशुद्ध दयाभाव से नहीं उपजी थी। सामूहिक जीवन का समूचा आचरण समूह से बाहर के लोगों के प्रति सामान्य सहानुभूति का विरोध करता है। अजनबी को क्यों पवित्र और उसके व्यक्तित्व को क्यों अलंघनीय माना गया, इसका वास्तविक कारण यह था कि वह विरोधी समूह का होता था और यदि उसे कोई क्षति पहुंचाई जाती, तो निश्चित था कि रक्तपात होता ही। रक्तपात के भय के कारण ही अजनबी के प्रति यह रुख अपनाया गया।

यही बात गांव के मुसलमानों पर लागू होती है। हिंदुओं की नजरों में वह अजनबी होता है। लेकिन हिंदू उसे छेड़ने की हिम्मत नहीं करते, क्योंकि वे जानते

है कि यदि उसे कोई क्षति पहुंचाई गई तो प्रतिशोध में मुसलमान हिंदुओं का खून बहा देंगे। हिंदुओं और मुसलमानों के बीच सांप्रदायिक दंगों में वास्तव में खून-खराबे होते हैं और वे तभी होते हैं, जब किसी मुसलमान अथवा किन्ही मुस्लिम हितों को क्षति पहुंचाई जाती है। रक्तपात के इस भय के कारण ही हिंदुओं के गांव में मुसलमान का जीवन सुरक्षित बना रहता है।

यदि किसी अस्पृश्य को क्षति पहुंचाई जाए तो उसका प्रतिशोध लेने वाला है ही नहीं। रक्तपात का कोई भय है ही नहीं। अतः अस्पृश्यों के प्रति हिंदू कोई भी अन्याय कर सकते हैं और दंड से बच निकलते हैं। इसका कारण है कि मुसलमान एकजुट हैं। वे गहरी मानसिक चेतना से परस्पर आबद्ध हैं। यदि उनके संप्रदाय या किसी व्यक्ति के प्रति कोई अन्याय किया जाए, तो वे एक होकर उस अन्याय का प्रतिकार करने के लिए तैयार हो जाते हैं। दूसरी ओर, अस्पृश्य असंगठित हैं। वे जात-पांत के बंधन से जकड़े हुए हैं। सवर्ण हिंदू की भांति वे भी जात-पांत में विश्वास करते हैं। इस जात-पांत से अस्पृश्यों के बीच आपसी द्वेष और होड़ पैदा हो गई है। उसकी वजह से संयुक्त कार्रवाई असंभव हो गई है। मुसलमानों के बीच भी जात-पांत है। अस्पृश्यों की भांति वे भी समूचे देश में बिखरे हुए हैं। लेकिन उनका मजहब उनके बीच उन्हें जोड़ने वाला मजबूत धागा है। उनका मजहब उन्हे सिखाता है कि वे सब मुस्लिम संप्रदाय के भाग हैं। अस्पृश्यों के मानस में ऐसी भावना भरने वाला कोई भाव नहीं है। एकजुटता की भावना के अभाव में अस्पृश्य खंडों में बंटे हुए हैं। उन्हें जोड़ने वाली कोई चीज नहीं है। अतः उनकी संख्या उनके लिए बेकार है।

गांव के अस्पृश्य अधिकांशतः या तो गांव के सेवक हैं या भूमिहीन मजूर हैं। गांव के सेवक के रूप में वे अपने भरण-पोषण के लिए हिंदुओं पर आश्रित हैं। वे घर-घर जाकर हर रोज हिंदुओं से रोटी या रांधा गया भोजन प्राप्त करते हैं। बदले में वे हिंदुओं की कुछ प्रथागत सेवाएं करते हैं। यह उनके पारिश्रमिक का एक अंश है। अंशतः वे अपने पारिश्रमिक के रूप में हिंदुओं के घरों से फसल की कटाई पर अनाज भी प्राप्त करते हैं। जब भी हिंदुओं और अस्पृश्यों के बीच कोई मतभेद होता है, तो पहला काम हिंदू यह करते हैं कि वे अस्पृश्यों को रोटी और कटाई के हिस्से का उनका अनाज नहीं देते। वे अस्पृश्यों को किसी काम पर भी नहीं लगाते। नतीजा यह होता है कि संघर्षरत अस्पृश्यों को भुखमरी का सामना करना पड़ता है।

अस्पृश्यों के पास गांव में जीविका का कोई साधन नहीं रह जाता। वह दूध या सब्जी बेचने जैसा कोई धंधा नहीं कर सकता है। अस्पृश्य होने के कारण उससे कोई ये चीजें खरीदेगा ही नहीं। वह कोई व्यापार भी नहीं कर सकता

है, क्योंकि सभी व्यापार पुश्तैनी होते हैं। अतः कोई भी उसकी सेवा स्वीकार नहीं करेगा। आर्थिक रूप से वह पूर्णतः हिंदू पर आश्रित है। जब भी स्पृश्य को यह लगता है कि अस्पृश्य अंहकारी या शरारती हो गया है, तो वह इस आर्थिक स्थिति का भरपूर लाभ उठाता है।

अस्पृश्य न केवल अपनी रोजी-रोटी के लिए स्पृश्य का मुंह जोहता है, बल्कि जीवन की दैनिक जरूरतों की पूर्ति के लिए भी उसकी यही नियति है। गांवों में सभी दुकानें स्पृश्यों की होती हैं। व्यापार स्पृश्य के हाथ में है और अनिवार्यतः होगा भी। अतः खरीदारी के लिए अस्पृश्य को स्पृश्य दुकानदार के आसरे रहना पड़ता है। अस्पृश्य दैनिक जरूरत की चीजें तभी प्राप्त कर सकेगा, जब स्पृश्य वे जीचें बेचना चाहेगा। यदि स्पृश्य बेचना नहीं चाहता, तो अस्पृश्य को भूखों मरना ही पड़ेगा, भले ही उसके पास पैसा हो। अतः जब भी स्पृश्य और अस्पृश्य के बीच कोई विवाद उत्पन्न हो जाता है, तो दुकानदारों को स्पृश्य यह आदेश देना नहीं भूलता कि अस्पृश्यों को कोई चीज बेची न जाए। स्पृश्य संगठित रूप से ऐसी साजिश करते हैं कि अस्पृश्यों से आर्थिक रिश्ता पूर्णतया टूट जाए। अस्पृश्यों के खिलाफ लड़ाई का एलान कर दिया जाता है। 'शत्रु' को तहस-नहस करने के लिए दुष्टों का एक दंडात्मक अभियान दल अस्पृश्यों के क्षेत्र में भेज दिया जाता है। वह दल निर्भय होकर विध्वंस करता है। वह घरों को जला देता है, संपत्ति को नष्ट करता है। सभी के प्रति वह निर्लज्ज होकर हिंसा के कर्म करता है। वह औरतों और बच्चों को भी नहीं बख्शता।

सर्वाधिक सामान्य और प्रभावी हथियार यह है कि अपराधी अस्पृश्यों के पूर्ण बहिष्कार की घोषणा कर दी जाती है। 'बहिष्कार' केवल गांधी के 'असहयोग' का ही दूसरा रूप है। उसकी विभीषिका का वर्णन नहीं किया जा सकता। पिछड़े वर्गों की शिकायतों की जांच के लिए बंबई सरकार ने जो कमेटी नियुक्त की थी, उसने सामाजिक बहिष्कार का वर्णन इस प्रकार किया है :

हालांकि हमने ऐसे विभिन्न उपायों की सिफारिश की है कि सभी सार्वजनिक उपयोगिताओं संबंधी अपने अधिकारों को अस्पृश्य प्राप्त कर सकें, फिर भी हमें डर है कि आने वाले लंबे अर्से तक अधिकार के प्रयोग के उनके मार्ग में अड़चनें आएंगी। पहली अड़चन तो यह आशंका है कि रूढ़िवादी वर्ग उनके खिलाफ खुली हिंसा करेंगे। इस बात की ओर ध्यान देना ही होगा कि हर गांव में अस्पृश्य अल्प संख्या में हैं। उनके विरोध में रूढ़िवादियों का भारी बहुमत है, जो अस्पृश्यों के किसी भी संभावित हमले से अपने हितों और प्रतिष्ठा की रक्षा करने के लिए सब-कुछ करेगा। पुलिस की कार्यवाही के खतरे से रूढ़िवादी वर्गों के हिंसा के हौसले पर अंकुश लग गया है। अतः ऐसे मामले विरल हो गए हैं।

दूसरी अड़चन अस्पृश्यों की वर्तमान आर्थिक स्थिति से पैदा होती है। प्रेसिडेंसी के अधिकांश भागों में अस्पृश्य आर्थिक रूप से स्वतंत्र नहीं हैं। कुछ लोग असामी के रूप में रूढ़िवादी वर्गों की भूमि जोतते हैं। ये असामी उनकी इच्छा के दास हैं। कुछ लोग रूढ़िवादी वर्गों के खेतों पर मजूरी करके अपना पेट पालते हैं। शेष रूढ़िवादी वर्गों के घरों से भोजन या अनाज प्राप्त करते हैं। बदले में वे गांव के सेवक के रूप में सेवा करते हैं। हमने ऐसे अनेक उदाहरण सुने हैं, जहां जब भी गांव के दलित वर्गों ने अपने अधिकारों के प्रयोग का साहस जुटाया, तो वहां के रूढ़िवादी वर्गों ने हथियार के रूप में अपनी इस आर्थिक शक्ति को आजमाया है और उन्हें अपनी भूमि से बेदखल कर दिया है। उन्हें रोजगार से हटा दिया गया है और गांव के सेवक के रूप में उनका पारिश्रमिक बंद कर दिया गया है। प्रायः बहिष्कार की योजना बड़े पैमाने पर बनाई जाती है। उसके अंतर्गत अस्पृश्य आम रास्तों पर नहीं चल सकते। वे ग्राम के बनिए या दुकानदार से दैनिक जरूरत की चीजें नहीं खरीद सकते। साक्ष्य के अनुसार बहुधा छुटपुट कारणों के आधार पर ही अस्पृश्यों के खिलाफ सामाजिक बहिष्कार की घोषणा कर दी जाती है, जैसे यदि कोई अस्पृश्य सांझे कुएं से पानी भरने के अपने अधिकार का इस्तेमाल करे। लेकिन ऐसे मामले भी कम नहीं हैं, जहां कठोर-से-कठोर बहिष्कार की घोषणा कर दी गई। कारण बस इतना-सा था कि किसी अस्पृश्य ने जनेऊ धारण कर लिया, भूमि का टुकड़ा खरीद लिया, अच्छे कपड़े या जेवर पहन लिए या सार्वजनिक मार्ग पर दूल्हे को घोड़ी पर बिठाकर शादी का जुलूस निकाल दिया।

हम नहीं कह सकते हैं कि अस्पृश्यों के दमन के लिए इस सामाजिक बहिष्कार से भी अधिक प्रभावी कोई और हथियार खोजा जा सकता है। खुली हिंसा का उपाय भी इसके सामने फीका पड़ जाता है, क्योंकि इसके अति दूरगामी और घातक प्रभाव पड़ते हैं। यह अधिक खतरनाक हैं, क्योंकि सहमति पर आधारित आजादी के सिद्धांत से संगत वैध उपाय के रूप में यह चलता रहता है। हम सहमत हैं कि बहुसंख्यकों के इस अत्याचार को सख्ती से कुचला जाए, यदि हम अस्पृश्यों को उनके उद्धार के लिए वाणी और कर्म की आवश्यक आजादी की गारंटी देना चाहते हैं।

IV

तीसरी अड़चन जो अस्पृश्यों की असहाय स्थिति को विकट बनाती है, वह यह है कि अस्पृश्यों के लिए यह संभव नहीं कि वे पुलिस से सुरक्षा और अदालतों से न्याय प्राप्त कर सकें। पुलिस के लोग सवर्ण हिंदुओं के वर्गों से भरती किए जाते हैं। मजिस्ट्रेटों के पद पर भी सवर्ण हिन्दुओं के लोग होते हैं। पुलिस और

मजिस्ट्रेटों के वर्ग से सवर्ण हिंदुओं का नाता सगे-संबंधी जैसा है। अस्पृश्यों के प्रति वे भी सवर्ण हिंदुओं की भांति भावनाओं और पूर्वाग्रहों से ग्रस्त रहते हैं। यदि कोई अस्पृश्य किसी पुलिस अधिकारी के पास सवर्ण हिंदू के खिलाफ शिकायत दर्ज कराने जाता है तो सुरक्षा के स्थान पर उसे ढेर सारी गालियां सुननी पड़ती हैं। या तो उसे शिकायत दर्ज किए बिना ही भगा दिया जाता है या रिपोर्ट ऐसी झूठी दर्ज की जाती है कि उसमें स्पृश्य हमलावरों को बच निकलने का मार्ग मिल जाता है। यदि वह मजिस्ट्रेट की अदालत में अपराधियों के खिलाफ मुकदमा दायर करता है तो उस पर क्या कार्रवाई होगी, यह पहले ही मालूम हो जाता है। किसी अस्पृश्य को कोई हिंदू गवाही देने के लिए नहीं मिलेगा, क्योंकि गांव में पहले ही षड्यंत्र रच दिया जाता है कि कोई भी अस्पृश्य की हिमायत नहीं करेगा, चाहे सच कुछ भी क्यों न हो। यदि वह गवाह के रूप में अस्पृश्यों को पेश करता है तो मजिस्ट्रेट उनकी गवाही स्वीकार नहीं करेगा, क्योंकि वह आसानी से कह देगा कि वह तो उसी का हितैषी है, इसलिए उसे स्वतंत्र गवाह नहीं कहा जा सकता। यदि वे स्वतंत्र गवाह हैं भी तो मजिस्ट्रेट के सामने एक आसान-सा तरीका यह कह देना है कि उसे अस्पृश्य के पक्ष में गवाह सच्चा नहीं प्रतीत होता। वह निडर होकर ऐसा फैसला सुना देगा, क्योंकि वह भली-भांति जानता है कि उसके ऊपर कोई अदालत उसके इस फैसले को नहीं बदलेगी, क्योंकि यह एक स्थापित नियम है कि अपील सुनने वाली अदालत मजिस्ट्रेट के फैसले में दखल न दे, जो गवाहियों पर आधारित है और जिनकी उसने जांच की है। इस तथ्य को तो अब अस्पृश्यों के कांग्रेसी कार्यकर्ताओं ने भी स्वीकार कर लिया है।

'हिंदू' के 7 मार्च 1938 के अंक में प्रकाशित 30 सितंबर 1937 को समाप्त होने वाले वर्ष के लिए तमिलनाडु हरिजन सेवक संघ की वार्षिक रिपोर्ट में कहा गया है :

> दूरदराज के गांवों में इन अधिकारों ने हरिजनों की राजनीतिक चेतना को तो जगाया है, पर वहां हरिजन के लिए सदैव ऐसा करना संभव नहीं है। वहां तो केवल पुलिस वालों का राज चलता है। वहां हरिजन द्वारा अपने अधिकारों पर आग्रह किए जाने का अर्थ है कि उसके और सवर्णों के बीच संघर्ष होगा और संघर्ष में सदा ही सवर्ण का पलड़ा भारी रहता है। इस संघर्ष का स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि पुलिस या मजिस्ट्रेट के पास शिकायत की जाएगी। मजिस्ट्रेट के पास जाना हरिजन के बूते से बाहर है और पुलिस में शिकायत करने का नतीजा और भी खराब होता है। अनेक मामलों में इन शिकायतों की कभी कोई जांच नहीं होती। कई अन्य मामलों में सदा सवर्णों के पक्ष में फैसला दर्ज किया जाता है। पुलिस में हमने जो शिकायतें कीं, उनका भी यही परिणाम हुआ। हमें समस्या यह दीख पड़ती

है कि पुलिस के निचले कर्मचारियों की मानसिकता में कोई बदलाव नहीं आया है। या तो वे हरिजनों के अधिकारों से नावाकिफ हैं, जिनकी रक्षा करने की उनसे अपेक्षा होती है या वे सवर्णों के प्रभाव में आ जाते हैं। यह भी संभव है कि वह नितांत उदासीन रहते हैं। अन्य मामलों में धनी द्वारा सवर्ण की तरफदारी भ्रष्टाचारवश की जाती है।

इसका अर्थ है कि अधिकारी अस्पृश्य-विरोधी और हिंदू-समर्थक होता है। जब भी उसे अपने किसी अधिकार या विवेक का प्रयोग करना होता है, तो वह उसका प्रयोग पूर्वाग्रह से अस्पृश्य के विरुद्ध करता है।

पुलिस कर्मचारी और मजिस्ट्रेट अक्सर भ्रष्ट होते हैं। यदि वे केवल भ्रष्ट हों तो स्थिति संभवतः उतनी खराब न हो, क्योंकि भ्रष्ट अधिकारी को तो कोई भी पक्ष खरीद सकता है। लेकिन दुर्भाग्य यह है कि पुलिस कर्मचारी तथा मजिस्ट्रेट भ्रष्ट होने की अपेक्षा अधिक पक्षपातपूर्ण होते हैं। हिंदुओं के प्रति उनके इस पक्षपातपूर्ण और अस्पृश्यों के प्रति विरोधपूर्ण रवैए के कारण ही अस्पृश्यों को न्याय और सुरक्षा नहीं मिल पाती। एक के प्रति पक्षपात और दूसरे के प्रति विरोध का कोई निदान नहीं है, क्योंकि यह सामाजिक और धार्मिक नफरत की भावना पर आधारित है, जो हर हिंदू में जन्मजात होती है। पुलिस तथा मजिस्ट्रेट को अपनी प्रेरणाओं, अपने हितों और संस्कारों के कारण अस्पृश्यों की भावनाओं के साथ सहानुभूति नहीं होती। वे उस अभाव, पीड़ा, लालसा और इच्छाओं से अनुप्राणित नहीं होते, जो अस्पृश्यों को उद्वेलित किए रहती हैं। इसके फलस्वरूप वे लोग अस्पृश्यों की आकांक्षाओं के प्रति खुलकर विरोधी और विद्वेषपूर्ण हो जाते हैं, उन्हें आगे नहीं बढ़ने देते, उनके ध्येय-हित की उपेक्षा करते हैं और ऐसी हर चीज को काट देते हैं, जिसमें अस्पृश्यों को गर्व और आत्म-सम्मान मिल सके। दूसरी ओर, वे हिंदुओं का उनके हर काम में साथ देते हैं, उनके साथ पूरी सहानुभूति रखते हैं, जिससे उनकी शक्ति, क्षमता, मान-मर्यादा और प्रतिष्ठा बनी रहे। जब कभी इन दोनों में संघर्ष होता है, तब वे अस्पृश्यों के इस विद्रोह को कुचलने में हिंदुओं के एजेंट के रूप में कार्य करते हैं और खुलेआम निर्लज्ज होकर हिंदुओं के हर घिनौने काम में हर संभव, उचित-अनुचित सहायता भी देते हैं, जिससे अस्पृश्यों को उनकी करनी का फल चखाया जा सके और वे ऊपर उठने न पाएं।

इसका सबसे अधिक बुरा पक्ष यह है कि यह सब अन्याय और अत्याचार कानून की सीमाओं के अंदर किया जा चकता है। कोई हिंदू यह साफ तौर पर कह सकता है कि वह किसी भी अस्पृश्य को काम पर नहीं लगाएगा, उसे कोई चीज नहीं बेचेगा, उसे अपने खेतों से बेदखल कर देगा और किसी कानून को तोड़े बिना भी वह उसके मवेशियों को अपने खेतों से होकर नहीं जाने देगा। ऐसा करके वह अपने अधिकार का ही इस्तेमाल कर रहा है। कानून इसकी परवाह नहीं करता कि उसकी मंशा क्या है। कानून यह नहीं देखता कि इससे उस

अस्पृश्य को कितनी हानि हो रही है। पुलिस अपनी शक्ति और अपने अधिकार का दुरुपयोग कर सकती है। पुलिस अधिकारी ऐसी बात को दर्ज कर सकता है जो कही ही नहीं गई या ऐसी बात को दर्ज कर, जो कही गई बात से नितांत भिन्न हो, जान-बूझकर अपने रिकार्ड तोड़-मरोड़ सकता है। वह उस पक्ष को गवाहों के नाम-पते आदि बता सकता है, जिसमें उसका स्वार्थ होता है। वह किसी को गिरफ्तार करने से इंकार कर सकता है। वह किसी मामले को खत्म करने के लिए कुछ भी कर सकता है। वह यह सब काम पकड़े जाने के डर के बिना कर सकता है। कानून में बहुत-सी कमियां हैं और वह इन कमियों को अच्छी तरह जानता है। मजिस्ट्रेट ने उसे अपने विवेक का इस्तेमाल करने के लिए पूरी तरह छूट दे रखी है। वह उसका इस्तेमाल करने के लिए पूरी तरह आजाद है। किसी भी मामले का निर्णय गवाहों पर निर्भर करता है, जो गवाही दे सकते हैं। लेकिन मुकदमे का निर्णय इस बात पर निर्भर करता है कि क्या गवाहियां विश्वसनीय हैं या नहीं। यह मजिस्ट्रेट पर निर्भर करता है कि वह किस पर विश्वास और किस पर अविश्वास करता है। वह किसी भी पक्ष पर विश्वास करने के लिए पूर्ण स्वतंत्र है और वह जो कुछ करता है, वह उसका अपना विवेक होता है और कोई भी उसके इस विवेक का इस्तेमाल करने में दखल नहीं कर सकता। ऐसे बहुत से मामले हैं, जिनमें मजिस्ट्रेट ने अपने विवेक का इस्तेमाल अस्पृश्यो के हितों के खिलाफ किया है। अस्पृश्यों की गवाहियां चाहे कितनी भी सच्ची क्यों न हों, मजिस्ट्रेट सभी मामलों में एक ही बात कह देता है, 'मुझे गवाहों पर विश्वास नहीं है', और किसी ने भी उसके इस विवेकाधिकार को चुनौती नहीं दी है। कौन-सी सजा सुनाई जाए, यह भी मजिस्ट्रेट का विवेकाधिकार है। कुछ ऐसे भी निर्णय होते हैं, जिनके खिलाफ अपील की जा सकती है। अगर उचित न्याय नहीं हुआ है तो उचित न्याय पाने का रास्ता यही अपील होती है। मजिस्ट्रेट द्वारा यह कह दिया जाता है कि इस मामले में दिए गए निर्णय के खिलाफ अपील नहीं हो सकती।

ये हैं वे ताकतें जो संघर्षशील अस्पृश्यों के विरुद्ध काम कर रही हैं। उन पर विजय प्राप्त करने का कोई मार्ग है ही नहीं, क्योंकि एक ऐसे समूचे समाज को दंडित करने का कोई तरीका नहीं है, जो सगठित रूप से कानून को धता बताने पर तुला हुआ हो।

V

निश्चय ही इन कठिनाइयों पर पूर्णतः विजय तो प्राप्त नहीं की जा सकती, पर उन्हें कम करने का एक मार्ग अस्पृश्यों के लिए खुला है। वह है, राजनीति और राजनीतिक सत्ता के प्रभावी प्रयोग का मार्ग। लेकिन इस मामले में अस्पृश्यों का प्रयास विफल कर दिया गया है।

9

उनकी कामनाएं हमारे लिए कानून हैं

I. धर्म के स्थान पर अधर्म,

II. मनु और धर्म,

III. आधुनिक प्रतिरूप, तथा

IV. चरित्र और दृष्टिकोण पर धर्म का प्रभाव।

जो भी अस्पृश्यों के आंदोलन को कुचलने के लिए हिंदुओं की अराजकता के बारे में पढ़ता है, मुझे विश्वास है कि उसे गहरा धक्का लगेगा। निश्चय की वह यह सवाल पूछेगा कि किस कारण हिंदू इस अराजकता में लिप्त होता है। कोई भी यह नहीं कहेगा कि ऐसा प्रश्न स्वाभाविक प्रश्न नहीं होगा, और मामले की परिस्थितियों को देखते हुए अति संगत प्रश्न यह होगा कि अस्पृश्य यदि साफ वस्त्र पहनता है तो उस पर अत्याचार क्यों किया जाए? हिंदू को उससे क्या आघात पहुंच सकता है? अस्पृश्य के साथ क्यों छेड़-छाड़ की जाए, याद वह अपने घर पर खपरैल की छत डालता है? हिंदू का उससे क्या बिगड़ता है? अस्पृश्य को क्यों पीड़ा पहुंचाई जाए, यदि दह अपने बच्चों को स्कूल भेजना चाहता है? उससे हिंदू की क्या हानि होती है? अस्पृश्य को क्यों विवश किया जाए कि वह मृत पशुओं को उठाए, सड़ा-गला मांस खाए और घर-घर जाकर अपने भोजन के लिए गिड़गिड़ाए? हिंदुओं को क्या घाटा होता है, यदि वह इन कामों को न करे? हिंदू को क्यों आपत्ति करनी चाहिए, यदि अस्पृश्य अपना धर्म बदलना चाहता है? उसके धर्म-परिवर्तन से हिदू क्यों नाराज हों और बौखलाएं? हिंदू स्वयं को क्यों अपमानित अनुभव करें, यदि अस्पृश्य अपना सुंदर एवं सम्माननीय नामकरण करता है? किसी अस्पृश्य का उत्तम नाम हिंदू पर प्रतिकूल प्रभाव कैसे डाल सकता है? हिंदू को क्यों आपत्ति करनी चाहिए, यदि कोई अस्पृश्य अपने घर का द्वार मुख्य सड़क की ओर खोलता है? उससे उसका क्या बनता-बिगड़ता है? हिंदू को क्यों आपत्ति करनी चाहिए, यदि किन्हीं निश्चित दिवसों पर उसके कानों तक

किसी अस्पृश्य की आवाज पहुंचती है? उससे वह बहरा तो नहीं हो सकता। हिंदू को क्यों अप्रसन्नता व्यक्त करनी चाहिए, यदि कोई अस्पृश्य कोई काम करता है, प्राधिकार वाला कोई पद प्राप्त कर लेता है, भूमि खरीद लेता है, व्यापार करता है, आर्थिक रूप से स्वतंत्र हो जाता है और उसकी गिनती खाते-पीते लोगों में होने लगती है? सभी हिंदू, चाहे सरकारी हों या गैर-सरकारी, मिलकर अस्पृश्यों का दमन क्यों करते हैं? सभी जातियां, चाहे वे आपस में लड़ती-झगड़ती रहें, हिंदू धर्म की आड़ में एकजुट होकर क्यों साजिश करती हैं और अस्पृश्यों को असहाय स्थिति में रखती हैं।

निश्चय की यह सब परी लोक की कथा-सी लगती है। लेकिन जिसने पिछले अध्याय में वर्णित हिंदुओं के अत्याचार की कथाओं को पढ़ा है, उसे मालूम होगा कि यह निंदनीय प्रश्न तथ्यों पर आधारित हैं। निश्चय ही तथ्य काल्पनिक कथ्य से भी अद्भुत होता है। लेकिन सबसे मजेदार बात यह है कि ये सब कारनामें वे हिंदू करते हैं, जो सामान्यतः भीरु होते हैं, यहां तक कि उन्हें कायर भी कहा जाता है। सामान्यतः हिंदू अति विनम्र लोग होते हैं। उनमें मुस्लिमों जैसी उग्रता अथवा कटुता नहीं होती। लेकिन जब हिंदू जैसे अति विनम्र लोग बेशर्मी और निर्ममता से आगजनी, लूटमार और हिंसा का सहारा लेकर पुरुषों, महिलाओं और बच्चों पर अत्याचार करने लगते हैं, तो यह विश्वास करना पड़ता है कि निश्चय ही कोई ऐसा बाध्यकारी कारण होगा, जो अस्पृश्यों के इस विद्रोह को देखने पर हिंदुओं को पागल बना देता है और वे ऐसी अराजकता पर उतारू हो जाते हैं।

निश्चय ही ऐसे विचित्र और अमानवीय व्यवहार का कोई स्पष्टीकरण तो होना चाहिए। वह क्या है?

यदि आप किसी हिंदू से पूछेंगे कि वह ऐसा बर्बर व्यवहार क्यों करता है, क्यों वह घोर अपमान अनुभव करता है जब अस्पृश्य स्वच्छ और सम्मानजनक जीवन जीने का प्रयास करते हैं, तो उसका उत्तर सीधा-सा होगा। वह कहेगा, 'अस्पृश्यों के जिस प्रयास को आप सुधार कहते हैं, वह सुधार नहीं है। वह हमारे धर्म का घोर अपमान है।' यदि आप उससे फिर पूछेंगे कि इस धर्म की व्यवस्था कहां है तो पुनः उसका उत्तर एकदम सीधा-सा होगा, 'हमारा धर्म हमारे शास्त्रों में है।' हिंदू, पूर्वाग्रह-रहित व्यक्ति की दृष्टि से, अस्पृश्यों के उस न्यायोचित विद्रोह का दमन कर रहा है, जो वे हिंसा, लूटमार, आगजनी पर आधारित मूलतः अन्यायपूर्ण प्रणाली के विरुद्ध कर रहे हैं। आधुनिक व्यक्ति को लगता है कि दमन का सहारा लेकर हिंदू नितांत धर्म-विरोधी कार्य कर रहा है या हिंदुओं की प्रचलित शब्दावलि में कहा जाए तो वह 'अधर्म' कर रहा है। लेकिन हिंदू इसे कदापि स्वीकार नहीं करेगा। हिंदू का विचार है कि 'धर्म' का उल्लंघन तो अस्पृश्य कर

रहे हैं और अराजकता के उसके कर्म तो अधर्म से लगते हैं। उनकी प्रेरणा उसे धर्म के पुनरुद्धार हेतु उसके पावन कर्तव्य से मिलती है। यह एक ऐसा उत्तर है जिसकी सत्यता को वे लोग नहीं नकार सकते, जो हिंदुओं की मानसिकता से परिचित हैं। लेकिन इससे एक और प्रश्न उत्पन्न होता है कि वे धर्म क्या हैं, जिनकी व्यवस्था शास्त्रों ने की है और उनमें सामाजिक संबंधों के बारे में क्या नियम निर्धारित किए गए हैं।

II

'धर्म' शब्द संस्कृत भाषा से उपजा है। यह भी उन संस्कृत शब्दों में से एक है, जो किसी निश्चित परिभाषा के सभी प्रयासों का उल्लंघन करते हैं। प्राचीन-काल में इस शब्द का उपयोग विभिन्न अर्थों में होता था, भले ही वे समानार्थी लगते थे। यह देखना रुचिकर होगा कि किस प्रकार 'धर्म' शब्द अर्थ-संक्रमणों[1] से होकर गुजरा है। लेकिन यह उसके लिए उपयुक्त अवसर नहीं है। इतना कहना पर्याप्त होगा कि शीघ्र ही 'धर्म' ने एक निश्चित अर्थ धारण कर लिया और उसके अर्थ के बारे में कोई संशय नहीं रह गया। 'धर्म' शब्द का अर्थ है, हिंदू समाज के सदस्य के रूप में, किसी एक जाति के सदस्य के रूप में, और जीवन की किसी विशिष्ट अवस्था में व्यक्ति के रूप में किसी व्यक्ति के विशेषाधिकार, कर्तव्य तथा दायित्व और उसके आचरण का स्तर।

सभी हिंदू मानते हैं कि धर्म के प्रमुख स्रोत हैं–वेद, स्मृति और रीति-रिवाज। लेकिन जहां तक धर्म का संबंध है, वेदों तथा स्मृतियों में एक अंतर है। धर्म के जिन विकसित नियमों को हम देखते हैं, निश्चय ही उनके मूलाधार वेदों में हैं। अतः यह कहना उचित है कि वेद धर्म के स्रोत हैं। लेकिन वेद नहीं कहते कि वे धर्म पर औपचारिक ग्रंथ हैं। धर्म के मामलों पर उनमें सिलसिलेवार निश्चयात्मक विधियां (आदेश) नहीं हैं। धर्म संबंधी कतिपय मामलों के बारे में उनमें केवल असंबद्ध उदगार हैं। दूसरी ओर, स्मृतियां धर्म के बारे में औपचारिक ग्रंथ हैं। धर्म के बारे में उनमें कानून हैं। कानून के सही अर्थ में उन्होंने धर्म के कानून का रूप धारण किया है। यदि इस बारे में कोई विवाद हो कि क्या धर्म है और क्या अधर्म है, तो उसका फैसला स्मृति में दिए गए नियम के पाठ के संदर्भ में ही किया जा सकता है। अतः हिंदू जिसे धर्म कहते हैं, उसका वास्तविक स्रोत स्मृतियां हैं। चूंकि धर्म और अधर्म का निर्णय करने में उन्हें प्रमाण माना जाता है, अतः स्मृतियों को धर्म के नियम निर्धारित करने वाले धर्म-शास्त्रों की संज्ञा दी गई है।

प्राचीन-काल से परंपरा से जो स्मृतियां चली आ रही हैं, उनकी संख्या के

1. देखिए, पी.वी. काणे, *हिस्ट्री आफ धर्म-शास्त्र,* पृ. 1-2

बारे में अलग-अलग अनुमान हैं। इनकी कम-से-कम संख्या पांच है और अधिक से अधिक एक सौ। ध्यान देने योग्य महत्व की बात यह है कि जहां तक प्रमाण का संबंध है, ये सभी स्मृतियां समान नहीं हैं। उनमें से अधिकांश अस्पष्ट हैं। उनमें से केवल कुछ को इतना प्रामाणिक समझा गया कि उन पर लेखक भाष्य एवं टीकाएं लिख सकें। यदि किसी स्मृति के महत्व को इस कसौटी पर परखा जाए कि उसका भाष्य किया गया है या नहीं, तो उसके आधार पर जिन स्मृतियों को उच्च स्तरीय और प्रामाणिक कहा जा सकेगा, वे हैं, '*मनुस्मृति*', '*याज्ञवल्क्य स्मृति*' और '*नारद स्मृति*'। इन स्मृतियों में '*मनुस्मृति*' का स्थान सर्वोपरि है। वह उत्कृष्ट रूप में संपूर्ण धर्म का स्रोत है।

यदि यह जानना है कि वह कौन-सा धर्म है जिसके लिए हिंदू अस्पृश्यों से लड़ने-मरने के लिए तैयार हो जाता है, तो हमें स्मृतियों के नियमों को, खासकर '*मनुस्मृति*' के नियमों की जानकारी हासिल करनी ही होगी। इन नियमों के कुछ ज्ञान के बिना अस्पृश्यों के विद्रोह के प्रति हिंदुओं की प्रतिक्रिया को समझना संभव नहीं होगा। अपने प्रयोजन के लिए यह जरूरी नहीं है कि हम स्मृतियों में वर्णित धर्म के समूचे क्षेत्र की छानबीन उसकी सभी शाखाओं-प्रशाखाओं सहित करें। धर्म की उस शाखा को जान लेना काफी होगा, जिसे आधुनिक शब्दावलि में स्वीय विधि (पर्सनल ला) कहा जाता है या आम भाषा में कहें तो धर्म का वह अंग जिसका संबंध हैसियत पर आधारित अधिकार, कर्तव्य या क्षमता से है।

अतः मैं नीचे '*मनुस्मृति*' से कुछ जरूरी मूलपाठों का उद्धरण देना चाहूंगा। उनसे से भली-भांति पता चल जाएगा कि मनु ने कैसे समाज-संगठन को मान्यता दी है और अपनी समाज-व्यवस्था में शामिल विभिन्न वर्गों के लिए क्या-क्या अधिकार तथा कर्तव्य निर्धारित किए हैं।

'*मनुस्मृति*' में वर्णित समाज-व्यवस्था को समुचित रूप से नहीं आंका गया है। अतः सावधान कर देना जरूरी है, ताकि गलतफहमी की गुंजाइश न रहे। आम तौर पर कहा भी और माना भी जाता है कि मनु ने चातुर्वर्ण्य नामक समाज-व्यवस्था निर्धारित की है। चातुर्वर्ण्य उस समाज-व्यवस्था का तकनीकी नाम है, जिसमें सभी व्यक्तियों को चार अलग-अलग वर्णों में बांटा गया है। अनेक लोगों की यह धारणा है कि मनु द्वारा निर्धारित धर्म में बस इतनी ही व्यवस्था की गई है। यह एक गंभीर भूल है। यदि इसे ठीक न किया जाए तो निश्चय ही इससे उस बारे में गंभीर गलतफहमी पैदा हो सकती है, जिसे मनु ने वस्तुतः निर्धारित किया है और जो मनु के विचार में आदर्श समाज-व्यवस्था है।

मेरे विचार में यह मनु के बारे में नितांत गलत आकलन है। यह स्वीकार करना होगा कि चातुर्वर्ण्य में शामिल चार वर्णों में समाज के विभाजन को मनु

ने प्रमुखता नहीं दी है। एक दृष्टि से मनु ने इस विभाजन को गौण माना है। उसकी दृष्टि में यह केवल उन लोगों के बीच 'आपसी' व्यवस्था है, जिन्हें चातुर्वर्ण्य में शामिल किया गया है। अनेक लोगों की दृष्टि में मुख्य बात यह नहीं है कि कोई व्यक्ति ब्राह्मण है या क्षत्रिय, वैश्य है अथवा शूद्र। वह विभाजन तो उनसे पूर्व भी मौजूद था। मनु ने तो इस विभाजन का विस्तार किया है, उसे सुदृढ़ किया और उसका स्तरीकरण किया। विभाजन का सूत्रपात उसने नहीं किया। लेकिन मनु ने एक नए विभाजन का सूत्रपात अवश्य किया। वह विभाजन उन लोगों के बीच है–(1) जो चातुर्वर्ण्य की परिधि में हैं, और (2) जो चातुर्वर्ण्य की परिधि के बाहर हैं। यह नया समाज-विभाजन मनु की मौलिकता है। हिंदुओं के प्राचीन धर्म में यह उसकी अभिवृद्धि है। मनु की दृष्टि में यह विभाजन बुनियादी है, क्योंकि पहले उसने ही इसे लागू किया और अपने अधिकार के ठप्पे से उसे मान्यता प्रदान की।

अतः इस विषय से संबद्ध मूलपाठों को दो शीर्षकों के अधीन रखना ही होगा–(1) उन लोगों से संबद्ध मूलपाठ जो चातुर्वर्ण्य की परिधि में हैं, और (2) उन लोगों से संबद्ध मूलपाठ जो चातुर्वर्ण्य की परिधि में नहीं हैं।

I. वे जो चातुर्वर्ण्य की परिधि में हैं–उनकी उत्पत्ति और कर्म

1. यह ब्रह्मांड तम पुंज के रूप में, अज्ञात, लक्षणहीन, प्रमाणादि तर्कों से परे, अज्ञेय, पूर्ण निमज्जित था, जैसे प्रगाढ़ निद्रा में हो – (*मनुस्मृति* 1.5)

2. तब स्वयंभू जो अगम थे किंतु आकाशादि महाभूतों को प्रकट करते हुए गोचर रूप में दुर्दम्य सृजनशक्ति सहित हो, अंधकार को दूर करते हुए प्रकट हुए – (*वही*, 1.6)

3. तीनों लोकों की संवृद्धि के लिए ब्रह्मा ने अपने मुख, बाहु, जंघा और चरणों से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की सृष्टि की – (*वही*, 1.31)

4. महातेजस्वी ब्रह्मा ने संपूर्ण सृष्टि की रक्षा के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के अलग-अलग (कर्म और) व्यवसाय निर्धारित किए – (*वही*, 1.87)

5. ब्राह्मणों के लिए उन्होंने (वेदों) को पढ़ना और पढ़ाना, अपने तथा दूसरों के हित के लिए यज्ञ करना और कराना, दान लेना और दान देना, कर्म निर्धारित किए – (*वही*, 1.88)

6. उन्होंने प्रजा की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, वेदों का अध्ययन करना, विषयों में आसक्ति न रखना, क्षत्रियों के कर्तव्य बताए हैं– (*वही*, 1.89)

7. उन्होंने पशुपालन, दान देना, यज्ञ करना, (वेद) पढ़ना, व्यापार करना, ऋण

देना और खेती करना, ये वैश्यों के कर्तव्य बताए– (*मनु,* 1.90)

8. ब्रह्मा ने शूद्र के लिए एक ही कर्तव्य निर्धारित किया, अर्थात इन अन्य तीन वर्णों की अत्यंत विनम्रतापूर्वक सेवा करना– (*वही,* 1.91)

9. विद्यार्थी, प्रशिक्षणार्थी, वेतन देकर नियुक्त सेवक और चौथे अधिकारी व्यक्ति, इन सभी को श्रमिक समझना चाहिए। जो किसी के घर में जन्म प्राप्त करते हैं, वे दास होते हैं– (*नारद स्मृति,* 5.3)

10. ऋषियों ने कानून के आधार पर पांच वर्ग के सेवक बताए हैं। इनमें चार वर्ग के सेवक वे हैं जिनका ऊपर वर्णन किया गया है। पांचवें वर्ग में दास आते हैं, जिनके 15 प्रकार हैं– (*वही,* 5.2)

11. जो (अपने स्वामी के) घर में उत्पन्न हुआ है, जो खरीदा गया है, जो उपहार में मिला है, जो विरासत में मिला है, जिसका अकाल के समय भरण-पोषण किया गया है, जो उसके वैध स्वामी द्वारा गिरवी के रूप में रखा गया है– (*वही,* 5.26)

12. जिसको भारी ऋण चुकाकर मुक्त कराया गया है, जो युद्धबंदी है, जो दांव में जीता गया है, जो तपस्वी जीवन त्याग कर यह घोषित करता है, 'मैं आपका हूं', जो निश्चित अवधि के लिए दास है– (*वही,* 5.27)

13. जो जीविकोपार्जन के उद्देश्य से दास बनता है, जो दास स्त्री के साथ संबंध होने के कारण दास हो गया और जो स्वयं को बेच देता है। कानून के आधार पर ये 15 प्रकार के दास हैं– (*वही,* 5.28)

14. इनमें से प्रथम चार श्रेणी के दास स्वामी की सहमति के बिना मुक्त नहीं किए जा सकते। उनका दासत्व वंशानुगत है– (*वही,* 5.29)

15. ऋषियों का कथन है कि ये सभी एक जैसे पराधीन होते हैं, परंतु इनका स्तर और इनकी आय इनकी विशिष्ट जाति और व्यवसाय पर निर्भर करती हैं– (*वही,* 5.4)

II. वे जो चातुर्वर्ण्य की परिधि से बाहर हैं—उनकी उत्पत्ति और कर्म

1. इस पृथ्वी पर जो भी जातियां उस समुदाय से अलग रखी गई हैं जो मुख, बाहु, जंघा और (ब्राह्मण) के पैरों से जन्मी हैं, वे दस्यु कहलाती हैं, जो चाहे म्लेच्छों (बर्बर जातियों) की भाषा बोलती हों या आर्यों की– (*मनु.,* 10.45)

2. ये जातियां प्रसिद्ध वृक्षों और श्मशान भूमि के निकट या पर्वतों पर और झाड़ियों के पास निवास करें, (कुछ चिन्हों से) जानी जाएं और अपने विशिष्ट

व्यवसाय से जीविकोपार्जन करें– (*मनु*, 10.50)

3. लेकिन चांडालों और श्वपचों के घर गांव के बाहर होंगे, उन्हें अपपात्र बनाया जाना चाहिए और उनकी संपत्ति कुत्ते और गधे होंगे– (*वही*, 10.51).

4. मृतक के वस्त्र इनके वस्त्र होंगे, वे टूटे-फूटे बर्तनों में भोजन करेंगे, उनके गहने काले लोहे के होंगे और वे एक स्थान से दूसरे स्थान पर आते-जाते रहेंगे- (*वही*, 10.52)

5. धर्म का आचरण करने वाला व्यक्ति इन लोगों के साथ व्यवहार न रखे और उनके व्यवहार उनके अपने ही समुदाय में होंगे और विवाह समान व्यक्तियों के साथ ही होंगे – (*वही*, 10.53)

6. उनका भोजन (आर्य दाता के अतिरिक्त) अन्य के द्वारा टूटे-फूटे बर्तन में दिया गया होगा। रात्रि के समय वे गांवों और नगरों के आस-पास नहीं जाएंगे– (*वही*, 10.54)

7. दिन में वे राजा के द्वारा चिन्हों से अंकित हो जिससे वे अलग-अलग पहचाने जा सकें, अपने-अपने काम के लिए जाएंगे और उन व्यक्तियों के शवों को ले जाएंगे जिनके कोई सगे-संबंधी नहीं हैं, यही शास्त्र-सम्मत मर्यादा है– (*वही*, 10.55)

8. वे राजा का आदेश होने पर अपराधियों का वध कानून में निहित विधि के अनुसार हमेशा करेंगे और वे अपने लिए (ऐसे) अपराधियों के वस्त्र, शैया और आभूषण प्राप्त करेंगे– (*वही*, 10.56)

9. जो भी व्यक्ति निम्नतम जातियों की किसी स्त्री के साथ संबंध रखता है, उसका वध कर दिया जाएगा– (*विष्णु*, 5.43)

10. अगर कोई व्यक्ति जिसको (चांडाल या किसी अन्य निम्न जाति का होने के कारण) स्पर्श नहीं किया जाना चाहिए, जान-बूझकर अपने स्पर्श से ऐसे व्यक्ति को अपवित्र करता है जो द्विज जाति का होने के कारण (केवल द्विज व्यक्ति द्वारा ही) छुआ जा सकता है, तो उसका वध कर दिया जाएगा– (*वही*, 5.104)

मैं बता चुका हूं कि मनु की नजरों में चातुर्वर्ण्य की परिधि के भीतर वालों और उसकी परिधि से बाहर वालों का यह विभाजन वास्तविक विभाजन था। यह इतना वास्तविक था कि मनु ने चातुर्वर्ण्य की परिधि से बाहर वालों को 'बाह्य' की संज्ञा दी है, जिसका अर्थ है कि वे लोग जो चातुर्वर्ण्य की परिधि में शामिल नहीं किए गए हैं या उससे बाहर रखे गए हैं। यह एक ऐसा विभाजन था, जिसे उसने अत्यधिक महत्व दिया। उसके दूरगामी परिणाम थे। इस विभाजन का उद्देश्य

यह था कि हैसियत और नागरिकता का अंतर रहे।. यह सच है कि जो चातुर्वर्ण्य की परिधि में हैं, उन सबका स्तर भी समान नहीं है। चातुर्वर्ण्य के भीतर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा गुलाम हैं और उन सबका दर्जा समान नहीं है। फिर भी वे चातुर्वर्ण्य के भीतर हैं। जो चातुर्वर्ण्य के भीतर हैं, मनु के कानून की नजर में उनका दर्जा है और लोगों की नजर में उनका सम्मान है। जो उसके भीतर नहीं हैं, लोगों की दृष्टि में उनका कोई सम्मान नहीं है। नागरिकता का भी अंतर है। जो चातुर्वर्ण्य के भीतर हैं, वे अधिकारों का उपयोग कर सकते हैं और उन्हें लागू करवा सकते हैं। जो उसके भीतर नहीं हैं, उनके पास न अधिकार हैं और न ही उन्हें लागू करवाने का उपाय।

चातुर्वर्ण्य के भीतर वालों और उसके बाहर वालों के बीच का यह अंतर उस अंतर से मिलता-जुलता है, जो प्राचीन रोम के कानून के अनुसार नागरिकों के बीच, यानी नागरिकों और गैर-नागरिकों के बीच था। रोम का प्राचीन कानून मूलतः व्यक्तिपरक था, राज्य-क्षेत्रपरक नहीं। व्यक्ति को उसकी संस्थाओं और उनकी सुरक्षा का लाभ इसलिए नहीं मिलता था कि वह रोम के राज्य-क्षेत्र के भीतर निवास करता था, बल्कि इसलिए मिलता था कि वह एक ऐसा नागरिक था कि उसी के द्वारा तथा उसी के लिए रोम का कानून बनाया गया था। प्राचीन अंतर्राष्ट्रीय कानून यह था कि किसी विदेशी राज्य की सीमा में निवास करने वाला व्यक्ति उस राज्य तथा उसके नागरिकों की दया पर निर्भर करता था। उसके साथ गुलाम जैसा व्यवहार किया जा सकता था। कोई भी प्रथम आगंतुक उसका सर्वस्व हरण कर सकता था, क्योंकि वह कानून के घेरे से बाहर था। दीवानी कानून के अधीन रोम के नागरिक के निराले व्यक्तिगत अधिकारों का सार केवल तीन गूढ़ शब्दों में उडेल दिया गया। वे हैं– कोनुबियम, कोमर्कियम और एक्टियो। कोनुबियम विवाह करने की क्षमता थी, जिससे सगोत्रता और सपिंडता का उद्‌भव होता है। इन्हीं पर बिना वसीयत उत्तराधिकार, संरक्षकता आदि की नींव पड़ी। कोमर्कियम संपत्ति के अर्जन अथवा उसके हस्तांतरण की क्षमता थी। एक्टियो वह क्षमता थी, जिसके अनुसार अदालत का द्वार खटखटाया जा सकता है। उसके अधीन क्षतिपूर्ति और सुरक्षा या ऐसे अधिकार के प्रवर्द्धन के लिए दावा किया जा सकता है, जो कोनुबियम अथवा कोमर्कियम ने दिया हो या उसमें शामिल हो या जिसे सीधे कानून ने दिया हो। इन तीनों क्षमताओं का लाभ केवल रोम के नागरिक उठा सकते थे। गैर-नागरिक को इनमें से कोई भी अधिकार प्राप्त नहीं था।

III

चातुर्वर्ण्य के भीतर वालों तथा उसके बाहर वालों के बीच का यह विभाजन

यद्यपि वास्तविक और बुनियादी है, पर निश्चय ही यह परिभाषा पुरानी है। चातुर्वर्ण्य व्यवस्था अब कानून के रूप में प्रचलित नहीं है। अतः चातुर्वर्ण्य के भीतर और उसके बाहर वाली जातियों की बात कहना कुछ सिद्धांत बघारने जैसी बात होगी। प्रश्न उठेगा कि इन प्राचीन वर्णों के आधुनिक प्रतिरूप क्या हैं? प्रश्न पूर्णतः इसलिए उचित है कि मुझे विशेषतः यह स्पष्ट करना है कि किसी प्रकार मनु का प्राचीन कानून हिंदुओं की वर्तमान अराजकता के लिए जिम्मेदार है। भले ही मैं इस परिभाषा को पुरानी कह रहा हूं, लेकिन दो बातें दर्शा देंगी कि मेरी यह धारणा सही है। एक तो यह कि मनु के प्राचीन सामाजिक विभाजनों के प्रतिरूपों का अभाव आधुनिक-काल में नहीं है। उन प्राचीन विभाजनों के आधुनिक प्रतिरूप हैं, हिंदू और अस्पृश्य। चातुर्वर्ण्य में मनु ने जिन लोगों को शामिल किया, उनका प्रतिरूप हिंदू नामक आधुनिक मिश्रित वर्ग हैं। जिन्हें मनु ने बाह्य (चातुर्वर्ण्य से बाहर) कहा, उनका प्रतिरूप भारत के वर्तमान अस्पृश्य हैं। चातुर्वर्ण्य में शामिल चार वर्णों–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के बीच की विभाजन रेखा आधुनिक-काल में कुछ धुंधली पड़ गई है और वे कुछ हद तक आपस में घुलने-मिलने लगे हैं। लेकिन चातुर्वर्ण्य के भीतर वालों तथा उसके बाहर वालों के बीच जो विभाजन रेखा मनु ने खींची थी, वह आज भी स्पष्ट है और उसे न तो मिटाने और न ही उसका उल्लंघन करने की इजाजत है। यही वह रेखा है, जो आज हिंदुओं को अस्पृश्यों से अलग करती है। यह एक बात तो स्पष्ट है कि प्राचीन विभाजन छनकर आधुनिक-काल में आ गए हैं। परिवर्तन केवल नामों का है।

दूसरा प्रश्न है कि मनु ने 'बाह्यों' के लिए जिस कानून की व्यवस्था की है, क्या उसका कोई प्रतिरूप हिंदुओं और अस्पृश्यों के वर्तमान सामाजिक संबधों में मौजूद है? जिन्हें इस बारे में संशय है, उनसे मेरा निवेदन है कि वे निम्न मामलों पर विचार करेंगे। घटना मद्रास प्रेसिडेंसी के रामनाड जिले की है।

दिसंबर 1930 में रामनाड के कल्लारों ने आठ प्रतिबंधों का फतवा दिया। उनकी अवहेलना के कारण कल्लारों ने अस्पृश्यों के खिलाफ हिंसा का प्रयोग किया। अस्पृ्यों की झोंपड़ियों में आग लगा दी गई और उनके अन्न भंडारों तथा संपत्ति को नष्ट कर दिया गया। उनके मवेशी लूट लिए गए। ये आठ प्रतिबंध इस प्रकार थे :

1. आदि-द्रविड़ों की स्त्रियां सोने व चांदी के जेवर नहीं पहनेंगी,

2. उनके मर्द अपने घुटनों से नीचे और कूल्हों से ऊंचे वस्त्र धारण नहीं करेंगे,

3. उनके मर्द कोट, कमीज या बनियान नहीं पहनेगे,

4. कोई भी आदि-द्रविड़ अपने बाल नहीं कटवाएगा,

5. आदि-द्रविड़ अपने घरों में केवल मिट्टी के बर्तन ही इस्तेमाल करेंगे,

6. उनकी स्त्रियां अपने शरीर के ऊपरी भाग को वस्त्रों या राबुकाई या थावनी से नहीं ढकेंगी,

7. उनकी स्त्रियां पुष्पों या केसर के उबटन का इस्तेमाल नहीं करेंगी, और

8. मर्द लोग न तो धूप और वर्षा से बचने के लिए छाते का इस्तेमाल करेंगे और न ही चप्पल पहनेंगे।

जून 1931 में जब विचाराधीन 'बाह्य' जातियों ने इन आठ प्रतिबंधों का संतोषजनक ढंग से पालन नहीं किया, तो कल्लार पुनः एकत्र हुए और उन्होंने ग्यारह प्रतिबंधों की रचना की। इन प्रतिबंधों ने तो मूल आठ प्रतिबंधों को भी मात दे दी। इन प्रतिबंधों को लागू करने के प्रयास में हिंसा और भी भड़की। ये ग्यारह प्रतिबंध थे :

1. आदि-द्रविड़ और देवेंद्रकुल वेल्लार अपने घुटनों से नीचे वस्त्र धारण नहीं करेंगे,

2. उपर्युक्त दलित वर्गों के पुरुष और स्त्रियां सोने के जेवर नहीं पहनेंगे,

3. स्त्रियां केवल मिट्टी के बर्तनों में पानी ले जाएंगी, तांबे या पीतल के बर्तनों में नहीं। पानी वाले बर्तनों को ढोने के लिए वे केवल पुआल का इस्तेमाल करेंगी। इस काम के लिए वे कपड़े का इस्तेमाल नहीं करेंगी,

4. उनके बच्चे नहीं पढ़ेंगे और न ही वे साक्षर होंगे या शिक्षा प्राप्त करेंगे,

5. बच्चे केवल मिरासदारों के मवेशी चराएंगे,

6. उनके पुरुष और स्त्रियां अपनी-अपनी पन्नाइयों में मिरासदारों के गुलामों के रूप में काम करेंगे,

7. वे मिरासदारों से भूमि वरम या पट्टे पर लेकर खेती नहीं करेंगे,

8. उन्हे गांव के मिरासदारों को अपनी जमीन बहुत ही सस्ते दामों पर बेच देनी पड़ेगी और यदि वे ऐसा नहीं करेंगे तो उन्हें भूमि की सिंचाई के लिए पानी नहीं दिया जाएगा। यदि वर्षा के जल से कोई चीज उगाई भी जाएगी तो कटाई के योग्य होने पर फसलों को लूट लिया जाएगा,

9. उन्हें सुबह सात बजे से शाम के छह बजे तक मिरासदारों के अधीन कुली के रूप में काम करना ही होगा और उसके लिए मर्दों को चार आने प्रतिदिन और औरतों को दो आने प्रतिदिन मजूरी दी जाएगी,

10. उक्त जातियां अपने विवाह आदि के अवसर पर भारतीय संगीत (मेलम आदि) का इस्तेमाल नहीं करेंगी, और

11. विवाह में थाली सूत्र बांधने से पूर्व घुड़चढ़ी की अपनी रस्म उन्हें बंद करनी ही होगी। उन्हें शादी के जुलूस में पालकी के रूप में अपने घरों के दरवाजों को ही इस्तेमाल करना होगा। किसी भी प्रयोजन के लिए वे वाहन का इस्तेमाल नहीं कर सकेंगे।

रामनाड के हिंदुओं द्वारा अस्पृश्यों पर लागू किए गए इन प्रतिबंधों की तुलना उन प्रतिबंधों से कीजिए, जिन्हें इस अध्याय में *'मनुस्मृति'* के मूलपाठों से उद्धृत किया जा चुका है।

'बाह्य' के लिए मनु की व्यवस्थाओं और 1931 में कल्लारों द्वारा अस्पृश्यों पर थोपी गई शर्तों में क्या कोई अंतर है? इस प्रमाण के बाद कोई संदेह नहीं रह जाता कि अहिंदू को जो अधर्म प्रतीत होता है, वही कर्म हिंदू कर रहा है और उसके बावजूद वह अस्पृश्य से कह रहा है कि वह मनु द्वारा प्रतिपादित धर्म का पालन करे।

एक अन्य उदाहरण मध्य भारत के बलाइयों का है। बलाई लोग अस्पृश्य जाति के हैं। 1927 के आसपास बलाइयों ने अपनी जाति के सामाजिक सुधार का अभियान चलाया था और उसके बारे में नियम बनाए थे। नियमों में कहा गया था कि उनकी जाति के लोग कतिपय प्रकार के घटिया काम न करें और निश्चित प्रकार के वस्त्र धारण करें। इन नियमों से सवर्ण हिंदुओं के हितों पर कोई कुप्रभाव नहीं पड़ता था; लेकिन सवर्ण हिंदुओं ने बलाइयों के इस प्रयास को अपना अपमान समझा कि वे प्रथा द्वारा निर्धारित दर्जे से ऊपर उठना चाहते हैं। सवर्ण हिंदुओं ने इसे बलाइयों की गुस्ताखी माना और उन पर घातक प्रहार करने का निश्चय किया। निम्न घटना की रिपोर्ट पत्रों में छपी थी। उसमें बताया गया है कि विद्रोही बलाइयों के साथ सवर्ण हिंदुओं ने कैसा व्यवहार किया।[1]

हिंदुओं का अत्याचार

बलाइयों के लिए नियम

जीवन-शैली का निर्धारण

गत मई (1927) में सवर्ण हिंदुओं, अर्थात कलोटाओं, राजपूतों और

1. यह रिपोर्ट 10 फरवरी और 1 अप्रैल 1938 के *टाइम्स आफ इंडिया* से उद्धृत की गई है।

ब्राह्मणों ने, जिनमें कनारिया, बिछौली, हाफ्सी, मर्दाना गांवों के तथा इंदौर जिले के कोई 15 अन्य गांवों के पटेल और पटवारी शामिल थे, अपने-अपने गांवों के बलाइयों को सूचित किया कि यदि वे उनके बीच रहना चाहते हैं तो उन्हें निम्नलिखित नियमों का पालन करना होगा :

1. बलाई लोग सुनहरी जरी की किनारी लगी पगड़ियां नहीं पहनेंगे,

2. वे रंगीन या बढ़िया किनारी वाली धोतियां नहीं पहनेंगे,

3. उन्हें किसी हिंदू के निधन का संदेश मृत व्यक्ति के रिश्तेदारों तक पहुंचना ही होगा, भले ही वे रिश्तेदार कितनी भी दूर क्यों न रहते हों,

4. हिंदुओं के सभी विवाहों में बरात के आगे और विवाह के दौरान बलाइयों को गाने-बजाने का काम करना होगा,

5. बलाई स्त्रियां चांदी और सोने के जेवर नहीं पहनेंगी, वे बढ़िया लंहगा और कुर्ता नहीं पहनेंगी,

6. बलाई स्त्रियों को हिंदू घरों में दाई वगैरह का काम करना ही होगा,

7. बलाइयों को बिना किसी उजरत के सेवा करनी होगी और उसे ही स्वीकार करना होगा जो हिंदू अपनी खुशी से दे दें, और

8. यदि बलाई इन शर्तों को स्वीकार नहीं करेंगे तो उन्हें गांव छोड़ना पड़ेगा।

बलाइयों ने नियमों का पालन नहीं किया

बलाइयों ने इन नियमों का पालन करने से इंकार कर दिया और हिंदुओं ने उनके खिलाफ कार्यवाही की। बलाइयों को गांव के कुओं से पानी नहीं लेने दिया गया। उन्हें अपने पशु नहीं चराने दिएं गए। बलाइयों को हिंदू की भूमि से होकर गुजरने नहीं दिया गया। यदि किसी बलाई के खेत के चारों ओर हिंदुओं के खेत थे तो बलाई अपने खेत पर नहीं जा सकता था। हिंदू अपने मवेशियों को हांक कर बलाइयों के खेतों में चरने के लिए भी छोड़ देते थे। बलाइयों ने इन अत्याचारों के खिलाफ 'दरबार' के सामने अर्जियां दीं। पर चूंकि समय पर उन्हें कोई राहत नही मिली और अत्याचार होता रहा, अतः सैंकड़ों बलाइयों को अपनी पत्नियों और बच्चों समेत विवश होकर उन घरों को छोड़ना पड़ा, जहां पीढ़ियों से उनके पूर्वज रह रहे थे। उन्हें पड़ोसी देशी राज्यों, अर्थात धार, देवास, भोपाल, ग्वालियर तथा अन्य राज्यों के गांवों में जाना पड़ा।

जबरन-करार

केवल कुछ दिन पूर्व इंदौर नगर से कोई सात मील उत्तर में स्थित रेवती गांव के हिंदुओं ने बलाइयों को आदेश दिया कि वे अन्य गांवों के हिंदुओं द्वारा बलाइयों के खिलाफ बनाए गए नियमों के अनुसार पक्के कागज पर लिखे करार पर दस्तखत करें। बलाइयों ने आदेश का पालन नहीं किया। कहा जाता है कि हिंदुओं ने उनमें से कुछ की पिटाई की। उन्होंने एक बलाई को खंभे से बांध दिया और उससे कहा कि यदि वह करार पर दस्तखत करने के लिए राजी हो जाए तो उसे छोड़ दिया जाएगा। उसने करार पर दस्तखत कर दिए और उसे छोड़ दिया गया। इस गांव के कुछ बलाई भागकर अगले दिन, यानी 20 दिसंबर को प्रधानमंत्री के पास पहुंचे और उनसे शिकायत की कि रेवती गांव के हिंदुओं ने उनके साथ कैसा दुर्व्यवहार किया। उन्हें जिले के सुबहा के पास भेज दिया गया। इस अधिकारी ने पुलिस की मदद से गांव में जांच की और सिफारिश की कि हिंदुओं के खिलाफ भारतीय दंड संहिता की धारा 342 और 147 के अधीन और बलाइयों के खिलाफ धारा 147 के अधीन कार्रवाई की जाए।

बलाई गांवों को छोड़कर चले गए

जातीय अत्याचार

कानून की जानकारी न होना एक असुविधा

बलाइयों के प्रति कतिपय गांवों के हिंदू निवासियों के व्यवहार में कोई सुधार नहीं हुआ है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, सवर्ण हिंदुओं ने बलाइयों के साथ दुर्व्यवहार किया है। इंदौर जिले में अकेले दोपालपुर परगने से ही बलाइयों को काफी संख्या में अपने घर छोड़ने पड़े और पड़ोस के राज्यों में शरण लेनी पड़ी। विवश होकर जिन गांवों को बलाई छोड़कर चले गए, वे हैं—बदौली, अहिरखराल, पिपलोदा, मोरखेर, पमालपुर, करोदा, छतवाडा, नेवरी, पान, सनौड़ा, अज्नोटी, खेतड़ी और सनावडा। पमालपुर गांव में तो एक भी बलाई पुरुष, स्त्री या बच्चा नहीं रहा है। कहा जाता है कि उक्त गांवों में से एक निवासी नंदा बलाई को गांव के हिंदुओं ने बुरी तरह मारा-पीटा। समाचार है कि एक गांव में तो हिंदुओं ने बलाइयों के सभी घरों को जलाकर खाक कर दिया, लेकिन अपराधियों का अभी तक कोई सुराग नहीं मिला है।

बलाई भोले-भाले अनपढ़ ग्रामीण होते हैं। उन्हें कानूनी कार्रवाई की कोई जानकारी नहीं होती। वे तो सोचते हैं कि सरकार के पास अर्जी भेज दो, बस उनका काम बन जाएगा। शिकायत का आखिर तक कैसे पीछा किया

जाए, इसका उन्हें न तो ज्ञान है और न ही उनके पास इसके लिए कोई साधन हैं। कहा जाता है कि कुछ मामलों में चूंकि उन्होंने अपने आरोपों के समर्थन में गवाह पेश नहीं किए, अतः मजिस्ट्रेट के पास उनकी शिकायत को खारिज करने के अलावा और कोई चारा नहीं था।

धर्म और अधर्म के इस दृष्टिकोण से देखा जाए तो क्या इस बारे में कोई संदेह रह जाता है कि अस्पृश्यों के विद्रोह के दमन के लिए हिंदू जिस अराजकता और बर्बरता का सहारा लेते हैं, उसके पीछे यह प्रेरणा है कि वे तो अपने पर हुए घोर अत्याचार को रोकने का पुण्य कार्य कर रहे हैं।

IV

यह प्रश्न नितांत प्रासंगिक है कि आज मनु के इस धर्म का कितना अंश बाकी रह गया है? यह स्वीकार करना ही होगा कि कानून के रूप में, उन नियमों के रूप में जो किसी न्यायालय के लिए विवादों के निर्णय के लिए बाध्यकारी होते हैं, मनु के धर्म की कोई प्रवर्तन-शक्ति नहीं रही है। अपवाद विवाह, उत्तराधिकार आदि जैसे मामले हैं, जिनका प्रभाव केवल व्यक्ति पर पड़ता है। सामाजिक आचरण तथा नागरिक अधिकारों को नियमित करने वाले कानून के रूप में उसे लागू नहीं किया जा सकता। लेकिन भले ही कानून के रूप में उसकी मान्यता नहीं रही है, प्रथा के रूप में वह अब भी विद्यमान है।

कानून के मुकाबले प्रथा भी कोई नगण्य चीज नहीं है। यह सच है कि कानून को राज्य अपने पुलिस बल के माध्यम से लागू करता है और प्रथा यदि वैध नहीं है, तो उसे राज्य लागू नहीं कर सकता। लेकिन व्यवहार में इस अंतर का कोई महत्व नहीं है। राज्य जितने पुरअसर ढंग से कानून को लागू करता है, उससे भी कहीं पुरअसर ढंग से प्रथा को जनसमूह लागू करता है। इसका कारण यह है कि संगठित जनसमूह की बाध्यकारी शक्ति राज्य की बाध्यकारी शक्ति से कही अधिक प्रबल होती है।

मनु का धर्म तकनीकी दृष्टि से कानून नहीं रहा है, फिर भी इस कारण उसकी प्रवर्तनीयता पर कोई आंच नहीं आई है। लेकिन ऐसी परिस्थितियां हैं, जो मनु के इस धर्म के प्रभाव को पूरा करने में सक्षम हैं।

इन परिस्थितियों में सर्वोपरि है, प्रथा का बल। समाज के हर समूह की न केवल कार्य करने की, अपितु अनुभव और विश्वास करने की, आकलन करने की तथा स्वीकार और अस्वीकार करने की कुछ (आदतें) होती हैं। वे समूह की मानसिक वृत्तियों का अंग होती हैं। हर नवागंतुक, चाहे वह समूह में जन्म से

या अंगीकरण से शामिल होता है, इस सामाजिक माध्यम की दीक्षा प्राप्त करता है। हर समूह के भीतर यह प्रक्रिया निरंतर चलती रहती है कि समूह की इन मानसिक वृत्तियों को समूह के हर नए सदस्य के मानस पर गोदा जाए। उसके द्वारा समूह व्यक्ति का समाजीकरण करता है या नवागंतुक की मानसिक तथा व्यावहारिक वृत्तियों का निरूपण करता है। वह समूह पर आश्रित हो जाता है। अतः वह समूह की मानसिक वृत्तियों को उसी प्रकार अस्वीकार नहीं कर सकता, जिस प्रकार वह अपने भौतिक पर्यावरण की स्थिति और विनियमन को अस्वीकार नहीं कर सकता। वस्तुतः वह समूह पर इतना आश्रित हो जाता है कि तुरंत पंक्ति में खड़ा हो जाता है और समूह में प्रचलित श्रद्धा और व्यवहार के तौर-तरीकों को स्वीकार कर लेता है। वे उसके अपने मानस की स्थाई वृत्ति बन जाते हैं।

समूह व्यक्ति का किस प्रकार समाजीकरण करता है, इसका सविस्तार वर्णन ग्रोटे[1] ने किया है। वह कहते हैं :

> क्या सत्य अथवा असत्य है, संभव अथवा असंभव है, उचित या अनुचित है, पवित्र अथवा अपवित्र है, सम्माननीय या अवमाननीय है, श्रद्धेय अथवा अश्रद्धेय है, शुद्ध अथवा अशुद्ध है, सुंदर अथवा असुंदर है, श्लील अथवा अश्लील है, बाध्यकारी या अबाध्यकारी है, इसके प्रति विश्वास संबंधी आस्थाओं और प्रवृत्तियों का तथा नैतिक, धार्मिक, सौंदर्यात्मक और सामाजिक श्रद्धा का समाज में हर व्यक्ति के दर्जे तथा संबंधों के प्रति और मनोरंजन के मान्य तौर-तरीकों के प्रति सम्मान का जो यह समूचा संगम है, वह एक सुस्थापित तथ्य तथा परिस्थिति है। इसका वास्तविक उद्‌गम अधिकांशतः अज्ञात है, लेकिन समूह का हर नया सदस्य इस पर जन्म और व्यवहार से आश्रित है। ... वह हर व्यक्ति की प्रकृति का अंग बन जाता है, उसके मानस की स्थाई वृत्ति अथवा मानसिक प्रवृत्तियों का निर्धारित समूह बन जाता है। उसी के अनुसार अनुभव विशेष का आकलन और व्यक्ति विशेष का मूल्यांकन वह करता है।... समुदाय उस व्यक्ति से घृणा, द्वेष और उसका तिरस्कार करता है, जो अपने समाज के धर्ममत से असहमति प्रकट करता है।... उनकी घृणा भी अलग-अलग रूपों में उजागर होती है... उसकी पराकाष्ठा, सहिष्णुता, सद्‌भाव और सम्मान का वह अपवंचन है, जो व्यक्ति के जीवन को दूभर बना देता है।

लेकिन वह क्या है, जिसके फलस्वरूप यह स्थिति आती है? ग्रोटे ने स्वयं

1. *ग्रोटे, प्लेटो एंड दि अदर कंपेनियन्स आफ सौकरेट्स, खंड* 1, पृ. 249

इस प्रश्न का उत्तर दिया है। उनका उत्तर है कि इसका कारण है, 'नोमोस (नियम तथा प्रथा) सबका राजा (इसे हेरोडोटस ने पिंडार से उद्धृत किया है), व्यक्ति के मानस पर राज करने वाली यह लौकिक और अलौकिक पूर्ण प्रभुत्व वाली सत्ता है जो स्थानीय सांचे के अनुसार बुद्धि तथा भावनाओं को ढालती है और सहज एवं स्वाभाविक प्रवृत्तियों का मुखौटा धारण करके राज करती है।'

इस सबका निष्कर्ष यह है कि जब किसी समुदाय के भीतर कर्म, अनुभव, आस्था, आकलन, स्वीकृति अथवा अस्वीकृति के तौर-तरीके छन-छनकर प्रथा और परंपरा का रूप धारण कर लेते हैं तो उन्हें लागू करने के लिए कानून की मान्यता की आवश्यकता नहीं रह जाती। समूह सदैव सामूहिक कार्यवाही द्वारा पूर्णाधिकारों का अंबार खड़ा कर सकता है और देख सकता है कि उनका उल्लंघन न होने पाए।

मनु की धर्म-व्यवस्था पर भी यही बात लागू होती है। सदी-दर-सदी मनु के धर्म में यह विनियमन शक्ति चली आ रही है, अतः वह हिंदुओं की प्रथाओं और परंपराओं का अभिन्न और अनिवार्य अंग बन गया है। वह हिंदुओं के रक्त में समा गया है और उसने उनके जीवन के रक्त को विशिष्टता प्रदान की है। कानून के रूप में उसने हिंदुओं के कर्मों पर नियंत्रण किया। भले ही वह अब प्रथा मात्र है, पर आज भी उसका कम महत्व नहीं है। वह पीढ़ी-दर-पीढ़ी उसके चरित्र को ढालता है और उसके दृष्टिकोण की दिशा को निर्धारित करता है।

एक और बात है, जो मनु के धर्म को समाप्त नहीं होने देती। वह यह है कि कानून उसके प्रचार-प्रसार को नहीं रोकता। यह एक ऐसी परिस्थिति है, जो संभवतः अनेक लोगों के जहन में नहीं उतरने पाती। यह कहा जाता है कि ब्रिटिश राज की एक देन यह है कि *'मनुस्मृति'* अब इस देश का कानून नहीं रह गई है। इसमें संदेह नहीं कि यह एक महान देन है कि अदालतों से अब यह अपेक्षा नहीं की जाती कि वे *'मनुस्मृति'* के उपबंधों को कानून के नियमों के रूप में लागू करें। इस बात को तो वे भुक्तभोगी ही अच्छी तरह समझ सकते हैं, जो इस 'घिनौनी' चक्की के पाटों के नीचे पिसे हैं। यह अस्पृश्यों के लिए उतना ही महान वरदान है, जितना कि यूरोपवासियों के लिए धर्म-सुधार था। लेकिन साथ ही यह भी याद रखना होगा कि धर्म-सुधार का स्थाई लाभ न होता, यदि उसके बाद 'प्रोटेस्टैंट क्रांति' न होती। मेरे विचार में प्रोटेस्टैंट क्रांति की विशिष्टताएं इस प्रकार हैं : (1) राज्य सर्वोपरि है और चर्च राज्य के अधीन है, (2) जिस सिद्धांत का प्रचार कराना हो, उसका अनुमोदन राज्य से कराया जाए, और (3) पादरी राज्य के ही सेवक होंगे और वे न केवल उन अपराधों के लिए

दंड के भागी होंगे जो वे देश के सामान्य कानून के विरुद्ध करेंगे, बल्कि उनके लिए भी जिनमें नैतिक दुराचार शामिल होगा। वे दंड के भागी होंगे, यदि वे राज्य के अनुमोदन के बिना सिद्धांतों का प्रचार-प्रसार करेंगे। व्यक्तिगत रूप से मैं 'राज्य द्वारा मान्य' चर्च का पक्षधर हूं। यह एक ऐसी व्यवस्था है, जिसके अधीन यह सुरक्षा और संरक्षण है कि धर्म के सिद्धांतों के नाम पर कोई भी व्यक्ति अनुचित और घिनौने सिद्धातों का प्रचार-प्रसार नहीं कर सकता। मैं जानता हूं कि ऐसे लोग हैं, जो राज्य द्वारा मान्य चर्च की व्यवस्था का विरोध करते हैं। लेकिन चाहे यह व्यवस्था अच्छी हो या बुरी, तथ्य यह है कि मनु द्वारा निर्धारित धर्म के प्रचार-प्रसार पर कोई कानूनी रोक नहीं है। न्यायालय उसे कानून नहीं मानते। लेकिन कानून उसे कानून के प्रतिकूल भी तो नहीं मानता। वस्तुतः हर गांव में रोज ही यही होता है। जब पंडित इस धर्म का उपदेश माता-पिता को और माता-पिता उसका उपदेश अपने बच्चों को देते हैं, तो *'मनुस्मृति'* कैसे समाप्त हो सकती है? उसके पाठों की जड़ों को रोज सींचा जाता है और हर-एक को यह याद कराया जाता है कि अस्पृश्यता उनके धर्म का अंग है।

मनु के धर्म के इस दैनिक प्रचार-प्रसार की विषैली छूत, पुरुष हो या स्त्री, बच्चा हो या बूढ़ा, सबके मानस में घुस गई है। यह न्यायाधीशों के मानस में भी घुस गई है। कलकत्ता का एक समाचार[1] है। नौबिन नामक एक डोम (अस्पृश्य) पर बकरी की चोरी करने के इल्जाम में मुकदमा चलाया गया। उसका दोष सिद्ध नहीं हुआ। उसने वादी के खिलाफ मानहानि के लिए फरियाद की। मजिस्ट्रेट ने उसकी फरियाद को इस आधार पर खारिज कर दिया कि वह तो निम्न जाति का है, उसका कोई मान है ही नहीं। इस पर उच्च न्यायालय को हस्तक्षेप करना पड़ा। उसने मजिस्ट्रेट को निर्देश दिया कि उसका दृष्टिकोण गलत है और दंड प्रक्रिया के अधीन सभी व्यक्ति समान हैं। लेकिन प्रश्न यह है कि मजिस्ट्रेट को कहां से यह भान हुआ कि अस्पृश्य का कोई मान नहीं होता? निश्चय ही *'मनुस्मृति'* के उपदेश से।

मनु का धर्म तो कभी पुराना या बासी हुआ ही नहीं। वह तो इतना ताजा है कि जैसे उसे आज ही बनाया गया हो। लक्षण तो ऐसे हैं, जैसे भविष्य में भी उसका वर्चस्व बना रहेगा। प्रश्न केवल इतना है कि वह वर्चस्व अस्थाई होगा या चिरंस्थाई?

---

1. 2 डब्ल्यू.आर. (सीआर.) 35, सम्राज्ञी बनाम नोबिन डोम

स्पृश्यों तथा अस्पृश्यों के बीच एकता कानून के बल पर नहीं लाई जा सकती।... केवल प्रेम ही उन्हें एकता के सूत्र में पिरो सकता है।

–भीमराव अम्बेडकर

10

श्री गांधी की छत्रछाया में कांग्रेस के माध्यम से उनका कार्य

I. *विचित्र स्वागत,*

II. *महान खंडन,*

III. *आरोप-पत्र,*

IV. *आरोप-पत्र का आधार,*

V. *गांधी की त्रासदी, और*

VI. *भारत और अस्पृश्यों को उनकी देन।*

श्री गांधी 28 दिसंबर 1931 को लंदन से भारत लौटे। लंदन वह भारतीय गोलमेज सम्मेलन के दूसरे सत्र में प्रतिनिधि के रूप में भाग लेने के लिए गए थे। गोलमेज सम्मेलन में वह व्यक्ति और राजनेता, दोनों ही रूपों में नितांत विफल रहे और अपयश के भागी बने थे। मुझे पता है कि हिंदू लोग मेरी राय से सहमत नहीं होंगे। लेकिन दुर्भाग्यपूर्ण पक्ष यह है कि इस संबंध में मेरी राय श्री गांधी के परम मित्र की राय से मेल खाती है। मैं दो सज्जनों की रायों का हवाला दूंगा। श्री एवर गोलमेज सम्मेलन के दौरान श्री गांधी के निकट सहयोगी रहे थे। उन्होंने लंदन के गोलमेज सम्मेलन में श्री गांधी की भूमिका के बारे में इस प्रकार लिखा है[1]:

> सेंट जेम्स पैलेस में गांधी ने उन लोगों की मूर्खतापूर्ण आशा पर पानी फेर दिया, जिनकी नजर में वह सम्मेलन में महापुरुष की भांति पैर पसार कर बैठे हुए थे ... वह हतप्रभ हो गए थे।

* * * *

---

1. *गांधी इन लंडन* –*एशिया,* फरवरी 1952

उनका प्रथम भाषण निष्प्रभावी रहा। उसमें भावनात्मक अपील थी। उसमें जरूरत से ज्यादा विनम्रता थी और उसमें करोड़ों पीड़ित लोगों की अनन्य चिंता का राग अलापा गया था। किसी ने भी उसकी सच्चाई पर अंगुली नहीं उठाई। लेकिन उसकी अवाज खरे सिक्के जैसी नहीं थी। संभवतः वह सही बात थी, पर गलत जगह पर कही गई थी। न ही समग्र रूप से उनके बाद के हस्तक्षेप अधिक सफल रहे। उनकी यह कुछ शिकवाभरी शिकायत थी कि ब्रिटिश सरकार ने नए भारतीय संविधान के लिए कोई योजना प्रस्तुत नहीं की। उससे तो गांधी के कुछ सहयोगी ही मर्माहत हुए। उन्हें कदापि यह आशा नहीं थी कि राष्ट्रीय कांग्रेस का प्रतिनिधि ब्रिटिश मंत्रियों के आगे मार्गदर्शन और पहलकदमी के लिए गिड़गिड़ाएगा। घोर आश्चर्य! स्थिरता के लिए रुपये को पौंड से नत्थी करने के प्रति विरोध विफल रहा। मताधिकार तथा उससे जुड़े मामलों पर विचार-विमर्श के प्रति योगदान नगण्य रहा। पर्दे के पीछे वह हिंदू-मुस्लिम वार्ताओं में काफी सक्रिय रहे, लेकिन वहां भी परिणाम धुंधले थे। एक पल के लिए भी कमेटी की कार्यवाही के दौरान न तो गांधी ने अगुवाई की और न ही कोई सार्थक प्रभाव डाला। वह वहां बैठे रहे। कभी बोले, कभी चुप रहे और वहां काम उसी तरह चलता रहा, जैसे कि उनके बिना भी चलता।

प्रस्तुत है गोलमेज सम्मेलन में श्री गांधी की उपलब्धि के बारे में श्री बोल्टन का कथन : 'कूटनीतिज्ञ और राजनेता के रूप में श्री गांधी का क्या योगदान रहा?'

गोलमेज सम्मेलन के प्रथम सत्र के समापन पर तीन प्रश्न तय नहीं हो सके थे। जो तीन प्रमुख प्रश्न विवाद का विषय बने, वे थे— अल्पसंख्यकों का प्रश्न, संघात्मक ढांचे का प्रश्न और साम्राज्य में भारत के दर्जे का प्रश्न। उनको हल करने के लिए भारी कूटनीतिज्ञ सूझबूझ की जरूरत थी। बहुतेरों ने कहा कि उन प्रश्नों का निपटारा नहीं हो सका, क्योंकि गोलमेज सम्मेलन में कांग्रेस की बुद्धिमत्ता और प्राधिकार का प्रतिनिधित्व नहीं हो पाया था। दूसरे सत्र में श्री गांधी आए और उन्होंने अभाव की पूर्ति की। क्या श्री गांधी ने इन अनिर्णीत समस्याओं में से किसी एक का समाधान किया? मेरे विचार में यह कहना अनुचित नहीं होगा कि श्री गांधी ने सम्मेलन में नया मतभेद पैदा कर दिया। उन्होंने हर भारतीय प्रतिनिधि की खिल्ली उड़ाने की बचकाना हरकत शुरू कर दी। उन्होंने उनकी ईमानदारी और उनके प्रतिनिधि स्वरूप पर अंगुली उठाई। उन्होंने उदारपंथियों

पर छींटाकशी करते हुए कहा कि वे तो कोरे सिद्धांत बघारने वाले निष्क्रिय राजनेता हैं और उनके कोई समर्थक नहीं हैं। मुस्लिमों के बारे में उन्होंने कहा कि उनसे कहीं बेहतर प्रतिनिधित्व तो मुसलमानों का वह करते हैं। उन्होंने दावा किया कि दलित वर्गों का प्रतिनिधित्व तो वह करते हैं, न कि दलित वर्ग के प्रतिनिधि। अपने हर भाषण के अंत में वह यही बात बार-बार दोहराते थे और उससे घृणा-सी होने लगी थी। गैर-कांग्रेसी प्रतिनिधियों को सभी ईमानदार लोगों की ओर से धन्यवाद मिलना चाहिए कि उन्होंने श्री गांधी की इस बकवास और दंभ को सहन किया। उन्होंने न केवल श्री गांधी का बचाव करने के लिए उनसे सहयोग किया, बल्कि देश को उनकी गलती से बचाया। साथी प्रतिनिधियों के प्रति इस अभद्रता के अलावा क्या श्री गांधी उस ध्येय का समर्थन कर सके, जिसकी वकालत करने के लिए वह गए थे? वह ऐसा नहीं कर सके। उनका कार्य-संचालन अपयशकारी था। विरोध और संघर्ष के स्थान पर वह उन मामलों पर घुटने टेकने लगे, जिनके बारे मे उन्हें कभी भी हथियार नहीं डालने चाहिए थे। वह नरेशों के आगे झुक गए और उन्होंने उनकी यह बात स्वीकार कर ली कि संघात्मक विधान-मंडल में अपने प्रतिनिधि वे स्वयं मनोनीत करेंगे। प्रतिनिधि चुने नहीं जाएंगे, जैसे कि मांग उनके प्रजा-जनों ने की थी। वह अनुदारपंथियों के आगे झुक गए और प्रांतीय स्वायत्तता से संतुष्ट होने के लिए राजी हो गए। वह इस बात के लिए सहमत हो गए कि केंद्रीय दायित्व पर आग्रह नहीं किया जाएगा, जिसके लिए लाखों भारतीय जेल गए थे। केवल वह अल्पसंख्यकों के आगे नहीं झुके। यही वह एकमात्र पक्ष था, जिसके आगे वह झुक सकते थे और अपनी प्रतिष्ठा बढ़ा सकते थे तथा देश का भला कर सकते थे।

श्री गांधी की प्रतिष्ठा को ध्वस्त करने में सबसे अधिक योगदान गोलमेज सम्मेलन में उनकी भागीदारी ने किया। गोलमेज सम्मेलन में श्री गांधी की उपस्थिति उनके अनेक मित्रों के लिए पीड़ाजनक रही होगी। जिस भूमिका को निभाने का दायित्व उन्होंने लिया, उसके लिए वह उपयुक्त नहीं थे। किसी भी देश ने कभी भी संविधान-रचना के लिए ऐसा प्रतिनिधि नहीं भेजा था, जिसे न तो पूरा प्रशिक्षण मिला था, और न ही उसने पूरा अध्ययन किया था। गोलमेज सम्मेलन में श्री गांधी अपनी जुबान पर संत नरसी मेहता का गीत लेकर गए। उनके और देश के लिए बेहतर तो यही होता कि वह अपने साथ तुलनात्मक संवैधानिक विधि का एक ग्रंथ ले जाते। जिस विषय का निपटारा उन्हें करना था, उसका ज्ञान उन्हें नहीं था। अतः वह इस बारे में नितांत असमर्थ और असहाय

थे कि वह ब्रिटिश प्रस्तावों का खंडन कर सकें या उनके जवाब में अपने वैकल्पिक प्रस्ताव रख सकें। तो इसमें अचरज कैसा, यदि अपने भक्तों की टोली से बिछुड़े और राजनेताओं के चक्कर में फंसे श्री गांधी किंकर्तव्यविमूढ़ हो गए। हर मोड़ पर उन्होंने गड़बड़ी की और जब देखा कि उससे भी काम नहीं चलेगा तो वह हताश होकर भारत लौट आए।

जब श्री गांधी ने भारत की धरती पर कदम रखा, तो उनका कैसा स्वागत हुआ? बाहर वालों तथा उन लोगों को जो श्री गांधी के भक्त नहीं हैं, यह प्रश्न विचित्र लग सकता है, पर यह तथ्य है कि जब लौयड ट्रिस्टिनो के पानी के जहाज पिल्सनर ने 28 दिसंबर 1931 को प्रातः 8 बजे बंबई बंदरगाह में प्रवेश किया तो पुरुष, स्त्री एवं बच्चों की उल्लासभरी भीड़ ने उनका स्वागत किया। पोत-घाट पर उनकी वापसी पर उनका स्वागत करने और उनके दर्शन के लिए हजारों लोग एकत्र हो गए थे। इस स्वागत की भव्यता की विशद झांकी *'टाइम्स आफ इंडिया'* और *'ईवनिंग न्यूज'* के निम्न उद्धरणों से मिल जाएगी :

> पिल्सनर जहाज ने जब बंदरगाह में प्रवेश किया तो उसके साथ केसरिया रंग की साड़ी पहने देश-सेविकाओं (कांग्रेस की स्वयंसेविकाओं) का अनुरक्षक दल था। वे पोत-घाट से कुछ दूरी तक छोटी नौकाओं में बैठकर गई थीं।
>
> कांग्रेस कमेटी ने बंबई फ्लाइंग क्लब से अनुरोध किया था कि उसके एक-दो विमान पिल्सनर पर उड़ान भरें और जब वह पोत-घाट के किनारे-किनारे चले, तो उस पर वे फूलमालाओं की वर्षा करें। लेकिन फ्लाइंग क्लब ने बुद्धिमानी का परिचय देते हुए यही उचित समझा कि वह राजनीति से दूर रहे। उसने कांग्रेस के अनुरोध को स्वीकार नहीं किया।
>
> बेल्लार्ड पायर (पोत-घाट) का लंबा-चौड़ा सेंट्रल हाल कांग्रेसी झंडों और झंडियों से सजा हुआ था। हाल के मध्य में एक विशाल मंच तैयार किया गया था। स्थानीय तथा देहातों के विभिन्न संगठनों के प्रतिनिधियों के लिए उसके चारों ओर कुर्सियां बिछाई गई थीं। इन प्रतिनिधियों को प्रवेश-पत्र दिए गए थे।
>
> पोत-घाट और नगर से स्वागत-कक्ष की ओर आने वाले दोनों मार्गों पर पंक्तिबद्ध देश-सेविकाएं खड़ी हुई थीं। वे राष्ट्रीय झंडे लहरा रही थीं। कक्ष के भीतर मंच की रक्षा और एकत्रित लोगों पर नियंत्रण का कार्य भी

स्वयंसेविकाओं को सौंपा गया था।

कांग्रेसी नेताओं से घिरे श्री गांधी मंच पर पहुंचे और जय-जयकार तथा तालियों की गड़गड़ाहट से उनका स्वागत किया गया। उन्होंने मंच पर अभी कदम रखा भी नहीं था कि उनके पास तार द्वारा संदेशों (संभवतः स्वागत के) की बाढ़-सी आने लगी। उनका तांता-सा बंध गया।

मंच पर खड़े-खड़े ही वहां एकत्रित सार्वजनिक संस्थाओं के प्रतिनिधियों ने उनके गले में बारी-बारी से फूलों की मालाएं अर्पित कीं। इन प्रतिनिधियों के नाम छपी हुई एक लंबी सूची से पुकारे गए। सूची की प्रतियां पहले से ही बांट दी गई थीं।

माल्यार्पण के साथ ही स्वागत कक्ष की कार्यवाही समाप्त हो गई।

फिर श्री गांधी के लिए जिस वाहन की व्यवस्था की गई थी, उसके साथ चार-चार व्यक्तियों की कतार में एक जुलूस तैयार किया गया। श्री गांधी को एक सुसज्जित मोटर कार में बैठाया गया। उनके बाईं ओर श्री वल्लभभाई पटेल, दाईं ओर श्री विट्ठलभाई पटेल और सामने की सीट पर बंबई प्रांत की कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष श्री के.एफ नरीमन बैठे थे।

श्री गांधी की कार के पीछे थी एक पाइलट कार और उसके पीछे थीं अन्य कारें, जिनमें कांग्रेस कार्यकारिणी के सदस्य थे। इस प्रकार जुलूस बेल्लार्ड पायर मार्ग, हार्नबी मार्ग और कालबादेवी मार्ग से होकर गुजरा। कांग्रेस कमेटी के अनुरोध पर इन मार्गों को नागरिकों ने भली-भांति सजाया था। मार्ग के दोनों ओर पांच से दस-दस की कतारों में लोगों की भीड़ खड़ी थी और तालियों आदि से स्वागत कर रही थी। अंत में जुलूस 'मनी भुवन, गामदेवी' पहुंचा।

पूरे स्वागत समारोह में कहीं भी श्री गांधी ने अभिवादन स्वीकार करने के लिए अपना मुंह नहीं खोला। व्रतों से बंधे इस व्यक्ति का रविवार का मौन व्रत था और उसका समय तब तक समाप्त नहीं हुआ था। न ही उन्होंने वहां एकत्रित लोगों के प्रति उस शिष्टता, सद्व्यवहार अथवा आदर की ओर कोई ध्यान दिया, जिसका तकाजा था कि वह उससे पूर्व ही अपना व्रत तोड़ देते।

कांग्रेस के आधिकारिक इतिहासकार ने श्री गांधी के इस स्वागत का वर्णन[1] इस प्रकार किया है :

> बंबई में भारत के सभी भागों तथा प्रांतों के लोग एकत्र हुए और उन्होंने लोकप्रिय जन-नेता का समुचित स्वागत किया। स्टीमर पर श्री गांधी का स्वागत करने के लिए जो मित्र पहुंचे, उनके प्रति उन्होंने बड़ी आत्मीयता प्रकट की। अनेक लोगों के उन्होंने कंधे थपथपाए, कुछ को कसकर धौल जमाई और वयोवृद्ध अब्बास तैयबजी की दाढ़ी को उन्होंने खींचा। 'कस्टम हाउस' के एक कक्ष में उनका औपचारिक स्वागत किया गया। फिर बंबई की सड़कों पर एक ऐसा जुलूस निकाला गया, जो स्वदेश में राजाओं के लिए भी ईर्ष्या का विषय हो सकता है।

इस विवरण को पढ़कर हमें आयरलैंड के सेन फेन प्रतिनिधियों की याद आ जाती है। वे ठीक 10 वर्ष पूर्व 1921 में आयरिश स्वराज के प्रश्न के निपटारे के लिए श्री लायड जार्ज के आमंत्रण पर लंदन गए। कौन नहीं जानता कि आयरिश प्रतिनिधियों ने ब्रिटिश मंत्रिमंडल से एक संधि की थी। उस पर 8 दिसंबर 1921 को हस्ताक्षर हुए थे। बाद में संधि सेन फेन पार्टी की संसद की 'डेल' (निचले सदन) के सामने अनुमोदन के लिए प्रस्तुत की गई। उसकी बैठक 14 दिसंबर 1921 से 7 जनवरी 1922 तक चली। 7 जनवरी को मत-विभाजन हुआ। संधि के पक्ष में 64 वोट पड़े और विपक्ष में 571 और इस संधि को कराने वाले आयरिश प्रतिनिधियों का कैसा स्वागत हुआ? आर्थर ग्रिफिथ आयरिश प्रतिनिधि-मंडल के अध्यक्ष थे और माइकेल कौलिन्स उनके सर्वाधिक प्रमुख सहयोगी। संधि-विरोधी सेन फेन पार्टी के लोगों ने दोनों को गोली से उड़ा दिया। आर्थर ग्रिफिथ की 12 अगस्त को और माइकेल कौलिन्स की 22 अगस्त 1922 को हत्या कर दी गई। उनकी इस निर्मम हत्या का कारण यह था कि संधि में अल्सटर के समावेश और आयरलैंड के लिए गणराज्य की व्यवस्था नहीं थी। यह सच है कि संधि में इसकी व्यवस्था नहीं थी। लेकिन यदि इसे ध्यान में रखा जाए कि बातचीत दोनों पक्षों के बीच इस स्पष्ट समझौते के आधार पर शुरू की गई थी कि ये दोनों प्रश्न वार्ता के दायरे से बाहर थे, तो यह स्वीकार करना होगा कि यदि संधि में उनका समावेश नहीं किया गया, तो उसमें आयरिश प्रतिनिधियों का कोई दोष नहीं था। आयरिश प्रतिनिधियों के प्रति संधि-विरोधी सेन फेन पार्टी वालों ने जो रोष और आक्रोश व्यक्त किया, उसका कोई नैतिक आधार नहीं था। आर्थर ग्रिफिथ तथा माइकेल कौलिन्स पर दुर्भाग्य की जो गाज गिरी, उसे किसी भी दृष्टि से उचित नहीं कहा जा सकता।

जो भी हो, श्री गांधी के इस स्वागत को बड़ी ही अजीबोगरीब घटना माना जाएगा। दोनों ही स्वराज प्राप्ति के लिए गए। ग्रिफिथ और कोलिन्स ने आयरलैंड के लिए और

---

1. पट्टाभि सीतारमैया, *हिस्ट्री आफ दि कांग्रेस*, पृ. 857

श्री गांधी ने भारत के लिए प्रयास किया। ग्रिफिथ और कौलिन्स सफल हुए और उनकी लगभग जीत हुई। श्री गांधी विफल रहे और उनके हाथ लगी केवल पराजय और अपयश। फिर भी कौलिन्स और ग्रिफिथ को गोली से उड़ा दिया गया, और श्री गांधी को मिला ऐसा स्वागत कि राजा भी उनसे ईर्ष्या करने लगें। दोनों के भाग्य के बीच कैसी स्पष्ट और क्रूर विषमता? कहां कौलिन्स और ग्रिफिथ का दुर्भाग्य, और कहां श्री गांधी के भव्य स्वागत का सौभाग्य? क्या भारत और आयरलैंड के देशभक्तों में कोई अंतर है? क्या जनता ने श्री गांधी का यह स्वागत अंध-श्रद्धा के कारण किया या भाड़े के प्रेस ने श्री गांधी की विफलता के बारे में उसे अंधेरे में रखा? मैं जो उत्तर दे सकता हूं, उससे भी बदतर स्थिति यह है।[1]

II

जब श्री गांधी का यह भव्य स्वागत किया जा रहा था, तो श्री गांधी का विरोध करने के लिए बंबई के अस्पृश्य पोत-घाट पर आए थे। इस प्रदर्शन का उल्लेख करते हुए समाचार-पत्रों में प्रकाशित रिपोर्टों में कहा गया था :

> बेल्लार्ड पायर के द्वार के ठीक बाहर दृश्य अति उत्तेजनापूर्ण था। एक ओर दलित वर्ग के वर्दीधारी स्वयंसेवक खड़े थे, जो काले झंडे लहरा रहे थे और साथ-साथ श्री गांधी के विरुद्ध उपहासपूर्ण नारे और अपने नेता की प्रशंसा में प्रशंसा-भरे नारे लगा रहे थे। दूसरी ओर कांग्रेस के समर्थक जवाबी नारों की गर्जना कर रहे थे।

अस्पृश्यों के प्रदर्शन में पुरुष एवं स्त्रियां शामिल थीं। प्रदर्शनकारी हजारों की संख्या में थे और वे काले झंडे लहरा रहे थे। झंडे श्री गांधी के प्रति विरोध के प्रतीक थे। भीड़ कृतसंकल्प थी और वह श्री गांधी के स्वागत के लिए वहां बड़ी संख्या में एकत्रित लोगों के डराने-धमकाने के बावजूद यह दर्शाने पर तुली हुई थी कि वह श्री गांधी का विरोध करती है। उसके कारण झड़प हुई और खून बहा। दोनों पक्षों के चालीस लोग हताहत हुए।

पहली बार श्री गांधी को यह अहसास कराया गया कि उनके खिलाफ भी काले झंडे लहराए जा सकते हैं। निश्चय ही इससे उन्हें आघात लगा होगा। अगले दिन जब उनसे इसके बारे में पूछा गया तो उन्होंने कहा कि वह क्रुद्ध नहीं हैं। अस्पृश्य तो उनके हाड़-मांस के ही अंश हैं। निश्चय ही यह सत्य पर पर्दा डालने का महात्माई ढंग है। हम इस सुविधाजनक तथा कृत्रिम झूठ की परवाह न करते, यदि इसके पीछे

---

1. कांग्रेस के आधिकारिक इतिहासकार संभवतः यह अनुभव करते हैं कि श्री गांधी का यह स्वागत उनकी राजनीतिक उपलब्धि पर आधारित है और कहते हैं—(सीतारमैया का वक्तव्य मूल अंग्रेजी की पांडुलिपि में नहीं दिया गया है— संपादक।

यह अनुभूति होती कि भीड़ से सदैव यह अपेक्षा नहीं की जा सकती कि वह अपने नायक के प्रति वफादार रहेगी ही। खेद है कि भारत के कांग्रेस-जनों में क्रौमवेल जैसे यथार्थवादी व्यकितयों का अभाव है। कहा जाता है कि क्रौमवेल जब एक महान युद्ध के बाद लौटे, तो उनका स्वागत करने के लिए एक विशाल भीड़ एकत्रित हुई। उनके एक मित्र ने उन पर भीड़ की विशालता का सिक्का जमाने का प्रयास किया। लेकिन क्रौमवेल ने बात को हंसी और व्यंग्य में उड़ाते हुए कहा, 'हां-हां, मैं जानता हूं, बहुतेरे इस आशा से भी आएंगे कि मुझे फांसी पर झूलता हुआ देखें' कोई कांग्रेसी नेता क्रौमवेल के यथार्थवाद को अनुभव नहीं करता। वह तो यह अनुभव करता है कि वह दिन कभी आएगा ही नहीं जब उसे फांसी पर लटकाया जाएगा या फिर वह यह अनुभव करता है कि भारतीय भीड़ कभी भी मननशील भीड़ नहीं बन पाएगी। पर निश्चय ही भारतीय भीड़ का यह अंश मननशील है। इसे अस्पृश्यों के उन प्रतिनिधियों ने दर्शा दिया है जो काले झंडे लेकर श्री गांधी का विरोध करने के लिए 28 तारीख को एकत्र हुए।

अस्पृश्यों ने श्री गांधी का विरोध क्यों किया? इस प्रश्न का उत्तर उस वक्तव्य में मिल जाएगा, जिसे इन प्रदर्शनों के आयोजकों ने जारी किया था। उसे मुद्रित रूप में उसी दिन प्रसारित किया गया था। प्रस्तुत हैं उसके उद्धरण :

गांधीजी और कांग्रेस के विरुद्ध हमारा आरोप-पत्र
कोरे आशीर्वाद और कोरी सहानुभूति का नाटक बंद करो
हमें न्याय दो, हमारे साथ ईमानदारी बरतो

1. इस तथ्य के बावजूद कि अस्पृश्यता-निवारण को कांग्रेस के रचनात्मक कार्यक्रम में शामिल कर लिया गया है, इस संस्था ने उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अभी तक लगभग कुछ भी नहीं किया है। महाड और नासिक में अस्पृश्यता के विरुद्ध हमारे संघर्षों में अधिकांश स्थानीय कांग्रेसी नेता हमारे कट्टर विरोधी रहे हैं।

2. दलित वर्गों के विश्वासपात्र और मान्यता प्राप्त नेता डा. अम्बेडकर ने उनकी मांगों को लंदन के गोलमेज सम्मेलन में जिस रूप में प्रस्तुत किया था, उनके बारे में गांधीजी का रवैया अति अनुचित, कठोर और अस्पष्ट था।

3. गांधीजी कांग्रेस की ओर से इस बात के लिए तैयार थे कि मुसलमानों और सिखों के विशेष दावे मान लिए जाएं, जिनमें 'ऐतिहासिक आधारों' पर पृथक प्रतिनिधित्व की मांग भी शामिल थी, लेकिन वह दलित वर्गों को सामान्य निर्वाचन-क्षेत्रों में आरक्षित सीटें देने के लिए भी तैयार नहीं थे, जब कि वह जानते थे या उन्हें जानना चाहिए था कि यदि उन्हें स्वर्ण हिंदुओं की दया पर छोड़ दिया गया, तो उनके साथ कैसा व्यवहार किया जाएगा।

* * * *

9. दलित वर्गों की पृथक प्रतिनिधित्व की मांग के विरोध में गांधीजी ने कहा है कि वह नहीं चाहते कि हिंदू समाज खंड-खंड हो जाए या उसके छोटे-छोटे टुकड़े हो जाएं। लेकिन कांग्रेस अब अस्पृश्य समुदाय के एक वर्ग को दूसरे वर्ग से भिड़वाकर उसका विखंडन कर रही है। गांधीजी और कांग्रेस उचित व्यवहार नहीं कर रहे हैं। धोखेबाज दोस्तों से तो खुले दुश्मन हजार दर्जे बेहतर होते हैं।

10. यह दिखाने का प्रयास किया जा रहा है कि केवल गांधीजी और कांग्रेस ही दलित वर्गों का प्रतिनिधित्व करते हैं और इसके लिए वे चंद भाड़े के पिट्ठुओं और ठगों के द्वारा अभिनंदन करा रहे हैं। क्या हमारा यह कर्तव्य नहीं है कि हम हजारों की संख्या में एकत्र होकर तथ्य को उजागर करें और सत्य की उद्घोषणा करें? यह है, हमारा आरोप-पत्र गांधीजी और कांग्रेस के खिलाफ।

अतः फैसला वे लोग दें जो अंध-नायक पूजक और अंध-पक्षपाती न्यायकर्ता नहीं हैं।

महासचिव

दलित वर्ग संस्थान

III

क्या यह आरोप-पत्र सही है? श्री गांधी विश्व में न केवल इसलिए विख्यात हैं कि वह भारत के राजनेता हैं, बल्कि इसलिए भी कि वह अस्पृश्यों के पक्षधर हैं। संभवतः सच यह है कि बाहरी संसार श्री गांधी में अधिक रुचि इस कारण लेता है कि वह अस्पृश्यों के पक्षधर हैं, न कि इसलिए कि वह एक राजनेता हैं। उदाहरण के तौर पर हाल ही में *'मानचेस्टर गार्जियन'* ने अस्पृश्यों के लिए श्री गांधी के कार्य के बारे में एक संपादकीय लिखा है।

इसे देखते हुए आरोप नितांत निराधार दीख पड़ता है। क्योंकि, क्या श्री गांधी ने कांग्रेस से यह प्रतिज्ञा नहीं करवाई है कि वह अस्पृश्यता को मिटाएंगे? श्री गांधी के हाथों में आने से पूर्व कांग्रेस ने किसी भी सामाजिक समस्या को विचारार्थ अपने सामने रखे जाने से मना कर दिया था। राजनीतिक तथा सामाजिक समस्या के बीच एक स्पष्ट विभाजन रेखा खींच दी गई थी और अति सावधानी से प्रयास किया गया था कि कांग्रेस की गतिविधियों और विचार-विमर्शों को केवल राजनीतिक मसलों तक ही सीमित रखा जाए। पुरानी कांग्रेस ने अस्पृश्यों की ओर ध्यान देने से इंकार कर दिया था। बड़ी मुश्किल से 1917* में कांग्रेस ने पहली बार अपने सामने अस्पृश्यों

* मूल अंग्रेजी की पांडुलिपि में वर्ष का उल्लेख नहीं किया गया है–संपादक।

के मसले को रखे जाने की अनुमति दी और निम्न संकल्प पारित करने का अनुग्रह किया :

> कांग्रेस भारतवासियों से आग्रह करती है कि यह आवश्यक, न्यायोचित और न्यायसंगत है कि दलित वर्गों पर रीति-रिवाज द्वारा थोपी गई सभी असुविधाओं को दूर किया जाए। असुविधाएं अति जघन्य और दमनकारी प्रकार की हैं और उनसे इन वर्गों को भारी कठिनाई और असुविधा का सामना करना पड़ रहा है।[1]

कांग्रेस की बागडोर श्री गांधी के हाथों में 1920 में आ गई और कांग्रेस ने नागपुर में अपने सामान्य सत्र में निम्न संकल्प पारित किया :

अंतर-सांप्रदायिक एकता

> अंततः इस उद्देश्य से कि एक वर्ष के भीतर खिलाफत और पंजाब की गलतियां ठीक की जा सकें और स्वराज्य की स्थापना हो सके, यह कांग्रेस सभी सार्वजनिक संस्थाओं से, चाहे वे कांग्रेस से जुड़ी हों या नहीं, आग्रह करती है कि वे पूर्णतः इस बात की ओर ध्यान दें कि अहिंसा और सरकार से असहयोग की भावना फलेफूले और चूंकि असहयोग आंदोलन तभी सफल हो सकता है, जब स्वयं जनता के बीच पूर्ण सहयोग हो, अतः यह कांग्रेस सार्वजनिक संस्थाओं से हिंदू-मुस्लिम एकता को बढ़ावा देने की अपील करती है और इस कांग्रेस के हिंदू प्रतिनिधि गणमान्य हिंदुओं से आग्रह करते हैं कि जहां भी ब्रह्मणों तथा गैर-ब्रह्मणों के बीच विवाद हों, उन सबको वे निपटा लें और हिंदू धर्म को अस्पृश्यता के कलंक से छुटकारा दिलाने के लिए विशेष प्रयास करें और यह कांग्रेस धर्माध्यक्षों से अनुरोध करती है कि दलित वर्गों के प्रति व्यवहार के मामले में हिंदू धर्म में सुधार किए जाने की पनपती हुई इच्छा को पूर्ण करने में वे अपना सहयोग प्रदान करें।

पुनः क्या श्री गांधी ने स्वराज प्राप्ति के लिए अस्पृश्यता-निवारण की शर्त नहीं रखी? 29 दिसंबर 1920 के *'यंग इंडिया'* में श्री गांधी ने लिखा था :

> सरकार से असहयोग का अर्थ है शोसितों के बीच सहयोग और यदि हिंदू अस्पृश्यता के कलंक को नहीं मिटाते तो एक वर्ष में तो क्या, सो वर्षों में भी स्वराज प्राप्त नहीं होगा।...

23 फरवरी 1921 के *'यंग इंडिया*' के अंक में स्वराज की शर्तों के बारे में लिखते

---

1. लेखक की कृति *'व्हाट कांग्रेस एंड गांधी हैव डन टू दि अनटचेबिल्स'* के पृ. 1 से यह उद्धरण लिया गया है। मूल अंग्रेजी की पांडुलिपि में यह टंकित नहीं है—संपादक।

हुए उन्होंने कहा था :

> अगले अक्तूबर तक स्वराज पा लेना कोई कठिन काम नहीं होगा, यदि कुछ मामूली शर्तें पूरी की जा सकें। मैंने गत सितंबर में एक वर्ष की अवधि का उल्लेख करने का साहस किया था, क्योंकि मैं जानता था कि शर्तें बहुत मामूली हैं और मुझे लगा था कि देश का वातावरण अनुकूल है। पिछले पांच महीनों के अनुभव ने मेरी राय को और पक्का कर दिया है। मुझे पूरा विश्वास है कि स्वराज की स्थापना के लिए देश आज जितना आतुर है, उतना पहले कभी नहीं था।
>
> लेकिन हमारे लिए यथासंभव सही रूप में शर्तों को जान लेना जरूरी है। एक सर्वोपरि अनिवार्य शर्त है, अहिंसा के क्रम को जारी रखना।...
>
> दूसरी शर्त है... हर ग्राम में कांग्रेस एजेंसी की स्थापना।
>
> कुछ बातें सभी पर लागू होनी चाहिएं। सर्वाधिक प्रभावी बात है, स्वदेशी। हर घर में चर्खा होना ही चाहिए और हर ग्राम ... आयोजन कर सकता है और आत्मनिर्भर हो सकता है।
>
> तिलक स्वराज फंड में हर पुरुष और स्त्री कुछ धन दे सकते हैं, भले ही वह एक पैसा हो। आंदोलन के लिए धन जुटाने के बारे में हमें कोई चिंता नहीं करनी चाहिए।
>
> हिंदू-मुस्लिम एकता के बिना और अस्पृश्यता के सर्प को मारे बिना हम कुछ नहीं कर सकते।...
>
> क्या इस मामूली से कार्य के लिए हमारे पास ईमानदार, सच्चे, परिश्रमी और देशप्रेमी कार्यकर्ता हैं। यदि हैं, तो अगले अक्तूबर से पूर्व ही भारत में स्वराज की स्थापना हो जाएगी?

अस्पृश्यों को और क्या चाहिए था? उनके पास श्री गांधी हैं, जिन्होंने स्वयं को अस्पृश्यों का मित्र घोषित किया है। उनका सेवक कहलाकर वह गर्व अनुभव करते हैं। उन्होंने दावा किया है, उन्होंने संघर्ष किया है कि उन्हें अस्पृश्यों का प्रतिनिधि माना जाए। श्री गांधी के प्रति अस्पृश्य ऐसा अविश्वास क्यों प्रकट करें?

कथनी के आधार पर आरोप निराधार दीख पड़ता है। लेकिन क्या यह आधार तब भी उतना ही निराधार दीख पड़ेगा, जब हम करनी की ओर ध्यान दें? प्रस्तुत है, श्री गांधी की करनी का मंथन।

श्री गांधी और उनके मित्रों ने अस्पृश्यों के लिए जो कार्य करने का दावा किया है, वह दो अवधियों का है। एक अवधि पूना समझौते से पूर्व की है और दूसरी पूना समझौते के बाद की। प्रथम अवधि को बारदोली कार्यक्रम वाली अवधि कहा जा सकता

है। दूसरी अवधि को हरिजन सेवक संघ की अवधि कहा जा सकता है।

प्रथम अवधि

I

आइए, बारदोली कार्यक्रम वाली अवधि से प्रारंभ करें। कांग्रेस का बारदोली कार्यक्रम या रचनात्मक कार्यक्रम उस नई कार्यनीति का सीधा नतीजा था, जिसे कांग्रेस ने देश की राजनीतिक मांगों को पूरा कराने के लिए अपनाया था।

सन् 1920 के अपने नागपुर अधिवेशन में कांग्रेस ने घोषणा की :

> चूंकि भारतवासी अब स्वराज की स्थापना के लिए कृतसंकल्प हैं, और
>
> चूंकि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के पिछले विशेष अधिवेशन से पूर्व भारतवासियों द्वारा अपनाए गए सभी उपाय उनके अधिकारों तथा राजनीतिक सुविधाओं को उचित मान्यता दिलाने में विफल रहे हैं;
>
> अतः अब यह कांग्रेस कलकत्ता के विशेष कांग्रेस अधिवेशन में पारित अहिंसक असहयोग संबंधी संकल्प की पुष्टि करती है और घोषणा करती है कि एक ओर वर्तमान सरकार से स्वैच्छिक संबंध के परित्याग की तथा दूसरी ओर कर अदा न करने की व्यवस्था वाली अहिंसक असहयोग-योजना को समग्र या आंशिक रूप में उस समय लागू किया जाए, जिसका निर्धारण या तो भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस या फिर अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी करे और इस बीच वह इसके लिए देश को तैयार करे।...

सन् 1921 में अहमदाबाद के कांग्रेस अधिवेशन में घोषणा की गई :

> इस कांग्रेस की यह राय भी है कि सशस्त्र विद्रोह कर एकमात्र सभ्यतापूर्ण और प्रभावशाली विकल्प है सविनय अवज्ञा... अतः वह सभी कांग्रेसी कार्यकर्ताओं तथा अन्य सभी को सलाह देती है कि ... वे व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा तथा सामूहिक सविनय अवज्ञा का आयोजन करें।

असहयोग तथा सविनय अवज्ञा की इस नीति को कार्यरूप देने के लिए तथा उनमें भाग लेने के वास्ते लोगों को तैयार करने के लिए फरवरी 1922 में बारदोली में कांग्रेस कार्यकारिणी की बैठक हुई और उसमें निम्न कार्यक्रम तैयार किया गया।

> कार्यकारिणी कांग्रेस के सभी संगठनों को निम्न गतिविधियों में जुट जाने की सलाह देती है :
>
> 1. कांग्रेस के कम-से-कम एक करोड़ सदस्य बनाना।

2. चरखे का प्रचार-प्रसार करना और हाथ से कते तथा हाथ से बुने खद्दर के उत्पादन का आयोजन करना।

3. राष्ट्रीय स्कूलों की व्यवस्था करना।

4. बेहतर जीवन यापन के लिए दलित वर्गों को संगठित करना, उनकी सामाजिक, मानसिक तथा नैतिक दशा में सुधार करना, ताकि वे राष्ट्रीय स्कूलों में अपने बच्चे भेजने की प्रेरणा प्राप्त कर सकें और उनके लिए भी अन्य नागरिकों को प्राप्त सामान्य सुविधाओं की व्यवस्था कराना।

   टिप्पण: अतः जिन स्थानों में अस्पृश्यों के प्रति पूर्वाग्रह अब भी प्रबल हैं, वहां निश्चय ही कांग्रेस के फंड से अलग स्कूलों तथा अलग कुओं की व्यवस्था की जाए। इस बात का भरसक प्रयास किया जाए कि ऐसे बच्चे राष्ट्रीय स्कूलों में आएं और लोगों से अनुरोध किया जाए कि वे अस्पृश्यों को सांझे कुओं का इस्तेमाल करने दें।

5. घर-घर जाकर मद्यपान के व्यसनी लोगों के बीच मद्य-त्याग अभियान का आयोजन करना और धरना देने के स्थान पर व्यसनी के घर में अपील का सहारा अधिक लेना।

6. सभी विवादों के निजी निपटारे के लिए ग्राम तथा नगर पंचायतों का संगठन करना, उनकी आज्ञा का पालन करना, यह सुनिश्चित करने के लिए केवल जनमत की शक्ति और पंचायत के निर्णयों की सच्चाई का आश्रय लेना।

7. असहयोग आंदोलन का लक्ष्य है, सभी वर्गों तथा जातियों के बीच एकता पर जोर देना और आपसी भाईचारे की स्थापना करना। अतः उसके लिए एक समाज सेवा विभाग का गठन किया जाए, जो बीमारी अथवा दुर्घटना की दशा में बिना किसी भेदभाव के सभी की मदद करे।

8. तिलक मेमोरियल स्वराज फंड की उगाही को जारी रखना और हर कांग्रेसी तथा कांग्रेस के शुभचिंतक से अनुरोध करना कि वह 1921 के लिए अपनी वार्षिक आय का कम-से-कम एक सौवां भाग दे। हर प्रांत तिलक मेमोरियल स्वराज फंड से होने वाली अपनी आय का 25 प्रतिशत भाग हर महीने अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के पास भेजे।

यदि आवश्यक होगा तो संशोधन के लिए उक्त संकल्प को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के आगामी अधिवेशन में प्रस्तुत किया जाए।

इस कार्यक्रम को 20 फरवरी 1922 को दिल्ली में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक में प्रस्तुत किया गया। उसी में उसकी पुष्टि भी हुई। यह कार्यक्रम अति

विशाल कार्यक्रम है। मेरा इससे कोई सरोकार नहीं है कि समग्रतः उसके बारे में क्या हुआ, उसका कैसा स्वागत हुआ और कैसे उसे तैयार किया गया। मेरा सरोकार तो केवल एक मद से है और उसका संबंध दलित वर्गों से है।

जब अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने इसकी पुष्टि कर दी तो उसके बाद जून 1922 में लखनऊ में कांग्रेस कार्यकारिणी की बैठक हुई और उसमें निम्न संकल्प पारित किया गया :

> यह कमेटी एतद् द्वारा एक कमेटी नियुक्त करती है, जिसमें स्वामी श्रद्धानंदजी, श्रीमती सरोजिनी नायडू, और सर्वश्री आई. के. याज्ञनिक और जी.बी. देशपांडे होंगे। वह देश-भर के तथाकथित अस्पृश्यों की दशा सुधारने के लिए अपनाए जाने वाले व्यावहारिक उपायों की योजना तैयार करेगी और उसे अपनी अगली बैठक में विचारार्थ प्रस्तुत करेगी। फिलहाल योजना के लिए जुटाई जाने वाली राशि दो लाख रुपये होगी।

यह संकल्प जून 1922 में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की लखनऊ में आयोजित बैठक में प्रस्तुत किया गया। उसने संकल्प को इस संशोधन के साथ स्वीकार कर लिया कि कार्यकारिणी के संकल्प में पूर्व प्रस्तावित दो लाख रुपये के स्थान पर 'फिलहाल योजना के लिए जुटाई जाने वाली राशि पांच लाख रुपये हो।' यह कार्यक्रम कैसा रहा, कमेटी ने कौन से व्यावहारिक उपायों का सुझाव दिया और इन उपायों को कहां तक अमल में लाया गया? इन प्रश्नों को हमें उठाना ही होगा, यदि हमें अस्पृश्यों के लिए श्री गांधी और कांग्रेस के कार्य का आकलन करना है।

ऐसा लगता है कि इससे पहले कि कमेटी की नियुक्ति के संकल्प को कार्यकारिणी स्वीकार करती, उसके सदस्य स्वामी श्रद्धानंद ने कमेटी की सदस्यता को त्याग दिया, क्योंकि हम देखते हैं कि उसी बैठक में जिसमें कार्यकारिणी ने यह संकल्प पारित किया, निम्न आशय का एक और संकल्प कार्यकारिणी ने पारित किया :

> दलित वर्ग संबंधी कार्य योजना तैयार करने के लिए अग्रिम राशि के बारे में दिनांक 8 जून 1922 का स्वामी श्रद्धानंदजी का पत्र पढ़ा गया। संकल्प किया गया कि इस प्रयोजन के लिए गठित उप-समिति के संयोजक के रूप में श्री जी.बी. देशपांडे को नियुक्त किया जाए और उनसे अनुरोध किया जाए कि वह शीघ्र ही किसी तिथि पर बैठक बुलाएं और स्वामी श्रद्धानंद का पत्र उप-समिति को भेज दें।

कार्यकारिणी की बैठक पुनः जुलाई 1922 में बंबई में हुई और उसमें निम्न संकल्प पारित किया गया :

> महासचिव से अनुरोध किया जाए कि वह स्वामी श्रद्धानंद से अनुरोध करें कि वह अपने त्यागपत्र पर पुनर्विचार करें और उसे वापस ले लें, और दलित वर्ग उप-समिति के आकस्मिक व्यय के लिए संयोजक श्री जी.बी. देशपांडे के पास पांच सो रुपये की राशि भेज दी जाए।

इस प्रकार 1922 का वर्ष भी बीत गया, पर बारदोली कार्यक्रम की उस मद को कार्यरूप देने के लिए कुछ भी नहीं किया गया, जिसका संबंध दलित वर्ग से था। फिर 1923 का वर्ष आ गया। जनवरी 1923 में कार्यकारिणी की बैठक गया में हुई और उसमें निम्न संकल्प पारित किया गया :

> स्वामी श्रद्धानंद के त्यागपत्र के संदर्भ में संकल्प किया गया कि दलित वर्ग उप-समिति के शेष सदस्य कमेटी का गठन करें और श्री याज्ञनिक उसके संयोजक हों।

फरवरी 1923 में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक बंबई में हुई और यह देखकर कि तब तक कुछ भी नहीं किया गया, उसमें निम्न संकल्प दर्ज किया गया:

> संकल्प किया गया कि अस्पृश्यों की स्थिति का मसला आवश्यक कार्यवाही हेतु कार्यकारिणी के पास भेज दिया जाए।

तब कार्यकारिणी ने क्या किया? 17 अप्रैल 1923 को उसकी बैठक पूना में हुई और उसमें निम्न संकल्प किया गया :

> संकल्प किया गया कि जहां कांग्रेस की नीति के फलस्वरूप तथाकथित अस्पृश्यों के प्रति व्यवहार में कुछ सुधार हुआ है, वहां यह कमेटी इस बारे में सजग है कि इस संबंध में अभी बहुत कुछ करना बाकी है, और चूंकि अस्पृश्यता के इस मसले का संबंध विशेषतः हिंदू समाज से है, अतः अखिल भारतीय हिंदू महासभा से अनुरोध किया जाता है कि वह इस मसले को अपने हाथ में ले और हिंदू समाज में से इस अभिशाप को मिटाने के लिए जोरदार प्रयास करे।

इस प्रकार उस रचनात्मक कार्यक्रम का अंत हुआ, जिसका बीड़ा अस्पृश्यों के लिए श्री गांधी और कांग्रेस ने उठाया था। किसी भी दृष्टि से अस्पृश्यों के लिए बारदोली कार्यक्रम क्रांतिकारी कार्यक्रम नहीं था। उसमें अस्पृश्यता को मिटाने का प्रयास तो किया गया, पर उसमें जाति के बंधन को तोड़ने का प्रयास नहीं किया गया। उसमे अंतर्जातीय विवाह और सहभोज का कोई उल्लेख नहीं किया गया। उसमें अस्पृश्यों के लिए अलग कुओं तथा अलग स्कूलों के सिद्धांत को स्वीकार किया गया। वह केवल सुधार-कार्यक्रम था। फिर भी ऐसे निरापद कार्यक्रम को भी कांग्रेस पूरा नहीं कर सकी।

यह भी याद रखना ही होगा कि यह वह समय था, जब कांग्रेस संग्राम-पथ पर

चल पड़ी थी। उसने ब्रिटिश साम्राज्य से संघर्ष करने की ठान ली थी और वह हर समुदाय को अपनी ओर आकर्षित करने तथा सबको अंग्रेजों से विमुख करने के लिए अति आतुर थी। यह वह समय था, जब कांग्रेस से अपेक्षा की जा सकती थी कि वह अस्पृश्यों को जताए कि कांग्रेस उनकी पक्षधर है और वह उनका हितसाधन मुसलमानों की भांति ही करने के लिए तैयार है। इससे बढ़कर शुभ घड़ी और हो ही नहीं सकती थी। इस घड़ी में हिंदू-जन अस्पृश्यों के प्रति अपने वैमनस्य को दूर करके उनका हितसाधन कर सकते थे। लेकिन ऐसी शुभ घड़ी भी हिंदुओं को इतना भी तरंगित नहीं कर सकी कि वे अस्पृश्यों के हित में यह नगण्य कार्य भी कर सकते। अस्पृश्यों के प्रति हिंदुओं की समाज-विरोधी भावनाएं कितनी कठोर रही होंगी। परमानंद और महानतम प्रेरणा, यानी स्वराज प्राप्ति की आशा भी उनकी कठोरता को द्रवित नहीं कर सकी। कांग्रेस अपने कार्यक्रम को कार्यरूप नहीं दे सकी। वह शर्मनाक ढंग से विफल रही, और वह एक दुखद घटना तो थी ही। उस अग्नि में घी का काम उस रीति ने किया, जिस रीति से उस मामले को निपटाया गया।

अस्पृश्यों के सुधार-कार्य को इससे अधिक गंदे हाथों में नहीं छोड़ा जा सकता था। यदि कोई संस्था अस्पृश्यों के मसले को निपटाने में नितांत आयोग्य है तो वह है, हिंदू महासभा। वह एक लड़ाकू हिंदू संगठन है। उसका लक्ष्य और प्रयोजन हर हालत में उस हर चीज का संरक्षण करना है, जो हिंदू धर्म और संस्कृति का अंग है। वह समाज़ सुधारक संगठन नहीं है। वह पूर्ण रूप से एक राजनीतिक संगठन है, जिसका मुख्य उद्देश्य और लक्ष्य भारतीय राजनीति से मुस्लिमों के प्रभाव को मिटाना है। केवल अपनी राजनीतिक शक्ति को बनाए रखने के लिए वह अपनी सामाजिक एकजुटता को कायम रखना चाहता है। सामाजिक एकजुटता को बनाए रखने का उसका तरीका यह नहीं कि वह जाति अथवा अस्पृश्यता के बारे में बात करे। मेरी समझ में नहीं आता कि अस्पृश्यों के कार्य को चलाने के लिए कांग्रेस ने क्या सोचकर ऐसे संगठन को चुना। इससे पता चलता है कि कांग्रेस जैसे-तैसे एक विकट समस्या से अपना पिंड छुड़ाना चाहती थी। निश्चय ही हिंदू महासभा स्वयं तो इस कार्य के लिए आगे नहीं आई थी। कांग्रेस ने तो केवल एक पावन संकल्प पारित करके सिफारिश कर दी कि यह काम महासभा को सौंप दिया जाए, पर वित्तीय व्यवस्था के लिए कोई वचन नहीं दिया गया। अतः कार्य योजना शर्मनाक और अपयशकारी ढंग से ठप्प हो गई। फिर भी ऐसे हजारों कांग्रेसी होंगे, जिन्हें यह डींग हांकते हुए शर्म नहीं आएगी कि कांग्रेस तो अस्पृश्यों के हित और ध्येय के लिए संघर्ष कर रही है। इससे भी घटिया बात यह है कि ऐसे सैकड़ों विदेशी होंगे, जो चार्ल्स एफ. एंड्रयूज जैसे लोगों द्वारा किए गए झूठे प्रचार के प्रभाव में आकर ऐसा विश्वास करने के लिए तैयार हैं। एंड्रयूज महोदय श्री गांधी के मित्र हैं और उनका विचार है कि पश्चिमी जगत में गांधी का

प्रचार-प्रसार करना उनके जीवन का असली मिशन है।[1]

इतनी जानकारी काफी नहीं होगी कि प्रयास विफल हो गया और उसे बंद करना पड़ा। यह जानना जरूरी है कि स्वामी श्रद्धानंद ने इस्तीफा क्यों दिया और प्रस्तावित कमेटी में काम करने से इंकार क्यों कर दिया। उसके लिए कोई तो उचित कारण रहा ही होगा। कारण था। स्वामीजी अति जागरूक एवं प्रबुद्ध आर्यसमाजी थे और सच्चे दिल से अस्पृश्यता को मिटाना चाहते थे। इस मुद्दे के बारे में स्वामीजी और अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के महासचिव के बीच जो पत्र-व्यवहार हुआ, वह कांग्रेसियों की मनोवृत्ति पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। नीचे पूरे पत्र-व्यवहार को उद्धृत करने में मुझे कोई ग्लानि नहीं होगी।

स्वामीजी का पत्र

महासचिव
अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी
कैम्प, दिल्ली।

आपके पत्र संख्या 331 और 332 प्राप्त हुए। तदर्थ धन्यवाद। उनमें अस्पृश्यता के बारे में कार्यकारिणी और अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के संकल्प हैं। लेकिन खेद है कि कांग्रेस कमेटी का संकल्प जिस रूप में इस समय मुझे मिला है, उसमें पूर्णतः उस सबका समावेश उस रूप में नहीं हैं, जिस रूप में कमेटी ने उसे पास किया था।

तथ्य यह हैं। मैंने 23 मार्च 1922 को तत्कालीन महासचिव श्री विट्ठलभाई पटेल के पास निम्न पत्र भेजा था और उसे देश के प्रमुख दैनिक समाचार-पत्रों में प्रकाशित किया गया था।

> प्रिय श्री पटेल, एक समय था (देखिए 25 मई 1921 का *'यंग इंडिया'*) जब महात्माजी ने अस्पृश्यता के मसले को कांग्रेस के कार्यक्रम में अग्रणी स्थान दिया था। पर अब मैं देखता हूं कि दलित वर्गों के उत्थान के मसले को एक अंधेरे कोने मे फेंक दिया गया है। जहां खादी की ओर हमारे श्रेष्ठ कार्यकर्ता ध्यान दे रहे हैं और इस वर्ष के लिए उसके वास्ते पर्याप्त धनराशि की अलग से व्यवस्था की गई है, जहां राष्ट्रीय शिक्षा की देखभाल के लिए एक सशक्त उप-समिति का गठन किया गया है और उसके लिए धन की विशेष अपील की जाएगी, वहां अस्पृश्यता-निवारण के मसले को ताक पर रख दिया गया है। उसके लिए अहमदाबाद, अहमदनगर और मद्रास के केवल मामूली से अनुदान दिए गए हैं।

1. श्री एंड्रयूज ने तो एक बार वर्ण-व्यवस्था का भी समर्थन कर दिया।

मेरी राय है कि नौकरशाही ने हमारे छह करोड़ भाई-बंधुओं में से अधिकांश को हमसे विमुख कर दिया है। अतः खादी की योजना पूर्णतः सफल नहीं हो सकती। संभवतः कार्यकारिणी के सदस्य यह नहीं जानते कि हमारे दलित भाई खादी छोड़ रहे हैं और सस्ता विदेशी कपड़ा खरीद रहे हैं। लखनऊ में अगले जून की 7 तारीख को होने वाली अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक में, मैं निम्न संकल्प प्रस्तुत करना चाहता हूं :

अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के तीन सदस्यों वाली एक उप-समिति नियुक्त की जाए और वह तथाकथित दलित वर्गों के बारे में इस संकल्प को कार्यरूप दे कि प्रचार-कार्य के लिए उप-समिति को पांच लाख रुपये की राशि दी जाए और भविष्य में अनुदानों के निपटारे के लिए सभी अर्जियां उक्त उप-समिति को दी जाएं।

मेरे प्रस्ताव में कार्यकारिणी ने संशोधन किया। संशोधित प्रस्ताव इस प्रकार था :

यह कमेटी एतद् द्वारा एक कमेटी नियुक्त करती है, जिसमें स्वामी श्रद्धानंद, श्रीमती सरोजिनी नायडू और सर्वश्री आई.के. याज्ञनिक और जी.बी. देशपांडे होंगे। वह देश-भर के तथाकथित अस्पृश्यों की दशा सुधारने के लिए अपनाए जाने वाले व्यावहारिक उपायों की योजना तैयार करेगी और उसे इस कमेटी की अगली बैठक में विचारार्थ प्रस्तुत करेगी। फिलहाल योजना के लिए जुटाई जाने वाली राशि दो लाख रुपये होगी।

श्री पटेल ने मुझसे कार्यकारिणी के प्रस्तावित संकल्प को समग्रतः स्वीकार करने के लिए कहा। मैंने कार्यकारिणी के संकल्प को मानने से इंकार कर दिया और मैंने अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की प्रथम बैठक में ही 'दो लाख' के स्थान पर 'पांच लाख' शब्द इस शर्त के साथ रख दिए कि उसमें से एक लाख का आबंटन कार्यकारिणी नकद अपने फंड में से कर दे और शेष के लिए अपील की जाए।

कार्यकारिणी की ओर से श्री राजगोपालाचारी ने प्रस्ताव रखा कि अब कांग्रेस फंड में से राशि का आबंटन किए जाने के स्थान पर यह प्रावधान किया जाए कि जब कार्यकारिणी योजना को स्वीकार करे, तो कमेटी उतनी नकद राशि का आबंटन करे, जितनी वह उस समय इस प्रयोजन के लिए दे सके। ठीक-ठीक शब्द तो मुझे याद नहीं और जहां तक मेरी जानकारी है यह सच है कि उक्त रूप में संशोधन का समर्थन किया गया।

इस पर होहल्ला मच गया और सभी पक्षों ने यह आग्रह किया कि यह घोषणा की जाए कि कांग्रेस कमेटी के हाथ में कितनी नकद राशि शेष है। अध्यक्ष महोदय

मुझे बुलाकर एक ओर ले गए और गोपनीयता जताते हुए बोले कि कांग्रेस कमेटी के पास तो बहुत थोड़ी-सी नकद राशि है। अतः यदि सही स्थिति बताए जाने का आग्रह किया गया तो इससे आंदोलन पर आंच आएगी, क्योंकि बाहर के लोग और खुफिया विभाग के लोग भी यहां मौजूद हैं। इस पर मैंने श्री राजगोपालाचारी के संशोधन को स्वीकार कर लिया, भले ही मेरे प्रस्ताव के अनुमोदनकर्ता और समर्थकों ने उसका विरोध किया। लेकिन मेरे आश्चर्य की सीमा न रही, जब मैंने *'एसोसिएटेड प्रेस'* द्वारा प्रकाशित रूप में अपने संकल्प को दैनिक समाचार-पत्रों में देखा। उसमें श्री राजगोपालाचारी के संशोधन का तो कहीं नामोनिशान न था।

संशोधन पारित हो जाने के बाद कुछ सदस्यों ने सुझाव दिया कि उप-समिति के संयोजक की नियुक्ति की जाए। कई सदस्यों ने संयोजक के रूप में मेरे नाम का प्रस्ताव रखा। इस पर श्री विट्ठलभाई पटेल (तत्कालीन महासचिव) ने खड़े होकर कहा : 'चूंकि सर्वप्रथम स्वामी श्रद्धानंद के नाम का प्रस्ताव किया गया है, अतः स्वाभाविक है कि वही संयोजक होंगे। अतः किसी नए संकल्प को प्रस्तुत करने की कोई जरूरत ही नहीं है।'

देश के सभी भागों से आने वाले सदस्य अपने-अपने प्रांतों में अस्पृश्यता के बारे में मुझे सूचना देने लगे और मुझसे वहां आने का आग्रह करने लगे। इस पर मैंने कुछ वचन दिए। फिर मैंने सोचा कि जब तक प्रारंभिक व्यय के लिए कोई नकद राशि हाथ में न हो, तब तक मौके पर जाकर कोई पड़ताल संभव नहीं होगी और कोई समुचित योजना भी नहीं बनाई जा सकेगी। मुझे यह भी पता चला कि इलाहाबाद के *'दि इंडिपेंडेंट'* के लिए कार्यकारिणी ने पच्चीस हजार रुपये की स्वीकृति दे दी है और हकीम अजमल खान और डा. अंसारी ने कार्यकारिणी के सामने यह अर्जी पेश की है कि दिल्ली के उर्दू दैनिक *'दि कांग्रेस'* को दस हजार रुपये का अनुदान दिया जाए। अतः यह सोचकर कि बहरहाल कांग्रेस के पास नकद राशि का अधिक अभाव नहीं होगा, मैंने अध्यक्ष के नाम एक पत्र लिखा और अनुरोध किया कि वह प्रारंभिक व्यय के लिए दस हजार रुपये की अग्रिम राशि अस्पृश्यता उप-समिति को दे दें।

बहरहाल आपने अपने पत्र संख्या 331 के जरिए कार्यकारिणी का जो निम्न संकल्प भेजा है, वह बड़ा दिलचस्प है :

> दलित वर्ग संबंधी कार्य-योजना तैयार करने के लिए अग्रिम राशि के बारे में दिनांक 8 जून 1922 का स्वमी श्रद्धानंद का पत्र पढ़ा गया। संकल्प किया गया कि इस प्रयोजन के लिए गठित उप-समिति के संयोजक के रूप में श्री जी.बी देशपांडे को नियुक्त किया जाए और उनसे अनुरोध किया जाए कि वह शीघ्र ही किसी तिथि पर बैठक बुलाएं और स्वामी श्रद्धानंद का पत्र उप-समिति को भेज दें।

एक और मामला है, जो समझ में नहीं आता। जब मेरे प्रथम पत्र की प्राप्ति की सूचना मिली तो मैंने हरिद्वार से 3 जून 1922 को यह पत्र लिखा :

प्रिय श्री पटेल

मैं परसों हरिद्वार से चलूंगा और 6 जून को प्रातः लखनऊ पहुंच जाऊंगा। अब तक आप जान चुके होंगे कि तथाकथित दलित वर्गों के प्रति मेरे मन में अत्यधिक सहानुभूति है। पंजाब में भी मैंने देखा है कि रचनात्मक कार्य के इस मद की ओर कोई उल्लेखनीय ध्यान नहीं दिया गया है। निश्चय ही संयुक्त प्रांत में यह एक दुष्कर कार्य होगा। लेकिन एक और अति गंभीर कठिनाई है।

बारदोली कार्यक्रम की मद संख्या (4) के टिप्पण में कहा गया है कि जहां पूर्वाग्रह अब भी प्रबल हैं, वहां कांग्रेस फंड में से अलग कुओं तथा अलग स्कूलों की व्यवस्था करनी ही होगी। इससे उन कांग्रेसी कार्यकर्ताओं को बच निकलने का रास्ता मिल जाता है, जो या तो दलित वर्गों के प्रति पूर्वाग्रह रखते हैं या फिर कमजोर हैं। अतः इस दिशा में कोई कार्य नहीं किया जा सकता कि लोगों को इस बात के लिए राजी किया जाए कि वे साझे कुओं से अस्पृश्यों को पानी लेने दें। मुझे पता चला है कि बिजनौर जिले में कोई रोकटोक नहीं थी और अस्पृश्य बिना किसी संकोच के साझे कुओं से पानी लेते थे। लेकिन कुछ स्थानों में बारदोली संकल्प के टिप्पण के साए में नया पूर्वाग्रह पैदा किया जा रहा है। हाल ही में मैंने अंबाला, छावनी, लुधियाना, बटाला, लाहौर, अमृतसर और जंडियाला का दौरा किया। वहां मैंने देखा कि अस्पश्यों की असुविधाओं को दूर करने के मसले की अनदेखी की जा रही है। दिल्ली में और उसके आसपास कांग्रेस नहीं, अपितु दलितोद्धार सभा उल्लेखनीय कार्य कर रही है। उस सभा का मै अध्यक्ष हूं। मेरे विचार में यदि बारदोली रचनात्मक कार्यक्रम की मद संख्या (4) में समुचित संशोधन नहीं किया जाएगा तो वह कार्य पिछड़ जाएगा, जिसे मैं कांग्रेस कार्यक्रम का सर्वाधिक महत्वपूर्ण मोर्चा समझता हूं।

कृपया निम्न प्रस्ताव अध्यक्ष के सामने प्रस्तुत करें और यदि वह उसे अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की अलगी बैठक में रखे जाने की अनुमति दें, तो मैं उसे वहां प्रस्तुत करूंगा—'बारदोली संकल्प की मद संख्या (4) के टिप्पण के स्थान पर निम्न टिप्पण रखा जाए: दलित वर्गों की निम्न मांगों को तुरंत पूरा किया जाए, अर्थात (क) उन्हें अन्य वर्गों के नागरिकों के साथ एक ही दरी पर बैठने की अनुमति दी जाए, (ख) उन्हें साझे कुओं से पानी लेने का अधिकार दिया जाए, और (ग) उनके बच्चों को राष्ट्रीय स्कूलों तथा कालिजों में भर्ती किया जाए तथा उन्हें अनुमति दी जाए कि वे तथाकथित उच्च्य जाति के छात्रों के साथ बिना किसी रोकटोक के मिल-जुल सकें। मै अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सदस्यों के मस्तिष्क में यह बात बैठा देना चाहता हूं कि इस मद का भारी महत्व है। मुझे ऐसे मामलों की जानकारी है, जहां तथाकथित

उच्च जातियों के अत्याचार के विरोध में दलित वर्गों ने खुला विद्रोह किया है और यदि उनकी उपरोक्त मांगें पूरी न की गईं तो वे नौकरशाही की साजिशों के शिकार हो जाएंगे।' लखनऊ में 7 जून को जब अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक में मेरे प्रथम प्रस्ताव पारित कर दिए गए, तो उसके बाद मैंने श्री पटेल से अनुरोध किया कि वह बैठक के सामने बारदोली संकल्प की मद संख्या (4) के टिप्पण पर मेरे प्रस्तावित संशोधन को प्रस्तुत करें। उन्होंने मुझे बताया कि कार्यकारिणी उसे उप-समिति के पास भेजेगी और मुझसे बैठक में उस पर आग्रह न करने का अनुरोध किया। मैं सहमत हो गया। लेकिन मुझे कार्यकारिणी के ऐसे किसी संकल्प की प्रति नहीं मिली है, जिसके द्वारा मेरा प्रस्ताव अस्पृश्यता उप-समिति के पास भेजा गया हो।

दिल्ली में और उसके आस-पास अस्पृश्यता का मसला अति विकट है और मुझे उससे तुरंत संघर्ष करना है। लेकिन उप-समिति बिना किसी तैयारी के तुरंत कार्य शुरू नहीं कर सकती, क्योंकि कांग्रेस की ओर से अस्पृश्यता-निवारण हेतु अपनाए जाने वाले व्यावहारिक उपायों की किसी योजना पर फैसला करने से पूर्व कार्यकारिणी को देश की अन्य अनेक राजनीतिक स्थितियों को ध्यान में रखना होगा। इन राजनीतिक परिस्थितियों में मैं उप-समिति के लिए तनिक भी उपयोगी सिद्ध नहीं हो सका। अतः मैं सदस्यता को त्यागना चाहता हूं।

भवदीय,

श्रद्धानंद संन्यासी

दिल्ली, 30 जनवरी

सचिव का उत्तर

प्रिय स्वामीजी,

मुझे आपका जून 1922 का जो पत्र 30 जून को मेरे कार्यालय में प्राप्त हुआ है, उसे 18 जून को बंबई में पारित कार्यकारिणी के संकल्प के अनुसार मेरे पास इस अनुदेश के साथ भेजा गया है कि मैं तथ्यों को स्पष्ट करूं और आपसे अनुरोध करूं कि आप कृपा करके दलित वर्ग संबंधी उप-समिति से दिए गए अपने त्यागपत्र पर पुनर्विचार करें।

जैसा कि आपको विदित है, मुझे उन तथ्यों की कोई व्यक्तिगत जानकारी नहीं है, जो जेल से मेरी रिहाई से पूर्व घटित हुए। लेकिन मैं कार्यकारिणी की उस बैठक

में मौजूद था, जिसमें 10 जून 1922 को संकल्प पारित करके श्री देशपांडे को उप-समिति का संयोजक नियुक्त किया गया। तब इस बात का कोई उल्लेख नहीं किया गया कि ऐसा कोई समझौता हो चुका है कि अमुक सदस्य उप-समिति के संयोजक के रूप में कार्य करेगा और समूचे संकल्प को केवल धन की अदायगी के बारे में आवश्यक औपचारिकताओं को पूरा करने के लिए पारित किया गया। यह अनुभव किया गया कि इससे पूर्व कि किसी व्यय की स्वीकृति दी जा सके, उप-समिति का औपचारिक संकल्प आवश्यक था। तदनुसार श्री देशपांडे को संयोजक नियुक्त किया गया और इन प्रारंभिक कार्यवाहियों के व्यय के लिए पांच सौ रुपये की राशि की स्वीकृति दी गई। असावधानी के कारण संकल्प का जिस रूप में प्रारूप तैयार किया गया, उसमें पांच सौ रुपये की स्वीकृति का उल्लेख रह गया। इस प्रकार आप देखेंगे कि इसका कारण यह नहीं था कि कार्यकारिणी अस्पृश्यता-निवारण के लिए दस हजार रुपये की स्वीकृति नहीं देना चाहती थी, बल्कि जिस रूप में संकल्प का प्रारूप तैयार किया गया उसका सही कारण वह था, जो मैं ऊपर बता चुका हूं। कार्यकारिणी की मंशा और इच्छा भी यही थी कि वह आपकी उप-समिति से अपेक्षित कार्य के महत्व को समझे। वह किसी भी प्रकार आपकी उपयोगी सलाह की उपेक्षा नहीं करना चाहती थी। जब कार्यकारिणी की पिछली बैठक में आपके पत्र को प्रस्तुत किया गया तो पांच सौ रुपये के अनुदान की चूक को ठीक कर दिया गया और मुझे अनुदेश दिया गया कि आपसे इस मामले में संपर्क करूं। यह बड़े ही खेद की बात होगी यदि उप-समिति अस्पृश्यता के समूचे मसले के बारे में आपके अनुभव और विशेष ज्ञान से वंचित हो जाए। अतः मैं लोकहित में आपसे अनुरोध करता हूं कि आप अपने निर्णय पर पुनर्विचार करें और मुझे इलाहाबाद के मेरे कार्यालय पर तार द्वारा सूचित करें कि आपने उप-समिति से अपना त्यागपत्र वापस ले लिया है। मै यह कहने की जरूरत नहीं समझता हूं कि भविष्य में आपकी उप-समिति जो भी संकल्प करेगी, उनकी ओर कार्यकारिणी पूर्णतः समुचित ध्यान देगी।

जहां तक अलग कुओं तथा स्कूलों से संबद्ध कार्यकारिणी के संकल्प में परिवर्तन का संबंध है, सर्वोत्तम मार्ग तो यही होगा कि आपकी उप-समिति परिवर्तन की सिफारिश करे और कार्यकारिणी उसे स्वीकार करे।

मेरा विचार है कि जहां तक इलाहाबाद के *'दि इंडिपेंडेंट'* तथा दिल्ली के *'दि कांग्रेस'* को अनुदान दिए जाने का संबंध है, आप किसी गलतफहमी के शिकार हुए हैं। *'दि इंडिपेंडेंट'* के संबंध में केवल संयुक्त प्रांत की प्रांतीय कमेटी की अर्जी को मंजूरी दी गई है। उसमें कहा गया है कि कमेटी को जो धनराशि दे दी गई है, उसमें से *'नेशनेलिस्ट जर्नल्स'* लिमिटेड को पच्चीस हजार रुपये का ऋण दे दिया जाए।

जहां तक दूसरे पत्र का संबंध है, ऋण संबंधी अर्जी बिल्कुल नामंजूर कर दी गई है।

भवदीय,

मोतीलाल नेहरू
महासचिव

बंबई, 23 जुलाई 1922

स्वामीजी का पुनरुत्तर

प्रिय पंडित मोतीलालजी,

अस्पृश्यता उप-समिति से मेरे त्यागपत्र के बारे में बंबई से भेजा गया 23 जुलाई 1922 का आपका पत्र मुझे मिला। मुझे खेद है कि मैं उस पर पुनर्विचार करने में असमर्थ हूं, क्योंकि अपने प्रथम पत्र में मैंने जो कुछ तथ्य प्रस्तुत किए थे, उनकी सहज ही उपेक्षा कर दी गई है।

1. कृपया श्री राजगोपालाचारी से पूछें कि क्या सर्वप्रथम मैंने यह प्रस्ताव नहीं रखा था कि अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के पास जो धनराशि हो उसमें से कम-से-कम एक लाख रुपया नकद दिया जाए, क्या उन्होंने एक संशोधन प्रस्तुत करके उपरोक्त के स्थान पर ऐसे शब्द नहीं रखे थे, जिनका आशय यह वचन देना था कि जब उप-समिति द्वारा निर्धारित कार्य-योजना को कार्यकारिणी स्वीकार कर ले तो वह अस्पृश्यता निवारण विभाग को उतनी रकम आबंटित करेगी, जितनी कि वह उस समय दे सके? क्या मैंने उनके संशोधन को स्वीकार नहीं कर लिया था, जब अध्यक्ष ने मुझे एक ओर ले जाकर उस समय की वास्तविक वित्तीय स्थिति समझा दी थी? यदि यह तथ्य है, तो संकल्प में संशोधन क्यों नहीं जोड़ा गया?

2. क्या आपने श्री विट्ठलभाई जे. पटेल से पूछा कि क्या अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सदस्यों ने उप-समिति के संयोजक के रूप में मेरे नाम का प्रस्ताव नहीं रखा था और क्या उस समय उन्होंने यह नहीं कहा था – 'चूंकि सर्वप्रथम स्वामी श्रद्धानंद के नाम का प्रस्ताव किया गया है, अतः स्वाभाविक है कि वही संयोजक होंगे और इसलिए किसी नए संकल्प को प्रस्तुत करने की कोई जरूरत नहीं है।' मैंने इसके बारे में डा. अंसारी से पूछा था। 17 जून 1922 को उत्तर देते हुए उन्होंने लिखा था कि मुझे ही संयोजक नियुक्त किया गया था। डा. अंसारी तो आपके साथ हैं और आप उनसे इसकी पुष्टि कर सकते हैं। मुझे आशा है कि इसके बारे में श्री पटेल

भी पूरी तरह भूले नहीं होंगे।

3. फिर अस्पृश्यों के बीच तात्कालिक कार्य तत्काल किया जाना है और मैं उसे किसी भी कारण टाल नहीं सकता। कृपया मेरे त्यागपत्र को कार्यकारिणी की अगली बैठक में मंजूर करा लें, ताकि मैं मुक्त होकर अस्पृश्यता के बारे में अपनी स्वतंत्र योजना तैयार कर सकूं। पिछली जुलाई के अंत तक मेरा यही दृष्टिकोण था। अमृतसर और मियांवाली जेलों में मेरा जो अनुभव रहा है और वहां जो सूचना मुझे मिली है, उसने मेरे इस विश्वास को और पुष्ट कर दिया है कि जब तक प्राचीन आर्य पद्धति के अनुसार ब्रह्मचर्य की पुनः प्रतिष्ठा नहीं होगी और भारतीय समाज से अस्पृश्यता के अभिशाप को नहीं मिटा दिया जाएगा, तब तक कांग्रेस का भी और उससे बाहर के अन्य देश-प्रेमी संगठनों का भी स्वराज प्राप्ति का हर प्रयास निष्फल रहेगा। और चूंकि स्वराज के बिना राष्ट्रीय आत्म-साक्षात्कार और ओजस्वी एवं तेजस्वी अस्तित्व संभव नहीं है, अतः संन्यासी के नाते मेरा कर्तव्य हो जाता है कि मैं इस पावन ध्येय के लिए ब्रह्मचर्य और सच्ची राष्ट्रीय अखंडता के ध्येय के लिए तन, मन, धन से अपना शेष जीवन अर्पित कर दूं।

भवदीय,

दिल्ली, 23 जुलाई 1922 श्रद्धानंद संन्यासी

इससे पता चलता है कि अस्पृश्यों के उत्थान के पीछे कांग्रेसियों की क्या मनोवृत्ति थी।

II

यह तो थी कांग्रेस-जनों के स्वैच्छिक योगदान की कथा। कांग्रेस-जनों और श्री गांधी ने उन अस्पृश्यों की कितनी मदद की, जो अपने लोगों के उत्थान के लिए स्वतंत्र रूप से कार्य कर रहे थे। यह वह समय था, जब अस्पृश्य स्वयं संघर्ष-पथ पर थे। वे भी अपने नागरिक तथा सामाजिक अधिकारों की प्राप्ति के लिए हिंदुओं के खिलाफ सविनय अवज्ञा का प्रयोग करने लगे थे। यह वह समय था, जब बंबई प्रेसिडेंसी के अस्पृश्यों ने महाड में सार्वजनिक तालाब से पानी लेने के लिए और नासिक में हिंदू मंदिर में प्रवेश के अपने अधिकार की स्थापना के लिए अपना सत्याग्रह छेड़ दिया था। सवर्ण हिंदुओं के खिलाफ अस्पृश्यों ने जो यह सत्याग्रह आंदोलन छेड़ा था, उसके प्रति श्री गांधी का क्या दृष्टिकोण था? कम-से-कम इतना तो कहा ही जा सकता है कि श्री गांधी का रवैया बहुत ही असंगत था।

शुरू में तो सवर्ण हिंदुओं के खिलाफ अस्पृश्यों के इस सत्याग्रह की निंदा श्री गांधी ने की। उन्होंने उसका समर्थन नहीं किया। इस विवाद में अस्पृश्यों का पक्ष पूर्णतः तर्क-सम्मत था। उनका कहना था कि यदि सविनय अवज्ञा ऐसा हथियार था जिसका इस्तेमाल श्री गांधी के अनुसार हिंदू वैध रूप से स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए अंग्रेजों के विरुद्ध कर सकते हैं, तो इसका क्या औचित्य है कि वे दासता से अपनी मुक्ति के लिए सवर्ण हिंदुओं के खिलाफ उसका इस्तेमाल नहीं कर सकते। कितना सही यह तर्क था, पर श्री गांधी पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उन्होंने उनके इस तर्क का उत्तर अपने तर्क से देने का प्रयास किया। उन्होंने कहा कि अस्पृश्यता तो हिंदुओं का पाप है। अतः प्रायश्चित्त भी हिंदुओं को ही करना चाहिए। उन्हें ही अस्पृश्यता मिटाने के लिए सत्याग्रह करना चाहिए। सत्याग्रह अस्पृश्यों का कार्य नहीं है, क्योंकि पापी वे नहीं हैं। वे पापी कैसे हुए, उनके प्रति तो पाप किया गया है। निश्चय ही यह अरस्तू जैसा तर्क नहीं है। यह तो महात्मा जैसा तर्क है, जिसे वाक्छल भी कह सकते हैं। लेकिन यह तो स्पष्ट है कि महात्मा जैसा यह तर्क कोरी बकवास है। अस्पृश्यों का उत्तर था कि यदि श्री गांधी का यही दृष्टिकोण है कि सत्याग्रह एक ऐसा प्रायश्चित्त है, जिसे पापी को ही करना चाहिए, तो वह हिंदुओं से अंग्रेजों के खिलाफ सत्याग्रह करने के लिए क्यों कहते हैं। अंग्रेजी साम्राज्यवाद तो अंग्रेजों का पाप है। अतः उनके ही तर्क के अनुसार सत्याग्रह तो अंग्रेजों को ही करना चाहिए, न कि सवर्ण हिंदुओं को। अस्पृश्यों ने उनके तर्क को ध्वस्त कर दिया था। यह स्पष्ट हो गया था कि सवर्ण हिंदुओं के विरुद्ध अस्पृश्यों के इस सत्याग्रह के प्रति श्री गांधी के इस दृष्टिकोण में भ्रांति अथवा अनिष्ठा है। लेकिन श्री गांधी ने विरोध का जो हठी दृष्टिकोण अपना लिया था, अस्पृश्य उन्हें उससे डिगा नहीं सके।

श्री गांधी के दृष्टिकोण में एक और विसंगति है। दो स्थानों पर एक से सत्याग्रह हुए, पर उनके बारे में श्री गांधी का दृष्टिकोण अलग-अलग था। सवर्ण हिंदुओं के खिलाफ अस्पृश्यों ने महाड और नासिक में सत्याग्रह किया। वैसा ही सत्याग्रह उन्होंने वाइकोम में किया। श्री गांधी ने वाइकोम सत्याग्रह का समर्थन किया। उन्होंने इसके लिए आशीर्वाद और प्रोत्साहन भी दिया। तो फिर श्री गांधी ने महाड और नासिक के सत्याग्रह का विरोध क्यों किया? क्या इन दोनों में कोई असमानता थी? हां, असमानता थी। अस्पृश्यों ने वाइकोम सत्याग्रह कांग्रेस के झंडे तले किया। अन्य दोनों सत्याग्रह अस्पृश्यों ने कांग्रेस के बिना स्वतंत्र रूप से किए। क्या श्री गांधी के विरोध का कोई वास्ता इस असमानता से था? श्री गांधी ने तो इसका कोई उत्तर नहीं दिया है, अतः इसके अनुमान का भार मैं पाठकों पर ही छोड़ना चाहूंगा। संभवतः श्री गांधी नहीं चाहते थे कि वे उन निर्बल व्यक्तियों (मेमनों) की रक्षा करें, जो उन्हें अपना रक्षक स्वीकार नहीं करते। जब श्री गांधी ने अस्पृश्यों के इस सत्याग्रह को अपना आशीर्वाद प्रदान नहीं किया, तो यह अनिवार्य निष्कर्ष था कि रूढ़िवादी हिंदुओं के खिलाफ

अस्पृश्यों के संघर्ष में कोई भी कांग्रेसी आगे बढ़कर उनकी मदद नहीं करेगा। वास्तविकता तो यह है कि श्री गांधी के इस रवैए ने ही कांग्रेसी हिंदुओं को रूढ़िवादी हिंदुओं के साथ जोड़ दिया। वे तो सगोत्र और सजातीय हैं। दोनों को विभाजित करने वाली रेखा भी बहुत ही महीन है। वे निस्संकोच होकर अस्पृश्यों के सिर तोड़ते-फोड़ते हैं। यदि विकृत नहीं तो अपने निहायत बेतुके रवैए से श्री गांधी ने केवल यही शरारत नहीं की। उन्होंने न केवल खुले आम यह कहा कि मुसलमान, ईसाई, पारसी और यहूदी कोई मदद न दें, बल्कि उन्होंने तो आपत्ति करते हुए सिखों से भी कहा, जो एक प्रकार से युद्धप्रिय और प्रोटेस्टैंट हिंदू ही हैं, कि वे अस्पृश्यों की मदद न करें। यहां भी उनका तर्क दुनिया से निराला था। अस्पृश्यता तो सवर्ण हिंदुओं का पाप है। उन्हें ही उसका प्रायश्चित्त करना होगा। अस्पृश्यों की मदद करना एक प्रायश्चित्त है और प्रायश्चित्त तो पापी का दायित्व है, अतः केवल पापी ही सत्याग्रह कर सकता है और उनकी सहायता कर सकता है। अस्पृश्यता के मामले में मुसलमान, ईसाई, पारसी, यहूदी और सिख पापी नहीं हैं। अतः अस्पृश्यता-निवारण के सत्याग्रह में वे मदद नहीं दे सकते। निश्चय ही श्री गांधी ने उसे अस्पृश्यों के दृष्टिकोण से नहीं देखा। उन्होंने यह नहीं देखा कि जो सवर्ण हिंदुओं के लिए पाप है, वही अस्पृश्यों के लिए गुलामी है। यदि पापी को प्रायश्चित्त करना ही पड़ता है, तो गुलाम को भी अपनी गुलामी के बंधनों से मुक्त होने का अधिकार है और आजादी का समर्थन करने वाले हर व्यक्ति का, चाहे वह किसी भी जाति या पंथ का हो, यह अनिवार्य कर्तव्य हो जाता है कि वह बिना किसी संकोच के संघर्ष में मदद दे और उसमें भाग ले। खिलाफत के मसले के बारे में श्री गांधी ने ठीक ऐसा ही दृष्टिकोण अपनाया था। मुसलमान खिलाफत और तुर्की की राज्य-क्षेत्रीय अखंडता चाहते थे। तुर्की की राज्य-क्षेत्रीय अखंडता की मांग अति असंभव मांग थी, क्योंकि इसका अर्थ था कि अरब तुर्कों के गुलाम हो जाएं। फिर भी मुसलमान इस पर आग्रह करते रहे और मुसलमानों की इस नामुमकिन और नापाक मांग के समर्थन के लिए श्री गांधी ने समूची कांग्रेस और हिंदुओं को राजी कर लिया। श्री गांधी की दलील थी कि यदि तुर्की की राज्य-क्षेत्रीय अखंडता के लिए संघर्ष करने को मुसलमान अपना धार्मिक कर्तव्य समझते हैं, तो हिंदुओं का यह दायित्व है कि वे मुसलमानों के कर्तव्य-पालन में उनकी मदद करें।[1]

---

1. 1920 में कलकत्ता के विशेष कांग्रेस अधिवेशन में एक संकल्प पारित किया गया, उसका एक अंश नीचे उद्धृत किया गया है :

इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि खिलाफत के मसले के बारे में भारत और सम्राट की सरकारें भारत के मुसलमानों के प्रति अपने कर्तव्य-पालन में बुरी तरह विफल हो गई हैं और प्रधानमंत्री ने जान-बूझकर उन्हें दिए गए अपने वचन को भंग किया है, हर गैर-मुस्लिम भारतीय का यह कर्तव्य है कि अपने मुसलमान भाई पर जो धार्मिक आपदा आ पड़ी है, उसे दूर करने के उसके प्रयास में हर वैध तरीके से उसकी मदद की जाए।

पर श्री गांधी इस बात के लिए तैयार नहीं हुए कि इस तर्क का लाभ अस्पृश्यों को भी मिले। वह अड़ गए। अहिंदू, हिंदू की मदद कर सकता है। हिंदू, अहिंदू की मदद कर सकता है। लेकिन किसी को भी अस्पृश्य की मदद नहीं करनी चाहिए।[1] श्री गांधी के दोस्त आतुर थे कि उनके तर्क की कठोरता को कुछ कम किया जाए। उन्होंने कहा कि अस्पृश्यों की असुविधाओं की प्रकृति के आधार पर कोई विभेद आवश्यक है। उनका तर्क[2] था कि अस्पृश्यों की कुछ असुविधाएं नागरिक हैं, कुछ धार्मिक हैं और जहां तक नागरिक असुविधाओं का संबंध है, अहिंदुओं को भी अनुमति दी जाए कि वे अस्पृश्यों के सत्याग्रह में उनकी मदद करें। श्री गांधी इसे भी सुनने के लिए तैयार नहीं हुए। उनका निषेधादेश सभी अवस्थाओं के लिए था और कोई भी विभेद संभव नहीं था। बाह्य सहायता संबंधी निषेध की इस तलवार से 'अस्पृश्यों के मित्र' श्री गांधी ने अस्पृश्यों की मदद की डोर ही काट दी और उन्हें युद्ध की कुमुक से पूर्णतया वंचित कर दिया।

III

अभी तक मैंने बताया है कि किस प्रकार कांग्रेस ने अपनी अंतरात्मा की परवाह न करते हुए अस्पृश्यों के उत्थान का विचार त्याग दिया। उसने उसे हाथ तक नहीं लगाया। दूसरे, मैंने बताया है कि सवर्ण हिंदुओं के खिलाफ अस्पृश्यों के सत्याग्रह में वह उन्हें समर्थन देने में विफल रहे, लेकिन अपने निराले तर्क द्वारा श्री गांधी ने इस बात का औचित्य खोज लिया कि न तो उन्हें मदद दी जाए और न ही उनकी मदद करने दी जाए। अब इस अवधि की तीसरी और अंतिम घटना का उल्लेख शेष रह जाता है। भले ही अवधि की दृष्टि से वह अंतिम घटना है, पर महत्व की दृष्टि से निश्चय ही वह प्रथम है। यह घटना वह कसौटी है, जिसके आधार पर अस्पृश्यों का मित्र होने का श्री गांधी का दावा खरा या खोटा सिद्ध हो सकता है।

इस घटना का संबंध भारतीय गोलमेज सम्मेलन में दलित वर्गों के प्रतिनिधियों की मांगों से और उनके प्रति श्री गांधी के रवैए से है। मांगों में कहा गया था कि नए संविधान में राजनीतिक रक्षा के उपायों को शामिल किया जाए। इनमें से सर्वाधिक महत्व की मांग का संबंध विधान-मंडलों में दलित वर्गों के प्रतिनिधित्व से था। दलित वर्गों के प्रतिनिधियों की मांग इस प्रकार थी—

विधान-मंडलों में पर्याप्त प्रतिनिधित्व

दलित वर्गों को पर्याप्त राजनीतिक सत्ता देनी ही होगी, ताकि अपना कल्याण सुनिश्चित करने के लिए वे विधायी तथा प्रशासी कार्य पर प्रभाव डाल सकें। इस

1. *यंग इंडिया*

दृष्टि से वे मांग करते हैं कि उन्हें निम्न अधिकार देने के लिए निर्वाचन-कानून में प्रावधान करने ही होंगे।

1. देश, प्रांत तथा केंद्र के विधान-मंडलों में पर्याप्त प्रतिनिधित्व का अधिकार, और
2. अपने ही व्यक्तियों को अपने प्रतिनिधि के रूप में चुनने का अधिकार,
   (क) व्यस्क मताधिकार द्वारा, और
   (ख) प्रथम दस वर्षों तक पृथक निर्वाचक-मंडलों द्वारा और उसके बाद संयुक्त निर्वाचन-क्षेत्रों और आरक्षित सीटों द्वारा। इससे यह अंतर्निहित है कि जब तक संयुक्त निर्वाचक-मंडलों के साथ व्यस्क मताधिकार की व्यवस्था न हो, तब तक दलित वर्गों की इच्छा के विरुद्ध संयुक्त निर्वाचक-मंडल उन पर थोपे नहीं जाएंगे।

दलित वर्गों की यही वह खास मांग है, जिसके कारण बवंडर मच गया। मसले ने इतना उग्र रूप धारण कर लिया कि उसके समाधान ने एक प्रकार से भारतीय राजनीति और हिंदू समाज की नींव को ही चरमरा दिया।

दलित वर्गों की यह मांग साइमन कमीशन की सिफारिश पर आधारित थी। दलित वर्गों की समस्या का सावधानी से सर्वेक्षण करने के बाद साइमन कमीशन ने निम्न आशय की रिपोर्ट दी कि नए संविधान में उनका क्या स्थान हो :

... यह स्पष्ट है कि मताधिकार की पात्रता को काफी कम कर दिए जाने के बाद भी दलित वर्ग यह आशा नहीं कर सकेंगे कि विशेष प्रावधान के बिना सामान्य निर्वाचन-क्षेत्रों में वे अपने प्रतिनिधियों का निर्वाचन करा सकेंगे।... अंततः हमें आशा करनी चाहिए कि वे विशेष संरक्षण के बिना संयुक्त निर्वाचन-क्षेत्रों में अपने पैर जमा सकें।... लेकिन इस दिशा में वे कोई प्रगति नहीं करेंगे, जब तक कि केवल नामंकन द्वारा उन्हें प्रतिनिधित्व प्रदान किया जाता है, क्योंकि नामंकन उन्हें राजनीति के बारे में कोई प्रशिक्षण नहीं देता। वर्तमान सीमित मताधिकार होने पर भी दलित वर्गों के ऐसे पर्याप्त मतदाता हैं, जो निर्वाचन की प्रणालियों को संभव बना सकते हैं।...

अतः हमारा उद्देश्य एक शुरुआत करना है। उससे दलित वर्ग निर्वाचित प्रतिनिधान के दायरे में आ जाएंगे। इसे कैसे किया जाएगा? हमारे समक्ष पेश होने वाले दलित वर्गों के अधिकांश संगठनों ने ऐसे पृथक निर्वाचक-मंडलों का समर्थन किया, जिनमें आबादी के आधार पर सीटें आबंटित की जाएं।... इसमें संदेह नहीं कि पृथक निर्वाचक-मंडल इस बात के लिए सबसे सुरक्षित उपाय होगा कि दलित

वर्गों के विश्वासपात्र व्यक्ति पर्याप्त संख्या में चुने जा सकें, लेकिन हम नहीं चाहते कि ऐसे कदम से हम दलित वर्गों तथा शेष हिंदुओं के विभेद को रूढ़िबद्ध बना दें। हमारा विचार है कि उसके कारण हम एक नया तथा गंभीर अवरोध खड़ा कर देंगे और वह औरों के साथ उनका अंतिम राजनीतिक घुलन-मिलन नहीं होने देगा।...

अतः हमारा प्रस्ताव है कि सभी आठ प्रांतों में दलित वर्गों के लिए सीटों का कुछ-न-कुछ आरक्षण होना चाहिए।...

हमारी योजना का परिणाम यह होगा कि हर प्रांत में दलित वर्गों के प्रवक्ता निर्वाचित सदस्यों के रूप में चुने जा सकेंगे।... जहां तक आरक्षित की जाने वाली सीटों का संबंध है, जाहिर है कि प्रांत में दलित वर्गों की कुल आबादी से उनका कुछ अनुपात होना चाहिए।... हमारा प्रस्ताव है कि... भारत के सभी सामान्य निर्वाचन-क्षेत्रों की कुल सीटों के साथ ऐसी आरक्षित सीटों की संख्या का अनुपात प्रांत के निर्वाचन-क्षेत्र की कुल आबादी से दलित वर्गों की आबादी के अनुपात का तीन-चौथाई होना चाहिए।[1]...

वस्तुतः स्वयं उनके लिए, स्वयं उनके द्वारा और स्वयं उनके माध्यम से पृथक राजनीतिक प्रतिनिधित्व की दलित वर्गों की इस मांग में कुछ भी नया नहीं है। अतः यह नहीं कहा जा सकता है कि उसे स्वीकार करके साइमन कमीशन ने कोई नई धारा प्रवाहित की है। यह मांग 1919 में की गई थी।

बाद में 1919 के अधिनियम में शामिल कर लिए गए सुधारों पर जब विचार किया जा रहा था तो मोंटेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट को तैयार करने वालों ने स्पष्टतः अस्पृश्यों की समस्या को स्वीकार किया और उन्होंने वचन दिया कि वे विधान-मंडलों में उनके प्रतिनिधित्व की सर्वोत्तम व्यवस्था करेंगे। लेकिन मताधिकार तथा निर्वाचन प्रणाली तैयार करने के लिए लार्ड साउथबरो की अध्यक्षता में जो कमेटी नियुक्त की गई, उसने उनकी पूर्ण उपेक्षा की। भारत सरकार ने इस रवैए का अनुमोदन नहीं किया और उसने निम्न टिप्पणियां कीं :

वे (अस्पृश्य) कुल आबादी का पांचवां भाग हैं और मार्ले-मिंटो परिषदों में उन्हें कोई प्रतिनिधित्व नहीं दिया गया है। कमेटी की रिपोर्ट में अस्पृश्यों का दो बार उल्लेख किया गया है, लेकिन केवल यह स्पष्ट करने के लिए कि निर्वाचन-क्षेत्रों की स्थिति संतोषजनक न होने के कारण नामंकन द्वारा उन्हें प्रतिनिधित्व दिया गया है। रिपोर्ट में इन लोगों के स्वावलंबन की स्थिति पर कोई विचार प्रकट नहीं किया गया है, न ही नामंकन की संख्या का सुझाव दिया गया है।... उन्होंने

1. रिपोर्ट, इस ग्रंथ-माला के खंड 4, पृ. 75-76

जिस प्रतिनिधित्व की मात्रा का प्रस्ताव किया है, उसमें सुझाव दिया गया है कि ब्रिटिश भारत की कुल जनसंख्या के पांचवें भाग को कोई आठ सौ सीटों में से सात सीटें दी जाएं। यह सच है कि सभी परिषदों में मोटे तौर पर पदाधिकारियों का छठा भाग ऐसा होगा, जिससे अपेक्षा की जा सकती है कि वह उनके हितों का ध्यान रखेगा, लेकिन हमारी राय में वह व्यवस्था सुधारों संबंधी रिपोर्ट के लक्ष्य से मेल नहीं खाती। रिपोर्ट तैयार करने वालों ने कहा कि अस्पृश्यों को भी आत्मरक्षा का पाठ पढ़ना चाहिए। निश्चय ही यह आशा मृगमारीचिका जैसी ही होगी कि साठ या सत्तर सवर्ण हिंदुओं वाली असेंबली में अस्पृश्य समुदाय के केवल एक प्रतिनिधि को शामिल करके यह परिणाम प्राप्त किया जा सकता है। रिपोर्ट के सिद्धांतों को साकार करने के लिए हमें बहिष्कृतों के साथ और अधिक उदार व्यवहार करना ही होगा। सरकार ने सिफारिश की कि कमेटी अस्पृश्यों के लिए दुगनी सीटों का आबंटन करे। तदनुसार सात सीटों के स्थान पर उसने चौदह सीटें दीं।

पुनः 1923 में भारत मंत्री (सेक्रेटरी आफ स्टेट) ने मुडीमैन नामक कमेटी नियुक्त की। कमेटी का प्रमुख उद्देश्य यह खोज़ना था कि नियमों में परिवर्तन करके और अधिनियम मे परिवर्तन न करके 1919 के अधिनियम द्वारा स्थापित संविधान का कहां तक विस्तार किया जा सकता है। कमेटी ने कुछ सिफारिशें की और कहा कि विधान-मडलों में दलित वर्गों के प्रतिनिधियों की संख्या बढ़ाई जानी चाहिए। भारत मंत्री ने सिफारिश मान ली और सीटों की संख्या बढ़ा दी।

इस प्रकार विधान-मंडल में दलित वर्गों के विशेष प्रतिनिधित्व के अधिकार ने ऐसे सिद्धांत का रूप धारण कर लिया था, जिसे संविधान में न केवल स्वीकार किया गया, अपितु अपनाया भी गया। इस सिद्धांत को इतनी विशद् मान्यता दी गई कि उसे जिला स्थानीय बोर्डों, स्कूल बोर्डों और नगरपालिकाओं पर भी लागू किया गया।

जिस मांग को 1919 में कानूनी मान्यता दे दी गई थी, जिसने उसके द्वारा अधिकार का रूप धारण कर लिया था और जिसे प्रयोग ने पूर्णता प्रदान कर दी थी, उसके बारे में दलित वर्गों के प्रतिनिधियों का विचार है कि वह निर्विवाद है। कोई उस पर आपत्ति नहीं कर सकता। यह आशंका निर्मूल है कि दलित वर्गों के इस अधिकार को चुनौती देने के लिए कांग्रेस गंभीरतापूर्वक आगे आएगी, क्योंकि भले ही 1929 में नेहरू कमेटी द्वारा रचित स्वराज संविधान में दलित वर्गों को यह अधिकार नहीं दिया गया था, पर कमेटी की रिपोर्ट कांग्रेस के लिए बाध्यकारी नहीं थी। कांग्रेस तो आबद्ध थी केवल अपने संकल्प से, जो उसने 1920 में अपने नागपुर अधिवेशन में सिखों की आशंका को दूर करने के लिए पारित किया था। संकल्प में उसकी इस

नीति की घोषणा की गई थी कि विधान-मंडल में प्रतिनिधित्व के बारे में सभी अल्पसंख्यकों के साथ एक जैसा व्यवहार किया जाएगा।[1]

अतः दलित वर्गों के प्रतिनिधियों की यह आशा उचित ही थी कि उनकी मांग पूरी कर दी जाएगी और किसी भी ओर से उस पर आपत्ति नहीं की जाएगी।

प्रथम गोलमेज सम्मेलन में कार्य सुचारु रूप से चला। किसी प्रकार की कोई अड़चन नहीं पैदा हुई। भले ही अल्पसंख्यकों के बारे में कोई समझौता नहीं हुआ, पर गोलमेज सम्मेलन में उपस्थित सभी वर्गों के प्रतिनिधियों ने दलित वर्गों के विशेष प्रतिनिधित्व के अधिकार को स्वीकार किया। अल्पसंख्यक उप-समिति ने महा सम्मेलन के समक्ष जो रिपोर्ट प्रस्तुत की, उसमें उप-समिति के निष्कर्षों को शामिल किया गया। प्रस्तुत है इस रिपोर्ट के उद्धरण :

> उप-समिति सं. 2 (प्रांतीय संविधान) की इस सिफारिश से आम सहमति प्रकट की गई कि प्रांतीय कार्यपालिकाओं में प्रमुख अल्पसंख्यक समुदायों का प्रतिनिधित्व सर्वाधिक व्यावहारिक महत्व का मसला है और यह भी तय हुआ कि उसी आधार पर संघात्मक कार्यपालिका में मुसलमानों का प्रतिनिधित्व होना चाहिए। अल्पसंख्या वाले समुदायों की ओर से यह मांग प्रस्तुत की गई कि प्रांतीय और संघात्मक विधान-मंडलों में व्यक्तिगत अथवा सामूहिक रूप से उनका प्रतिनिधित्व होना चाहिए और यदि ऐसी संभावना न दीख पड़े तो हर मंत्रिमंडल में अल्पसंख्यकों के हितों की सुरक्षा के लिए विशेष प्रभार वाला कोई मंत्री होना चाहिए। (डा. अम्बेडकर और सरदार उज्जवल सिंह चाहते थे कि पंक्ति 4 में 'मुसलमानों' शब्द के बाद 'तथा अन्य प्रमुख अल्पसंख्यक समुदायों' शब्द जोड़े जाएं)।
>
> इस प्रकार की ऐसी योजना के अधीन संयुक्त रूप से उत्तरदायी कार्यपालिकाओं के कार्यकरण की कठिनाई बताई गई।
>
> उप-समिति की बैठक में हुई चर्चा से प्रतिनिधियों को सामर्थ्य मिली है कि वे प्रस्तुत योजनाओं में निहित कठिनाइयों का सामना कर सकें और भले ही कोई आम समझौता नहीं हो सका है, पर उसकी जरूरत पहले से भी अधिक उजागर हो गई है।

---

1. संकल्प का मूलपाठ इस प्रकार है :

सिख

इस तथ्य को देखते हुए कि भारत की भावी राज्य-व्यवस्था में अपनी जाति की स्थिति के बारे में सिखों के मानस में गलतफहमी है, यह कांग्रेस सिखों को आश्वासन देती है कि भारत के लिए स्वराज की किसी भी योजना में उनके हितों को वैसी ही सुरक्षा प्रदान की जाएगी, जैसी कि पंजाब से इतर प्रांतों के मुसलमानों तथा अल्पसंख्यकों को प्रदान की गई है।

यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि ब्रिटिश सरकार किसी समझौते की संभावना के आधार पर समुदायों पर कोई ऐसा निर्वाचन-सिद्धांत नहीं थोप सकती, जिसका विरोध वे किसी-न-किसी रूप में करें। अतः यह स्पष्ट है कि यदि कोई समझौता न हो सके तो अपनी सभी त्रुटियों और कठिनाइयों के बावजूद पृथक निर्वाचक-मंडलों को ही नए संविधान के अधीन निर्वाचन-व्यवस्था का आधार माना जाएगा। इसके फलस्वरूप अनुपात का प्रश्न उठेगा। इन परिस्थितियों में दलित वर्गों की मांगों पर भली-भांति विचार करना ही होगा।

अतः उप-समिति सिफारिश करती है कि सम्मेलन इस राय को दर्ज करे कि यह वांछनीय है कि जो मांगें की गई हैं, उनके बारे में कोई समझौता हो और संबंद्ध प्रतिनिधियों के बीच वार्ता जारी रहे, और अनुरोध करती है कि इन प्रयासों के नतीजे की सूचना उन लोगों को दी जाए जो इन वार्ताओं के अगले चरण में जुटे हो।

प्रथम गोलमेज सम्मेलन में श्री गांधी उपस्थित नहीं थे, क्योंकि कांग्रेस ने उसका बहिष्कार किया था। वह दूसरे गोलमेज सम्मेलन में आए। वहां दलित वर्गों की इस मांग के बारे में श्री गांधी ने क्या रवैया अपनाया?

सभी आशा करते थे कि श्री गांधी की अधिक रुचि इस बात में होगी कि इन विचार-विमर्शों तथा वार्ताओं के फलस्वरूप जिस संविधान का निर्माण हो, वह ऐसा हो जो भारत को पूर्ण स्वराज, यानी पूर्ण स्वाधीनता दे। वह यह आशा नहीं करते थे कि विभिन्न अल्पसंख्यक समुदायों के बीच सीटों के बंटवारे जैसे गौण विषय में उनकी रुचि होगी। लेकिन घटनाओं ने इस आशाओं को पूरी तरह झुठला दिया। श्री गांधी ने तो ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध अपना संघर्ष ही समाप्त कर दिया। वह भूल गए कि वह पूर्ण स्वराज वाला संविधान प्राप्त करने का आदेश[1] लेकर आए थे।

1. निम्न संकल्प में वह आदेश है, जो कांग्रेस ने श्री गाधी को उस समय दिया था, जब कांग्रेस ने उन्हें अपने प्रतिनिधि के रूप में चुना था (यह संकल्प कराची अधिवेशन में पारित हुआ था)। कार्यकारिणी और भारत सरकार के बीच हुए अस्थाई समझौते पर विचार करने के बाद, यह कांग्रेस उसका अनुमोदन करती है और यह स्पष्ट कर देना चाहती है कि पूर्ण स्वराज, यानी पूर्ण स्वाधीनता का कांग्रेस का लक्ष्य ज्यों-का-त्यों बना रहता है। यदि कांग्रेस को अन्यथा ऐसा कोई अवसर मिले कि वह किसी सम्मेलन में ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधियों के साथ प्रतिनिधित्व कर सके तो कांग्रेस का प्रतिनिधि-मंडल इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए ऐसा विशेष प्रयास करेगा कि राष्ट्र का नियंत्रण सेना, वैदेशिक कार्यों, वित्त प्रबधन, वित्तीय तथा आर्थिक नीतियों पर हो सके और भारत में ब्रिटिश सरकार के वित्तीय लेन-देन की निष्पक्ष न्यायाधिकरण द्वारा जांच-पड़ताल हो सके और भारत अथवा इंग्लैंड द्वारा लिए जाने वाले दायित्वो की पडताल और उनका आकलन हो सके और दोनों पक्षों को अधिकार मिले कि वे इच्छानुसार भागीदारी को समाप्त कर सकें, लेकिन फिर भी कांग्रेस के प्रतिनिधि-मंडल को छूट होगी कि वह ऐसे समंजन स्वीकार ले, जो भारत के हित में प्रत्यक्षतः आवश्यक हों।

उन्होंने इस मुद्दे को तो छोड़ दिया और अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधियों से झगड़ने लगे। अचरज की बात तो यह है कि उन्होंने अपना सारा गुबार अस्पृश्यों के प्रतिनिधियों पर निकाला, क्योंकि उन्होंने विशेष प्रतिनिधित्व की मांग रखने का साहस किया था। श्री गांधी ने दलित वर्गों के प्रतिनिधियों का पुरजोर विरोध किया। वह उनकी मांग की ओर ध्यान देने के लिए तैयार ही नहीं थे। वह उनकी धृष्टता से रुष्ट थे और उनके विरोध से समूचा सम्मेलन आश्चर्यचकित रह गया। वे यह समझ ही न पाए कि श्री गांधी जैसा व्यक्ति जो अस्पृश्यों का दोस्त होने का दम भरता है, वस्तुतः किस प्रकार उनके हितों का इतना बड़ा शत्रु हो सकता है। श्री गांधी के मित्र एकदम हक्के-बक्के रह गए। श्री गांधी मुसलमानों और सिखों द्वारा मांगे गए ऐसे ही अधिकार को स्वीकार करने के लिए तैयार थे, और भले ही ईसाइयों, यूरोपीयों और आंग्ल-भारतीयों की ऐसी ही मांग को माननें के लिए वह तैयार नहीं थे, पर उनकी मांग का विरोध भी नहीं करते थे। श्री गांधी के मित्र यह नहीं समझ पाए कि किस आधार पर वह अस्पृश्यों के ऐसे ही अधिकार को ठुकरा सकते हैं। अस्पृश्यों के मुकाबिले मुसलमान, सिख, ईसाई, यूरोपीय और आंग्ल-भारतीय कहीं अधिक संपन्न हैं। मुसलमान आदि की आर्थिक स्थिति कहीं बेहतर है, पर अस्पृश्य तो निर्धनों में भी सबसे निर्धन हैं। मुसलमान आदि तो शिक्षा के क्षेत्र में भी उन्नत हैं, पर अस्पृश्य तो शिक्षा के क्षेत्र में सबसे पिछड़े हुए हैं। मुसलमान आदि का तो समाज में पर्याप्त सम्मान है, पर अस्पृश्यों से तो समाज घृणा करता है। मुसलमान आदि को तो स्वतंत्र नागरिकों का दर्जा प्राप्त है। अस्पृश्य तो कतिपय असुविधाओं से ग्रस्त एवं त्रस्त हैं। मुसलमान आदि पर तो सामाजिक अत्याचार नहीं होता है और न ही उनका सामाजिक बहिष्कार होता है, पर अस्पृश्यों पर तो हर रोज सामाजिक अत्याचार और सामाजिक बहिष्कार का डंडा बरसाया जाता है। दर्जे में इस अंतर को ध्यान में रखते हुए इस बारे में कभी संदेह हो ही नहीं सकता कि भारतीयों का यदि कोई ऐसा वर्ग है जिसे विशेष संरक्षण की जरूरत है, तो वह है अस्पृश्यों का वर्ग। जब भी उनके यूरोपीय मित्रों ने श्री गांधी से इस आधार पर तर्क करने का प्रयास किया तो श्री गांधी उत्तेजित हो जाते थे। इस कारण मेरी जानकारी के अनुसार उनके दो सबसे अच्छे दोस्तों के साथ उनके संबंधों में काफी खिंचाव आ गया था।

श्री गांधी के क्रोध का बड़ा कारण यह था कि उनके पास ऐसा कोई तर्क-संगत उत्तर नहीं था, जो उनके विरोधियों को यह विश्वास दिला सकता कि दलित वर्गों की मांग का उनका विरोध सच्चा विरोध था और उनका विरोध दलित वर्गों के सर्वोत्तम हितों पर आधारित था। वह कहीं भी दलित वर्गों के प्रति अपने विरोध का कोई सुसंगत स्पष्टीकरण नहीं दे सके। लंदन में जब वह थे तो उनके भाषणों को पढ़कर कोई भी यह देख सकता है कि वह अपने रवैए के बारे में तीन प्रकार के तर्क दे रहे हैं। गोलमेज सम्मेलन की संघात्मक संरचना समिति के सदस्य के रूप में उन्होंने कहा :

कांग्रेस ने तो अपनी स्थापना से ही तथाकथित अस्पृश्यों के हित-साधन का बीड़ा उठाया है। एक समय था जब कांग्रेस ने हर वार्षिक अधिवेशन में सामाजिक सम्मेलन को अपने कार्यक्रम का अंग बनाया था। स्वर्गीय रानाडे ने तो अपनी अनेक गतिविधियों में उसे स्थान दिया था और उसके लिए अपना तन, मन, धन अर्पित किया था। उनकी अध्यक्षता में सामाजिक सम्मेलन के कार्यक्रम में आपने देखा होगा कि अस्पृश्य सबंधी सुधार को प्रमुख स्थान मिला। लेकिन 1920 में कांग्रेस ने एक बड़ा कदम उठाया। राजनीतिक मंच पर घोषणा-पत्र के रूप में अस्पृश्यता-निवारण के मसले को स्थान दिया गया और उसे राजनीतिक कार्यक्रम का खास मुद्दा बनाया गया। जिस प्रकार कांग्रेस का विचार है कि हिंदू-मुस्लिम एकता का अर्थ है कि उससे सभी वर्गों के बीच एकता आएगी और वह स्वराज-प्राप्ति के लिए अनिवार्य है, ठीक उसी प्रकार कांग्रेस का विचार है कि अस्पृश्यता के अभिशाप का निवारण पूर्ण स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए अनिवार्य शर्त है।

गोलमेज सम्मेलन की अल्पसंख्यकों संबंधी उप-समिति में श्री गांधी ने दूसरे तर्क का सहारा लिया। उन्होंने कहा :

मैं दूसरे अल्पसंख्यकों की मांगों की बात को समझ सकता हूं, लेकिन अस्पृश्यों की ओर से उठाई गई मांग मेरी दृष्टि में 'सर्वाधिक निर्मम विभाजन' है। इसका अर्थ है सनातन. जारजता की घोषणा। मैं भारत की स्वाधीनता-प्राप्ति के मूल्य पर भी अस्पृश्यों के बुनियादी हितों को नहीं बेचूंगा। मैं दावा करता हूं कि मैं स्वयं अस्पृश्यों के विशाल जनसमूह का प्रतिनिधि हूं। यहां मैं केवल कांग्रेस का पक्ष प्रस्तुत नहीं करता हूं, बल्कि मैं स्वयं अपना पक्ष प्रस्तुत करता हूं। मेरा दावा है कि यदि अस्पृश्यों का कोई जनमत-संग्रह होगा, तो वे अपना मत मुझे ही देंगे और मतदान में मुझे सबसे ज्यादा वोट मिलेंगे। मैं भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक जाऊंगा और अस्पृश्यों को बताऊंगा कि पृथक निर्वाचक-मंडल और पृथक आरक्षण इस जारजता को मिटाने का मार्ग नहीं है। यह ग्लानि उनकी नहीं, अपितु रूढ़िवादी हिंदू धर्म की है। यह कमेटी और समूचा संसार जान ले कि आज हिंदू सुधारकों की एक ऐसी संस्था है, जिसने अस्पृश्यता के इस कलंक को मिटाने की शपथ ली है। हम नहीं चाहते कि हमारे रजिस्टर और हमारी जनगणना में अस्पृश्यों को पृथक वर्ग के रूप में दर्ज किया जाए। सिख, मुसलमान और यूरोपीय चाहें तो सदा-सर्वदा के लिए अलग वर्ग के रूप में रह सकते हैं। क्या अस्पृश्य सदा-सर्वदा अस्पृश्य रहेंगे? अस्पृश्यता जीवित रहे, इससे तो कहीं अधिक मैं यह चाहूंगा कि हिंदू धर्म समाप्त हो जाए। अतः मैं पूरा सम्मान देता हूं डा. अम्बेडकर को, उनकी इस कामना को कि वह अस्पृश्यों का उत्थान चाहते हैं। मैं उनकी योग्यता को पूरा सम्मान देता हूं, पर पूर्ण

विनम्रता से मैं यह कहना ही चाहूंगा कि एक महान अन्याय की चक्की में वह पिसे हैं और संभवतः जो कटु अनुभव उन्हें हुए हैं, उनके कारण फिलहाल वह गुमराह हो गए हैं। यह कहते हुए मुझे पीड़ा होती है, लेकिन यदि मैं ऐसा न कहूं, तो अपने प्राणों के समान प्रिय अस्पृश्यों के हित के प्रति मैं ईमानदार नहीं रहूंगा। समूचे संसार के साम्राज्य के प्रलोभन में भी मैं उनके अधिकारों का सौदा नहीं करूंगा। मैं यह बात पूरी जिम्मेदारी का अहसास करते हुए कह रहा हूं कि डा. अम्बेडकर का यह दावा उचित नहीं है कि वह भारत के समस्त अस्पृश्यों की वकालत कर रहे हैं। इससे हिंदू धर्म खंड-खंड हो जाएगा, जो संभवतः मेरे लिए किसी भी प्रकार संतोष का विषय नहीं हो सकता। मुझे परवाह नहीं, यदि अस्पृश्यों का धर्मान्तरण इस्लाम या ईसाई धर्म में कर लिया जाए। मैं उसे सहन कर लूंगा, लेकिन संभवतः मैं हिंदू धर्म की यह दुर्दशा सहन नहीं कर सकता कि गांवों में उसके ऐसे दो विभाजन हो जाएं। अस्पृश्यों के राजनीतिक अधिकारों की जो लौग बात करते हैं, वे भारत को नहीं जानते। वे यह नहीं जानते कि आज का भारतीय समाज किस प्रकार बना है। अतः मैं पूर्ण आग्रह के साथ कहना चाहता हूं कि भले ही इसके प्रतिरोध में कोई भी अन्य व्यक्ति मेरा साथ न दे, पर मैं अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी उसका प्रतिरोध करूंगा।

लंदन में फ्रेंड्स हाउस की बैठक में श्री गांधी ने एक नितांत भिन्न दलील का सहारा लिया। कहा जाता है कि उन्होंने कहा[1]:

मैंने आपके सामने अपने मन का विक्षोभ प्रकट किया है। हो सकता है कि आपकी दृष्टि में कांग्रेस अल्पसंख्यकों के अधिकारों को बदले में दे डालने के लिए सक्षम न हो। अस्पृश्यों को मैं उतना जानता हूं, जितना कि उन्हें जानने का दावा कोई कर सकता है। यह तो उनकी हत्या करने के समान होगी, यदि उनके लिए पृथक निर्वाचक-मंडलों की व्यवस्था की जाए। वे फिलहाल उच्च वर्गों के हाथों में हैं। वे उनका पूर्णतः दमन कर सकते हैं और अपनी दया पर आश्रित अस्पृश्यों से बदला ले सकते हैं। मैं ऐसी स्थिति को उत्पन्न होने से रोकना चाहता हूं, और इसलिए मैं उनके लिए पृथक निर्वाचक-मंडलों की मांग का विरोध करूंगा। मैं जानता हूं कि आपके सामने ऐसा कहकर मैं अपनी ग्लानि ही प्रकट कर रहा हूं। लेकिन वर्तमान परिस्थिति में मैं उनके लिए विनाश को कैसे आमंत्रण दे सकता हूं। मैं उस अपराध का दोषी नहीं बनूंगा।[2] डा. अम्बेडकर एक योग्य

1. *यंग इंडिया*, 19 नवंबर 1931
2. इससे यह प्रभाव पड़ सकता है कि श्री गांधी केवल पृथक निर्वाचक-मंडलों के विरोधी थे और अस्पृश्यों को संयुक्त निर्वाचन-क्षेत्र देने के लिए तैयार थे, और गोलमेज सम्मेलन में उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया था कि अस्पृश्यों को आरक्षित सीटें दी जाएं। प्रस्तुत है, अल्पसंख्यकों संबंधी उप-समिति में उनके भाषण से निम्न उद्धरण :
मैं पुनः वह कहना चाहूंगा, जो मैं कह चुका हूं कि जहां कांग्रेस किसी भी ऐसे समाधान को स्वीकार करेगी जो हिंदुओं, मुसलमानों और सिखों को स्वीकार हो, वहां कांग्रेस किन्हीं अन्य अल्पसंख्यकों के लिए विशेष आरक्षण अथवा विशेष निर्वाचक-मंडल का समर्थन नहीं करेगी।

व्यक्ति हैं, पर मुझे खेद है कि इस मसले के बारे में उन्होंने अपना विवेक खो दिया है। मैं उनके इस दावे का खंडन करता हूं कि वह अस्पृश्यों के प्रतिनिधि हैं।

उनके किसी भी तर्क में दृढ़ धारणा नहीं थी। वस्तुतः वह हो भी नहीं सकती थी। वे सबके सब लंबे-चौड़े थे और उनमें विशेष तर्कों का चक्र था।

उनका प्रथम तर्क है कि कांग्रेस ने तो अस्पृश्यों की देखभाल की तथा उनकी अस्पृश्यता के निवारण की शपथ ले रखी है। क्या यह सत्य पर आधारित है। श्री गांधी संसार को बताते रहे हैं कि कांग्रेस के पूरे संगठन ने अस्पृश्यता को मिटाने की शपथ ली है और उनके मित्र उन्हें इस बात का श्रेय देते रहे हैं कि वह कांग्रेस से वह करा रहे हैं, जो उनसे पूर्व वह करने के लिए तैयार नहीं थी। मुझे आश्चर्य है कि ऐसी झूठी बात का इतना व्यापक प्रचार-प्रसार कैसे हो सका। मैंने 1920 में नागपुर में कांग्रेस द्वारा पारित संकल्प को बार-बार पढ़ा। वह श्री गांधी तथा उनके मित्रों की लंबी-चौड़ी डींग का आधार है। मुझे विश्वास है कि उस संकल्प को पढ़ने वाला हर व्यक्ति यह स्वीकार करेगा कि संकल्प का मूलपाठ ऐसी किसी डींग का प्रमाण नहीं देता। संकल्प गांधीवादी हथकंडों का बड़ा ही चतुरतापूर्ण नमूना है। श्री गांधी प्रारंभ से ही इस बात के लिए आतुर रहे हैं कि अस्पृश्य केवल हिंदुओं की जागीर बने रहें। वह नहीं चाहते थे कि मुसलमान और ईसाई उनमें रुचि लें। वह चाहते थे कि अंग्रेजों से जुड़े अस्पृश्यों को उनसे तोड़ा जाए और उन्हें हिंदुओं से जोड़ा जाए। दूसरा प्रयोजन तभी सिद्ध हो सकता था, जब अस्पृश्यता-निवारण के पक्ष में संकल्प कांग्रेस के मंच से पारित किया जाए। इसे प्राप्त करने के लिए जरूरी था कि यह कर्तव्य केवल हिंदुओं को सौंपा जाए। संकल्प भी यही कहता है। चालाक राजनेता की यह चतुरतापूर्ण चाल है। संकल्प समूची कांग्रेस को इस संकल्प का पक्षधर नहीं बनाता। दूसरे, जितना पक्षधर वह बनाता है, उसमें ऐसा कुछ नहीं है जो बाध्यकारी हो। उसमें न कोई प्रतिज्ञा है, न कोई शपथ है। उसमें केवल नैतिक उपदेश है। वह हिंदुओं से केवल सिफारिश करता है कि अस्पृश्यता-निवारण उनका कर्तव्य है। एक बार श्री गांधी ने कोशिश की कि कांग्रेस की सदस्यता की शर्तों को बदलें। सदस्यता के लिए चार आने प्रति वर्ष की अदायगी की शर्त के स्थान पर श्री गांधी चाहते थे कि दो शर्तें रखी जाएं : (1) अस्पृश्यता-निवारण, और (2) सूत की कताई। कांग्रेस-जन सूत की कताई की शर्त को तो मानने के लिए तैयार थे, पर वे अस्पृश्यता-निवारण की शर्त को मानने के लिए तैयार नहीं थे। कांग्रेस-जनों ने श्री गांधी से कहा कि यदि वह इसका आग्रह करेंगे, तो सभी कांग्रेस कमेटियों को बंद करना पड़ेगा। विरोध इतना प्रबल था कि श्री गांधी को अपना प्रस्ताव वापस लेना पड़ा। ऐसी स्थिति में भी जब श्री गांधी ने गोलमेज सम्मेलन के सामने आग्रह किया कि कांग्रेस ने तो अस्पृश्यता-निवारण की शपथ ले रखी है और अस्पृश्यों को बिना किसी संकोच के हिंदुओं की दया पर छोड़ा जा सकता

है, तो वह दर्शाता है कि श्री गांधी सच में कंजूसी करके उसे झूठ के कगार तक ले जा सकते हैं।

कांग्रेस की निष्ठा को सिद्ध करने के लिए दिए गए इस तर्क को कि स्वराज के लिए कांग्रेस ने अस्पृश्यता-निवारण की शर्त रखी थी, कांग्रेस तथा श्री गांधी की प्रत्यक्ष अनिष्ठा को देखते हुए सही नहीं माना जा सकता। अस्पृश्यता ज्यों-की-त्यों बनी रही, फिर भी कांग्रेस और श्री गांधी स्वाधीनता की मांग लेकर आए। इससे पूरी तरह पता चलता है कि श्री गांधी इस मुद्दे के बारे में विश्वास नहीं रखते। न तो भारत में किसी को और न ही अस्पृश्यों में से किसी को श्री गांधी और उनकी कांग्रेस की इस घोषणा पर विश्वास है कि स्वराज के लिए अस्पृश्यता-निवारण उनकी एक पूर्व शर्त है। गोलमेज सम्मेलन से काफी पहले दो अवसरों पर श्री गांधी की निष्ठा को परखने के लिए उनसे प्रश्न किए गए थे और दोनों अवसरों पर उन्होंने जो उत्तर दिए, उनसे यह संदेह नहीं रह जाता है कि वह भी इस घोषणा के प्रति विश्वास नहीं रखते थे।

> 1920 में एक संवाददाता ने श्री गांधी से यह प्रश्न किया[1] : 'इससे पहले कि हम अंग्रेजों से कहें कि वे अपने खून में सने हाथ धो लें, क्यों न हम हिंदू अपने ऐसे हाथ धो लें?'
>
> श्री गांधी ने यह उत्तर दिया :
>
> अन्यत्र उद्धृत एक करुणा-भरे पत्र में एक संवाददाता ने मुझसे कुपित होकर पूछा है कि मैं (अस्पृश्यों) के लिए क्या कर रहा हूं। मैंने संवाददाता को वह पत्र उसके निजी शीर्षक– इससे पहले कि हम अंग्रेजों से कहें कि वे अपने खून में सने हाथ धो लें, क्यों न हम हिंदू अपने ऐसे हाथ धो लें, के साथ दे दिया। यह विचारपूर्ण रूप से प्रस्तुत उचित प्रश्न है। और यदि गुलाम राष्ट्र का कोई सदस्य मुझे स्वयं मेरी गुलामी से मुक्त कराए बिना दलित वर्गों को उनकी गुलामी से मुक्त करा सकता है, तो मैं आज वैसा करूंगा। लेकिन यह एक असंभव कार्य है।...

क्या इससे पता चलता है कि श्री गांधी और कांग्रेस के इस कथन में सच्चाई थी कि स्वराज के लिए अस्पृश्यता-निवारण एक पूर्व शर्त है? यह सच्चे आदमी का तर्क नहीं है, यह इस तथ्य से पता चलता है कि बाद में श्री गांधी ने एक संवाददाता का उपहास किया था, जिसने श्री गांधी से आग्रह किया था कि जब तक हिंदू स्वराज प्राप्त न कर लें, अस्पृश्यों के प्रश्न को ताक पर रखना वांछनीय है।

दूसरे अवसर पर श्री गांधी से प्रश्न उस समय किया गया, जब वह मार्च 1930

1. *यंग इंडिया*, 27 अक्तूबर 1920

में कानून तोड़कर नमक सत्याग्रह करने डांडी गए थे। कुछ अस्पृश्य डांडी गए और उन्होंने उनसे पूछा कि उनकी इस घोषणा का क्या हुआ कि स्वराज के लिए अस्पृश्यता-निवारण एक पूर्व शर्त है। जो सूचना मुझे मिली, उसके अनुसार श्री गांधी का यह उत्तर था :

> अस्पृश्य एक समग्र के अंग हैं। मैं तो समग्र के लिए कार्य कर रहा हूं। अतः मेरा विचार है कि मैं अस्पृश्यों के लिए कार्य कर रहा हूं, जो समग्र के अंग हैं।

डांडी में जो लोग श्री गांधी से मिलने गए थे, उनके द्वारा दी गई सूचना के अलावा इसे सिद्ध करने के लिए मेरे पास और कोई तथ्य नहीं है। लेकिन मुझे इसमें संदेह नहीं कि निश्चय ही श्री गांधी ने इस आशय की कोई बात कही होगी, क्योंकि उनके कथित उत्तर का मेल उस उत्तर से खाता है, जो उपरोक्त '*यंग इंडिया*' में उसी संवाददाता को उन्होंने दिया था। तब श्री गांधी ने कहा था :

> ... यद्यपि 'पंचम' समस्या मुझे अपने प्राणों की भांति प्रिय है, फिर भी मैं एकमात्र असहयोग की ओर ध्यान देकर संतुष्ट हूं। मेरा विश्वास है कि बड़े में छोटे का समावेश हो जाता है।

क्या ये सच्चे व्यक्ति के उत्तर हैं? क्या सच्चे व्यक्ति का यह विचार हो सकता है कि अस्पृश्य एक समग्र के अंग हैं?

उनका यह तर्क एकदम खोखला है कि अस्पृश्यों को विशेष प्रतिनिधित्व देने से स्पृश्यों और अस्पृश्यों के बीच का वर्तमान विभाजन सदा-सर्वदा के लिए स्थाई हो जाएगा। अस्पृश्यता-निवारण का उपाय है कि अंतर्जातीय विवाह और सहभोज हों। अस्पृश्यों की असुविधाएं दूर करने का उपाय है कि उन्हें साझे कुओं और साझे स्कूलों का उपयोग करने दिया जाए। यह समझ में नहीं आता कि विशेष प्रतिनिधित्व किस प्रकार अंतर्जातीय विवाह, सहभोज, साझे कुएं और स्कूल के उपयोग में बाधक बन सकता है। दूसरी ओर इन बातों का चलन ही वह अकेला रास्ता है, जो विशेष प्रतिनिधित्व को अनावश्यक सिद्ध करेगा। क्या कांग्रेस और श्री गांधी ने इस दिशा में कुछ किया है? बारदोली संकल्प में स्पष्टीकरण का जो टिप्पण जोड़ा गया है, उससे पता चल जाता है कि श्री गांधी और कांग्रेस इस दिशा में कहां तक जाने को तैयार थे। टिप्पण में कहा गया है :

> अतः जिन स्थानों में अस्पृश्यों के प्रति पूर्वाग्रह अब भी प्रबल है, वहां निश्चय ही कांग्रेस के फंड से अलग स्कूलों तथा अलग कुओं की व्यवस्था की जाए। इस बात का भरसक प्रयास किया जाए कि ऐसे बच्चे राष्ट्रीय स्कूलों में आएं और लोगों से अनुरोध किया जाए कि वे अस्पृश्यों को साझे कुओं का इस्तेमाल करने दें।

जो लोग अलग कुओं, अलग स्कूलों की व्यवस्था करना चाहते हैं, क्या उन्हें यह कहना शोभा देता है कि वे अलग प्रतिनिधित्व पर इसलिए आपत्ति करते हैं कि उससे विभाजन हो जाएगा? केवल वे ही लोग जो अवरोधों को समाप्त करने पर तुले हुए हैं, पृथक प्रतिनिधित्व के विरोध में बोल सकते हैं और कह सकते हैं कि उनके तर्क की सच्चाई पर विश्वास किया जाए।

श्री गांधी का अंतिम तर्क अजीबोगरीब है। यदि उच्चतर वर्ग अस्पृश्यों का दमन कर सकते हैं और उनसे बदला ले सकते हैं, तो इसके पक्ष में तो और भी बड़ा कारण है कि उन्हें विशेष प्रतिनिधित्व दिया जाए, ताकि वे उच्चतर वर्गों के अत्याचार के विरोध में अपनी आवाज उठा सकें। श्री गांधी नितांत हताश हो गए हैं और उन्होंने अपना मानसिक विवेक और संतुलन इस हद तक गंवा दिया है कि उन्हें पता ही नहीं है कि उनके तर्क उन्हें कहां ले जाएंगे। प्रत्यक्ष है कि इस तर्क का प्रयोग करते समय वह भूल गए कि वह इस बात की वकालत कर रहे हैं कि अस्पृश्य सदा-सर्वदा हिंदुओं के दास बने रहें। संक्षेप में, श्री गांधी का तर्क है, 'आजादी की मांग न करो, इससे तुम्हारे स्वामी नाराज हो जाएंगे और वे तुम्हारे साथ दुर्व्यवहार करेंगे।' यदि कोई अन्य व्यक्ति ऐसा तर्क प्रस्तुत करता तो उसे झूठा और पाखंडी कहा जाता।

जब श्री गांधी अस्पृश्यों की मांग के अनौचित्य को सिद्ध नहीं कर सके, तो उन्होंने दलित वर्गों के प्रतिनिधियों को अलग-थलग करने का निश्चय किया, ताकि उन्हें अन्य किसी क्षेत्र से मदद न मिल सके। श्री गांधी ने ऐसी योजना बनाई कि दलित वर्गों और मुसलमानों के बीच किसी समझौते की संभावना ही न रहे। योजना का आंशिक प्रयोजन यह था कि मुसलमानों को अपने पक्ष में मिला लिया जाए। इसके लिए उन्होंने मुसलमानों के साथ समझौता करने का प्रस्ताव रखा। इस समझौते को मुस्लिम प्रतिनिधियों में परिचालित किया गया। उसकी एक प्रति मेरे हाथ लग गई और मैं उसे यहां उद्धृत करता हूं। (नीचे यह मूलपाठ डा. अम्बेडकर की कृति *'व्हाट कांग्रेस एंड गांधी हैव डन टू दि अनटचेबिल्स'*, पृ. 72-73 से उद्धृत किया गया है। मूल अंग्रेजी की पांडुलिपि में यह टंकित नहीं है-- संपादक)।

गांधी-मुस्लिम समझौते का मसौदा[1]

गोलमेज सम्मेलन के लिए मुस्लिम प्रतिनिधि-मंडल[2]

1. इस दस्तावेज को 1939 में अपनी कृति *'थाट्स आन पाकिस्तान'* के परिशिष्ट के रूप में मैंने छपवाया था। तब वह पहली बार प्रकाश में आई थी। उसकी सत्यता पर कभी आपत्ति नहीं की गई है। मुझे यह प्रति गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने वाले एक हिंदू प्रतिनिधि से मिली। उन्हें मुस्लिम लीग का राजदार होने का सौभाग्य प्राप्त था।

2. इससे पता चलता है कि यह दस्तावेज मुस्लिम लीग प्रतिनिधि-मंडल की लेखन-सामग्री पर टंकित किया गया था।

टेलीफोनः विक्टोरिया 2360
टेलीग्राम : 'कोर्टलाइक' लंदन

क्वीन्स हाउस,
57 सेंट जेम्स कोर्ट,
बकिंघम गेट,
लंदन, एस.डब्ल्यू.
6 अक्तूबर 1931

कल रात 10 बजे श्री गांधी और मुस्लिम प्रतिनिधि-मंडल ने निम्न प्रस्तावों पर चर्चा की। वे दो भागों में विभाजित हैं : वे प्रस्ताव जिन्हें मुस्लिमों ने अपने अधिकारों की रक्षा के लिए रखा और वे प्रस्ताव जिन्हें श्री गांधी ने कांग्रेस की नीति के बारे में रखा। वे यहां उस रूप में दिए गए हैं, जिस रूप में उनका अनुमोदन श्री गांधी ने किया था और उन्हें मुस्लिम लीग की राय जानने के लिए प्रस्तुत किया गया था।

मुस्लिम प्रस्ताव

1. पंजाब और बंगाल में मुसलमानों का एक प्रतिशत का मामूली-सा बहुमत है, लेकिन इस प्रश्न पर कि क्या यह संयुक्त निर्वाचन-क्षेत्रों और समूचे सदन के 51 प्रतिशत के आरक्षण के माध्यम से हो, नए संविधान को लागू करने से पूर्व मुसलमान वोटरों की राय ली जाए और उनके फैसले को स्वीकार किया जाए।

2. अन्य प्रांतों में जहां मुसलमान अल्पसंख्या में हैं, उनके प्रति विशेष व्यवहार जारी रखा जाए, लेकिन क्या सीटें संयुक्त निर्वाचन-क्षेत्र के लिए आरक्षित की जाएं या उनके लिए पृथक निर्वाचक-मंडल हों, इसका निर्धारण मुसलमान वोटर नए संविधान के अधीन जनमत-संग्रह द्वारा करें और उनका फैसला स्वीकार किया जाए।

श्री गांधी के प्रस्ताव

1. मताधिकार का आधार व्यस्क मताधिकार हो।

2. सिखों और हिंदू अल्पसंख्यकों के अलावा (अन्य किसी जाति) को कोई विशेष आरक्षण न दिया जाए। कोष्ठकों के शब्द मूल में नहीं हैं।

कांग्रेस की मांगें:

क. पूर्ण स्वाधीनता।

ख. प्रतिरक्षा पर तुरंत पूर्ण नियंत्रण।

ग. वैदेशिक कार्यों पर पूर्ण नियंत्रण।

घ. वित्त पर पूर्ण नियंत्रण।

च. सरकारी ऋणों तथा अन्य दायित्वों की स्वतंत्र न्यायाधिकरण द्वारा जांच।

छ. भागीदारी की दशा में दोनों पक्षों को उसे समाप्त करने का अधिकार।

मुस्लिम प्रस्ताव

३. दोनों सदनों में केंद्रीय विधान-मंडल में मुस्लिम प्रतिनिधित्व ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधियों की कुल संख्या का 26 प्रतिशत हो और देशी राज्यों के लिए जो कोटा नियत किया जाए, उसमें से कम-से-कम रिवाज के अनुसार सात प्रतिशत कोटा मुसलमानों का हो, अर्थात कुल मिलाकर समूचे सदन का एक तिहाई हो।

4. अवशिष्ट शक्ति ब्रिटिश भारत के परिसंघात्मक प्रांतों के पास हो।

5. सहमति के लिए निम्न अन्य मुद्दे :

(1) सिंध।[1]

(2) पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत।[2]

(3) सेवाएं।[3]

(4) मंत्रिमंडल।[4]

(5) मूल अधिकार और धर्म तथा संस्कृति के लिए रक्षा के उपाय।

(6) किसी समुदाय पर प्रभाव डालने वाले विधान से रक्षा के उपाय।

यह वह समझौता है, जिसे श्री गांधी मुसलमानों से करने के लिए तैयार थे। इस समझौते के द्वारा वह मुसलमानों की 14-सूत्री मांगे पूरी करने के लिए तैयार थे। बदले में श्री गांधी चाहते थे कि मुसलमान और बातों के अलावा इसके लिए राजी हो जाएं कि विशेष प्रतिनिधित्व के सिद्धांत का लाभ हिंदुओं, मुसलमानों और सिखों को मिलता रहे। कोई यह प्रश्न कर सकता है कि ऐसे समझौते में क्या बुराई है। क्या कांग्रेस ने नहीं कहा है कि इन तीनों के अलावा किसी अन्य को सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व दिए जाने के लिए वे सहमत नहीं होंगे? ऐसे दृष्टिकोण को केवल सतही दृष्टिकोण ही माना जा सकता है। जिन लोगों को इसमें बुराई नहीं दीख पड़ती, उन्हें दो प्रश्नों का उत्तर देना होगा। पहला यह है कि श्री गांधी ने इस बात की जरूरत क्यों अनुभव की कि वह मुसलमानों को कांग्रेस की इस नीति से सहमत कराएं कि विशेष प्रतिनिधित्व का लाभ अन्य अल्पसंख्यकों तथा अस्पृश्यों को न दिया जाए। जैसे कि कांग्रेस दूसरे अल्पसंख्यकों से कहती आ रही थी, वैसे ही श्री गांधी भी उनसे कह सकते थे कि वह उनकी मांग स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं। उनकी मांग

1. सिंध के विभाजन के लिए।

2. पश्चिमोत्तर सीमा प्रात के लिए उत्तरदायी सरकार और प्रांतीय स्वायत्तता के लिए।

3. सेवाओं में प्रतिनिधित्व के लिए।

4. मंत्रिमंडल में प्रतिनिधित्व के लिए।

का प्रतिरोध करने के लिए वह मुसलमानों को क्यों शामिल करना चाहते थे। और यदि उनका उद्देश्य नहीं था, तो उन्होंने क्यों इसे उस समझौते की शर्त बनाया, जिसे उनके द्वारा स्वीकृत मांगों के बदले में मुसलमानों को करना था।

दूसरे, इस अवधि विशेष में ही क्यों श्री गांधी ने मुसलमानों के सामने उनकी 14 मांगें पूरी करने का प्रस्ताव रखा। मुसलमानों की इन 14 गलत या सही, राजनीतिक मांगों को सभी ने अस्वीकार कर दिया था। हिंदू महासभा और साइमन कमीशन ने उन्हें ठुकरा दिया था। कांग्रेस ने भी उन्हें ठुकरा दिया था। किसी भी क्षेत्र से मुसलमानों की इन 14 मांगों का समर्थन नहीं किया गया था। श्री गांधी ही क्यों उन्हें मानने के लिए तैयार हो गए? इसके सिवाय उनका और क्या उद्देश्य हो सकता है कि मुसलमानों को खरीद लिया जाए, ताकि उनकी मदद से वह अन्य अल्पसंख्यकों तथा अस्पृश्यों की मांग का प्रतिरोध और प्रभावी ढंग से कर सकें?

मेरे विचार में श्री गांधी नेकनीयती से कोई समझौता करने का प्रयास नहीं कर रहे थे। वह मुसलमानों को इस बात के लिए ललचा रहे थे कि वे अल्पतर अल्पसंख्यकों तथा अस्पृश्यों की मांग के विरोध की साजिश में उनका साथ दें। यह मुसलमानों के साथ समझौता नहीं था। यह तो अस्पृश्यों के खिलाफ साजिश थी। यह तो और भी बुरी बात थी। यह तो पीठ में छुरा घोंपने जैसा था।

यह तथाकथित समझौता निष्फल हो गया, क्योंकि और कारणों के अलावा मुसलमानों के लिए यह संभव नहीं था कि वे अस्पृश्यों को विशेष प्रतिनिधित्व के लाभ से वंचित किए जाने के लिए राजी हो जाएं। ऐसी योजना के लिए मुसलमान कैसे सहमत हो सकते थे? वे मुसलमानों को विशेष प्रतिनिधित्व प्रदान किए जाने के लिए संघर्ष कर रहे थे। वे न केवल विशेष प्रतिनिधित्व के लिए अपितु अधि-प्रतिनिधित्व के लिए भी संघर्ष कर रहे थे। वे जानते थे कि मुसलमानों का मामला केवल इस आधार पर टिका है कि मुसलमानों ने कभी भारत पर राज किया था, अतः उन्हें राजनीतिक महत्व बनाए रखना है और चूंकि इसकी संभावना है कि हिंदू विधान-मंडलों के चुनावों में मुसलमानों के साथ भेदभाव करेंगे, अतः हो सकता है कि मुस्लिम पर्याप्त संख्या में विधान-मंडल में न आ सकें। इससे मुसलमानों का राजनीतिक सितारा डूब जाएगा। उन पर ऐसी आपदा न आए, इसके लिए उन्हें विशेष प्रतिनिधित्व दिया ही जाना चाहिए। मुस्लिमों के पक्ष में तो केवल एक यही आधार है। इसके मुकाबिले अस्पृश्यों की मांग के पक्ष में तो एक सौ आधार हैं। किस मुंह से मुसलमान अस्पृश्यों की इस मांग का विरोध कर सकते हैं?

मुसलमानों ने अपनी लज्जा या संतुलन को नहीं गंवाया था। उन्होंने ऐसे सौदे में शामिल होने से इंकार कर दिया, जिसे सरेआम उचित नहीं ठहराया जा सकता था। श्री गांधी फिर भी मुसलमानों की खुशामद करते रहे। जब वह उन्हें 14-सूत्री

मांगों की स्वीकृति जैसे मूल्य से भी नहीं ललचा सके, क्योंकि मुसलमानों का विचार था कि दुनिया उसे मूल्य नहीं, अपितु पाप की मंजूरी मानेगी, तो श्री गांधी ने मुसलमानों के मजहबी उसूलों की दुहाई देने का प्रयास किया। 13 नवंबर[1] 1931 को जब अल्पसंख्यकों संबंधी समझौता[2] गोलमेज सम्मेलन की अल्पसंख्यक उप-समिति के सामने प्रस्तुत किया गया, उससे एक दिन पूर्व श्री गांधी '*कुरान*' की एक प्रति लेकर पिकाडिली स्थित रिट्ज होटल पहुंचे। वहां परम आदरणीय महामहिम आगा खां ठहरे हुए थे और वह वहां एकत्रित मुस्लिम प्रतिनिधियों से भेंट करने वाले थे। मुस्लिम प्रतिनिधियों से श्री गांधी ने पूछा, 'पृथक प्रतिनिधित्व की अस्पृश्यों की मांग को स्वीकार करके आप हिंदू समाज का विभाजन क्यों कर रहे हैं? क्या '*कुरान*' ऐसे काम की इजाजत देती है? मुझे दिखाइए कि कहां इजाजत देती है? यदि आप नहीं दिखा सकते तो क्या आप अपने मित्र समाज के प्रति ऐसे अपराध को होने से नहीं रोकेंगे?' मैं यह तो नहीं जानता कि मुस्लिम प्रतिनिधियों ने श्री गांधी के इस सवाल का किस तरह जवाब दिया। निश्चय ही यह उनके लिए एक बड़ा ही टेढा प्रश्न रहा होगा। पाक पैगंबर के मन में ऐसी आकस्मिकता के लिए कोई तुरंत समाधान नहीं हो सकता था और वह विशेषतः इसके लिए कोई समाधान प्रस्तुत भी नहीं कर सके होंगे। उनके अनुयायियों को पता था कि ऐसी आकस्मिकताएं उत्पन्न होंगी, जिनके लिए उन्होंने कोई निर्देश नहीं दिए हैं। अतः उन्होंने उनसे पूछा कि उन्हें क्या करना चाहिए। पैगंबर ने उन्हें यह सामान्य निर्देश दिया—ऐसी सूरत में देखो कि 'काफिर' क्या कर रहे हैं और ठीक उसका उलटा करो।[3] मैं दावे से तो नहीं कह सकता कि श्री गांधी को जवाब देने के लिए मुस्लिम प्रतिनिधियों ने इस निर्देश पर विश्वास किया या नहीं, मैंने तो वही कहा है, जो मैंने सुना है, और मेरा स्रोत अति विश्वस्त स्रोत है। यहां भी श्री गांधी विफल रहे, क्योंकि अगले दिन समिति की खुली बैठक में जब श्री गांधी ने अस्पृश्यों पर अपना गुस्सा उतारा तो मुसलमान चुप रहे।

श्री गांधी के इस आचरण के बारे में कोई क्या कह सकता है? श्री बर्नाड शा ने कहा है कि अंग्रेज हर काम सिद्धांत के अनुसार करते हैं।

उसी प्रकार श्री गांधी कहते हैं कि वह तो हर काम नैतिकता और नेकनीयती के सिद्धांत के अनुसार करते हैं। क्या श्री गांधी के कार्यों को न्याय और नेकनीयती की कसौटियों के अनुसार खरा सिद्ध किया जा सकता है? मुझे तो शंका है। प्रस्तुत है, कुछ तथ्य।

प्रथम गोलमेज सम्मेलन के वास्ते लंदन रवाना होने से पहले मैं श्री गांधी से

1. देखिए, डा. अम्बेडकर की कृति, *व्हाट कांग्रेस एंड गांधी हैव डन टू दि अनटचेबिल्स*, पृ. 67
2. वही, परिशिष्ट III, पृ. 307-11
3. देखिए, *कुरान*।

मिला था। उस समय मैंने श्री गांधी को सूचित किया था कि गोलमेज सम्मेलन में मै अस्पृश्यों के लिए विशेष प्रतिनिधित्व की मांग को उठाऊंगा। श्री गांधी सहमत नहीं हुए। लेकिन उन्होंने कहा था कि वह विरोध भी नहीं करेंगे। मुझे लगा था कि यह केवल मतभेद का मामला था। दूसरे गोलमेज सम्मेलन में मैं श्री गांधी से दो बार मिला। एक बार तो अकेले मिला और दूसरी बार अल्पतर अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधियों के साथ। पहली भेंट के समय श्री गांधी चरखा कात रहे थे और मैं बोल रहा था। मैं एक घंटे तक बोलता रहा, पर उस बीच वह एकदम चुप रहे। अंत में उन्होंने केवल इतना भर कहा, 'मैंने आपकी बात सुन ली है। मैं उस पर विचार करूंगा।' दूसरी भेंट के दौरान उन्होंने पुनः मेरी और अल्पतर अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधियों की बात सुनी। उन्होंने मुझसे कहा कि अस्पृश्यों की ओर से जो मांग मैं कर रहा हूं, उससे वह सहमत होने के लिए तैयार नहीं हैं। उसके बाद अल्पसंख्यक उप-समिति की बैठक 28 सितंबर 1931 को बुलाई गई। एक अक्तूबर 1931 की उप-समिति की बैठक में श्री गांधी ने निम्न प्रस्ताव किया :

> प्रधानमंत्री महोदय, कल रात महामहिम आगा खां तथा अन्य मुस्लिम मित्रों से परामर्श करके हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि जिस प्रयोजन के लिए हम यहां एकत्र हुए हैं, उसके हित में बेहतर होगा यदि एक सप्ताह के स्थगन का अनुरोध किया जाए। अपने अन्य साथियों से परामर्श करने का मुझे अवसर नहीं मिला है, लेकिन इस बारे में मुझे कोई संदेह नहीं है कि जो प्रस्ताव मैं कर रहा हूं, उससे वे भी सहमत होंगे।

प्रस्ताव का अनुमोदन श्री आगा खां ने किया। मैं तुरंत खड़ा हो गया। मैंने प्रस्ताव पर आपत्ति की और अपनी आपत्ति के समर्थन में निम्न वक्तव्य दिया।[1]

> डा. अम्बेडकरः समिति के विचाराधीन समस्या के किसी समाधान तक पहुंचने के संबंध में किए जा रहे हमारे हर प्रयास के मार्ग में मैं कोई कठिनाई नहीं पैदा करना चाहता। और यदि श्री गांधी द्वारा सुझाए गए उपायों से कोई समाधान निकल सकता है तो मैं व्यक्तिगत रूप से उस प्रस्ताव पर कोई आपत्ति नहीं करूंगा।
>
> लेकिन दलित वर्गों के प्रतिनिधि होने के नाते मेरे सामने एक कठिनाई उत्पन्न हो गई है। मैं नहीं जानता कि महात्मा गांधी स्थगन की अवधि में इस प्रश्न पर विचार करने के लिए किस तरह की समिति नियुक्त करने का प्रस्ताव करना चाहते हैं। लेकिन मेरा अनुमान है कि दलित वर्गों को इस समिति में प्रतिनिधित्व दिया जाएगा।

1. पृ. 245 तक के निम्न उद्धरण जिनके अंतिम शब्द हैं—'अनौपचारिक बैठकों के संबंध में मेरे प्रस्ताव से आप पूरे मन से सहयोग करेंगे', डा. अम्बेडकर की कृति, '*व्हाट कांग्रेस एंड गांधी हैव डन टू दि अनटचेबिल्स*, पृ. 60-62 से लिए गए हैं। ये अंग्रेजी की मूल पांडुलिपि में टंकित नहीं हैं — संपादक।

श्री गांधी: निस्संदेह।

डा. अम्बेडकर : धन्यवाद। लेकिन मैं नहीं जानता कि जिस स्थिति में मैं आज हूं, उसमें मेरे लिए प्रस्तावित समिति में कार्य करने की कोई सार्थकता होगी। और उसका कारण यह है कि महात्मा गांधी ने हमें पहले ही दिन बता दिया था कि उन्होंने संघात्मक संरचना समिति में कह दिया था कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रतिनिधि के नाते वह मुसलमानों और सिखों के अलावा किसी भी अन्य संप्रदाय को राजनीतिक मान्यता देने के लिए तैयार नहीं है। वह आंग्ल-भारतीयों, दलित वर्गों और भारत के ईसाइयों को भी मान्यता देने के लिए तैयार नहीं हैं। मेरा विचार है कि मैं इस समिति में यह कहकर शिष्टाचार का कोई हनन नहीं कर रहा हूं कि जब मुझे एक सप्ताह पूर्व महात्मा गांधी से भेंट करने का सुअवसर मिला था और मैंने उनके साथ दलित वर्गों के मसले पर चर्चा की थी और कल जब हमें अन्य अल्पसंख्यकों के सदस्यों के रूप में उनसे बातचीत करने का अवसर मिला था, तो अपने कार्यालय में उन्होंने नितांत स्पष्ट शब्दों में कह दिया था कि संघात्मक संरचना समिति में उन्होंने जो दृष्टिकोण अपनाया था, वह एक सुदृढ़ तथा सुविचारित दृष्टिकोण था। मैं यह कहना चाहूंगा कि जब तक प्रारंभ में ही मुझे यह पता न चल जाए कि भारत के भावी संविधान में राजनीतिक मान्यता के अधिकारी समुदाय के रूप में दलित वर्गों को मान्यता दी जाएगी, तब तक मैं नहीं जानता कि उस समिति में शामिल होने से मेरा कोई प्रयोजन सिद्ध होगा, जिसके गठन का प्रस्ताव महात्मा गांधी ने इस मसले पर विचार करने के लिए किया है। अतः जब तक मुझे यह आश्वासन नहीं दिया जाता कि यह समिति शुरू से ही यह मानकर चलेगी कि गत वर्ष अल्पसंख्यक उप-समिति ने जिन-जिन समुदायों के लिए सिफारिश की थी कि वे भारत के भावी संविधान में मान्यता के लिए उपयुक्त हैं, उन सभी को शामिल किया जाएगा, तब तक मुझे नहीं मालूम कि मैं स्थगन के प्रस्ताव का पूरे मन से समर्थन कर सकता हूं अथवा मनोनीत की जाने वाली समिति से पूरे मन से सहयोग कर सकता हूं। इसके बारे में मैं स्पष्टीकरण चाहता हूं।

* * * *

डा. अम्बेडकर : मैं अपनी स्थिति को और स्पष्ट करना चाहूंगा। ऐसा लगता है कि मैंने जो कहा है, उसके बारे में कुछ गलतफहमी हो गई है। बात यह नहीं है कि मैं स्थगन पर आपत्ति करता हूं। बात यह नहीं है कि मसले पर विचार के लिए जो कोई समिति नियुक्त की जा सकती है, उसमें काम करने पर मैं आपत्ति करता हूं। यदि वे मुझे इस समिति में काम करने का सौभाग्य प्रदान करना चाहते हैं, तो मैं इस समिति में शामिल होने से पूर्व यह जानना चाहूंगा : यह समिति किस विषय पर विचार करेगी? क्या वह केवल मुसलमानों और हिंदुओं के मसले पर विचार करेगी? क्या वह मुसलमानों और पंजाब के सिखों के मसले

पर विचार करेगी? अथवा, क्या वह ईसाइयों, आंग्ल-भारतीयों और दलित वर्गों के मसले पर विचार करेगी?

यदि हम शुरुआत करने से पहले ही पूरी तरह समझ लें कि यह समिति न सिर्फ हिंदुओं और मुसलमानों के मसले से, हिंदुओं और सिखों के मसले से सरोकार रखेगी, बल्कि यह दायित्व भी लेगी कि वह दलित वर्गों, आंग्ल-भारतीयों और ईसाइयों के मसले पर भी विचार करेगी, तो मैं पूरी तरह तैयार हूं कि इस स्थगन प्रस्ताव को बिना किसी आपत्ति के पारित होने दिया जाए। लेकिन मैं यह कहे बिना नहीं रहूंगा कि यदि मेरी उपेक्षा की जाएगी और यदि इस अंतराल का उपयोग हिंदू-मुस्लिम मसले को हल करने के लिए किया जाएगा, तो मेरा आग्रह होगा कि बेहतर होगा कि स्वयं अल्पसंख्यकों संबंधी समिति ही इस मसले पर अपना सर खपाए, बजाए इसके कि केवल कुछ अल्पसंख्यकों के सांप्रदायिक मसले का हल खोजने के लिए कोई अन्य अनौपचारिक समिति इस मसले का निपटारा करे।

समिति के अध्यक्ष के नाते प्रधानमंत्री ने श्री गांधी से उनका दृष्टिकोण स्पष्ट करने के लिए कहा और श्री गांधी ने उत्तर में निम्न वक्तव्य दिया[1] :

प्रधानमंत्री महोदय तथा मित्रो, मैं देख रहा हूं कि हममें से कुछ ने अपने सामने कार्य का जो क्षेत्र रखा है, उसके बारे में कुछ गलतफहमी है। मेरा विचार है कि डा. अम्बेडकर, कर्नल गिडनी तथा अन्य मित्र भविष्य के बारे में अकारण ही चिंतित हो रहे हैं। भारत के किसी एकल हित अथवा वर्ग अथवा व्यक्ति को भी राजनीतिक मान्यता दिए जाने से वंचित करने का मुझे क्या अधिकार है? कांग्रेस के प्रतिनिधि के नाते मैं उस विश्वास के योग्य नहीं रहूंगा, जो कांग्रेस ने मुझ पर किया है, यदि मैं एक भी राष्ट्रीय हित की बलि चढ़ाने का अपराध करूं। निश्चय ही मैंने इन मुद्दों के बारे में अपने निजी विचार व्यक्त किए हैं। मैं स्वीकार करना ही चाहूंगा कि मैं उन विचारों पर भी अटल हूं। लेकिन ऐसे अनेक रास्ते हैं, जिनके द्वारा हर एकल हित को सुरक्षा की गारंटी दी जा सकती है। यह काम उन लोगों का होगा, जो एक साथ मिल-बैठकर योजना तैयार करने की कोशिश करेंगे। हर कोई बिना किसी बाधा के इस अति अनौपचारिक सम्मेलन अथवा बैठक के सामने साग्रह अपने दृष्टिकोण प्रस्तुत कर सकेगा।

अतः मेरा विचार है कि किसी को भी यह आशंका नहीं होनी चाहिए कि वह अपनी राय व्यक्त नहीं कर सकेगा अथवा मनवा नहीं सकेगा। मेरी राय का महत्व भी हममें से हर किसी की राय के बराबर ही होगा। उसका औरों से अधिक महत्व नहीं होगा। मेरे पास ऐसा कोई अधिकार नहीं है कि मैं किसी की राय को लांघकर

1. देखिए, *व्हाट कांग्रेस एंड गांधी हैव डन टू दि अनटचेबिल्स*, पृ. 62 (उपरोक्त दोनों उद्धरणों का उल्लेख अंग्रेजी की मूल पांडुलिपि में नहीं है—संपादक)।

अपनी राय मनवा लूं। मैंने तो राष्ट्रहित में केवल अपने विचार व्यक्त किए हैं और जहां भी उपयुक्त होगा, मैं अपने इन विचारों को व्यक्त करूंगा ही। यह काम आपका होगा कि आप इन रायों को स्वीकार करें या न करें। हममें से हरेक यह विचार अपने मन से निकाल दे कि सम्मेलन में और मेरे द्वारा प्रस्तावित अनौपचारिक बैठकों में किसी भी प्रकार के विरोध को जबरन कुचल दिया जाएगा। लेकिन यदि आपका विचार है कि इस मेज पर तन कर बैठने के बजाए यह और करीब आने का एक रास्ता है, तो आप इस स्थगन प्रस्ताव को अस्वीकार नहीं करेंगे, अपितु इन अनौपचारिक बैठकों के संबंध में मेरे प्रस्ताव से आप पूरे मन से सहयोग करेंगे।

* * * *

तब मैंने अपनी आपत्ति वापस ले ली।

अब यहां खुले सम्मेलन में श्री गांधी ने एक पक्का वचन दिया है कि यदि अन्य सभी लोग अस्पृश्यों की मांग को मान्यता देने के लिए सहमत हो जाएं तो वह आपत्ति नहीं करेंगे। और यह वचन देने के बाद श्री गांधी मुसलमानों को इस बात के लिए लालच देते रहे कि वे अस्पृश्यों की मांग को मान्यता न दें और उन्हें घूस देकर उकसाते रहे कि वे अपने दिए गए वचन से मुकर जाएं। यह नेकनीयती है या विश्वासघात है? यदि यह विश्वासघात नहीं है, तो और किसे विश्वासघात कहा जा सकता है।

मुझे बलि का बकरा बना दिया गया, क्योंकि मैंने अल्पसंख्यकों संबंधी समझौते पर हस्ताक्षर किए। मुझे गद्दार कहा गया। पर मैंने समझौते पर हस्ताक्षर कर देने पर कभी कोई लज्जा अनुभव नहीं की। मुझे तो अपने आलोचकों के अज्ञान पर केवल तरस आता है। वे यह भूल जाते हैं कि अल्पसंख्यक भी वही रवैया अपना सकते थे, जो अल्स्टर ने आयरिश स्वराज के प्रति अपनाया था। रेडमंड अल्स्टरवासियों को हर प्रकार की सुरक्षा प्रदान करने के लिए तैयार थे। लेकिन अल्स्टरवासियों का उत्तर था, 'भाड़ में जाए तुम्हारे प्रस्तावित सुरक्षा-उपाय, हमें नहीं चाहिए तुम्हारा शासन।' हिंदुओं को तो अल्पसंख्यकों का आभार मानना चाहिए कि उन्होंने ऐसा कोई रवैया नहीं अपनाया। समझौते में केवल सुरक्षा के उपाय थे, उनके अलावा कुछ नहीं था। आभार मानने के बजाए श्री गांधी ने समझौते और उसे तैयार करने वालों को अपने कोप का भाजन बनाया। उन्होंने कहा :

जहां तक इस दस्तावेज[1] का संबंध है, मैं सर ह्यूबर्ट कार के धन्यवाद को स्वीकार करता हूं। यदि मैं वे विचार प्रकट न करता जो मैंने भार वहन करते समय प्रकट किए थे और यदि मैं समाधान खोजने में नितांत असफल न होता, तो सर ह्यूबर्ट कार ने ठीक ही कहा है कि वह अन्य अल्पसंख्यकों की साझेदारी

1. संकेत 'अल्पसंख्यकों' संबंधी समझौते की ओर है।

में उस प्रसंशनीय समाधान को न खोज पाते, जिसे वह खोज सके हैं। उस पर पहले यह समिति विचार करेगी और अंततः महामहिम की सरकार उस पर विचार करके उसका अनुमोदन करेगी।

मैं सर ह्यूबर्ट कार तथा उनके सहयोगियों को उन्हें प्रत्यक्षतः उल्लसित करने वाली संतोष की अनुभूति से वंचित नहीं करूंगा, लेकिन मेरा विचार है कि उन्होंने तो बस यही किया है कि वे शव की बगल में बैठ गए हैं और उन्होंने शव के बंटवारे का प्रशंसनीय कार्य कर डाला है।

क्या श्री गांधी को क्रुद्ध होने का कोई अधिकार है? क्या उन्हें नैतिक क्षोभ का कोई अधिकार है? क्या उन्हें अल्पसंख्यकों पर पत्थर बरसाने का कोई अधिकार है? श्री गांधी यह भूल गए हैं कि वह भी उतने ही पापी हैं, जितने कि अल्पसंख्यक, और वह तो और भी गए-बीते पापी हैं, क्योंकि उनमें न्याय की भावना नहीं है। क्योंकि, यदि अल्पसंख्यक शव का बंटवारा कर रहे हैं, तो स्वयं श्री गांधी क्या कर रहे हैं? वह भी शव का बंटवारा करने में जुटे हुए हैं। श्री गांधी और अल्पसंख्यकों में केवल यह अंतर है— श्री गांधी चाहते हैं कि शव का बंटवारा केवल तीन, यानी हिंदुओं, मुसलमानों और सिखों के बीच किया जाए। अल्पसंख्यक चाहते हैं कि दूसरों को भी उसमें हिस्सा मिले। इन दोनों पक्षों में से कौन यह दावा कर सकता है कि न्याय उसके पक्ष में है, क्या श्री गांधी के जो चाहते हैं कि शव का बंटवारा हट्टे-कट्टे, मोटे-ताजे भेड़ियों के बीच हो या अल्पसंख्यकों के जो आग्रह कर रहे हैं कि पतले-दुबले, भूखे मैमनों को भी कोई ग्रास मिल जाए? निश्चय ही इस विवाद में न्याय श्री गांधी के पक्ष में नहीं है।

श्री गांधी ऐसे व्यक्ति हैं, जो यह दावा करते हैं कि स्वयं अस्पृश्यों के अपने प्रतिनिधियों के मुकाबले वह उनके कहीं बेहतर प्रतिनिधि और पक्षधर हैं। कहां पक्षधर होने का उनका दावा और कहां नैतिकता, न्याय और जरूरत को ताक पर रखकर प्रतिनिधित्व संबंधी अस्पृश्यों की मांग को उनके द्वारा ठुकराया जाना जो सामाजिक अत्याचार और सामाजिक दमन से उनकी सुरक्षा का एकमात्र उपाय हो सकता है, जब कि वह मुसलमानों, हिंदुओं और सिखों को राजनीतिक सत्ता का अच्छा-खासा हिस्सा देने के लिए तैयार हैं। जहां कहीं बेहतर स्थिति वाले अन्य लोग सत्ता की मांग कर रहे हैं, वहां श्री गांधी चाहते हैं कि बिना किसी सुरक्षा के अस्पृश्य उनकी तथा कांग्रेस की छत्रछाया में रहें, जब कि वह भली-भांति जानते हैं कि अस्पृश्यों के सिर पर तो हर पल खतरे और अपमान की नंगी तलवार लटकती रहती है। जब श्री गांधी को पता चला कि अस्पृश्य अपनी मांग के समर्थन में बाहरी मदद प्राप्त करने का प्रयास कर रहे हैं, तो उन्होंने विश्वासघात के भयंकर हथियार का सहारा लिया। जब श्री गांधी गोलमेज सम्मेलन में भाग लेकर बंबई पहुंचे तो क्या अस्पृश्यों ने कोई अनुचित कार्य किया जब उन्होंने दुनिया के सामने श्री गांधी के विरुद्ध अपना आरोप-पत्र प्रस्तुत किया?

11

गांधी और उनका अनशन

I. *पूना समझौता,*

II. *हरिजन सेवक संघ,*

III. *मंदिर और अस्पृश्य, और*

IV. *गांधीवादी शैली।*

I

सांप्रदायिक मसला वह कठोर चट्टान थी, जिससे टकराकर भारतीय गोलमेज सम्मेलन का जहाज चूर-चूर हो गया। सम्मेलन भंग हो गया, क्योंकि बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक संप्रदायों के बीच कोई समझौता नहीं हो सका। भारत के अल्पसंख्यकों का आग्रह था कि स्वराज के अधीन उनकी स्थिति को सुरक्षा प्रदान की जाए और उन्हें विधान-मंडलों में विशेष प्रतिनिधित्व दिया जाए। कांग्रेस के प्रतिनिधि के नाते श्री गांधी मुस्लिमों और सिखों के अलावा और किसी की ऐसी मांग को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे। मुसलमानों और सिखों के मामले में भी, न तो सीटों की संख्या के बारे में और न ही निर्वाचन-क्षेत्रों के स्वरूप के बारे में कोई समझौता हो सका।

पूर्ण गतिरोध हो गया। चूंकि समझौते की कोई गुंजाइश नहीं थी, अतः आशा की किरण मध्यस्थता में दिखाई दी। मेरे सिवाय इसके लिए हर कोई तैयार था और मसले के निपटारे का भार प्रधानमंत्री रैम्जे मैक्डोनाल्ड पर छोड़ दिया गया।

जब प्रथम गोलमेज सम्मेलन में भारतीय प्रतिनिधि सांप्रदायिक मसले के किसी हल के बारे में सहमत नहीं हो सके, तो श्री गांधी के अनुयायियों ने कहा कि उन प्रतिनिधियों से इससे बेहतर कोई आशा नहीं की जा सकती थी। यह कहा गया कि प्रतिनिधि न तो प्रतिनिधि थे और न ही किसी के प्रति उत्तरदायी थे। वे जान-बूझकर फूट डाल रहे थे। वे तो अंग्रेजों के हाथों में खेल रहे थे। वे तो अंग्रेजों की कठपुतलियां थे और उन्हीं

के मनोनीत व्यक्ति थे। दुनिया के सामने ढोल पीटा गया कि वह श्री गांधी के आगमन की प्रतिक्षा करें और वायदा किया गया कि अपनी राजनीतिक सूझबूझ के बल पर श्री गांधी इस विवाद का निपटारा कर सकेंगे। अंतः श्री गांधी के मित्रों के लिए यह बड़े शर्म की बात थी कि श्री गांधी ने अपने दिवालिएपन को स्वीकार किया और प्रधानमंत्री से किए गए मध्यस्थता के अनुरोध में वह भी शामिल हो गए।

लेक़िन यदि सम्मेलन विफल हो गया तो उसका पूरा दोष श्री गांधी का है। सम्मेलन तो ऐसे संविधान की रूपरेखा प्रस्तुत करने के लिए बुलाया गया था, जो भारत के विविध प्रकार के हितों में समन्वय स्थापित कर सके। ऐसे सम्मेलन के लिए श्री गांधी से अधिक अनुभवहीन और अकुशल प्रतिनिधि नहीं भेजा जा सकता था। संवैधानिक विधि अथवा वित्त के बारे में श्री गांधी का ज्ञान शून्य के बराबर था। वह बौद्धिक योग्यता में विश्वास नहीं रखते। वस्तुतः उसके प्रति उनमें असीम घृणा है। अतः अनेक कठिनाइयों के समाधान के प्रति उनका योगदान शून्य के बराबर है। वह व्यवहार-कुशल नहीं थे। उन्होंने तो प्रायः सभी प्रतिनिधियों को नाराज कर दिया। उनसे वह बार-बार यही कहते रहे कि वे तो नगण्य व्यक्ति थे। अकेले वही महत्वपूर्ण व्यक्ति थे और अपेक्षाओं की कसौटी पर खरे उतर सकते थे। प्रथम गोलमेज सम्मेलन में प्रतिनिधि सांप्रदायिक समस्या के किसी हल के बारे में सहमत नहीं हो सके थे। लेकिन यह भी उतना ही सच है कि वे सहमति के अति निकट पहुंच गए थे और जब वे अलग हुए तो उन्होंने सहमति की आशा नहीं छोड़ी थी। लेकिन दूसरे गोलमेज सम्मेलन के समापन पर श्री गांधी ने इतना मनमुटाव पैदा कर दिया था कि आपसी सुलह का कोई मौका ही नहीं रह गया था। तब मध्यस्थता के अलावा और कोई चारा ही नहीं रह गया था।

सांप्रदायिक मसले पर प्रधानमंत्री के निर्णय की घोषणा 17 अगस्त 1932 को की गई। जहां तक निर्णय की शर्तों का संबंध अस्पृश्यों से है, वे इस प्रकार हैं[1]:

महामहिम की सरकार, 1932 द्वारा लिया गया
सांप्रदायिक निर्णय

विगत पहली दिसंबर को गोलमेज सम्मेलन के दूसरे सत्र के समापन पर महामहिम की सरकार की ओर से प्रधानमंत्री ने एक वक्तव्य दिया और उसके तुरंत पश्चात संसद के दोनों सदनों ने उसका अनुमोदन किया। उसमें यह

1. सांप्रदायिक निर्णय का निम्न पाठ मूल अंग्रेजी की पांडुलिपि में टंकित नहीं है। इसे लेखक की कृति, *व्हाट कांग्रेस एंड गांधी हैव डन टू दि अनटचेबिल्स*, पृ. 80-82 से उद्धृत किया गया है।

स्पष्ट कर दिया गया है कि जिन सांप्रदायिक मसलों को हल करने में सम्मेलन विफल रहा, यदि उनके बारे में भारत के संप्रदाय सभी पक्षों को स्वीकार्य कोई समझौता न कर सकें, तो महामहिम की सरकार का इस बारे में दृढ़ संकल्प है कि उसके कारण भारत की संवैधानिक प्रगति अवरुद्ध नहीं होनी चाहिए और वह स्वयं दिमाग लड़ाकर और जुगत भिड़ाकर एक अस्थाई योजना के द्वारा इस बाधा को दूर करेगी।

2. जब महामहिम की सरकार को यह सूचना मिली कि किसी समझौते पर पहुंचने में संप्रदाय लगातार विफल रहे हैं और उससे एक नए संविधान की संरचना संबंधी योजनाओं की प्रगति में बाधा पड़ रही है, तो उसने विगत 19 मार्च को कहा कि वह उत्पन्न होने वाले कठिन तथा विवादास्पद मसलों पर सावधानी से पुनर्विचार कर रही है। वह अब इस बारे में संतुष्ट हो गई है कि संविधान की संरचना में आगे प्रगति तभी हो सकती है, जब नए संविधान के अधीन अल्पसंख्यकों की स्थिति से संबद्ध समस्याओं के कम से कम कुछ पहलुओं के बारे में कोई निर्णय हो जाए।

3. तदनुसार महामहिम की सरकार ने निर्णय किया है कि वह ऐसे उपबंधों को शामिल करेगी, जो यथासमय संसद के समक्ष प्रस्तुत किए जाने वाले भारतीय संविधान से संबद्ध प्रस्तावों में निम्नांकित योजना को कार्यरूप देंगे। इस योजना के क्षेत्र को जान-बूझकर उन प्रबंधों तक सीमित रखा गया है, जो प्रांतीय विधान-मंडलों में ब्रिटिश भारत के संप्रदायों के प्रतिनिधित्व के बारे में किए जाएंगे। केंद्रीय विधान-मंडल में प्रतिनिधित्व का विचार नीचे पैरा 20 में दिए गए कारण से स्थगित कर दिया गया है। योजना के क्षेत्र को सीमित रखने का अर्थ यह नहीं है कि वह यह अनुभव नहीं करती कि संविधान की संरचना में अल्पसंख्यकों के लिए अति महत्वपूर्ण अनेक अन्य समस्याओं पर निर्णय की जरूरत पड़ेगी, अपितु उसने यह निर्णय इस आशा से किया है कि जब एक बार प्रतिनिधित्व की पद्धति और अनुपात के बुनियादी प्रश्नों के बारे में घोषणा कर दी जाएगी, तो हो सकता है कि संबंधित संप्रदाय स्वयं उन अन्य सांप्रदायिक मसलों के बारे में कोई अस्थाई व्यवस्था खोज लें, जिन पर वे अपेक्षित स्तर का विचार नहीं कर सके हैं।

4. महामहिम की सरकार चाहती है कि उसकी बात को अति स्पष्ट रूप से समझ लिया जाए कि वह स्वयं किसी ऐसी वार्ता में भाग नहीं ले सकती जो उसके निर्णय में परिवर्तन के लिए की जाए और न ही वह किसी ऐसे अभ्यावेदन पर विचार के लिए तैयार होगी जिसका लक्ष्य उसमें परिवर्तन करना हो और जिसे सभी संबद्ध पक्षों का समर्थन प्राप्त न हो। लेकिन उसकी हार्दिक इच्छा है कि यदि राजी-खुशी से कोई सर्वसम्मत समझौता हो सके तो उसके

लिए द्वार खुला रहे। अतः यदि नए भारत सरकार अधिनियम को कानूनी दर्जा मिलने से पूर्व उसे इस बारे में संतोष हो जाए कि संबद्ध संप्रदाय गवर्नरों के किसी एक या उससे अधिक प्रांतों के बारे में अथवा समूचे ब्रिटिश भारत के बारे में किसी व्यावहारिक वैकल्पिक योजना पर आपस में सहमत हो गए हैं, तो वह संसद से यह सिफारिश करने के लिए तैयार हो जाएगी कि इस समय जिन उपबंधों की रूपरेखा तैयार की गई है, उसके स्थान पर वैकल्पिक योजना को रखा जाए :

5. * * * * *

6. * * * * *

7. * * * * *

8. * * * * *

9. वोट की योग्यता वाले 'दलित वर्गों' के लोग सामान्य निर्वाचन-क्षेत्र में वोट देंगे। लेकिन इस बात को ध्यान में रखते हुए कि काफी अर्से तक इस बात की संभावना नहीं है कि इन वर्गों को केवल इसी उपाय से विधान-मंडल में पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त हो सकेगा, उन्हें सारणी में दर्शाई गई संख्या के अनुसार विशेष सीटें दी जाएंगी। ये सीटें विशेष निर्वाचन-क्षेत्रों में होने वाले चुनाव से भरी जाएंगी। इन निर्वाचन-क्षेत्रों में मतदान की योग्यता पाने वाले केवल 'दलित वर्गों' के लोग ही वोट डाल सकेंगे। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, ऐसे विशेष निर्वाचन-क्षेत्र में वोट डालने वाले व्यक्ति को यह अधिकार भी होगा कि वह सामान्य निर्वाचन-क्षेत्र में भी वोट डाल सकेगा। उद्देश्य यह है कि इन निर्वाचन-क्षेत्रों का गठन उन खास क्षेत्रों में किया जाए जहां दलित वर्गों का बाहुल्य हो, और मद्रास को छोड़कर अन्यत्र उनकी व्यवस्था प्रांत के समूचे क्षेत्र के लिए न की जाए।

बंगाल में इस बात की संभावना दीख पड़ती है कि कुछ सामान्य निर्वाचन-क्षेत्रों में अधिकांश मतदाता दलित वर्गों के होंगे। तदनुसार और छानबीन होने तक उस प्रांत में दलित वर्गों के विशेष निर्वाचन-क्षेत्रों से चुने जाने वाले सदस्यों की कोई संख्या निश्चित नहीं की गई है। उद्देश्य यह है कि दलित वर्ग बंगाल के विधान-मंडल में 10 से कम सीटें प्राप्त न करें। इस बारे में अभी तक अंतिम रूप से निश्चय नहीं किया गया है कि हर प्रांत में उन लोगों की ठीक-ठीक परिभाषा क्या होगी, जो (यदि मतदान के योग्य हों) दलित वर्गों के बीच विशेष निर्वाचन-क्षेत्रों में वोट डालने के अधिकारी होंगे। सामान्यतः वह परिभाषा उन सामान्य सिद्धांतों पर आधारित होगी, जिनकी सिफारिश मताधिकार कमेटी की रिपोर्ट में की गई है। लेकिन

उत्तरी भारत के कुछ प्रांतों में परिवर्तन की जरूरत पड़ सकती है। वहां अस्पृश्यता की सामान्य कसौटी को लागू करने से ऐसी परिभाषा बन सकती है, जो किन्ही दृष्टियों से प्रांत की विशेष परिस्थितियों के अनुकूल न हो।

महामहिम की सरकार का विचार है कि दलित वर्गों के लिए इन विशेष निर्वाचन-क्षेत्रों की आवश्यकता सीमित समय से अधिक के लिए नहीं पड़ेगी.। वह चाहती है कि निश्चय ही संविधान यह व्यवस्था करेगा कि 20 वर्षों के पश्चात वे समाप्त हो ही जाएंगे, यदि उससे पूर्व उनका उन्मूलन पैरा 6 में उल्लिखित निर्वाचन संशोधन की सामान्य शक्तियों के अधीन न कर दिया जाए।

जहां तक अन्य अल्पसंख्यक सप्रदायों का संबंध है, सांप्रदायिक निर्णय को स्वीकार कर लिया गया और फूट तथा मन-मुटाव के अप्रिय विषय को समाप्त कर दिया गया। लेकिन जहां तक अस्पृश्यों का संबंध है, वह अब भी बना हुआ है। श्री गांधी उसे समाप्त नहीं होने देंगे। गोलमेज सम्मेलन के बाद भारत लौटने पर श्री गांधी को ब्रिटिश सरकार ने जेल में डाल दिया। पर भले ही श्री गांधी यरवदा जेल में हैं, वह यह नहीं भूले हैं कि ब्रिटिश सरकार द्वारा मान्य विशेष प्रतिनिधित्व संबंधी अस्पृश्यों की मांग को वह पूरा नहीं होने देंगे। उन्हें आशंका है कि ब्रिटिश सरकार अस्पृश्यों को यह अधिकार दे सकती है। वह गोलमेज सम्मेलन में दी गई उनकी इस धमकी की भी परवाह नहीं करेगी कि वह अपने प्राणों की बाजी लगाकर उसका विरोध करेंगे। अंततः उन्होंने शीघ्र अति–शीघ्र अवसर मिलते ही उसी ब्रिटिश सरकार को पत्र लिखा, जिसने उन्हें बंदी बना लिया है।

श्री गांधी ने 11 मार्च 1932 को तत्कालीन भारत मंत्री सर सैमुएल होर को यह पत्र लिखा :

प्रिय सर सैमुएल,

शायद आपको याद होगा कि जब गोलमेज सम्मेलन में अल्पसंख्यकों की मांग प्रस्तुत की गई थी, तो अपने भाषण के अंत में मैंने कहा था कि दलित वर्गों के लिए पृथक निर्वाचक-मंडल की व्यवस्था का विरोध मुझे अपने प्राणों की बाजी लगाकर करना चाहिए। मैंने ऐसा क्षणिक आवेश में या वक्तृता झाड़ने के लिए नहीं कहा था। वह एक गंभीर वक्तव्य था। उस वक्तव्य के अनुसार मैं आशा करता था कि भारत लौटने पर मैं कम-से-कम दलित वर्गों के लिए पृथक निर्वाचक-मंडलों के विरोध में जनमत तैयार करूंगा। लेकिन वैसा नहीं कर सका।

समाचार-पत्रों में मैंने पढ़ा है, मुझे लगता है कि किसी भी क्षण महामहिम

की सरकार अपने निर्णय की घोषणा कर सकती है। पहले तो मैंने सोचा कि यदि देखा गया कि इस निर्णय के अनुसार दलित वर्गों के लिए पृथक निर्वाचक-मंडलों का गठन होगा, तो मैं अपनी प्रतिज्ञा को पूरी करने के लिए वैसे कदम उठाऊं, जिन्हें मैं उस समय जरूरी समझूं। लेकिन मेरा विचार है कि ब्रिटिश सरकार के प्रति मेरा यह व्यवहार उचित नहीं होगा कि मैं पूर्व सूचना के बिना कोई कदम उठाऊं। स्वाभाविक है कि वह मेरे वक्तव्य को वह महत्व प्रदान नहीं कर सकी, जो मैं प्रदान करता हूं।

पृथक निर्वाचक-मंडल हानिकर

मैं जरूरी नहीं समझता कि दलित वर्गों के लिए पृथक निर्वाचक-मंडलों के गठन के बारे में मैं अपनी सभी आपत्तियों को दुहराऊं। मुझे लगता है, जैसे मैं भी उन्हीं में से एक हूं। उनका मामला औरों से नितांत भिन्न आधार वाला है। मैं विधान-मंडलों में उनके प्रतिनिधित्व का विरोध नहीं करता। मैं तो इस बात का पक्षधर हूं कि उनके हर वयस्क को, चाहे पुरुष हो या स्त्री, शिक्षा अथवा संपत्ति की योग्यता के बिना ही वोटर के रूप में दर्ज किया जाए, भले ही औरों के लिए मताधिकार का मापदंड उनसे कठोर हो। लेकिन मेरा विचार है कि पृथक निर्वाचक-मंडल उनके लिए और हिंदू धर्म के लिए हानिकर हैं, विशुद्ध राजनीतिक दृष्टिकोण से जो भी स्थिति हो। पृथक निर्वाचक-मंडल उन्हें क्या हानि पहुंचाएंगे, उसे समझने के लिए हमें यह जानना होगा कि तथाकथित सवर्ण हिंदुओं के बीच उनकी क्या स्थिति है और किस प्रकार वे सवर्ण हिंदुओं पर आश्रित हैं। जहां तक हिंदू धर्म का संबंध है, पृथक निर्वाचक-मंडलों का अर्थ होगा, उसका विखंडन और उसका विनाश।

मेरी दृष्टि में इन वर्गों का मसला मुख्यतः नैतिक और धार्मिक है। भले ही राजनीतिक पक्ष महत्वपूर्ण है, पर नैतिक तथा धार्मिक पक्ष की तुलना में उसका महत्व फीका पड़ जाता है।

इस मामले में आपको मेरी भावनाओं को समझना ही होगा और स्मरण करना होगा कि बचपन से ही इन वर्गों की दशा के प्रति मेरी रुचि रही है और उनके हित के लिए मैंने एक से अधिक बार अपना सर्वस्व दांव पर लगाया है। ऐसा कहकर मैं अपना कोई अहंकार नहीं जता रहा हूं। क्योंकि मेरा विचार है कि हिंदुओं ने दलित वर्गों को सदियों तक सुनियोजित अधोगति की जिस स्थिति में धकेला है, उसकी क्षतिपूर्ति वे किसी भी प्रायश्चित द्वारा नहीं कर सकते।

आमरण अनशन करूंगा ही

लेकिन मैं जानता हूं कि जिस अधोगति की चक्की में वे पिसे हैं, उसके

लिए पृथक निर्वाचक-मंडल न तो प्रायश्चित्त है और न ही इलाज। अतः मैं सविनय महामहिम की सरकार को सूचित करता हूं कि यदि उनका निर्णय दलित वर्गों के लिए पृथक निर्वाचक-मंडलों के गठन का होगा, तो निश्चय ही मैं आमरण अनशन करूंगा।

मैं बड़े ही व्यथित मन से इस तथ्य के बारे में सजग हूं कि जेल में रहते हुए मेरा ऐसा कदम निश्चय ही महामहिम की सरकार को गंभीर परेशानी में डालेगा। अनेक लोग इसे इस दृष्टि से अति अनुचित मानेंगे कि मेरी जैसी हैसियत वाला कोई व्यक्ति राजनीतिक क्षेत्र में ऐसे उपायों का सूत्रपात करे, जिन्हें वे कम-से-कम सनक भरे तो कहेंगे ही। बचाव में मैं बस इतना ही कह सकता हूं कि मेरे लिए विचारित कदम उपाय नहीं हैं, वह तो मेरे अस्तित्व का हिस्सा हैं। यह तो मेरी अंतरात्मा की आवाज है और मैं उसकी अनसुनी नहीं कर सकता, भले ही उसके लिए मुझे विवेक संबंधी अपनी पूरी प्रतिष्ठा को गंवाना पड़े। अब जहां तक मैं देख सकता हूं, जेल से मेरी रिहाई भी अनशन के मेरे कर्तव्य को कम अनिवार्य नहीं बनाएगी। लेकिन मैं आशा कर रहा हूं कि मेरी सभी आशंकाएं पूर्णतया अनुचित हैं और ब्रिटिश सरकार का ऐसा कोई इरादा नहीं है कि वह दलित वर्गों के लिए पृथक निर्वाचक-मंडलों का गठन करेगी।

* * * *

भारत मंत्री ने श्री गांधी को यह उत्तर दिया था :

इंडिया आफिस, व्हाइट हाल,
13 अप्रैल 1932

प्रिय श्री गांधी,

मैं दिनांक 11 मार्च के आपके पत्र का उत्तर दे रहा हूं। मैं तुरंत कहता हूं कि दलित वर्गों के लिए पृथक निर्वाचक-मंडलों के मसले पर आपकी भावना की तीव्रता को मैंने पूर्णतया अनुभव कर लिया है। मैं केवल यह कह सकता हूं कि हम ऐसा निर्णय देना चाहते हैं, जो पूर्णतया केवल मामले के गुण-दोषों को देखते हुए आवश्यक हो। जैसा कि आपको मालूम है, लार्ड लोथियन की कमेटी ने अभी अपना दौरा पूरा नहीं किया है और निश्चय ही कुछ सप्ताह बाद ही हम उसके कोई निष्कर्ष प्राप्त कर सकते हैं। जब वह रिपोर्ट हमें मिलेगी तो हमें उसकी सिफारिशों पर अति सावधानी से विचार करना होगा। हम कोई निर्णय तभी देंगे, जब हम न केवल कमेटी के दृष्टिकोण पर, बल्कि उन दृष्टिकोणों पर भी विचार कर लेंगे, जो आपने और आपकी विचारधारा वालों ने इतने सशक्त ढंग से व्यक्त किए हैं। मुझे पूरा यकीन है कि यदि

आप हमारी स्थिति में होते तो आप भी ठीक वही कदम उठाते, जो हम उठाना चाहते हैं। आप कमेटी की रिपोर्ट की प्रतीक्षा करेंगे और फिर आप उस पर पूरी तरह विचार करेंगे और किसी अतिम निर्णय पर पहुंचने से पहले आप उन दृष्टिकोणों को ध्यान में रखेंगे, जो विवाद के पक्ष और विपक्ष में व्यक्त किए गए हैं।

इससे अधिक मैं नहीं कह सकता। वस्तुतः मैं इसकी कल्पना भी नहीं करता कि आप मुझसे इससे अधिक कहने की अपेक्षा करेंगे।

* * * *

यह चेतावनी देकर श्री गांधी निश्चिंत होकर बैठ गए। उन्होंने सोचा कि ब्रिटिश सरकार को पंगु बनाने के लिए आमरण अनशन की उनकी दुबारा दी गई धमकी पर्याप्त होगी और वह विशेष प्रतिनिधित्व की अस्पृश्यों की मांग को स्वीकार नहीं करेगी। जब 17 अगस्त 1932 को 'सांप्रदायिक निर्णय' की शर्तों की घोषणा कर दी गई, तो श्री गांधी को पता चला कि उनकी धमकी का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। पहले तो उन्होंने 'सांप्रदायिक निर्णय' की शर्तों को बदलवाने का प्रयास किया। तदनुसार उन्होंने प्रधानमंत्री को निम्न पत्र लिखा :

यरवदा सेंट्रल जेल,
18 अगस्त 1932

प्रिय मित्र,

इस बारे में कोई संदेह नहीं हो सकता कि दलित वर्गों के प्रतिनिधित्व के मसले पर 11 मार्च को जो पत्र मैंने सर सैमुएल होर को लिखा था, उन्होंने उसे आपको तथा मंत्रिमंडल को दिखा दिया है। उस पत्र को इस पत्र का हिस्सा समझा जाए और उसे इसके साथ पढ़ा जाए।

अनशन का निर्णय

अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व के बारे में मैंने ब्रिटिश सरकार के निर्णय को पढ़ा है और मैं उसके बारे में निश्चिंत हो गया हूं। सर सैमुएल होर को लिखे गए अपने पत्र के अनुसार तथा 13 नवंबर 1931 को सेंट जेम्स पैलेस में गोलमेज सम्मेलन की अल्पसंख्यकों संबंधी समिति की बैठक में की गई अपनी घोषणा के अनुसार मुझे अपने प्राणों की बाजी लगाकर आपके निर्णय का प्रतिरोध करना है। ऐसा मैं केवल आमरण अनशन की घोषणा करके ही कर सकता हूं। इसमें मैं नमक और सोडा सहित अथवा रहित जल के अलावा किसी प्रकार का अन्न ग्रहण नहीं करूंगा। यह अनशन समाप्त कर दिया जाएगा, यदि इसके दौरान ब्रिटिश सरकार अपने निजी प्रस्ताव द्वारा

अथवा जनमत के दबाव के अधीन अपने निर्णय को बदल दे और दलित वर्गों के लिए सांप्रदायिक निर्वाचक-मंडलों की अपनी योजना को वापस ले ले। दलित वर्गों के प्रतिनिधि सामान्य निर्वाचन–क्षेत्रों से समान मताधिकार के अधीन चुने जाएं, भले ही वह कितना भी व्यापक हो।

प्रस्तावित अनशन सामान्यतः अगले मास 20 सितंबर की दोपहर से प्रारंभ कर दिया जाएगा, यदि इस बीच उपरोक्त सुझाव के अनुसार उक्त निर्णय में परिवर्तन नहीं कर दिया जाता।

मैं यहां अधिकारियों से अनुरोध कर रहा हूं कि वे समुद्री तार (केबिल) द्वारा इस पत्र का मूलपाठ आपके पास भेज दें, ताकि आपको पर्याप्त पूर्व–सूचना मिल जाए। लेकिन बहरहाल मैं इस पत्र के लिए इतना काफी समय दे रहा हूं कि वह मंद-से–मंद साधन से भी आपके पास समय से पहुंच जाए।

मैं यह अनुरोध भी करता हूं कि इस पत्र को तथा सर सैमुएल होर के नाम मेरे पूर्वोक्त पत्र को यथासंभव प्रकाशित कर दिया जाए। मैंने जेल के नियमों का कठोरता से पालन किया है और अपने दो साथियों को छोड़कर अन्य किसी को भी अपनी इच्छा अथवा दोनों पत्रों की विषय-वस्तु नहीं बताई है। वे साथी हैं, सरदार वल्लभभाई पटेल और श्री महादेव देसाई। लेकिन मैं चाहता हूं, यदि आप इसे कर सकें, कि जनमत पर मेरे पत्रों का प्रभाव प्रड़े। अतः मेरा अनुरोध है कि उनका शीघ्र प्रकाशन किया जाए।

रिहाई से काम नहीं चलेगा

मैंने व्यथा के साथ यह निर्णय लिया है। लेकिन धर्मप्राण व्यक्ति के नाते मेरे पास और कोई चारा नहीं रह गया है। जैसा कि मैं सर सैमुएल होर को अपने पत्र में लिख चुका हूं, भले ही महामहिम की सरकार परेशानी से बचने के लिए मुझे रिहा कर देने का निर्णय कर ले, पर मेरा अनशन जारी रहेगा, क्योंकि अब मुझे आशा नहीं है कि किसी अन्य उपाय से इस निर्णय का प्रतिरोध कर सकूंगा। और अब मेरे मन में तनिक भी इच्छा नहीं है कि सम्मानजनक ढंग के अलावा किसी अन्य उपाय से रिहाई प्राप्त करूं।

हो सकता है कि मेरा निर्णय विकृत हो और मेरी यह मान्यता पूर्णतया गलत हो कि दलित वर्गों के लिए पृथक निर्वाचक-मंडल उनके तथा हिंदू धर्म, दोनों के लिए हानिकर हैं। यदि ऐसा होगा तो मैं अपने जीवन-दर्शन के अन्य अंगों के प्रति न्याय नहीं कर सकूंगा। उस अवस्था में अनशन द्वारा

मेरी मौत तुरंत मेरी गलती का प्रायश्चित्त होगी और इस प्रकार उन असंख्य नर-नारियों के मन का बोझ हल्का हो जाएगा, जिनकी मेरे विवेक के प्रति बाल-सुलभ आस्था है। और यदि मेरा निर्णय सही है, और निस्संदेह वह सही है, तो विचारित कदम मेरे जीवन की उस योजना की पूर्ति के लिए ही है, जिसमें मैं पच्चीस से भी अधिक वर्षों से जी-जान से जुटा हुआ हूं और जाहिर है कि उसमें मुझे कम सफलता नहीं मिली है।

आपका स्नेही मित्र
एम. के. गांधी

* * * *

प्रधानमंत्री ने निम्न उत्तर दिया :

10, डाउनिंग स्ट्रीट,
8 सितंबर 1932

प्रिय श्री गांधी,

आपका पत्र मिला। उसे पढ़कर मुझे काफी हैरत हुई और मैं यह भी बता दूं कि मुझे हार्दिक खेद है कि मैं यह सोचे बिना नहीं रह सकता कि आपने यह पत्र किसी गलतफहमी में आकर लिखा है। आप वास्तव में यह नहीं समझ पाए हैं कि दलित वर्गों के बारे में महामहिम की सरकार के निर्णय का क्या अर्थ है। हमने सदा ही यह समझा है कि आप इस बात के कट्टर विरोधी हैं कि दलित वर्गों का स्थाई विच्छेद हिंदू समाज से कर दिया जाए। गोलमेज सम्मेलन की अल्पसंख्यकों संबंधी समिति की बैठक में आपने अपने दृष्टिकोण को अति स्पष्ट कर दिया था। 11 मार्च को सर सैमुएल होर को लिखे गए अपने पत्र में आपने उसे पुनः व्यक्त किया था। हमें यह भी पता है कि हिंदू जनमत का विशाल जनसमूह भी आपके दृष्टिकोण से सहमत है। अतः हमने दलित वर्गों के प्रतिनिधित्व के मसले पर विचार करते समय इसे अति सावधानी से ध्यान में रखा।

सरकारी निर्णय स्पष्ट किया गया

हमें दलित वर्गों के संगठनों से अनेक अपीलें प्राप्त हुई हैं। सामान्यतः यह माना जाता है कि वे सामाजिक असुविधाओं की चक्की में पिस रहे हैं और प्रायः आपने भी इसे स्वीकार किया है। जहां इन्हें ध्यान में रखते हुए हमने दलित वर्गों के इस मान्य अधिकार की रक्षा करना अपना कर्तव्य समझा

कि विधान-मंडलों में उन्हें पर्याप्त अनुपात में प्रतिनिधित्व का अधिकार है, वहां हमने इस बात का भी उतना ही ध्यान रखा कि कुछ ऐसा न हो जाए, जिससे हिंदू-जगत से उनका समुदाय अलग हो जाए। 11 मार्च के अपने पत्र में आपने स्वयं कहा था कि विधान-मंडलों में उन्हें प्रतिनिधित्व दिए जाने का आप विरोध नहीं करते।

सरकारी योजना के अधीन दलित वर्ग हिंदू समाज के अंग बने रहेंगे और समान आधार पर हिंदू मतदाताओं के साथ वोट देंगे, लेकिन प्रथम 20 वर्षों तक जहां वे अब भी मतदान की दृष्टि से हिंदू समाज के अंग बने रहेंगे, वहां वे सीमित संख्या में विशेष निर्वाचन-क्षेत्रों द्वारा अपने अधिकारों और हितों की सुरक्षा के लिए साधन भी प्राप्त करेंगे। हमें विश्वास है कि वर्तमान परिस्थितियों में यह आवश्यक है।

जहां भी इन निर्वाचन-क्षेत्रों का गठन किया जाएगा, वहां दलित वर्ग के लोगों को सामान्य हिंदू निर्वाचन-क्षेत्रों में उनके वोटों से वंचित नहीं किया जाएगा, बल्कि उनके दो वोट होंगे, ताकि हिंदू समाज की उनकी सदस्यता अक्षत बनी रहे।

हमनें जान-बूझकर यह निर्णय किया है कि दलित वर्गों के लिए तथाकथित सांप्रदायिक निर्वाचक-मंडलों का गठन न किया जाए। हमने दलित वर्गों के सभी वोटरों को सामान्य अथवा हिंदू निर्वाचन-क्षेत्रों में शामिल किया है, ताकि चुनावों में उच्च जाति के उम्मीदवारों को दलित वर्गों के वोट और दलित वर्गों के उम्मीदवारों को उच्च जातियों के वोट मांगने ही पड़ें। इस प्रकार हर प्रकार से हिंदू समाज की एकता बरकरार रखी गई।

रक्षा का उपाय अस्थाई

लेकिन हमारा विचार है कि उत्तरदायी सरकार की प्रारंभिक अवधि में जब प्रांतों की सत्ता उसी के पास चली जाएगी जिसका बहुमत विधान-मंडल में होगा, तब यह आवश्यक है कि सर सैमुएल होर के नाम अपने पत्र में आप स्वयं जिन दलित वर्गों के बारे में कह चुके हैं कि उन्हें सवर्ण हिंदुओं ने सदियों से सुनियोजित अधोगति के शिकंजे में जकड़ रखा है, वे नौ में से सात प्रांतों के विधान-मंडलों के लिए अपनी मर्जी के कुछ सदस्य चुन सकें। उद्देश्य यह है कि वे अपनी शिकायतें और अपने आदर्श प्रस्तुत कर सकेंगे और वे अपने बारे में निर्णय तभी होने देंगे, जब विधान-मंडल और सरकार उनकी बात सुन ले। संक्षेप में, वे ऐसी स्थिति में हो जाएंगे कि वे अपनी आवाज उठा सकेंगे और उसकी जरूरत के प्रति हर निष्पक्ष व्यक्ति सहमत होगा ही। हमने वर्तमान परिस्थितियों में किसी व्यावहारिक मताधिकार प्रणाली

के अधीन सीटों के आरक्षण द्वारा विशेष प्रतिनिधि या ऐसे सदस्य चुने जाने पर विचार नहीं किया, जो उनके सच्चे प्रतिनिधि हों और उनके प्रति उत्तरदायी हों, क्योंकि प्रायः सभी अवस्थाओं में ऐसे सदस्यों का चुनाव सवर्ण हिंदुओं का बहुमत ही करेगा।

हमारी योजना के अधीन दलित वर्गों को प्रारंभिक अवस्था में सामान्य हिंदू निर्वाचन-क्षेत्रों में उनके सामान्य निर्वाचन अधिकारों के अलावा सीमित संख्या वाले विशेष निर्वाचन-क्षेत्रों के माध्यम से जो विशेष लाभ दिया गया है, वह संकल्पना और प्रभाव की दृष्टि से उस प्रतिनिधित्व प्रणाली से नितांत भिन्न है जो पृथक सांप्रदायिक निर्वाचक-मंडलों द्वारा मुस्लिम जैसे अल्पसंख्यकों के बारे में अपनाई गई है। यथा, कोई मुसलमान न तो सामान्य निर्वाचन-क्षेत्र में वोट दे सकता है और न ही उसमें उम्मीदवार बन सकता है, परंतु मतदान के योग्य दलित वर्ग का कोई भी सदस्य सामान्य निर्वाचन-क्षेत्र में वोट दे सकता है और उसमें उम्मीदवार भी बन सकता है।

आरक्षण न्यूनतम

मुसलमानों को आबंटित क्षेत्रीय सीटों की संख्या पर यह सहज प्रतिबंध लगा हुआ है कि वे और अधिक क्षेत्रीय सीटें प्राप्त नहीं कर सकते और अधिकांश प्रांतों में उन्हें उनकी आबादी के अनुपात से अधिक वरीयता प्राप्त है। यह देखा जाएगा कि दलित वर्गों के विशेष निर्वाचन-क्षेत्रों से भरी जाने वाली विशेष सीटों की संख्या अति अल्प हो। वह इस प्रकार नियत की गई है कि वह दलित वर्गों की समूची आबादी के कुल प्रतिनिधित्व के लिए संख्या की दृष्टि से समुचित कोटा नहीं होगा, बल्कि उसका एकमात्र उद्देश्य यह है कि विधान-मंडल में दलित वर्गों के लिए न्यूनतम संख्या में प्रवक्ता तो हों और उन्हें केवल दलित वर्गों के लोग ही चुनें। उनकी विशेष सीटों का अनुपात सर्वत्र दलित वर्गों की जनसंख्या के प्रतिशत से कहीं कम है।

जैसा कि आपके दृष्टिकोण को मैं समझ पाया हूं, आप आमरण अनशन का कठोर मार्ग इसलिए नहीं अपनाना चाहते हैं कि दलित वर्गों के अन्य हिंदुओं के साथ मिले-जुले निर्वाचन-क्षेत्र हों, क्योंकि उनकी व्यवस्था तो पहले से है। न ही आप हिंदुओं की एकता को बनाए रखने के लिए यह मार्ग अपनाना चाहते हैं, क्योंकि उसकी भी व्यवस्था है। आप तो केवल चाहते हैं कि आज प्रत्यक्षतः जो दलित वर्ग भयंकर असुविधाओं से त्रस्त और ग्रस्त हैं, वे विधान-मंडलों में अपनी आवाज उठाने वाले अपनी मर्जी के गिने-चुने प्रतिनिधि भी न चुन सकें, क्योंकि उनके भविष्य पर उसका जबरदस्त प्रभाव होगा।

इन अति उचित तथा सतर्कतापूर्ण प्रस्तावों की दृष्टि से मैं बिल्कुल भी समझ नहीं पा रहा हूं कि आपके निर्णय का कारण क्या है। मैं तो यही सोच सकता हूं कि आपको वास्तविक तथ्यों के बारे में गलतफहमी है और उसी के कारण आपने यह निर्णय लिया है।

सरकार का निर्णय अटल है

भारतवासी जब आपस में कोई समझौता नहीं कर सके तो उनके अति सामान्य अनुरोध पर सरकार ने अति अनिच्छा से अल्पसंख्यकों के मसले पर निर्णय लेने का बीड़ा उठाया। सरकार ने अब अपना निर्णय दे दिया है और उससे आशा नहीं की जा सकती कि वह अपनी पूर्वोक्त शर्तों के अलावा किसी अन्य आधार पर उसमें परिवर्तन करे। अतः मेरा विचार है कि आपको मेरा उत्तर यही होना चाहिए कि सरकार का निर्णय अटल है। केवल संप्रदायों के बीच आपसी समझौता ही उस निर्वाचन-व्यवस्था का स्थान ले सकता है जो समुचित गुण-दोष के आधार पर परस्पर विरोधी मांगों में संतुलन रखते हुए सरकार ने सत्प्रयास से प्रस्तुत की है।

आपका अनुरोध है कि यह पत्राचार तथा सर सैमुएल होर के नाम 11 मार्च का आपका पत्र प्रकाशित किया जाए। चूंकि मुझे यह उचित नहीं दीख पड़ेगा कि आप अपनी वर्तमान नजरबंदी के फलस्वरूप जनता को अपने अनशन का कारण न बता सकें, अतः मैं तत्काल आपका अनुरोध स्वीकार कर लूंगा, यदि पुनर्विचार करने पर भी आप अपने अनुरोध को दोहराएं। लेकिन मैं पुनः आपसे अनुरोध करना चाहूंगा कि आप सरकार के निर्णय के वास्तविक ब्यौरे पर विचार करें और गंभीरता से स्वयं अपने आप से यह प्रश्न करें कि आपने जो कदम उठाने का विचार किया है, क्या वह वास्तव में उचित है।

आपका परम शुभचिंतक,
जे. रैम्जे मैक्डोनाल्ड

यह देखकर कि प्रधानमंत्री झुकेंगे नहीं, उन्होंने निम्न पत्र द्वारा उन्हें सूचना दी कि वह आमरण अनशन की अपनी धमकी को पूरा करेंगे ही।

यरवदा सेंट्रल जेल,
9 सितंबर 1932

प्रिय मित्र,

आज ही आपका तार द्वारा भेजा स्पष्ट तथा विस्तार से लिखा पत्र मिला। उसके लिए धन्यवाद। लेकिन मुझे खेद है कि आपने मेरे प्रस्तावित कदम

की ऐसी व्याख्या की, जिसकी मैंने कभी कल्पना तक नहीं की। मैंने उसी वर्ग की ओर से बोलने का दावा किया है, जिनके बारे में आपने लांछन लगाया है कि उनके हितों की बलि चढ़ाने के लिए मैं आमरण अनशन करना चाहता हूं। मैंने आशा की थी कि बिना किसी तर्क-वितर्क के ऐसे अतिवादी कदम से ही ऐसी किसी स्वार्थभरी व्याख्या को रोका जा सकेगा। मैं पुनः जोर देकर कहता हूं कि मेरी दृष्टि में यह मामला विशुद्ध धार्मिक मामला है। दलित वर्गों को दो स्थानों पर वोट का अधिकार मिल जाएगा, केवल इस तथ्य से न तो उन्हें संरक्षण मिल जाएगा और न ही बृहत् हिंदू समाज टूटने से बच पाएगा। दलित वर्गों के लिए यदि किसी पृथक निर्वाचक-मंडल का गठन किया जाना है तो वह मुझे जहर का ऐसा इंजेक्शन दीख पड़ता है, जो हिंदू धर्म को तो नष्ट करेगा ही, साथ ही उससे दलित वर्गों का भी रंचमात्र हित नहीं होगा। आप मुझे यह कहने की अनुमति देंगे कि भले ही आप कितनी भी सहानुभूति रखते हों, पर आप संबद्ध पक्षों के लिए ऐसे अति महत्वपूर्ण तथा धार्मिक महत्व के मामले पर कोई ठीक निर्णय नहीं ले सकते।

दलित वर्गों को अनुपात से अधिक प्रतिनिधित्व दिए जाने का भी मैं विरोध नहीं करना चाहूंगा। पर मैं चाहूंगा कि जब तक दलित वर्ग हिंदू परिधि में रहना चाहें, तब तक उससे सीमित मात्रा में भी उनका कानूनी विच्छेद न हो। क्या आप यह अनुभव करते हैं कि यदि आपका निर्णय बरकरार रहता है और संविधान बनता है, तो आप हिंदू सुधारकों के कार्य की अद्भुत प्रगति को अवरुद्ध कर देंगे। हिंदू सुधारक तो सदा ही जीवन के हर क्षेत्र में अपने दलित बंधुओं के उत्थान के लिए समर्पित रहे हैं।

निर्णय अडिग

अतः मैं अनिच्छा से विवश हो गया हूं कि आपको प्रेषित निर्णय पर अटल रहूं।

चूंकि आपके पत्र से कुछ गलतफहमी पैदा हो सकती है, अतः मैं कहना चाहता हूं कि दलित वर्गों के मामले को विशेष व्यवहार के लिए मैंने उसे आपके निर्णय के अन्य भागों से अलग कर लिया है। उसका कदापि यह अर्थ नहीं है कि मैं आपके निर्णय के अन्य भागों का अनुमोदन करता हूं या उनसे सहमत हूं। मेरी राय में अन्य अनेक भागों पर भी अति गंभीर आपत्ति की जा सकती है। केवल मेरा विचार यह है कि वे मुझसे यह अपेक्षा नहीं करते कि मैं वैसा आत्म-बलिदान करूं, जिसकी प्रेरणा मुझे मेरी अंतरात्मा ने दलित वर्गों के मामले में दी है।

आपका स्नेही मित्र,
एम. के. गांधी

तदनुसार 20 सितंबर 1932 को श्री गांधी ने अस्पृश्यों के लिए पृथक निर्वाचक-मंडलों की व्यवस्था के विरोध में अपना 'आमरण अनशन' प्रारंभ कर दिया।

इस अनशन की गाथा का गुणगान श्री प्यारे लाल ने अपनी पुस्तक *'दि एपिक फास्ट'* में किया है। कैसा भड़कीला और रंगीन नाम! इस चटपटी जीवनी के पन्नों में जिज्ञासु को वह सब मिलेगा, जो वह भारत के इन उन्मादपूर्ण दिनों की घटनाओं के बारे में जानना चाहता है। यहां मैं उसके बारे में कुछ नहीं कहना चाहता। इतना कहना काफी होगा कि भले ही श्री गांधी ने आमरण अनशन किया, पर वह मरना नहीं चाहते थे। वह तो जिंदा रहना चाहते थे।

अतः अनशन से समस्या पैदा हो गई और वह समस्या यह थी कि श्री गांधी के जीवन को कैसे बचाया जाए। उनके जीवन को बचाने का केवल एक ही तरीका था कि 'सांप्रदायिक निर्णय' में परिवर्तन कर दिया जाए, ताकि श्री गांधी की अंतरात्मा को ठेस न पहुंचे। प्रधानमंत्री ने यह तो बिल्कुल स्पष्ट रूप से कह दिया था कि ब्रिटिश मंत्रिमंडल न तो स्वयं उसे वापस लेगा और न ही उसमें परिवर्तन करेगा, पर वह इस बात के लिए तैयार था कि उसके स्थान पर एक ऐसा सूत्र रखा जा सकता है जिसके बारे में सवर्ण हिंदू और अस्पृश्य, दोनों सहमत हों। चूंकि गोलमेज सम्मेलन में मुझे अस्पृश्यों का प्रतिनिधित्व करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, अतः यह मान लिया गया कि अस्पृश्यों की सहमति तभी वैध होगी जब मैं भी उसका पक्षधर बनूं। उस समय भारत के अस्पृश्यों के प्रतिनिधि के रूप में मेरी स्थिति पर न केवल कोई आपत्ति नहीं उठाई गई, अपितु उसे तथ्य के रूप में भी स्वीकार किया गया। स्वाभाविक था कि सभी की निगाहें इस नाटक के नायक अथवा यूं कहें कि खलनायक के रूप में मुझ पर स्थिर हो गईं। जैसा कि स्वयं श्री गांधी ने कहा था कि उनका जीवन तो मेरे हाथ में है।

इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि उस समय मैं किसी भी अन्य व्यक्ति की अपेक्षा एक महान तथा गंभीर धर्मसंकट में फंस गया था। बड़ी ही विकट स्थिति थी। मुझे दो परस्पर विरोधी विकल्पों में से एक को चुनना था। एक ओर मानवता के नाते मेरा कर्तव्य था कि निश्चित मृत्यु से श्री गांधी के प्राणों की रक्षा करूं। दूसरी ओर अस्पृश्यों के लिए उन राजनीतिक अधिकारों की रक्षा करने की समस्या थी, जिन्हें प्रधानमंत्री ने उन्हें दिया था। मैंने मानवता की पुकार को सुना और श्री गांधी के प्राणों की रक्षा की। मैं इसके लिए सहमत हो गया कि सांप्रदायिक निर्णय में उस प्रकार संशोधन कर दिया जाए जिससे श्री गांधी को संतोष हो जाए। इस समझौते को पूना समझौता कहा जाता है।

पूना समझौते की शर्त इस प्रकार थी :

1. दलित वर्गों के लिए सामान्य निर्वाचन-क्षेत्रों में से सीटें आरक्षित की जाएंगी। प्रांतीय विधान-मंडलों में सीटों की संख्या इस प्रकार होगी :

मद्रास	30
बंबई (सिंध सहित)	15
पंजाब	8
बिहार तथा उड़ीसा	18
मध्य प्रांत	20
असम	7
बंगाल	30
संयुक्त प्रांत	20
कुल[1]	148

ये आंकड़े प्रधानमंत्री के निर्णय में घोषित प्रांतीय परिषदों की कुल संख्या पर आधारित हैं।

2. इन सीटों के लिए चुनाव संयुक्त निर्वाचन-क्षेत्रों द्वारा होगा, लेकिन वह निम्न प्रक्रिया के अधीन होगा।

निर्वाचन-क्षेत्र की सामान्य मतदाता-सूची में दर्ज दलित वर्गों के सभी सदस्यों का एक निर्वाचक-मंडल होगा। वह दलित वर्गों के चार उम्मीदवारों की तालिका का चुनाव करेगा। यह चुनाव एकल मत प्रणाली द्वारा ऐसी हर आरक्षित सीट के लिए होगा। ऐसे प्रारंभिक चुनाव में जिन चार व्यक्तियों को सबसे ज्यादा वोट मिलेंगे, वे सामान्य निर्वाचन-क्षेत्रों द्वारा चुनाव के लिए उम्मीदवार होंगे।

3. इसी प्रकार केंद्रीय विधान-मंडल में दलित वर्गों का प्रतिनिधित्व संयुक्त निर्वाचन-क्षेत्रों तथा आरक्षित सीटों के सिद्धांत के अनुसार प्रारंभिक निर्वाचन-पद्धति द्वारा उस रीति से होगा, जिसकी व्यवस्था प्रांतीय विधान-मंडलों में उनके प्रतिनिधित्व के लिए उपरोक्त खंड 2 में की गई है।

4. केंद्रीय विधान-मंडल में तथा उक्त विधान-मंडल में ब्रिटिश भारत के सामान्य निर्वाचन-क्षेत्र के लिए आबंटित सीटों का 18 प्रतिशत भाग दलित वर्गों के लिए आरक्षित होगा।

5. यहां पूर्व उल्लिखित, केंद्रीय तथा प्रांतीय विधान-मंडलों के चुनाव के वास्ते उम्मीदवारों की तालिका के लिए प्रारंभिक निर्वाचन प्रणाली प्रथम दस

1. बिहार तथा उड़ीसा के बारे में सीटों का समंजन करने के लिए सीटों की संख्या 148 से बढ़ाकर 151 कर दी गई।

वर्षों के पश्चात समाप्त हो जाएगी, यदि उससे पहले निम्न खंड 6 के उपबंध के अधीन उसे आपसी समझौते द्वारा समाप्त न कर दिया जाए।

6. प्रांतीय तथा केंद्रीय विधान-मंडलों में आरक्षित सीटों द्वारा दलित वर्गों के प्रतिनिधित्व की प्रणाली, जिस रूप में उसकी व्यवस्था खंड 1 और 4 में की गई है, बनी रहेगी जब तक कि इस समझौते से संबद्ध संप्रदायों के बीच आपसी समझौते द्वारा तय न कर ली जाए।

7. दलित वर्गों के वास्ते केंद्रीय तथा प्रांतीय विधान-मंडलों के लिए मताधिकार उस प्रकार होगा, जिस प्रकार उसका उल्लेख लोथियन कमेटी की रिपोर्ट में किया गया है।

8. जहां तक किसी स्थानीय निकाय के लिए निर्वाचन अथवा लोक सेवा में नियुक्ति का संबंध है, किसी के लिए इस आधार पर कोई अयोग्यता नहीं होगी कि वह दलित वर्ग का सदस्य है।

इस बात का भरसक प्रयास किया जाएगा कि इन मामलों में दलित वर्गों को समुचित प्रतिनिधित्व मिले, लेकिन शर्त होगी कि उनके पास ऐसी शैक्षिक योग्यता हो, जिस की व्यवस्था लोक सेवाओं में नियुक्ति के लिए की जाए।

9. हर प्रांत में शिक्षा संबंधी अनुदान में से पर्याप्त राशि की अलग से व्यवस्था दलित वर्गों के लोगों को शिक्षा की सुविधाएं प्रदान करने के लिए की जाए।

समझौते की शर्तें श्री गांधी ने स्वीकार कीं। सरकार ने उन्हें लागू किया और उनका समावेश भारत सरकार अधिनियम में किया।

आमरण अनशन श्री गांधी का एक बड़ा दांव था। संभवत उनका विचार था कि केवल आमरण अनशन की धमकी से मैं और दलित वर्ग के मेरे अन्य साथी घबराकर झुक जाएंगे। लेकिन शीघ्र ही उन्हें पता चल गया कि उनका अनुमान सही नहीं था और अस्पृश्य भी अपने अधिकारों के लिए अंतिम सांस तक संघर्ष करने के लिए उतने ही कृत-संकल्प थे। उनके अपने अनुयायियो के अलावा अन्य किसी को भी इस बारे में संतोष नहीं था कि श्री गांधी के अनशन का कोई नैतिक अधिकार था। यदि श्री गांधी को नया जीवन-दान मिला तो उसका पूरा श्रेय उनके प्रति अस्पृश्यों की उदारता और सद्भावना को जाता है।

लेकिन प्रश्न है कि पूना समझौता करने से अस्पृश्यों को क्या लाभ हुआ। इसे समझने के लिए हमें विधान-मंडलों के लिए हुए चुनावों के परिणामों की निरख-परख करनी ही होगी। भारत सरकार अधिनियम 1937 में लागू हुआ। फरवरी 1937 में अधिनियम की व्याख्या के अनुसार नए विधान-मंडलों के लिए चुनाव हुए। जहां तक अस्पृश्यों का संबंध है, फरवरी 1937 में जो चुनाव हुए,

वे पूना समझौते के अनुसार हुए। प्रस्तुत है, विभिन्न प्रांतीय विधान-मंडलों में अस्पृश्यों के लिए आरक्षित सीटों के चुनाव के परिणामों का विश्लेषण।

सारणी[1]

प्रति	अस्पृश्यों के लिए आरक्षित कुल सीटें	कांग्रेस को प्राप्त कुल सीटें
संयुक्त प्रांत	20	16
मद्रास	30	26
बंगाल	30	6
मध्य प्रांत	20	7
बंबई	15	4
बिहार	15	11
पंजाब	8	शून्य
असम	7	4
उड़ीसा	6	4
कुल योग	151	78

इस विश्लेषण से कुछ तथ्य सामने आते हैं। प्रश्न उठता है कि पूना समझौता करने से और श्री गांधी के प्राणों की रक्षा करने से क्या अस्पृश्यों के हाथ कोई काम की चीज लगी है और क्या पूना समझौते से अस्पृश्य लोग हिंदुओं के दास नहीं बन गए हैं?

विश्लेषण से पता चलता है कि उनमें से अधिकतर कांग्रेसियों के रूप में चुने गए हैं। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि अस्पृश्यों के लिए कांग्रेस में या उस प्रयोजन के लिए किसी विशाल राजनीतिक पार्टी में शामिल हो जाना उनके लिए घातक ही सिद्ध होगा।

अस्पृश्यों को आंदोलन करना होगा, यदि वे अपनी गलतियों के प्रति सचेत रहना चाहते हैं, यदि वे अपने बीच विद्रोह की भावना को जीवित रखना चाहते हैं। उन्हें आंदोलन करना होगा, क्योंकि उन्हें हिंदुओं को जताना होगा कि जो अस्पृश्यों के लिए त्रासदी है, वही सवर्ण हिंदुओं के लिए अपराध है। जहां तक कांग्रेस से मुसलमान जुड़े हैं, हो सकता है कि वह उग्र हिंदू संगठन न हो। लेकिन जहां तक कांग्रेस से सवर्ण हिंदू जुड़े हैं, वह निश्चय ही उग्र तथा उच्च कुलीनता के दंभ से परिपूर्ण हिंदू संगठन है। निश्चय ही अस्पृश्यों के आंदोलन का अर्थ

1. यह सारणी डा. अम्बेडकर की कृति, *व्हाट कांग्रेस एंड गांधी हैव डन टू दि अनटचेबिल्स*, पृ. 94, से ली गई है। यह सारणी मूल अंग्रेजी की पांडुलिपि में टंकित नहीं थी —संपादक।

होगा, सवर्ण हिंदुओं के खिलाफ खुला संघर्ष। कांग्रेस के भीतर अस्पृश्यों का आंदोलन हो ही नहीं सकता। निश्चय ही इसका अर्थ होना चाहिए, पार्टी के भीतर ही भयंकर संघर्ष। लेकिन कांग्रेस अपनी रक्षा के लिए उसकी अनुमति नहीं दे सकती।

कांग्रेस में शामिल होने वाले अस्पृश्यों पर कांग्रेस ने यह कड़ी पाबंदी लगा दी है कि वे अस्पृश्यों का ऐसा कोई स्वतंत्र आंदोलन नहीं चला सकते, जिसकी अनुमति उच्च कमान ने न दी हो। नतीजा यह है कि जिन प्रांतों में अस्पृश्य कांग्रेस में शामिल हो गए हैं, वहां अस्पृश्यों का आंदोलन वस्तुतः ठप्प हो गया है।

अस्पृश्यों को विधान-मंडल में बोलने और काम करने की आजादी होनी ही चाहिए, यदि उन्हें अपनी शिकायतों को व्यक्त करना है और राजनीतिक कार्यवाही से अपनी पीड़ाओं को दूर कराना है। लेकिन अस्पृश्यों के जो प्रतिनिधि कांग्रेस में शामिल हो गए हैं, उन्होंने बोलने और काम करने की इस आजादी को गंवा दिया है। अपनी इच्छा के अनुसार न वे वोट दे सकते हैं और न ही बोल सकते हैं। न वे प्रश्न कर सकते हैं और न ही वे कोई संकल्प या विधेयक प्रस्तुत कर सकते हैं। वे पूर्णतया कांग्रेस कार्यकारिणी के नियंत्रण में रहते हैं। उन्हें केवल उतनी ही स्वतत्रता मिलती है, जितनी कि कांग्रेस कार्यकारिणी उन्हें देना चाहे। नतीजा यह है कि भले ही अस्पृश्यों की विपदाएं दिनों-दिन बढ़ती ही जा रही हों, पर विधान-मंडल के अस्पृश्य सदस्य उनके बारे में एक सवाल तक नहीं उठा सकते। उनकी दशा इतनी दयनीय हो गई कि कांग्रेस पार्टी कभी-कभी तो उनसे ऐसे विधेयक के खिलाफ वोट देने की अपेक्षा करती है, जो विधान-मंडल के अस्पृश्य सदस्यों की राय में अस्पृश्यों के लिए हितकर हो। ऐसी एक घटना हाल में मद्रास में हुई। मद्रास विधान-मंडल के सदस्य राव बहादुर राजा ने एक विधेयक प्रस्तुत किया। उसका उद्देश्य था कि मद्रास प्रेसिडेंसी में अस्पृश्यों को हिंदू मंदिरों में प्रवेश करने का अधिकार दिया जाए। पहले तो कांग्रेसी सरकार ने उसके समर्थन का वचन दिया। बाद में मद्रास में कांग्रेसी सरकार ने अपनी राय बदल दी और विधेयक का विरोध किया। मद्रास विधान-मंडल के अस्पृश्य सदस्य भारी दुविधा में पड़ गए। लेकिन उनके पास कोई चारा न था। सचेतक (व्हिप) का आदेश लागू किया और उन्होंने सामूहिक रूप से विधेयक के विरुद्ध मत दिया। अस्पृश्यों के प्रतिनिधि अस्पृश्यों के हितों के रखवाले समझे जाते हैं। लेकिन कांग्रेस में शामिल हो जाने के कारण उनकी स्थिति मुख पर पट्टी बधें कुत्तों जैसी हो गई है। काटना तो दूर की बात है, वे भौंक भी नहीं सकते। इन अस्पृश्य सदस्यों ने बोलने और काम करने की जो आजादी गंवा दी है, उसका केवल एक ही कारण है कि वे कांग्रेस में शामिल हो गए हैं और कांग्रेस के अनुशासन के फंदे में फंस गए हैं।

कांग्रेस में शामिल हो जाने से अस्पृश्यों को तीसरा नुकसान यह हुआ है कि

वे अस्पृश्यों को कोई वास्तविक लाभ नहीं पहुंचा सके हैं। इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि कांग्रेस कोई आमूल परिवर्तनवादी पार्टी नहीं है। कांग्रेस को क्रांतिकारी संगठन होने का गौरव तो प्राप्त है। निश्चय ही कांग्रेस को यह गौरव उस आंदोलन ने दिलाया है, जो उसने कभी छेड़ा था कि हम पूर्ण स्वराज लेंगे, सविनय अवज्ञा करेंगे और लगान नहीं देंगे। लेकिन बहुतेरे यह भूल जाते हैं कि यह जरूरी नहीं कि कोई क्रांतिकारी पार्टी आमूल परिवर्तनवादी पार्टी हो ही। कोई क्रांतिकारी पार्टी आमूल परिवर्तनवादी पार्टी भी है या नहीं, यह निश्चय ही उन सामाजिक तथा भावनात्मक वास्तविकताओं पर निर्भर करता है, जो क्रांति की प्रेरणा देती हैं। 1215 में साइमन डि मैंडफोर्ट के नेतृत्व में इंग्लैंड के सामंतों ने राजा जॉन के विरुद्ध विद्रोह किया था और राजा को महाधिकार-पत्र (मैग्ना कार्टा) पर हस्ताक्षर करने पर विवश किया था। निश्चय ही उन्हें इंग्लैंड के उन किसानों जैसा क्रांतिकारी कहा जाना चाहिए, जिन्होंने 1381 में वाट टाइलर के नेतृत्व में अपने मालिकों के विरुद्ध विद्रोह किया था और उन सबको विद्रोह के अपराध में फांसी पर लटका दिया गया था। लेकिन कौन कह सकता है कि क्रांतिकारी होने के कारण सामंत आमूल परिवर्तनवादी भी थे। सामंतो ने विद्रोह किया, क्योंकि वे अपने वर्ग के अधिकारों को राजा और किसानों के विरुद्ध स्थापित करना चाहते थे। सामंतों के विद्रोह को उन लोगों की सामाजिक भावना का समर्थन मिला, जो समुचित अधिकारों से वंचित थे। किसानों के विद्रोह के पीछे उन लोगों की भावना थी, जो दलित और भूखे थे और आजादी चाहते थे। यही कारण है कि किसान क्रांतिकारी भी थे और आमूल परिवर्तनवादी भी। कांग्रेस का विद्रोह किसानों के विद्रोह से काफी मिलता-जुलता है। श्री गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस उतनी ही परिवर्तनवादी है, जितने कि सामंत साइमन डि मैंडफोर्ट के नेतृत्व में थे। जिस प्रकार सामंतों के विद्रोह के पीछे उन लोगों की सामाजिक भावनाएं थीं जो सत्ता से तंग आ चुके थे, न कि उन लोगों की भावनाएं जो पसीना बहाकर भूखे मर रहे थे, उसी प्रकार का विद्रोह कांग्रेस का अंग्रेजों के खिलाफ़ है। यह सच है कि कांग्रेस ने जनता-जनार्दन का भारी समर्थन प्राप्त किया, लेकिन ऐसा उन्होंने सभी भारतीयों में व्याप्त अंग्रेज-विरोधी भावना को उकसा कर किया। यह भी सच है कि ये भावनाएं भूखे और आजादी से वंचित लोगों की भावनाएं थीं। लेकिन उनकी भावनाओं का सामाजिक रूप से उन्नत तथा धनवान वर्गों की भावनाओं से विरोध था। और यह उन्नत वर्ग कांग्रेस में सदा ही शासक वर्ग रहा है। आम आदमी तो सदा ही छावनी का सेवक रहा है। उनकी भावनाओं ने ही कांग्रेस के स्वरूप को निर्धारित किया है। उनकी भावनाएं अधिकारों से वंचित लोगों की भावनाएं है। यही कारण है कि कांग्रेस केवल क्रांतिकारी संस्था रही है, आमूल परिवर्तनवादी पार्टी नहीं। जो भी सावधानी से कांग्रेसी सरकारों के कारनामों पर विचार करेगा, वह इस सत्य को देख सकता है। जब से उन्होंने सत्ता संभाली

है, तब से उनकी उपलब्धि बस यही है कि वे सस्ती चीजों का फुटकर संग्रह कर सके हैं। अंग्रेजों से भी कहीं अधिक तत्परता से उन्होंने श्रमिकों को गोलियों से भूना है और उच्च न्यायालयों द्वारा दंडित अपराधियों को रिहा कर दिया है। रिहाई का केवल यही आधार है कि उन्हें रिहा करने का अधिकार है। मुझे आश्चर्य है कि कांग्रेस ने इतनी जल्दी यह दिखा दिया है कि वे तो इंग्लैंड के टोरियों (अनुदारवादियों) के प्रतिरूप ही हैं। कांग्रेस के शासक वर्ग की क्रांति का, यानी अंग्रेज को खदेड़ने का समूचा जोश ठंडा पड़ गया है। अब जब उन्हें जनता के शोषण का मौका मिल गया है तो वे भरपूर शोषण के लिए सत्ता और अधिकार से चिपके रहना चाहते हैं। वे नहीं चाहते कि साम्राज्य-विरोध का कोई विचार उनके काम में खलल डाले।

सामाजिक तथा आर्थिक पुनर्निर्माण के आमूल परिवर्तनवादी कार्यक्रम के बिना अस्पृश्य कभी भी अपनी दशा में सुधार नहीं कर सकते। चूंकि कांग्रेस आमूल परिवर्तनवादी पार्टी नहीं है, अतः उस पर विश्वास नहीं किया जा सकता कि वह ऐसा कोई कार्यक्रम हाथ में लेगी। अस्पृश्यों के लिए ऐसी पार्टी में शामिल होना बेकार और बेमानी है। कांग्रेस उनके लिए कुछ भी नहीं करेगी। उल्टे वह पहले की भांति उनका दुरुपयोग करेगी।

हो सकता है कि परिस्थितियों से विवश होकर कांग्रेस अस्पृश्यों के लिए कुछ करे। केवल एक ही परिस्थिति में कांग्रेस ऐसी विवशता अनुभव करेगी। वह यह है कि विधान-मंडल में अपने बहुमत के लिए वह अस्पृश्यों के प्रतिनिधियों पर निर्भर करे। तभी अस्पृश्य कांग्रेस से अपनी शर्तें मनवाने की स्थिति में होंगे और कांग्रेस को विवश होकर उन्हें मानना पड़ेगा। ऐसी निर्भरता की स्थिति में अस्पृश्यों के लिए सार्थक होगा कि वे कांग्रेस के साथ मिलकर सरकार बनाएं। वह सही सौदा होगा। लेकिन इस समय तो स्थिति यह है कि सर्वत्र कांग्रेस का इतना भारी बहुमत है कि विधान-मंडल में उसका पूर्ण वर्चस्व है। उसे कोई बाह्य समर्थन नहीं चाहिए। जो अस्पृश्य कांग्रेस में हैं, वे उसकी पूंछ के अंतिम सिरे पर हैं और पूंछ इतनी लंबी है कि वह हिल नहीं सकती। यह दूसरी वजह है, जिसके कारण कांग्रेस में शामिल होने से अस्पृश्यों को कोई लाभ नहीं हो सकता।

काग्रेस में शामिल होने से अस्पृश्यों को ऐसे नुकसान हुए हैं। वे केवल नुकसान ही नहीं हैं। मैं तो उन्हें घोर दुष्परिणाम कहता हूं। समूची सामाजिक गतिविधि ठप्प हो गई है। समूचे राजनीतिक अधिकार छिन गए हैं। यह कहना पर्याप्त नहीं होगा कि नए संविधान के अधीन अस्पृश्य प्रगति नहीं कर रहे हैं। वस्तुतः उन्हें जंजीरों से जकड़ दिया गया है।

लेकिन निश्चय ही यह प्रश्न पूछा जाएगा कि यदि कांग्रेस में शामिल होने के ऐसे दुष्परिणाम हैं, तो ये अस्पृश्य उसमें शामिल क्यों हुए? कांग्रेस के विरोध

में उन्होंने स्वतंत्र रूप से चुनाव क्यों नहीं लड़े? जिन कुछ अस्पृश्यों ने कांग्रेस के टिकट पर चुनाव लड़ा, वे केवल स्वार्थजीवी लोग थे और कुछ बनने की चाह रखते थे। विधान-मंडल में इसलिए जाना चाहते थे कि जब लाभ के पद बांटें जाएं, तो उनका भी नंबर आ जाए। उन्हें इसकी परवाह नहीं थी कि किसके समर्थन से वे वहां पहुंचे। कांग्रेस सबसे बड़ी पार्टी थी और उसका टिकट विधान-मंडल में पहुंचने का सर्वाधिक निश्चित उपाय था। अतः इन स्वार्थजीवियों को लगा कि कांग्रेस में शामिल होना चुनाव में सफल होने का सबसे आसान तरीका था। वे अवसर नहीं खोना चाहते थे। इससे उनका प्रयोजन तो स्पष्ट हो जाता है, पर इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि किस कारण से विवश होकर वे कांग्रेस में शामिल हुए। मुझे यकीन है कि वे स्वार्थजीवी भी कांग्रेस में शामिल न होते, यदि वे कांग्रेस के सहारे के बिना चुनाव में सफल हो सकते। वे कांग्रेस में ही शामिल हुए, क्योंकि उन्होंने देखा कि स्वतंत्र मार्ग असंभव था। वे कांग्रेस में शामिल होने पर विवश क्यों हुए? उत्तर है कि यह सब अनिष्ट संयुक्त निर्वाचन-क्षेत्र प्रणाली के कारण हुआ, जो पूना समझौते की उपज थी।

यदि अल्पसंख्यकों और बहुसंख्यकों के लिए संयुक्त निर्वाचन-क्षेत्र हो, तो निश्चय ही अल्पसंख्यकों का अनिष्ट होगा। अल्पसंख्यकों द्वारा खड़ा किया उम्मीदवार फिर भी सफल नहीं हो सकता, यदि समूचे अल्पसंख्यक एकजुट होकर उसका समर्थन भी करें। यदि अल्पसंख्यकों के लिए सीट आरक्षित कर दी जाती है तो उससे केवल यह सुरक्षा मिलती है कि अल्पसंख्यकों का उम्मीदवार निर्वाचित हो जाएगा। लेकिन उससे यह गारंटी नहीं मिलती कि चुनाव जीतने वाला अल्पसंख्यकों का उम्मीदवार उनका चहेता उम्मीदवार होगा, यदि चुनाव संयुक्त निर्वाचन-क्षेत्र प्रणाली से होगा। भले ही किन्हीं अल्पसंख्यकों के लिए सीट आरक्षित कर दी जाए, पर बहुमत सदा ही अपनी मर्जी के किसी अल्पसंख्यक को चुन सकता है और उसे अल्पसंख्यकों के उम्मीदवार के खिलाफ आरक्षित सीट के लिए खड़ा कर सकता है और अपनी फालतू मतदान-शक्ति के बल पर अपने मनोनीत उम्मीदवार को जिता सकता है। नतीजा यह होता है कि आरक्षित सीट के लिए चुना गया अल्पसंख्यकों का प्रतिनिधि अल्पसंख्यकों का पक्षधर न होकर वास्तव में बहुमत का गुलाम हो जाता है।

विधान-मंडल के निर्वाचन के लिए अब गठित निर्वाचन प्रणाली में सवर्ण हिंदुओं के मुकाबिले अस्पृश्य वोटर शोचनीय अल्पसंख्या में हैं। कुछ मिसालों से पता चल जाएगा कि विभिन्न निर्वाचन-क्षेत्रों में अस्पृश्य तथा सवर्ण हिंदू वोटरों की संख्या में कितनी भारी विसंगति है।

संयुक्त निर्वाचन-क्षेत्र से चुनावों में बहुसंख्यकों को अनिष्ट करने की जो शक्ति मिलती है, वह बहुत अधिक बढ़ जाती है, यदि निर्वाचन प्रणाली एक सदस्यीय

निर्वाचन-क्षेत्र पर आधारित हो।

अल्पसंख्यकों के लिए आरक्षित सीटों वाली संयुक्त निर्वाचन-क्षेत्र प्रणाली में निर्वाचन-क्षेत्र एकाधिक सदस्य वाला निर्वाचन-क्षेत्र होना ही चाहिए, यानी वहां एक सीट अल्पसंख्यकों के लिए और कम-से-कम एक सीट बहुसंख्यकों के लिए होनी ही चाहिए। दूसरे शब्दों में, वह बहुसदस्यीय निर्वाचन-क्षेत्र निश्चय ही छोटा होना चाहिए, यानी अल्पसंख्यकों के लिए नियत एक सीट के मुकाबिले बहुसंख्यक समुदाय की केवल दो सीटें हो सकती हैं। वह बड़ा हो सकता है, यानी बहुसंख्यकों के लिए अधिक सीटें नियत की जा सकती हैं। यह एक महत्वपूर्ण विचारणीय बात है, क्योंकि सीटों की संख्या जितनी कम होगी, उतनी ही अधिक अनिष्ट करने की शक्ति बहुसंख्यकों को मिल जाती है। यह स्पष्ट हो जाएगा, यदि इस बात को ध्यान में रखा जाएगा कि जब बहुसंख्यकों की थोड़ी सीटें होती हैं तो वे अपनी मतदान शक्ति के अधिकांश भाग को प्रवाहित करके अल्पसंख्यकों में से अपने मनोनीत उम्मीदवार को आरक्षित सीटों पर जितवा सकते हैं और अल्पसंख्यकों के उम्मीदवार को हरवा सकते हैं। दूसरी ओर, यदि बहुसंख्यकों के लिए अधिक सीटें नियत की जाती हैं तो वहां उम्मीदवारों के बीच होड़ बढ़ जाती है। तब बहुसंख्यक समुदाय के वोटर अधिकांशतः बहुसंख्यकों के लिए नियत सीटों पर चुनाव लड़ने में व्यस्त रहते हैं और उनमें से केवल इने-गिने ही अल्पसंख्यकों वाली सीट के लिए बहुसंख्यकों द्वारा मनोनीत उम्मीदवार की मदद कर सकते हैं। संयुक्त निर्वाचन-क्षेत्र में अल्पसंख्यकों की सुरक्षा इस बात पर निर्भर करती है कि बहुसंख्यकों को अधिक सीटों पर चुनाव लड़ना पड़े। अन्यथा निश्चित है कि उन पर बहुसंख्यक हावी हो जाएंगे।

सवर्ण हिंदुओं के लिए अब जो निर्वाचन प्रणाली बनाई गई है, उसमें एक सदस्यीय निर्वाचन-क्षेत्र का सिद्धांत अपनाया गया है। यह सच है कि ऊपर से देखने पर निर्वाचन-क्षेत्र संभवतः बहुसदस्यीय निर्वाचन-क्षेत्र दीख पड़ता है, लेकिन वास्तविकता यह है कि जहां तक सवर्ण हिंदुओं का संबंध है, ये निर्वाचन-क्षेत्र एक-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र हैं। सवर्ण हिंदुओं के लिए इस एक-सदस्यीय निर्वाचन-क्षेत्र प्रणाली का फल यह होता है कि हिंदू अपने फालतू वोटों का बहुत बड़ा भाग अस्पृश्यों के लिए आरक्षित सीटों के चुनाव की ओर प्रवाहित कर देते हैं और आरक्षित सीट के लिए मनोनीत अपने उम्मीदवार को डूबने नहीं देते।

हिंदू इस बात के लिए आतुर थे कि पूना समझौते के लाभ को निष्प्रभावी करने के लिए और उपाय खोजे जाएं। पूना समझौता जल्दबाजी में किया गया था। अतः उसमें अनेक बातों की परिभाषा नहीं हो पाई। जिन बातों की परिभाषा नहीं हो सकी और जिनके कारण बाद में तीव्र विवाद हुआ, वे हैं : (1) प्राथमिक निर्वाचन में चुने जाने वाली चार की तालिका में चार का अर्थ अधिकतम है या

न्यूनतम? (2) हिंदुओं के साथ अंतिम संयुक्त निर्वाचन में मतदान का क्या तरीका होगा? इन प्रश्नों पर विचार करने वाली हैमंड कमेटी ने देखा कि इन दो प्रश्नों के बारे में दो नितांत परस्पर विरोधी दृष्टिकोण थे। एक दृष्टिकोण सवर्ण हिंदुओं का था और दूसरा अस्पृश्यों का। सवर्ण हिंदुओं की ओर से कहा गया कि चार की तालिका से आशय न्यूनतम से था। यदि चार उम्मीदवार नहीं होंगे, तो कोई प्राथमिक निर्वाचन नहीं हो सकता और उसके कारण आरक्षित सीट के लिए कोई चुनाव नहीं हो सकता। उनका कहना था कि वह खाली ही रहनी चाहिए और अस्पृश्यों को कोई प्रतिनिधित्व नहीं मिलना चाहिए। अस्पृश्यों का कहना था कि चार की तालिका अधिकतम है। पूना समझौते में चार का अर्थ है 'चार से अधिक नहीं।' उसका अर्थ 'चार से कम नहीं' है। मतदान के प्रश्न के बारे में हिंदुओं का कहना था कि अनिवार्य वितरणशील मतदान सर्वाधिक उपयुक्त है। दूसरी ओर अस्पृश्यों का आग्रह था कि संचयी मतदान प्रणाली उपयुक्त प्रणाली है।

हैमंड कमेटी ने अस्पृश्यों के दृष्टिकोण को स्वीकार किया और सवर्ण हिंदुओं के दृष्टिकोण को अस्वीकार कर दिया। फिर भी यह जानना रुचिकर होगा कि किस कारण हिंदुओं ने अपने दावे पेश किए।

यह तो एकदम स्पष्ट है कि किस कारण हिंदू चाहते थे कि तालिका में चार हों, उससे कम न हों। हिंदुओं का उद्देश्य है कि अंतिम चुनाव में अस्पृश्यों के ऐसे प्रतिनिधि को चुनवाया जाए जो हिंदुओं और हिंदुत्व से समझौता करने के लिए पूरी तरह तैयार और इच्छुक होगा। उसे अंतिम चुनाव में चुनवाने के लिए यह अनिवार्य है कि पहले उसका नाम तालिका में आए। सर्वाधिक समझौतापरस्त अस्पृश्य तालिका में तभी आ सकता है, जब तालिका बड़ी तालिका हो।

यदि तालिका में केवल एक सदस्य होगा तो वह अस्पृश्यों का सर्वाधिक निष्ठावान प्रतिनिधि होगा और हिंदुओं की दृष्टि से वह सर्वाधिक निकृष्ट होगा। यदि दो सदस्य होंगे तो दूसरा पहले से कम निष्ठावान होगा और उस कारण वह हिंदुओं की दृष्टि से उत्तम होगा। यदि तीन होंगे तो तीसरा दूसरे से कम निष्ठावान होगा और उस कारण वह हिंदुओं की दृष्टि से बेहतर होगा। यदि चार होंगे तो चौथा तीसरे से कम निष्ठावान होगा और उस कारण वह हिंदुओं की दृष्टि से सर्वोत्तम होगा। चार की तालिका हिंदुओं को इस बात का सर्वोत्तम अवसर देती है कि वे तालिका में अस्पृश्यों के ऐसे प्रतिनिधि को ला सकें, जो हिंदुओं और हिंदुत्व के प्रति अपने रवैए में सर्वाधिक अनुकूल हो। इसी कारण उन्होंने आग्रह किया कि तालिका कम-से-कम चार की हो।

अनिवार्य वितरणशील मतदान की प्रणाली पर आग्रह करने का उद्देश्य चार से अन्यून की तालिका के विचार की अनुपूर्ति करना था। संचयी मतदान के अधीन निर्वाचक के उतने वोट होते हैं, जितनी की सीटें, लेकिन वह चाहे तो सभी वोट

एक उम्मीदवार को दे सकता है या फिर उन्हें दो या उससे अधिक उम्मीदवारों में बांट सकता है। मतदान की वितरणशील प्रणाली के अधीन भी निर्वाचक के उतने वोट होते हैं, जितनी की सीटें, लेकिन वह किसी एक सदस्य को केवल एक ही वोट दे सकता है। हालांकि दोनों अलग-अलग दीख पड़ती हैं, पर प्रभाव में कोई अंतर नहीं हो सकता, क्योंकि संचयी मतदान प्रणाली के अधीन भी वोटर पर यह रोक नहीं है कि वह अपने वोटों का वितरण न कर सके। उसे छूट है कि वह एक उम्मीदवार को एक वोट दे सके। लेकिन हिंदू कोई जोखिम नहीं उठाना चाहते थे। उनका मुख्य उद्देश्य था कि वे संयुक्त निर्वाचन-क्षेत्र में अस्पृश्यों के लिए आरक्षित सीट के चुनाव में सवर्ण हिंदुओं के फालतू वोटों को अपने मनोनीत अस्पृश्य उम्मीदवार के पक्ष में प्रवाहित कर सकें। उद्देश्य था कि संख्या की दृष्टि से अस्पृश्य वोटरों को मात दे दी जाए, ताकि वे अपने मनोनीत उम्मीदवार को न चुन सकें। ऐसा तभी किया जा सकता है जब सवर्ण हिंदू वोटरों के फालतू वोटों के रुख को सवर्ण हिंदू उम्मीदवार से अस्पृश्य उम्मीदवारों की ओर कर दिया जाए। संचयी प्रणाली की अपेक्षा वितरणशील प्रणाली के अधीन इन फालतू वोटों के दिशा-परिवर्तन की अधिक संभावना है। वितरणशील प्रणाली के अधीन सवर्ण हिंदू वोटर सवर्ण हिंदू उम्मीदवार को केवल एक ही वोट दे सकता है। दूसरे वोट का उपयोग सवर्ण हिंदू उम्मीदवार के लिए नहीं हो सकता। अतः उसका उपयोग केवल अस्पृश्य उम्मीदवार के लिए किया जा सकता है। वितरणशील प्रणाली के अधीन इस बात का अधिक अवसर है कि अस्पृश्यों के लिए आरक्षित सीट के चुनाव की ओर मतदान-शक्ति को प्रवाहित किया जा सके। इसी कारण सवर्ण हिंदुओं ने इसे संचयी मतदान प्रणाली से बेहतर समझा। लेकिन वे जोखिम नहीं उठाना चाहते। उनकी दृष्टि से वितरणशील प्रणाली भी पूर्णतया त्रुटिहीन नहीं थी। वितरणशील प्रणाली के अधीन वोटर के लिए अपने सभी वोटों के उपयोग की अनिवार्यता नहीं थी। वह चाहे तो सवर्ण हिंदू उम्मीदवार के लिए एक वोट का इस्तेमाल करे और शेष वोटों का इस्तेमाल न करे। इस अवस्था में अपने मनोनीत अस्पृश्य को लाने का उनका उद्देश्य विफल हो जाएगा। परिस्थितियों को संयोग के भरोसे न छोड़कर हिंदू चाहते थे कि वितरणशील मतदान प्रणाली को अनिवार्य बना दिया जाए, ताकि चाहे सवर्ण हिंदू वोटर की इच्छा हो या न हो, उसके पास केवल एक ही विकल्प रह जाए कि वह हिंदुओं के मनोनीत अस्पृश्य उम्मीदवार को ही वोट दे।

इस प्रकार दोनों प्रस्ताव हिंदुओं की गहरी साजिश का हिस्सा थे। उन्हें हैमंड कमेटी ने ठुकरा दिया। लेकिन स्वयं पूना समझौते में अनिष्ट की इतनी गुंजाइश है कि इन दोनों प्रस्तावों को ठुकराए जाने से भी हिंदुओं की इस शक्ति में किसी प्रकार की क्षीणता नहीं आई है कि वे अस्पृश्यों को दिए गए प्रतिनिधित्व संबंधी विशेष अधिकार को निरर्थक कर दें।

पूना समझौते के फलस्वरूप अस्पृश्यों पर पड़ी घोर विपदा के बावजूद श्री गांधी के ऐसे मित्रों की कमी नहीं है, जो कहते हैं कि पूना समझौता तो अस्पृश्यों के लिए महान वरदान है।

सबसे पहले तो यह कहा जाता है कि पूना समझौते के फलस्वरूप अस्पृश्यों को सांप्रदायिक निर्णय से भी अधिक सीटें मिली हैं। यह सच है कि पूना समझौते के फलस्वरूप अस्पृश्यों को 151 सीटें मिलीं, जब कि सांप्रदायिक निर्णय के फलस्वरूप उन्हें केवल 78 सीटें मिली थीं। लेकिन इससे यह निष्कर्ष निकालना कि पूना समझौते से उन्हें सांप्रदायिक निर्णय से अधिक उपलब्धि हुई, उस उपलब्धि की अपेक्षा करना है जो उन्हें वास्तव में निर्णय से हुई।

सांप्रदायिक निर्णय से अस्पृश्यों को दो लाभ हुए : (1) अस्पृश्यों के पृथक निर्वाचक-मंडलों द्वारा चुनी जाने वाली सीटों का निश्चित कोटा जो अस्पृश्यों द्वारा भरी जाएं, और (2) दोहरा वोट, एक पृथक निर्वाचक-मंडलों के जरिए उपयोग के लिए और दूसरा सामान्य निर्वाचन-क्षेत्रों के जरिए उपयोग के लिए।

अब जहां पूना समझौते के अधीन सीटों के निश्चित कोटे में वृद्धि की गई, वहीं उसके अधीन दोहरे वोट का अधिकार भी छीन लिया गया। सीटों में इस बढ़ोतरी को किसी भी प्रकार दोहरे वोट के नुकसान का मुआवजा नहीं माना जा सकता। सांप्रदायिक निर्णय के अधीन दिया गया दूसरा वोट अनमोल विशेषाधिकार था। वह अनमोल राजनीतिक अधिकार था। हर निर्वाचन-क्षेत्र में अस्पृश्यों की मत-संख्या का अनुपात 1:10 था। सवर्ण हिंदू उम्मीदवारों के चुनाव में मतदान की इस छूट के आधार पर अस्पृश्य सामान्य निर्वाचन के मसले पर यदि आदेश देने की स्थिति में नहीं तो निर्णय को दिशा देने की स्थिति में तो अवश्य होते। कोई भी सवर्ण हिंदू उम्मीदवार अपने निर्वाचन-क्षेत्र में अस्पृश्यों की या उनके हितों की उपेक्षा या उनका विरोध करने का साहस नहीं कर सकता था, यदि उसे अस्पृश्यों के वोटों पर निर्भर कर दिया जाता। आज सांप्रदायिक निर्णय की अपेक्षा अस्पृश्यों को कुछ थोड़ी-सी सीटें मिली हैं। इसके अलावा उन्हें कुछ भी नहीं मिला है। हर अन्य सदस्य यदि विरोधी नहीं तो उदासीन तो अवश्य है। यदि दोहरी मतदान प्रणाली वाला सांप्रदायिक निर्णय बना रहता तो अस्पृश्यों के पास कुछ कम सीटें होतीं, लेकिन हर अन्य सदस्य अस्पृश्यों का सदस्य नहीं होता। अस्पृश्यों के लिए सीटों की संख्या में वृद्धि नाममात्र की वृद्धि है।

तर्क के लिए मान भी लें कि पूना समझौते के फलस्वरूप कुछ और सीटें मिल गईं, फिर भी सवाल यह रह जाता है कि ये अतिरिक्त सीटें किस काम की हैं । सामान्यतः वोट के अधिकार के बारे में यह समझा जाता है कि वह राजनीतिक सुरक्षा का पर्याप्त साधन है। लेकिन यह अनुभव किया गया कि अस्पृश्यों के मामले में केवल वोट का अधिकार काफी नहीं होगा। आशंका थी

कि यदि अस्पृश्यों के वोटों पर चुना जाने वाला सदस्य स्वयं अस्पृश्य नहीं है, तो वह मिथ्या आचरण कर सकता है और हो सकता है कि वह उनमें कोई दिलचस्पी न ले। यह विचार बनाया गया कि अस्पृश्यों की शिकायतों को विधान-मंडल में उठाना ही होगा और उसे सुनिश्चित करने का सबसे सही तरीका यह व्यवस्था होगी कि उनके लिए कतिपय सीटों का आरक्षण करना ही होगा, ताकि विधान-मंडल में अस्पृश्यों का प्रतिनिधित्व अस्पृश्य करें ही। अब यह स्पष्ट हो गया है कि यह आशा पूरी नहीं हुई है। इसमें संदेह नहीं कि सांप्रदायिक निर्णय के फलस्वरूप कुछ कम सीटें मिली थीं। लेकिन वे सभी आजाद लोग होते। पूना समझौते के फलस्वरूप अधिक सीटों की प्राप्ति हुई, पर वे सभी गुलामों द्वारा भरी गई हैं। यदि गुलामों की पलटन का कोई लाभ है, तो पूना समझौते को लाभप्रद कहा जा सकता है।

पूना समझौते के पक्ष में दूसरा तर्क यह दिया गया है कि पृथक निर्वाचक-मंडलों को समाप्त करके उसने अस्पृश्यों पर अस्पृश्यता का शाश्वत ठप्पा नहीं लगने दिया। लंदन में दिए गए अपने एक भाषण में श्री गांधी ने कहा :

> मुसलमान और सिख सुसंगठित हैं। अस्पृश्य नहीं हैं। उनमें राजनीतिक चेतना नहीं के बराबर है। उनके साथ इतना घोर अभद्र व्यवहार किया जाता है कि स्वयं उन्हीं के विरोध से मैं उनकी रक्षा करना चाहता हूं। यदि उनके लिए पृथक निर्वाचक-मंडल होंगे तो गांवों में उनका जीना दूभर हो जाएगा। गांव तो हिंदू रूढ़िवादियों के गढ़ हैं। हिंदुओं के उच्च वर्ग ही युगों से अस्पृश्यों की उपेक्षा करते रहे हैं। अतः उन्हें ही उसके लिए प्रायश्चित्त करना है। प्रायश्चित्त दो प्रकार से किया जा सकता है। उसके लिए सजग सामाजिक सुधार किए जाएं और सेवा के कार्यों से अस्पृश्यों की दशा को और सहनीय बनाया जाए। उनके लिए पृथक निर्वाचक-मंडलों की मांग करना सही मार्ग नहीं है। उन्हें पृथक निर्वाचक-मंडल देकर आप अस्पृश्यों और रूढ़िवादियों के मानस में फूट का बीज बो देंगे। आपको यह समझना ही होगा कि मुसलमानों तथा सिखों के लिए विशेष प्रतिनिधित्व के प्रस्ताव को मैं केवल अनिवार्य बुराई के रूप में सहन कर सकता हूं। अस्पृश्यों के लिए तो यह एक वास्तविक खतरा होगा। मुझे पूर्ण विश्वास है कि अस्पृश्यो के लिए पृथक निर्वाचक-मंडलों का प्रश्न ... सरकार की आधुनिक रचना है। केवल आवश्यकता इस बात की है कि उन्हें मतदाता-सूची में शामिल किया जाए और संविधान में उनके लिए मूल अधिकारों की व्यवस्था की जाए। यदि उनके साथ अन्याय किया जाता है और उनके प्रतिनिधि का जान-बूझकर बहिष्कार किया जाता है, तो उन्हें विशेष निर्वाचन-न्यायाधिकरण के पास जाने का अधिकार होगा। वह उन्हें पूर्ण सुरक्षा प्रदान करेगा। इन न्यायाधिकरणों को यह अधिकार होना चाहिए कि वे निर्वाचित सदस्य को अपदस्थ करने का और बहिष्कृत व्यक्ति के निर्वाचन

का आदेश दे सकें।

अस्पृश्यों को पृथक निर्वाचक-मंडल देना उन्हें सदा-सर्वदा के लिए गुलामी देना होगा। पृथक निर्वाचक-मंडल मिलने पर मुसलमान सदा मुसलमान ही बना रहेगा। क्या आप चाहते हैं कि अस्पृश्य सदा-सर्वदा अस्पृश्य ही बने रहें? पृथक निर्वाचक-मंडल तो इस कलंक को सदा के लिए स्थाई बना देंगे। जरूरी यह है कि अस्पृश्यता को जड़ से उखाड़ा जाए और जब आप ऐसा कर देंगे तो वह राक्षसी अवरोध ढह जाएगा, जो एक उद्धत उच्च वर्ग ने निम्न वर्ग पर थोपा है। जब आप राक्षसी अवरोध को ही नष्ट कर देंगे तो आप पृथक निर्वाचक-मंडल किसे देंगे? यूरोप के इतिहास पर दृष्टिपात कीजिए। क्या वहां आपको श्रमजीवी वर्गों या महिलाओं के लिए पृथक निर्वाचक-मंडल दीख पड़ेंगे? वयस्क मताधिकार द्वारा आप अस्पृश्यों को पूर्ण सुरक्षा प्रदान करते हैं। रूढ़िवादियों को भी उनके आगे वोट के लिए हाथ पसारने पड़ेंगे।

तो किस प्रकार आप मांग करते हैं और उनके प्रतिनिधि डा. अम्बेडकर आग्रह करते हैं कि उनके लिए पृथक निर्वाचक-मंडलों की व्यवस्था की जाए? डा. अम्बेडकर के प्रति मेरे मन में सर्वाधिक सम्मान है। उन्हें कटु होने का पूर्ण अधिकार है। उनके लिए यह आत्म-संयम का कार्य है कि उन्होंने हमारे सिर नहीं तोड़-फोड़ दिए हैं। आज उनका मन इतना संदेहशील हो गया है कि उसके अलावा उन्हें और कुछ सूझता ही नहीं। उन्हें हर हिंदू 'अस्पृश्यों' का कट्टर विरोधी दीख पड़ता है और इसमें कुछ भी अस्वाभाविक नहीं है। शुरू-शुरू में मुझे भी दक्षिण अफ्रीका में ऐसा ही लगा था, जहां यूरोपीय मेरे पीछे शिकारी कुत्ते की भांति लगे रहते थे। उनके लिए यह अति स्वाभाविक है कि वह अपने क्रोध को व्यक्त करें। लेकिन पृथक निर्वाचक-मंडलों की जो मांग वह कर रहे हैं, उससे उनके समाज-सुधार का सपना पूरा नहीं होगा। हो सकता है कि उन्हें स्वयं सत्ता और प्रतिष्ठा मिल जाए, पर अस्पृश्यों का उससे कोई भला नहीं होगा। मैं यह दावे के साथ कह सकता हूं, क्योंकि मैं वर्षों तक अस्पृश्यों के बीच रहा हूं और वर्षों तक मैंने उनके साथ दुख-सुख बांटे हैं।

यह सच है कि उनके तर्क को साइमन कमीशन से कुछ बल मिला है। उसने भी कहा था : (मूल अंग्रेजी की पांडुलिपि में निम्न उद्धरण नहीं दिए गए हैं। वे यहां डा. अम्बेडकर की कृति '*व्हाट कांग्रेस एंड गांधी हैव डन टू दि अनटचेबिल्स*', परिशिष्ट VI, पृ. 327 से लिए गए हैं—संपादक)

(साइमन कमीशन की रिपोर्ट, खंड 2, से लिए गए उद्धरण)

78. ... ... किसी भी अन्य प्रांत में यह संभव नहीं हो सका है कि वोट की पात्रता वाले दलित वर्गों के लोगों की संख्या का आकलन किया जा सके। यह स्पष्ट है कि

मताधिकार की पात्रता को काफी नीचा करने पर भी, जिससे निश्चय की दलित वर्गों के वोटरों का अनुपात बढ़ जाएगा, यह आशा नहीं रहेगी कि सामान्य निर्वाचन-क्षेत्रों में दलित वर्गों के अपने प्रतिनिधि चुने जाएंगे। इसके लिए तो विशेष व्यवस्था करनी होगी। लंबी अवधि में दलित वर्गों की उन्नति जहां तक वे उसे राजनीतिक प्रभाव से प्राप्त कर सकते हैं, इस बात पर निर्भर करेगी कि वे इतनी पर्याप्त महत्वपूर्ण स्थिति प्राप्त कर लें कि दूसरे वर्ग के लोग उनसे समर्थन की मांग करें और उनकी जरूरतों पर विचार करें।

* * * *

80. ... ... अतः यह दीख पड़ेगा कि हम यह सिफारिश नहीं करते कि दलित वर्गों को सीटें उनकी पूरी आबादी के अनुपात से आबंटित की जाएं। आरक्षित प्रतिनिधित्व का जो पैमाना सुझाया गया है, उससे दलित वर्गों के विधान परिषद सदस्यों की संख्या में काफी वृद्धि हो जाएगी। अधिकांशतः वे गरीब और अशिक्षित हैं। इस बारे में अत्यधिक संदेह है कि क्या काफी संख्या में पर्याप्त सुयोग्य सदस्यों की तुरंत व्यवस्था हो सकेगी? अतः यह कहीं बेहतर होगा कि उनका प्रतिनिधित्व सुयोग्य प्रवक्ता करें, न कि अधिक संख्या में निष्प्रभावी लोग, जिनके बारे में पूरी संभावना है कि वे उच्च वर्गों की जी-हुजूरी ही करेंगे। विभिन्न प्रकार के प्रतिनिधियों के बीच इस समय सीटों के पुनः बंटवारे का जो प्रयास किया जा रहा है, वह स्थाई नहीं हो सकता और उसके संशोधन के लिए प्रावधान करना ही होगा। लेकिन हमारा विचार है कि फिलहाल हमारा प्रस्ताव पर्याप्त है, खास तौर पर इसलिए कि सीटों के आरक्षण द्वारा राय का प्रतिनिधित्व इस प्रकार आरक्षित न की गई सीटों को प्राप्त करने की संभावना को नहीं नकारता।

* * * *

लेकिन इस बारे में कोई संदेह नहीं हो सकता कि यह तर्क हास्यास्पद है। यह जरूरी नहीं कि किसी व्यक्ति को दूसरों से अलग श्रेणी में रखना बुराई ही हो। लगाया गया कोई ठप्पा भला है या बुरा, यह उसमें निहित प्रयोजन पर निर्भर करता है। यदि उद्देश्य उसे अधिकारों से वंचित करना है, तो ऐसा ठप्पा लगाना निश्चय की घोर बुराई होगी। लेकिन यदि प्रयोजन यह है कि ठप्पा लगाकर उसे विशेषाधिकार दिलवाया जाए तो वह बुराई न होकर अति हितकर उपाय होगा। किसी अस्पृश्य को पृथक मतदाता-सूची में दर्ज करना आपत्तिजनक होगा, यदि उद्देश्य उसे मताधिकार के अधिकार से वंचित करना हो। विशेष प्रतिनिधित्व का लाभ प्रदान करने के लिए उसे पृथक मतदाता-सूची में दर्ज कराना निश्चय ही उसके लिए हितकर होगा। यदि अंतिम लक्ष्य के दृष्टिकोण से देखा जाए तो यह

देख पाना कठिन होगा कि कैसे अस्पृश्यों की दोस्ती का दम भरने वाला कोई व्यक्ति उनके लिए पृथक निर्वाचक-मंडल की व्यवस्था पर आपत्ति कर सकता है। पृथक निर्वाचक-मंडल के विरुद्ध श्री गांधी का तर्क न केवल हास्यास्पद था, बल्कि अनिष्ठापूर्ण भी। श्री गांधी ने पृथक निर्वाचक-मंडलों पर आपत्ति की, क्योंकि इसका अर्थ अस्पृश्यों पर ठप्पा लगाया जाना था। लेकिन संयुक्त निर्वाचन-क्षेत्रों में इस ठप्पे से कैसे बचा जा सकता है, यह समझ से परे की बात है। संयुक्त निर्वाचन-क्षेत्र में अस्पृश्यों के लिए सीट के आरक्षण में ऐसा ठप्पा निहित होना ही चाहिए और वह निहित भी है, क्योंकि आरक्षण का लाभ उठाने वाले उम्मीदवार को नियमानुसार घोषणा करनी ही होगी कि वह अस्पृश्य है। संयुक्त निर्वाचन-क्षेत्र में उस सीमा तक निश्चय ही एक ठप्पा शामिल है और श्री गांधी को संयुक्त निर्वाचन-क्षेत्रों पर उतनी ही उग्रता से आपत्ति करनी चाहिए थी, जितनी उग्रता से उन्होंने पृथक निर्वाचक-मंडलों पर की थी। या तो श्री गांधी अनिष्ठापूर्ण थे या फिर वह जानते ही नहीं थे कि वह किसके बारे में कह रहे थे।

श्री गांधी के मित्रों ने शांत मन से कभी यह विचार नहीं किया कि पूना समझौते के अधीन अस्पृश्य कहां तक विधान-मंडलों में अपना प्रतिनिधित्व करने के लिए स्वतंत्र व्यक्तियों को भेज सके हैं। क्या ये प्रतिनिधि कोई संघर्ष कर रहे हैं और कहां तक वे सफल हो पा रहे हैं। यदि शांत मन से उन्होंने ऐसा किया होता तो वे संयुक्त निर्वाचन-क्षेत्रों और पूना समझौते का गुणगान करने पर लज्जित होते। बहुसंख्यक समुदाय के रूप में कांग्रेस तथा हिंदुओं ने शर्मनाक ढंग से अपनी सत्ता और अपने संसाधनों का दुरुपयोग किया है। न केवल उन्होंने अस्पृश्यों को उनकी मर्जी के व्यक्ति चुनने से रोका है, न केवल अपने फालतू वोटों का इस्तेमाल करके अपने मनोनीत व्यक्तियों को चुनाव में जिताया है, बल्कि उन्होंने कुछ ऐसा कार्य किया है, जिस पर विश्व के किसी भी भाग की कोई भी भद्र पार्टी स्वयं पर लज्जित होती। अस्पृश्यों के लिए आरक्षित सीटों को भरने के लिए अस्पृश्यों में से उम्मीदवारों का जो चयन कांग्रेस ने किया, वह अति कायरता तथा नीचता से पूर्ण कार्य था।

कांग्रेस जो हिंदुओं का ही राजनीतिक उपनाम है, उसको छूट थी कि वह पूना समझौते द्वारा निर्धारित सीटों से अधिक का लाभ अस्पृश्यों को दे सकती थी। सामान्य सीटों पर चुनाव लड़ने के लिए अस्पृश्य उम्मीदवारों को अपनाकर वह ऐसा कर सकती थी। कानून में ऐसी कोई पाबंदी नहीं थी, जो उन्हें ऐसा करने से रोकती। लेकिन कांग्रेस ने ऐसा कुछ नहीं किया। इससे पता चलता है कि यदि अस्पृश्यों के लिए किसी सीट का आरक्षण न होता तो हिंदू कभी यह देखने की परवाह न करते कि कोई अस्पृश्य विधान-मंडल के लिए चुना जाए। इसके विपरीत जब सीटों का आरक्षण हुआ तो हिंदू आरक्षण के प्रभाव को विफल

करने में अग्रणी बने और उन्होंने प्रयास किया कि सीटें ऐसे अस्पृश्यों को मिलें, जो उनके गुलाम बनने के लिए राजी हों।

राजनीतिक अधिकारों के लिए अस्पृश्यों के इस संघर्ष का ऐसा दुखद अंत हुआ है। मैं निस्संकोच होकर कह सकता हूं कि इसका पूर्ण दायित्व श्री गांधी पर है।

सांप्रदायिक निर्णय का विरोध श्री गांधी ने इस आधार पर किया कि उसमें पृथक निर्वाचक-मंडलों की व्यवस्था थी, पर यह आधार नितांत गलत था। यदि हिंदू उनके अनशन के कारण पागल न हो गए होते तो वे निश्चय ही देख पाते कि आधार गलत था। सांप्रदायिक निर्णय में पृथक निर्वाचक-मंडलों के अलावा संयुक्त निर्वाचन-क्षेत्रों की भी व्यवस्था थी। अस्पृश्यों को दिए गए दूसरे वोट का उपयोग सवर्ण हिंदू उम्मीदवार के निर्वाचन में सामान्य निर्वाचन-क्षेत्र में किया जाना था। निश्चय ही यह संयुक्त निर्वाचन-क्षेत्र प्रणाली थी। सांप्रदायिक निर्णय और पूना समझौते के बीच का भेद निर्वाचन-क्षेत्रों के स्वरूप में निहित है। दोनों में संयुक्त निर्वाचन क्षेत्रों का प्रावधान है। दोनों में भेद यह है कि सांप्रदायिक निर्णय के संयुक्त निर्वाचन-क्षेत्र का उद्देश्य यह था कि सवर्ण हिंदू उम्मीदवार के चुनाव में भाग लेकर अस्पृश्य उस पर प्रभाव डाल सकें, पर पूना समझौते के संयुक्त निर्वाचन-क्षेत्र का उद्देश्य है कि अस्पृश्य उम्मीदवारों के चुनाव में भाग लेकर सवर्ण हिंदू उस पर प्रभाव डाल सकें। दोनें के बीच यह वास्तविक भेद है।

अस्पृश्यों का हितेषी क्या चाहेगा? वह सांप्रदायिक निर्णय के संयुक्त निर्वाचन-क्षेत्रों का समर्थन करेगा या पूना समझौते के संयुक्त निर्वाचन–क्षेत्रों का? निश्चय ही अस्पृश्यों का वास्तविक उद्धार इसी में है कि हिंदुओं को अस्पृश्यों के मतों का मोहताज बना दिया जाए। यही काम सांप्रदायिक निर्णय ने किया है। अस्पृश्यों को हिंदुओं के मतों का मोहताज बनाना उन्हें हिंदुओं का और गुलाम बनाना है। गुलाम तो वे पहले से हैं ही। पूना समझौते की यही करतूत है। सांप्रदायिक निर्णय का उद्देश्य अस्पृश्यों को हिंदुओं की दासता के चंगुल से मुक्त कराना था। पूना समझौते का उद्देश्य उन्हें हिंदुओं के अधीन रखना है।

श्री गांधी के 'आमरण अनशन' का बखान एवं गुणगान भव्य शब्दों में श्री गांधी के भारतीय तथा विदेशी मित्रों और प्रशंसकों ने किया। उसे 'दूसरा क्रूसारोपण', 'शहादत' और 'विजय-संघर्ष' जैसे महान शब्दों से विभूषित किया गया। श्री गांधी के एक अमरीकी मित्र ने अमरीकियों को आश्वासन दिया कि श्री गांधी के अपने जीवन के उत्सर्ग का दांव न तो बाजीगरी है और न ही जादू की छड़ी का कमाल है। एक अन्य अमरीकी ने तो अपने भावावेश में इतना कह डाला कि वह तो 'अकेले दुनिया से लोहा ले रहे हैं। वह तो इसके साक्षात् मूर्तरूप हैं।' निश्चय

ही इस ड्रामे का मुझे खलनायक बनाया गया। निश्चय ही श्री गांधी के अनशन के बारे में मेरे अपने अलग विचार थे। मैंने उसे 'राजनीतिक ढकोसला' कहा। उनके शब्दों से मेरे कानों में सदा झूठ और फरेब की टंकार आती रही।

मुझे सदैव ऐसा लगा कि सांप्रदायिक निर्णय के विरोध में श्री गांधी के अनशन के पीछे प्रेरणा यह नहीं थी कि वह अस्पृश्यों के बंधन काटना चाहते थे, बल्कि यह थी कि वह हिंदुओं को बर्बादी से बचाना चाहते थे। वह किसी भी कीमत पर उसे करना चाहते थे, भले ही वह अस्पृश्यों की राजनीतिक गुलामी ही क्यों न हो। सांप्रदायिक निर्णय की उनकी अस्वीकृति वैसी ही थी, जैसी कि गृह-युद्ध के बाद दक्षिण अमरीका के रहने वालों द्वारा नीग्रो के मताधिकार की अस्वीकृति। '*स्टेट्समैन*' तथा '*नेशन*' का भी यह निष्कर्ष था। उन्होंने कहा था : (उद्धरण का उल्लेख न तो मूल अंग्रेजी की पांडुलिपि में है और न ही उसे अन्यत्र खोजा जा सका—संपादक)।

उस समय मेरे दृष्टिकोण से सहमति का एकमात्र यही उदाहरण था। तब कुछ विख्यात अस्पृश्यों ने भी श्री गांधी का समर्थन किया था। एक अजब मामला श्री राजा का था। उनकी शिकायत थी कि यद्यपि वह केंद्रीय सभा के सदस्य थे और उन्हें दलित वर्गों का प्रतिनिधित्व करने के लिए मनोनीत किया गया था, फिर भी उनका चयन गोलमेज सम्मेलन के प्रतिनिधि के रूप में नहीं किया गया था। वह पृथक निर्वाचक-मंडलों के लिए संघर्ष कर रहे थे। अचानक उन्होंने अपना रवैया बदल लिया। वह श्री गांधी के पक्षधर बन गए और मुझ पर पृथक निर्वाचक-मंडलों की मांग करने और ब्रिटिश सरकार पर उसे स्वीकार करने के लिए घनघोर गर्जना करने लगे। श्री गांधी के प्रति उनका प्रेम इतना प्रगाढ़ हो चला था और हिंदुओं के प्रति उनकी आस्था इतनी प्रबल हो चुकी थी कि कोई भी यह संदेह नहीं कर सकता था कि वह केवल भाड़े के टट्टू का काम कर रहे थे। श्री गांधी के अनशन के बारे में 13 सितंबर 1932 को केंद्रीय विधान-मंडल में प्रस्तुत किए गए एक स्थगन प्रस्ताव पर बोलते हुए श्री राजा ने कहा था :

> दलित वर्गों के मसले को भारत के इतिहास में जितना महत्व आज मिला है, उतना पहले कभी नहीं मिला था। इसके लिए हम दलित वर्गों के लोग सदैव महात्मा गांधी के ऋणी रहेंगे। उन्होंने दो-टूक शब्दों में समूचे संसार को बता व जता दिया है कि हमारा पुनरुद्धार ही उनके जीवन का मूल लक्ष्य है। यदि दुनिया की अंतरात्मा अब भी दलित वर्गों की स्थिति के प्रति सचेत नहीं होती तो हम केवल यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि आज दुनिया में मानव की समूची भावनाएं ही जड़ हो गई हैं।

* * * *

आज सदन को उस स्थिति पर विचार करना है, जो इस कारण पैदा हो गई है कि महात्मा गांधी दलित वर्गों के लिए सांप्रदायिक निर्वाचक-मंडलों की व्यवस्था का विरोध कर रहे हैं। मुझे विश्वास है कि सदन के हर माननीय सदस्य को स बात पर खेद होगा कि परिस्थितियों ने ऐसे महान व्यक्तित्व को अपने प्राणों को न्यौछावर करने की प्रतिज्ञा करने पर विवश कर दिया है। लेकिन, श्रीमन्, पत्राचार से पता चलता है कि सरकार को पर्याप्त चेतावनी दे दी गई थी। यदि हमारे सम्मेलनों में और राजा-मुंज समझौते में, जिस पर मैंने और हिंदू महासभा के अध्यक्ष ने हस्ताक्षर किए थे, अभिव्यक्त हमारे सुविचारित दृष्टिकोणों को उसने पूर्ण महत्व प्रदान नहीं किया, तो कम से कम उसे महात्मा गांधी की गंभीर चेतावनी पर तो ध्यान देना ही चाहिए था और पृथक निर्वाचक-मंडलों के गठन के मार्ग को छोड़ देना चाहिए था।

* * * *

महात्मा गांधी को प्रधानमंत्री द्वारा भेजे गए पत्र के बारे में वस्तुतः यह मेरी मुख्य आपत्ति है। वह हमें बताते हैं कि उन्होंने हमें बीस वर्षों के लिए पृथक निर्वाचक-मंडल दिए हैं, ताकि हम न्यूनतम संख्या में सीटें प्राप्त कर सकें और तत्कालीन सरकार और विधान-मंडल के सामने अपने विचार रख सकें। मेरा कहना है कि मोंटफोर्ड सुधारों के अधीन वह विशेषाधिकार तो हमें पहले से ही प्राप्त है। उन सुधारों के फलस्वरूप हमें अनेक स्थानीय निकायों में तथा प्रांतीय एवं केंद्रीय विधान-मंडलों में प्रतिनिधित्व मिल सका है। उस प्रयोजन के लिए हम काफी संगठित हैं और उसके लिए हमें विशेष पैरवी अथवा विशेष अनुकंपा की जरूरत नहीं है। भविष्य में हमारे उत्थान के लिए इस वास्तविक उपाय की जरूरत है कि हमें निश्चित अधिकार मिलें, ताकि हम सामान्य निर्वाचन-क्षेत्रों से अपने प्रतिनिधि चुन सकें और उन्हें उनके कार्यों के लिए अपने प्रति जवाबदेह ठहरा सकें। मैं नहीं जानता कि किस कारण सीटों के आरक्षण वाली संयुक्त निर्वाचन-क्षेत्रों की योजना को प्रधानमंत्री अव्यावहारिक बता रहे हैं। मद्रास तथा कुछ अन्य प्रांतों के स्थानीय निकायों में वह पहले से लागू है और अति संतोषजनक रही है। श्रीमन्, मेरा कहना है कि सांप्रदायिक निर्णय में प्रतिपादित योजना में हमारा अलगाव शामिल है और वह हमें राजनीतिक रूप से अस्पृश्य बनाती है। प्रधानमंत्री की इस दलील पर मुझे हैरत है कि कोई अलगाव नहीं है, क्योंकि हम हिंदुओं को वोट दे सकते हैं और उन्हें हमारे मतों के लिए याचना करनी पड़ेगी। लेकिन, श्रीमन्, नागरिकता के सांझे आदर्श को हम कैसे प्राप्त कर सकते हैं, जब दलित वर्ग के प्रतिनिधियों को उच्च जातियों के वोटों की याचना नहीं करनी होगी?

* * * *

सवर्ण हिंदुओं ने स्वयं स्वीकार किया है कि उनके हाथों मेरे समुदाय को कष्ट भोगने पड़े हैं और मैं यह स्वीकार करने के लिए तैयार हूं कि उनके बीच अनेक ऐसे सुधारक हैं, जो हमारी प्रतिष्ठा और स्थिति को सुधारने के लिए भरसक चेष्टा कर रहे हैं। मुझे पूर्ण संतोष है कि सवर्ण हिंदुओं में हृदय-परिवर्तन हुआ है और उनका दृष्टिकोण बदला है। हम दलित वर्गों के लोग स्वयं को उतना ही सच्चा हिंदू समझते हैं, जितना कि कोई सवर्ण हिंदू हो सकता है। हमारा विचार है कि हिंदुओं की नैतिक चेतना इतनी जागृत हो चुकी है कि हमारा उद्धार हिंदू समाज के मुख्य समूह के भीतर से परिवर्तन लाकर ही हो सकता है, हमें उनसे अलग-थलग करके नहीं। सरकार ने जो मार्ग अपनाया है, उसके कारण इस अति प्रशंसनीय आंदोलन की प्रगति में बाधा पड़ेगी। श्रीमन्, मुझे कहना ही होगा कि प्रधानमंत्री के पत्र की समूची संकल्पना और अभिव्यक्ति ने मुझे निराश किया है।

* * * *

आज हमारे सामने जो संकट है, वह अति गंभीर है। हमारे युग के महानतम भारतीय का जीवन अधर में लटका हुआ है और इस देश के करोड़ों दलितों का भविष्य भी अधर में लटका हुआ है। क्या सरकार यह जिम्मेदारी लेगी कि वह एक की हत्या कर दे और औरों को सदा-सर्वदा के लिए गुलाम बना दे? बेहतर होगा कि वह अपना निर्णय भली-भांति सोच-समझकर करे।

* * * *

श्री राजा ने न केवल पूना समझौते का समर्थन किया, बल्कि उन्होंने वितरणशील मतदान के लिए भी संघर्ष किया। इस कार्य के बारे में मैं पहले ही कह चुका हूं कि वह हिंदुओं के इस षड्यंत्र का ही अभिन्न अंग था कि अस्पृश्यों की राजनीतिक गुलामी में कोई कोर-कसर अथवा त्रुटि न रह जाए। नए भक्त श्री राजा श्री गांधी तथा हिंदुओं के इतने दीवाने हो चुके थे कि वह इस मामले में हैमंड कमेटी के समाधान से संतुष्ट नहीं हुए। चुनाव के बाद उन्होंने मामले को पुनः उठाया और वितरणशील मतदान[1] के पक्ष में मद्रास विधान सभा में संकल्प प्रस्तुत किया।

लेकिन आज पूना समझौते के परिणामों को देखने के बाद ऐसा लगता है कि श्री राजा को मोहभंग हो गया है। इससे अधिक मैं क्या कह सकता हूं कि जिस नए सत्य की खोज उन्होंने की है, उसके प्रति वह कब तक निष्ठावान रहेंगे। लेकिन उन्होंने स्वयं को खुलेआम पूना समझौते का कट्टर विरोधी घोषित किया है। श्री गांधी के नाम अपने 25 अगस्त 1938 के पत्र में श्री राजा फरमाते हैं :

1. देखिए, मद्रास विधान सभा का वाद-विवाद।

आपको याद होगा कि जब मेरे अधिकांश लोग पृथक निर्वाचक-मंडलों के पक्ष में थे, ताकि वे निष्ठापूर्ण और प्रभावशाली ढंग से विधान-मंडलों में अपनी बात कह सकें, तो किस प्रकार आपने उन्हें न केवल राजनीतिक रूप से, बल्कि सामाजिक तथा धार्मिक रूप से भी हिंदू परिधि में लाने के लिए अपने जीवन को दांव पर लगा दिया था। और मैं भी इस बात के लिए कम उत्तरदायी नहीं था कि मेरे लोग सवर्ण हिंदुओं के साथ संयुक्त निर्वाचन-क्षेत्र का समर्थन करें। इसके पीछे यह स्पष्ट आश्वासन था कि हम बिना किसी रोकटोक के अपने ऐसे लोग चुन सकेंगे, जो हमारी शिकायतों और हमारी आकांक्षाओं को निष्ठापूर्वक अभिव्यक्त कर सकेंगे। इसी प्रयोजन से तालिका-निर्वाचन की स्थापना की गई थी।

इस सबकी जानकारी आपको भी है और मुझे भी। लेकिन तथ्य को स्मरण कराने में मेरा प्रयोजन यह दर्शाता है कि जहां हमने पूर्ण निष्ठा से पूना समझौते का पालन किया और पृथक निर्वाचक-मंडल का संघर्ष छोड़ दिया, वहां मद्रास में सवर्ण हिंदुओं का प्रतिनिधित्व करने वाले कांग्रेस पार्टी के लोगों ने समझौते का उल्लंघन किया। इसका नतीजा यह हुआ कि विधान सभा में मंत्रालय द्वारा लाए जाने वाले हर विधेयक पर हमारे समुदाय को सवर्ण हिंदुओं का अनुसरण आंख-मीचकर करना पड़ता है। हमें उन मामलों में भी उनके साथ वोट देना पड़ता है, जो हमारे समुदाय के हितों पर गहरा कुप्रभाव डालते हैं।

शायद आपको याद होगा कि चुनाव के प्रारंभ में मैंने कांग्रेस कमेटी से विरोध प्रकट करते हुए कहा था कि वह दलित वर्गों में से तालिका-निर्वाचन के लिए उम्मीदवार खड़े न करे। आपने सद्भाव जताते हुए कहा था कि मैं उनसे कुछ शर्तों पर अपने समुदाय को कांग्रेस में शामिल होने की अनुमति दे सकता हूं, जो हमारे सामने श्री एस. सत्यमूर्ति ने रखी थीं। उनमें से एक शर्त यह थी कि अपने समुदाय पर प्रभाव डालने वाले मामलों में कांग्रेस पार्टी के दलित वर्ग के लोगों के लिए जरूरी नहीं कि वे कांग्रेसी सदस्यों के साथ मिलकर वोट दें। वे अपने विवेक के अनुसार वोट दे सकते हैं।

मद्रास विधान सभा में मंदिर-प्रवेश विधेयक पर हाल के वाद-विवाद में यह घिनौना तथ्य उजागर हो गया है कि विधान सभा में कांग्रेस पार्टी के अनुशासन से नियंत्रित दलित वर्ग के सभी सदस्यों ने एकजुट होकर विधेयक को प्रवर समिति को सौंपे जाने के मेरे प्रस्ताव के विरोध में मत दिया। क्या इससे भी ज्यादा अस्वाभाविक और अपमानजनक कोई बात हो सकती थी, जो यह सिद्ध कर सके कि मेरा समुदाय उन सवर्ण हिंदुओं का गुलाम था, जिनके प्रतिनिधि श्री राजगोपालाचारी थे?

आपको मालूम है कि विधेयक के उपबंध क्या हैं। वह केवल अनुमति देने वाला विधेयक है। उसके अधीन किसी मंदिर के अधिसंख्य उपासक मंदिर में हरिजनों को उपासना की अनुमति दे सकते हैं। उसमें जोर-जबरदस्ती या दबाव का कोई अंश नहीं था। इस विधेयक को आपका आशीर्वाद मिला था। इसका प्रारूप स्वयं श्री राजगोपालाचारी ने तैयार किया था और इसका अनुमोदन आपने किया था।

विधान सभा के एक पिछले सत्र में मैंने श्री राजगोपालाचारी की सहमति से इस विधेयक को प्रस्तुत किया था और उन्होंने विधेयक के पूर्ण समर्थन का वचन दिया था। जब मैंने सुझाव दिया कि विधेयक को वह सरकारी विधेयक के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं तो उन्होंने इच्छा प्रकट की कि मैं उसे प्रस्तुत करूं। जब मैंने उनसे गत मास 12 जुलाई 1938 को भेंट की और उन्हें सूचना दी कि मैं इस प्रस्ताव का नोटिस दे रहा हूं कि विधेयक को प्रवर–समिति को सौंप दिया जाए तो उन्होंने कोई आपत्ति नहीं की।

मैं नहीं जानता कि इस बीच क्या हुआ, लेकिन जब विधेयक को प्रवर समिति को सौंपे जाने का मेरा प्रस्ताव सभा के समक्ष प्रस्तुत किया गया तो उससे दो दिन पहले श्री राजगोपालाचारी ने मुझे बुलाकर चुपचाप कहा कि मैं विधेयक को वापस ले लूं, पर मैंने मना कर दिया। जब यथासमय मैंने विधेयक पर विचार का प्रस्ताव रखा तो श्री राजगोपालाचारी ने खड़े होकर विधेयक का विरोध किया। उन्होंने मुझसे विधेयक को वापस लेने का अनुरोध करते हुए कहा कि वह उसी प्रकार का मंदिर-प्रवेश विधेयक प्रस्तुत करेंगे। वह केवल मलाबार के लिए होगा, अन्य जिलों के लिए नहीं।

श्री राजगोपालाचारी के भाषण का प्रभाव यह हुआ कि मेरा प्रस्ताव गिर गया। मेरे अपने समुदाय के लोगों ने ही अपने वोट उस विधेयक के विपक्ष में दिए, जो उनके सामाजिक एवं धार्मिक उत्थान के लिए प्रस्तुत किया गया था। श्री राजगोपालाचारी के विरोध का एक प्रभाव यह होगा कि समूचे देश में मंदिर-प्रवेश के विरोध को बल मिलेगा।

इस सबसे तो मुझे अपनी बुद्धि पर तरस आने लगता है। हमने तो इस पूर्ण आस्था के साथ पूना समझौते का समर्थन किया था कि कांग्रेस तो हमारे इस प्रयास में वास्तव में मदद देगी कि हम सामाजिक तथा धार्मिक आजादी प्राप्त कर सकें। मैं तो यह सोचने पर विवश हो गया हूं कि कांग्रेस के नेतृत्व में सवर्ण हिंदुओं के साथ संयुक्त निर्वाचन-क्षेत्र में हमारे शामिल हो जाने से हमें मदद नहीं मिली है, अपितु कांग्रेस को शह मिली है कि वह सवर्ण हिंदू नेताओं के नेतृत्व में हमारी आजादी को समाप्त कर सके और हमारे हाथ से हमारा गला कटवा सके।

वाद-विवाद के दौरान मैंने श्री राजगोपालाचारी से पूछा था कि क्या उन्होंने उस रवैए के बारे में आपकी अनुमति ले ली थी, जिसे उन्होंने अचानक इतने अप्रत्याशित ढंग से अपना लिया था। अध्यक्ष महोदय ने कहा था कि मेरे भाषण के समापन के बाद श्री राजगोपालाचारी को सवाल का जवाब देने का अवसर दिया जाएगा। यद्यपि उन्हें मेरे बाद बोलने का सुअवसर दिया गया था, पर उन्होंने सवाल को टाल दिया और उसका कोई जवाब नहीं दिया।

मुझे आशा है कि हरिजन-उत्थान, विशेषतः मंदिर-प्रवेश के प्रति मद्रास में कांग्रेसी मंत्रालय के रवैए के मसले पर आप अति गंभीरतापूर्वक विचार करेंगे और मुझे अपना दृष्टिकोण बताएंगे, ताकि मैं अपने समुदाय के लोगों को उत्तर दे सकूं। इस मसले के बारे में वे अति क्षुब्ध हैं। वे सोच रहे हैं कि पूना समझौते को रद्द कर दिया जाए और किसी प्रकार की सीधी कार्यवाही के साथ-साथ पृथक निर्वाचक-मंडल के लिए संघर्ष भी छेड़ दिया जाए।

श्री राजा ने 12 सितंबर 1938 को महात्मा गांधी को वर्धा यह तार भी भेजा :

मंत्रालय द्वारा मेरे विधेयक की अस्वीकृति पर आक्रोश जोरों पर, मुझ पर कठिन असह्य दबाव—आतुरता से उत्तर की प्रतीक्षा।

श्री गांधी ने 14 सितंबर 1938 को श्री राजा को उत्तर दिया :

प्रिय मित्र,

आपके पत्र का उत्तर देरी से देने के लिए क्षमा चाहूंगा। मैं अति व्यस्त हूं। अब आपके तार का उत्तर दे पा रहा हूं।

मेरी इच्छा है कि आप श्री राजगोपालाचारी पर भरोसा करें। वह अपना भरसक प्रयास करेंगे। उन्हें अपने ढंग से काम करने दें। यदि आप भरोसा नहीं कर सकते, तो स्वाभाविक है कि आप वह मार्ग अपनाएंगे जो आपको रास आएगा। मैं तो बस इतना जानता हूं कि हरिजनों का उनसे बढ़कर हितैषी और कोई नहीं है। उनके पास जाइए, उनसे तर्क-संगत बात कीजिए और यदि आप उन्हें राजी नहीं कर सकते, तो उनसे सहानुभूति कीजिए। यही मेरी सलाह है।

श्री राजा ने दिनांक 21 सितंबर 1938 को श्री गांधी को एक पत्र लिखा। उसमें कहा गया :

दूसरी ओर मैं आपसे अनुरोध करना चाहूंगा कि आप उन वचनों पर अधिक गंभीरता से विचार करें, जो यरवदा अनशन के समय मेरे समुदाय को दिए गए थे। आप देखें कि मद्रास में आपका पूर्णाधिकारी किस प्रकार उन वचनों का पालन कर रहा है। आपने वह अनशन इसलिए किया था कि मेरे लोगों के लिए पृथक निर्वाचक-मंडलों की व्यवस्था करने वाले सांप्रदायिक निर्णय में परिवर्तन किया जाए और उन्हें सवर्ण हिंदुओं के साथ संयुक्त निर्वाचन-क्षेत्रों में शामिल किया जाए। इसके लिए वचन दिया गया था कि अस्पृश्यता-निवारण के लिए भरसक प्रयास किए जाएंगे। और आपने अनेक बार कहा है कि मंदिर-प्रवेश, अस्पृश्यता-निवारण का मूलाधार है।

अतः सवर्ण हिंदुओं के साथ संयुक्त निर्वाचन-क्षेत्र में हमारे शामिल होने के प्रश्न का और समुदाय की सामाजिक तथा धार्मिक प्रतिष्ठा के उत्थान के प्रति कांग्रेसी मंत्रालय के रवैए का आपस में घनिष्ठ संबंध है।

यदि हमें हिंदू मंदिरों में प्रवेश की आजादी नहीं है तो हम हिंदू हैं ही नहीं, और यदि हम हिंदू हैं ही नहीं तो हम उनके साथ संयुक्त निर्वाचन-क्षेत्र में क्यों शामिल हों। क्या उसका उद्देश्य मुस्लिमों तथा अन्य संप्रदायों के विरुद्ध उनकी संख्या में वृद्धि करने का है?

यदि इस दृष्टिकोण से मद्रास की स्थिति पर विचार करें तो आप अनुभव करेंगे कि मंदिर-प्रवेश संबंधी विधेयक को अस्वीकार करके मद्रास की कांग्रेसी सरकार ने दलित वर्गों के साथ घोर विश्वासघात किया है।

मेरे समुदाय की आर्थिक दशा सुधारने के लिए सरकारी निधि से या गैर-सरकारी संसाधनों से कितनी भी राशि क्यों न खर्च कर दी जाए, पर वह मंदिर-प्रवेश द्वारा अस्पृश्यता-निवारण का कोई विकल्प नहीं होगा। जैसा कि आपने एक बार स्वयं कहा था कि दलित वर्गों के हित-साधन के यज्ञ में मंदिर-प्रवेश सवर्ण हिंदुओं की निष्ठा की अग्नि-परीक्षा है।

श्री राजगोपालाचारी के मंदिर-प्रवेश संबंधी विधेयक में न केवल एक विकट जिले के चयन की कुशल चाल छिपी हुई है, बल्कि वह हमारे समुदाय को सवर्ण हिंदुओं की इच्छा का दास भी बनाता है। यह एक ऐसी नीति है, जिसे और कार्यरूप देने और श्रम-आयुक्त की मदद के लिए सलाहकार-बोर्डों की नियुक्ति की गई है। उनमें इस प्रांत के हरिजन सेवक संघों के सवर्ण हिंदुओं को मेरे लोगों के भाग्य का मार्गदर्शन करने के लिए सरकारी सुविधाएं दी गई हैं। मैं यह आशा तो नहीं करता कि आप उन विधेयकों के बारे में मेरे विचारों से सहमत हों, जो मद्रास मंदिर-प्रवेश विधेयक को अस्वीकार करने

के बाद श्री राजगोपालाचारी ने हाल ही में प्रस्तुत किए हैं। लेकिन मैं आपसे आशा करता हूं कि जहां तक दलित वर्गों का संबंध है, आप अपने अविस्मरणीय अनशन के दौरान दलित वर्गों को दिए गए वचनों को ध्यान में रखते हुए मद्रास की स्थिति के बारे में और गंभीरता से विचार करेंगे।

नैतिक दृष्टि से आप बाध्य हैं कि आप इसे अंतरात्मा का विषय बनाएं, न कि केवल राजनीतिक रणनीति का। मैं आश्वासन देता हूं कि यदि आप अस्पृश्यता एवं मंदिर-प्रवेश के इस विषय पर 'आंतरिक प्रकाश' की खोज करेंगे तो आप अधिक स्पष्ट वाणी में बोलेंगे और अपने अनुयायियों को शिक्षित करने के लिए आवश्यक बलिदान करेंगे।

मैं इस पत्राचार को प्रेस को भेजना चाहता हू, पर मैं इस महीने के अंत तक आपके किसी और उत्तर की प्रतीक्षा करूंगा।

श्री गांधी ने 8 अक्तूबर 1938 को उपर्युक्त का उत्तर दिया :

प्रिय मित्र,

मैं कठिन परिस्थितियों में काम कर रहा हूं। इसके बावजूद मैं रेलगाड़ी से पेशावर जाते हुए उत्तर दे रहा हूं।

निश्चय ही जब भी आप उचित समझें, उस पत्राचार को छापें, जो हमारे बीच हुआ है।

आपका पिछला पत्र दर्शाता है कि आप गलती पर हैं। मैं राजाजी का पक्ष नहीं ले रहा हूं। लेकिन मैं जानता हूं कि अस्पृश्यता के बारे में वह उतने ही अटल हैं, जितना कि स्वयं मैं। अतः मुझे उनके निर्णय पर विश्वास करना ही होगा कि वह कार्य को किस प्रकार करें। इतने फासले से मैं उनके कार्य का आकलन नहीं कर सकता। क्या आपको नहीं दीख पड़ता कि समूचा आंदोलन सनातनियों के हृदय-परिवर्तन का है? आप गति में तेजी नहीं ला सकते, सिवाय इसके कि स्वयं सुधारों की बलि दे दी जाए। यह प्रक्रिया जोरों से चल रही है।

मंदिर-प्रवेश का यह मसला एक सशक्त धार्मिक सुधार है। मैं चाहूंगा कि इसके लिए आप अपनी धर्म-बुद्धि का इस्तेमाल करें। यदि आप ऐसा करेंगे तो आप राजाजी को अपना हार्दिक समर्थन प्रदान करेंगे और उनके प्रयास को पूर्णतया सफल करेंगे।

संयुक्त प्रांत के अस्पृश्यों ने भी पूना समझौते के विरुद्ध अपना क्षोभ प्रकट किया है। इस संबंध में भारत उप-मंत्री कर्नल म्योरहेड को दिए गए एक ज्ञापन

में उन्होंने कहा : (ज्ञापन मूल अंग्रेजी की पांडुलिपि में टंकित नहीं किया गया–संपादक)।

समूचे भारत में अस्पृश्यों ने अनुभव कर लिया है कि पूना समझौता एक जाल है और ब्रिटिश सरकार के सांप्रदायिक निर्णय के स्थान पर श्री गांधी के पूना समझौते को लाने का परिवर्तन ऐसा परिवर्तन है, जो वास्तव में आजादी के स्थान पर गुलामी लाने का परिवर्तन है।

पूना समझौते पर 24 सितंबर 1932 को हस्ताक्षर किए गए। 25 सितंबर 1932 को इसे समर्थन प्रदान करने के लिए बंबई में हिंदुओं की एक सार्वजनिक सभा हुई। उस सभा में निम्न संकल्प पारित किया गया :

यह सम्मेलन 24 सितंबर 1932 को सवर्ण हिंदुओं तथा दलित वर्गों के नेताओं के बीच हुए पूना समझौते को पुष्ट करता है और विश्वास करता है कि ब्रिटिश सरकार हिंदू समाज के भीतर पृथक निर्वाचक-मंडलों के गठन के अपने निर्णय को वापस ले लेगी और समझौते को पूर्णतः स्वीकार कर लेगी। सम्मेलन अनुरोध करता है कि सरकार तुरंत कदम उठाए, ताकि महात्मा गांधी अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार अपना अनशन समाप्त कर सकें और समय रहते ऐसा हो सके। सम्मेलन संबद्ध समुदायों के नेताओं से अपील करता है कि वे समझौते तथा इस संकल्प के निहित अर्थों को समझें और उनकी पूर्ति के लिए सच्चा प्रयास करें।

सम्मेलन संकल्प करता है कि अब से हिंदुओं में किसी को भी उसके जन्म के कारण अस्पृश्य नहीं माना जाएगा और अब तक जिन्हें ऐसा माना जाता रहा है, उन्हें वैसे ही अधिकार प्राप्त होंगे, जैसे कि सार्वजनिक कुओं, सार्वजनिक स्कूलों, सार्वजनिक सड़कों तथा अन्य सभी सार्वजनिक संस्थाओं के उपयोग के बारे में अन्य हिंदुओं को प्राप्त हैं। निश्चय ही इस अधिकार को सर्वप्रथम अवसर मिलते ही कानूनी मान्यता दी जाएगी और वह स्वराज संसद का सर्वप्रथम अधिनियम होगा, यदि उससे पूर्व उसे ऐसी मान्यता नहीं मिली होगी।

यह भी तय है कि सभी हिंदू नेताओं का यह कर्तव्य होगा ही कि वे हर वैध तथा शांतिपूर्ण साधन से शीघ्र ही उन सभी सामाजिक असुविधाओं को दूर करेंगे, जो इस समय रीति-रिवाज द्वारा तथाकथित अस्पृश्य वर्गों पर थोपी गई हैं। इनमें मंदिरों में प्रवेश पर रोक भी शामिल है।

II

श्री गांधी ने अनुभव किया कि अस्पृश्यों की समस्या के प्रति पूर्ण तथा समर्पित

कोई संगठन होना चाहिए। तदनुसार 28 सितंबर 1932 को अखिल भारतीय अस्पृश्यता निवारण लीग की स्थापना की गई। पर श्री गांधी को यह नाम अच्छा नहीं लगा। अतः दिसंबर 1932 में इसे नया नाम दिया गया—अस्पृश्य समाज सेवक। यह नाम भी श्री गांधी को ठीक नहीं लगा। उन्होंने उसे बदल दिया और उसे हरिजन सेवक संघ कहा।

श्री गांधी ने सर्वप्रथम परिवर्तन नाम में किया है। अस्पृश्य के स्थान पर अब उन्हें 'हरिजन' कहा जाता है। अस्पृश्यों का कहना है कि श्री गांधी स्वार्थी हैं। उन्होंने अस्पृश्यों को यह 'हरिजन' नाम देकर वैष्णववाद को उछाला और उभारा है। वह चाहते हैं कि अस्पृश्यों को 'हरिजन' अर्थात शिव का भक्त कहा जाए। श्री गांधी का उत्तर है कि हरि का अर्थ है ईश्वर, न कि विष्णु और 'हरिजन' का सीधा-सा अर्थ है, 'ईश्वर की संतान'।

अस्पृश्यों को तो 'हरिजन' नाम से ही घृणा है। इस नाम पर आपत्ति के अनेक आधार हैं। पहली तो यह कि इससे उनकी स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ है। हिंदुओं की नजरों में उसके कारण वे ऊंचे नहीं बने। नया नाम विषय-वस्तु की दृष्टि से पूरी तरह पुराने जैसा ही हो गया है। कौन नहीं जानता कि हरिजन पुराने अस्पृश्य ही हैं। नया नाम अस्पृश्यों को अस्पृश्यता के अभिशाप से कोई राहत नही देता। पुराने की भांति नए नाम से भी उन्हें दुत्कारा जाता है। दूसरे, अस्पृश्यों का कहना है कि वे अस्पृश्य कहलाना पसंद करते हैं। उनकी दलील है कि बेहतर होगा कि बुराई को उसके जाने-पहचाने नाम से ही पुकारा जाए। मरीज के लिए यह जान लेना बेहतर होगा कि उसकी बीमारी क्या है। बुरा करने वाले के लिए यह जान लेना बेहतर होगा कि बुराई को अभी दूर किया जाना है। कोई भी दुराव-छिपाव विद्यमान तथ्यों के बारे में दोनों को गलत धारणा देगा। जहां तक कि नया नाम दुराव-छिपाव है, वह अस्पृश्यों के लिए धोखाधड़ी है और हिंदुओं के लिए झूठा पापमोचन है। तीसरे, यह भावना भी है कि हरिजन नाम दया का सूचक है। यदि नाम का अर्थ होता 'खुदा के खास बंदें, जैसा कि दावा यहूदी अपने बारे मे करते हैं, तो बात कुछ और होती। लेकिन उन्हें 'ईश्वर की संतान' कहकर उनकी असहाय और आश्रित अवस्था को उजागर करना है और उन पर अत्याचार करने वालों से दया की भीख की याचना करना है। अस्पृश्यों में जो अधिक पौरुष वाले हैं, वे इस नए नाम के अपमानजनक निहित अर्थों पर रोष प्रकट करते हैं। इस नए नाम के प्रति अस्पृश्यों का रोष कितना प्रबल है, वह इस तथ्य से जाना जा सकता है कि बंबई विधान सभा में अस्पृश्यों के प्रतिनिधियों का समूचा समूह विरोध प्रकट करते हुए सदन से उस समय बाहर चला गया, जब 'हरिजन' नाम को विधि की मान्यता देने वाले विधेयक को कांग्रेस की सरकार ने प्रस्तुत किया।

यह नया नाम 'हरिजन' तब तक चलता रहेगा, जब तक कि श्री गांधी और उनके द्वारा रची गई कांग्रेसी सरकारों का पतन और पराभव नहीं हो जाता। लेकिन ये अकाट्य तथ्य हैं कि अस्पृश्यों पर यह नया नाम जबरन थोपा गया है और उससे उन्हें रत्ती-भर भी लाभ नहीं हुआ है।

इस नए नाम के वरदानों की चर्चा तो हो चुकी। अब मैं हरिजन सेवक संघ के कार्य की निरख-परख करना चाहूंगा। सेवक संघ के बारे में कहा जाता है कि अस्पृश्यों के उत्थान के लिए वह श्री गांधी के अथक श्रम का स्मारक है। इस संघ की क्या उपलब्धियां हैं?

सेवक संघ एक अखिल भारतीय संगठन है। उसका एक केंद्रीय बोर्ड है। फिर प्रांतीय बोर्ड हैं और प्रांतीय बोर्डों के अधीन जिला एवं स्थानीय कमेटियां हैं। प्रांतीय बोर्डों तथा स्थानीय कमेटियों की संख्या इस प्रकार है :

	1932-33	1933-34	1934-35
प्रांतीय बोर्ड	26	26	29
जिला तथा स्थानीय कमेटियां	213	313	372

हरिजन सेवक संघ के वित्तीय संसाधन मुख्यतः श्री गांधी के एक अखिल भारतीय दौरे से एकत्र धनराशि से जुटाए गए हैं। यह दौरा उन्होंने खास तौर पर इस प्रयोजन के लिए नवंबर 1933 और जुलाई 1934 के बीच किया था। इस दौरे से कुल मिलाकर कोई 8 लाख रुपये की राशि एकत्र की गई। इसे गांधी थैली निधि कहा जाता है। सेवक संघ की यह मुख्य आरक्षित निधि है। शेष संसाधन वार्षिक चंदों से बने हैं।

सभी मदों के अधीन संघ का वर्षवार कुल व्यय इस प्रकार है :

1932-33	1933-34	1934-35	1935-36
रु. 2,31,039-00	3,31,791-00	4,48,422-00	3,99,354-00

अपनी 1934-35 की रिपोर्ट में महासचिव ने सूचना दी कि 'गांधी थैली निधि की लगभग समूची राशि, जो जुलाई 1934 में 8 लाख रुपये से अधिक थी, चालू वर्ष के अंत तक, यानी सितंबर 1936 तक, समाप्त हो जाएगी।' पांचवी वार्षिक रिपोर्ट में सचिव ने कहा है, 'गत वर्ष के खर्च की तुलना में कुल खर्च में एक लाख रुपये से अधिक की कमी आई है। आंशिक रूप से इसका कारण यह है कि गांधी थैली निधि धीरे-धीरे समाप्त होती रही है। आम चुनावों तथा अन्य कारणों से स्थानीय चंदों की उगाही में कोताही हुई है। केंद्रीय कार्यालय की वित्तीय

स्थिति अति असंतोषजनक है। केंद्रीय कार्यालय का कुल खर्च (शाखाओं को दिए गए अनुदानों को शामिल करके) 86,610-14-8 रुपये था, जब कि आय 42,485-4-9 रुपये थी। इस प्रकार 44,125-9-11 रुपये का घाटा रहा। उसे सामान्य निधि से पूरा किया गया। सामान्य निधि में केवल 26,173-4 रुपये का चंदा प्राप्त हुआ।

जाहिर है कि हरिजन सेवक संघ छोटा-सा संगठन है। यदि प्रेस लगातार उसका प्रचार-प्रसार न करता, तो उसका नाम भी सुनाई न देता। भारत एक विशाल महाद्वीप है। उसमें कोई 6,96,831* गांव हैं। अस्पृश्य इन सभी 6,96,831 गांवों में फैले हुए हैं। ऐसा एक भी गांव नहीं है, जिसमें अस्पृश्य न हों। 372 कमेटियों की पहुंच कितने अस्पृश्यों तक हो सकती है। यह संघ विशाल महासागर में नन्ही बूंद के समान है। न केवल उसकी क्षमता इतनी सीमित है कि वह समस्या से नहीं जूझ सकता, बल्कि उसके संसाधन इतने अधिक कम हैं कि वह अस्पृश्यों को पर्याप्त रूप से कोई राहत नहीं पहुंचा सकता। अब सेवक संघ की कोई स्थाई निधि नहीं है। जो थी, वह खर्च हो चुकी है। उसे वार्षिक चंदे पर गुजारा करना पड़ता है। वह स्रोत भी अब सूखता जा रहा है। अब संघ भारी घाटे में है। संघ अब असहाय स्थिति में है। उसके दिवालिएपन के कारण उसका कामकाज तो वस्तुतः ठप्प हो गया होता। यदि सेवक संघ आज भी जीवित है तो उसका कारण यह नहीं है कि उसके प्रयासों को अस्पृश्यों के उत्थान के लिए दी गई हिंदुओं की दान-राशि का सहारा मिल रहा है। वह जीवित है, क्योंकि विभिन्न प्रांतों में इस समय स्थापित कांग्रेस की सरकारें सेवक संघ को सहारा देने लगी हैं। उन्होंने सेवक संघ को कतिपय ऐसा सामाजिक कार्य सौंप दिया है, जिसे पिछली सरकारें अनुदान देकर सरकारी विभागों अथवा सरकारी अधिकारियों की मार्फत करवाती थीं। इस प्रकार सेवक संघ आजकल सरकारी निधियों के सहारे सांस ले रहा है। वह ऐसा संगठन नहीं है, जिसे हिंदू अस्पृश्यों के लिए दी जाने वाली हिंदुओं की दान-राशि के सहारे चला रहे हैं।

श्री गांधी के अनशन से जो शोरगुल मचा, वह तो केवल बहरा करने वाला था। उनके जीवन को बचाने के लिए त्याग की तत्परता महान थी और अस्पृश्यों से मैत्री करने के लिए दिखाई गई उत्सुकता आश्चर्य एवं अभिभूत करने वाली थी। लेकिन अब वह लुप्त हो गई है और अस्पृश्य असहाय अवस्था में रह गए हैं। हिंदुओं ने तो सेवक संघ की स्थापना अस्पृश्यों के प्रति अपने दायित्वों के निर्वाह की पेशगी के रूप में की थी। यदि संघ के संचालन के लिए अंशदान की उनकी इच्छा को वास्तविक हृदय-परिवर्तन की कसौटी माना जाए तो स्वीकार करना ही होगा कि जिस अवसर ने उस परिवर्तन को जन्म दिया था, उसकी

* जनगणना रिपोर्ट, 1931, से लिया गया है, क्योंकि मूल अंग्रेजी की पांडुलिपि में आंकड़े नहीं दिए गए हैं—संपादक।

समाप्ति के साथ-साथ वह भी समाप्त हो गया है। इधर श्री गांधी ने अपना अनशन तोड़ा तो उधर हिंदुओं ने अस्पृश्यों के प्रति उपजा अपना नवजात प्रेम छोड़ा।

सेवक संघ की अकाल अवनति के कारण मेरे लिए जरूरी नहीं कि मैं उसके कार्यकलाप पर विचार करूं। लेकिन उसे श्री गांधी का भव्य स्मारक माना जाता है। अतः यह उचित ही होगा कि मैं संघ के कार्य और उसकी कार्य-नीति की निरख-परख करूं।

सेवक संघ का कार्य कतिपय सुस्पष्ट नीतियों के अनुसार चलाया जाता है।

शिक्षा के क्षेत्र में सेवक संघ का प्रयास रहा है कि वह अस्पृश्यों को उच्च शिक्षा के लिए प्रोत्साहन दे और कला, तकनीक एवं व्यवसाय संबंधी पाठ्यक्रमों के लिए छात्रवृत्तियों की स्थापना करे। वह हाई स्कूल के छात्रों को भी छात्रवृत्तियां देता है। संघ कालिजों तथा हाई स्कूलों में पढ़ने वाले अस्पृश्य छात्रों के लिए छात्रावास भी चलाता है। संघ की शिक्षा संबंधी गतिविधियों का अधिकांश भाग अस्पृश्य बच्चों के लिए अलग से प्राइमरी स्कूल चलाने में ही खप जाता है। ये स्कूल ऐसे स्थानों पर चलाए जाते हैं, जहां आसपास या तो कोई सांझे स्कूल नहीं होते या जहां सांझे स्कूलों में उन्हें दाखिला नहीं मिलता।

अब संघ के कल्याण-कार्यों की बारी है। इस मद के अधीन चिकित्सा-सहायता आती है, जिसे संघ अस्पृश्यों को देने का प्रयास करता है। यह कार्य संघ के नरमदिल कार्यकर्ता करते हैं। वे हरिजन बस्तियों में जाते हैं और बीमार अस्पृश्यों की चिकित्सा करते हैं। संघ अस्पृश्यों के लिए कुछ डिस्पेंसरियां भी चलाता है। संघ की यह अति नगण्य-सी गतिविधि है।

संघ का अधिक महत्वपूर्ण कल्याण-कार्य पानी की व्यवस्था है। इसके वास्ते संघ--(1) अस्पृश्यों के लिए नए कुएं खुदवाता है या ट्यूबवेल या पम्प लगवाता है, (2) पुराने कुओं की मरम्मत करवाता है, और (3) स्थानीय प्रशासनों और संस्थाओं से आग्रह करता है कि वे अस्पृश्यों के लिए कुएं खुदवाएं या उनकी मरम्मत करवाएं।

संघ की तीसरी गतिविधि आर्थिक है। लगता है कि वह कुछ औद्योगिक स्कूल चला रहा है। यह दावा किया जाता है कि संघ-संचालित औद्योगिक स्कूलों में अनेक प्रशिक्षित कारीगर तैयार किए गए हैं और वे स्वतंत्र रूप से व्यवसाय कर रहे हैं। लेकिन रिपोर्ट के अनुसार अधिक सफल तथा ठोस कार्य यह किया गया कि अस्पृश्यों के बीच सहकारी समितियों का गठन और पर्यवेक्षण किया गया।

संघ के कार्य का यह संक्षिप्त रिकार्ड है। अधिकतर इसका निर्देशन सवर्ण

हिंदू करते हैं। ऐसे केवल इने-गिने अस्पृश्य हैं, जिनकी कोई आवाज संघ की गतिविधियों के निर्देशन में है। संघ से मेरा कोई सरोकार नहीं रहा है। लेकिन मैं कह सकता हूं कि जब हरिजन सेवक संघ चालू किया गया था तो मुझे उसमें शामिल होने का न्यौता दिया गया था। मेरी बड़ी इच्छा थी कि अस्पृश्यता–निवारण में हिंदुओं का हाथ बंटाऊं। इस महान कार्य को संपन्न करने के लिए संघ क्या नीति तथा कार्यक्रम अपनाए, इसके बारे में मेरे अपने निजी विचार थे। संघ की स्थापना के तुरंत बाद मुझे गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने के लिए लंदन जाना पड़ा। मुझे यह अवसर ही नहीं मिल सका कि संघ के अन्य सदस्यों के साथ इस बारे में विचार कर सकूं। लेकिन जलपोत एम.वी. विक्टोरिया के केबिन से मैंने संघ के महासचिव श्री ठक्कर को एक पत्र 14 नवंबर 1932 को भेजा था। प्रारंभिक छोटे से पैरा को छोड़कर पत्र के शेष भाग को मैं ज्यों-का-त्यों दे रहा हूं।

मेरी राय में दलित वर्गों के उत्थान के महान कार्य के लिए दो स्पष्ट तरीके हो सकते हैं। एक विचारधारा यह है कि दलित वर्ग के व्यक्ति का भाग्य उसके निजी कर्म से बंधा हुआ है। यदि वह अभावों और कष्टों से ग्रस्त है तो उसका कारण यह है कि वह दुष्ट तथा पापी रहा ही होगा। इस उप-कल्पना के आधार पर सामाजिक कार्यकर्ताओं की यह शाखा अपने समूचे प्रयासों तथा संसाधनों को व्यक्तिगत सद्‌गुणों के विकास पर केंद्रित करती है। इसके लिए वह ऐसे कार्यक्रम अपनाती है, जिनमें सहिष्णुता, व्यायामशाला, सहकारिता, ग्रंथागार, स्कूल आदि जैसी मदें शामिल होती हैं। उनका उद्देश्य होता है कि व्यक्ति को बेहतर और सद्‌गुण-संपन्न बनाया जाए। मेरे विचार में इस समस्या के समाधान का एक अन्य दृष्टिकोण भी है। वह इस परिकल्पना को लेकर चलता है कि किसी व्यक्ति का भाग्य उस पर्यावरण और परिस्थिति से नियंत्रित होता है, जिसमें रहने के लिए वह विवश हो जाता है और यदि कोई व्यक्ति अभावों और कष्टों से ग्रस्त है तो उसका कारण है कि उसका पर्यावरण उसके अनुकूल नहीं है।

इसमें संदेह नहीं कि दोनों में से बाद वाला दृष्टिकोण अधिक सही है। हो सकता है कि पूर्ववर्ती दृष्टिकोण कुछ चंद व्यक्तियों को उनके वर्ग के स्तर से ऊपर उठा दे। वह समूचे वर्ग को उन्नत नहीं कर सकता। अस्पृश्यता-निवारण संघ के लक्ष्य के बारे में मेरा दृष्टिकोण यह है कि उसका गठन इसलिए नहीं हुआ है कि वह दलित वर्गों के अकस्मात चुने गए कुछ व्यक्तियों या कुछ खास बालकों की मदद करे, बल्कि यह है कि वह समूचे वर्ग को उच्च धरातल पर ले जाए। अतः मैं नहीं चाहूंगा कि संघ ऐसे कार्यक्रम

पर अपनी शक्ति को बेकार करे, जिसका उद्देश्य व्यक्तिगत सद्गुण को बढ़ावा देना है। मैं तो चाहूंगा कि बोर्ड अपनी समूची शक्ति ऐसे कार्यक्रम पर केंद्रित करे, जो दलित वर्गों के सामाजिक पर्यावरण में परिवर्तन लाए।

सामान्य भाषा में अपने विचारों को प्रस्तुत करने के बाद अब मैं संघ के कार्य के बारे में कुछ ठोस प्रस्ताव रखने का साहस करूंगा।

मेरा विचार है कि संघ सबसे पहला कार्य तो यह करे कि वह भारत-भर में एक अभियान छेड़े। उसका उद्देश्य हो कि दलित वर्ग अपने नागरिक अधिकार प्राप्त कर सके, जैसे गांव के कुओं से पानी लेना, गांव के स्कूलों में प्रवेश, ग्राम-चावड़ी में प्रवेश, सार्वजनिक वाहन का उपयोग आदि।

यदि गांवों में ऐसा कार्यक्रम चलाया जाएगा तो वह हिंदू समाज में आवश्यक सामाजिक क्रांति लाएगा। उसके बिना दलित वर्ग बराबर की सामाजिक प्रतिष्ठा कभी भी प्राप्त नहीं कर सकेंगे। लेकिन बोर्ड को उन कठिनाइयों का ज्ञान तो होना ही चाहिए जो उन्हें झेलनी पड़ेंगी, यदि नागरिक अधिकारों का यह अभियान चलाया जाएगा। यहां मैं अनुभव के आधार पर बता सकता हू, क्योंकि अध्यक्ष होने के नाते मुझे पता है कि उस समय क्या हुआ, जब दलित वर्ग संस्थान और सामाजिक समता संघ ने बंबई प्रेसिडेंसी के कोलाबा और नासिक जिलों में ऐसा अभियान छेड़ा था।

सबसे पहले तो दलित वर्गों तथा सवर्ण हिंदुओं के बीच दंगे होंगे। उनके फलस्वरूप एक-दूसरे के सिर फोड़े जाएंगे और एक-दूसरे पर फौजदारी के केस चलाए जाएंगे। इस संघर्ष में दलित वर्ग बुरी तरह मार खाएंगे। इन दोनों जिलों में चलाए गए सामाजिक संघर्ष के इतिहास में एक भी ऐसा केस नहीं है, जिसमें पुलिस और मजिस्ट्रेट ने दलित वर्गों की रक्षा की हो, भले ही न्याय उनके पक्ष में था। दूसरे, ग्रामवासी उसी क्षण दलित वर्गों का पूर्ण बहिष्कार कर देंगे, जिस क्षण उन्हें लगेगा कि दलित उनकी बराबरी का दर्जा प्राप्त करने का प्रसास कर रहे हैं।

मैंने अनेक बाधाओं में से केवल उन दो का उल्लेख किया है, जिन्हें संघ को दूर करना होगा, यदि नागरिक अधिकारों के इस अभियान को सफल बनाना है। संघ को देहाती क्षेत्रों में कार्यकर्ताओं की एक सेना खड़ी करनी होगी। वे दलित वर्गों को अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करने का प्रोत्साहन देंगे और उससे उत्पन्न होने वाली किसी कानूनी कार्यवाही में सफलता के लिए उनकी मदद करेंगे। यह सच है कि इस कार्यक्रम के कारण सामाजिक दंगे और हिंसात्मक झड़पें हो सकती हैं। लेकिन मेरा विचार है कि उन्हें टाला

नहीं जा सकता। मैं जानता हूं कि वैकल्पिक नीति कम-से-कम प्रतिरोध का रवैया अपनाने की है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि अस्पृश्यता–उन्मूलन के मामले में वह निष्प्रभावी होगी।

निश्चय ही सवर्ण हिंदुओं के अज्ञानी जनसमूह के मानस में तर्क-सम्मत विचारों का मौन संप्रेषण दलित वर्गों के उद्धार के लिए काम नहीं कर सकता। पहली बात तो यह है कि सभी मानव-प्राणियों की भांति सवर्ण हिंदू भी दलित वर्गों के प्रति अस्पृश्यता के व्यवहार में अपने रूढ़िगत आचरण का पालन करता है। सामान्यतः लोग अपनी रूढ़िगत व्यवहार शैली को इसलिए नहीं तज देते कि कोई उसके विरुद्ध प्रचार कर रहा है।

दलित वर्गों का उद्धार तभी होगा, जब सवर्ण हिंदू को यह सोचने और अनुभव करने पर विवश किया जाए कि उसे अपने तौर-तरीके बदलने ही होंगे। उसके लिए आपको उसकी रूढ़िगत आचार-संहिता के विरुद्ध सीधी कार्यवाही करके संकट उत्पन्न करना ही होगा। संकट उसे सोचने पर विवश करेगा और एक बार यदि वह सोचने लगेगा तो वह उस परिवर्तन के लिए अधिक तत्परता से तैयार हो जाएगा, जिसके लिए वह अन्यथा तैयार नहीं होता।

न्यूनतम प्रतिरोध और तर्क सम्मत विचारों के मौन संप्रेषण की नीति की भारी त्रुटि यह है कि वह 'विवश' नहीं करती, क्योंकि वह संकट पैदा नहीं करती। महाड में चावदार तालाब, नासिक में कालाराम मंदिर और मलाबार में गुर्वायूर मंदिर के मामले में सीधी कार्यवाही ने चंद दिनों के भीतर जो करिश्मा करके दिखाया है, उसे सुधारक लाखों दिनों के प्रचार से कदापि नहीं कर पाते।

एक अन्य बात की अपेक्षा मैं अस्पृश्यता निवारण संघ से करूंगा। वह इस बात के लिए प्रयास करे कि दलित वर्गों को समान अवसर प्राप्त हो सकें। दलित वर्गों के कष्टों और निर्धनता का प्रमुख कारण यह है कि उन्हें समान अवसर नहीं मिलता। समान अवसर अस्पृश्यता के कारण नहीं मिलता। निश्चय ही आपको मालूम होगा कि गांवों में तथा शहरों में भी दलित वर्गों के लोग साग-सब्जी, दूध और मक्खन नहीं बेच सकते। ये रोजी-रोटी कमाने के ऐसे तरीके हैं, जो हरेक के लिए खुले हुए हैं। सवर्ण हिंदू अहिंदू से तो ये चीजें खरीद लेगा, पर दलित वर्गों के लोगों से इन्हें कभी नहीं खरीदेगा। रोजगार के मामले में उसकी हालत सबसे खस्ता है।

अमरीका के नीग्रो की भांति समृद्धि के दिनों में उसे सबसे बाद में पूछा जाता है और विपदा के दिनों में उस पर सबसे पहले मार पड़ती है। और जब वह अपने पैर जमा लेता है तो उसका भविष्य क्या होता है? बंबई तथा अहमदाबाद की कपड़ा मिलों में वह सबसे कम वेतन वाले विभागों में सड़ता

रहता है। वहां वह केवल 25 रुपये प्रति मास कमा सकता है। बुनाई विभाग जैसे अधिक वेतन वाले विभागों के द्वार उसके लिए सदैव बंद रहते हैं। अधिकारी वाला स्थान सवर्ण हिंदू के लिए आरक्षित रहता है। दलित वर्ग के कामगार को उसके मातहत गुलाम की भांति ही काम करना होगा, भले ही वह कितना भी वरिष्ठ अथवा दक्ष हो।

चर्खा या बेलन पर सूत लपेटने वाले विभागों में काम करने वाली दलित वर्गों की सैकड़ों महिलाएं मेरे पास आईं हैं। उनकी शिकायत है कि नायकिनें सभी महिला श्रमिकों में कच्चे माल को बराबर-बराबर या समुचित अनुपात में नहीं बांटतीं। उसके स्थान पर वह समूचा कच्चा माल सवर्ण हिंदू महिलाओं को दे देती है और उनकी पूर्ण उपेक्षा करती हैं।

मेरा विचार है कि यह सही और उचित होगा कि अस्पृश्यता निवारण संघ इस सवाल को उठाए। इसके लिए वह इसकी निंदा के वास्ते जनमत तैयार करे। वह ऐसे केंद्र भी स्थापित करे, जो असमानता के तात्कालिक मामलों के संबंध में कार्यवाही करें।

अंततः मेरा विचार है कि संघ उस घृणा को मिटाने का प्रयास करे, जो स्पृश्य लोग अस्पृश्यों से करते है। उसी के कारण दोनों वर्ग एक-दूसरे से इतने अलग-थलग रहे है कि उनकी पृथक और अलग पहचान वाली इकाइयां बन गई हैं। मेरी राय में उसे मिटाने का सर्वोत्तम उपाय यह है कि दोनों के बीच निकटतर संपर्क स्थापित हो। केवल भागीदारी का कोई साझा चक्र ही उस अजनबीपन को दूर करने में सहायक हो सकता है, जिसे लोग एक-दूसरे के संपर्क में आने पर अनुभव करते हैं। मेरी राय में इससे अधिक प्रभावी उपाय और नहीं हो सकता कि दलित वर्गों के लोगों को सवर्ण हिंदुओं के घरों में मेहमानों या सेवकों के रूप में प्रवेश मिले।

इस प्रकार स्थापित जीवंत संपर्क दोनों वर्गों को एक सांझे तथा सामूहिक जीवन का अभ्यस्त कर देगा। वह उस एकता के लिए मार्ग प्रशस्त कर देगा; जिसके लिए हम सभी प्रयास कर रहे हैं। मुझे खेद है कि इसके प्रति रुचि प्रदर्शित करने वाले अनेक सवर्ण हिंदू इसके लिए तैयार नही हैं।

महात्मा के अनशन के उन दस दिनो के दौरान जिन्होंने भारतीय जगत को हिलाकर रख दिया था, विले पार्ले और महाड में ऐसी घटनाएं हुईं, जहा सवर्ण हिदू नौकरों ने हड़ताल कर दी, क्योंकि उनके मालिकों ने अस्पृश्यों के साथ भाईचारा स्थापित करके अस्पृश्यता के नियमों को तोड़ दिया था। मुझे आशा थी कि मालिक हड़ताल को समाप्त करा देंगे और दुराग्रही लोगों के स्थान पर दलित वर्ग के लोगों को काम पर लगाकर उन्हें सबक सिखा देंगे। ऐसा करने के स्थान पर उन्होंने रूढ़िवादी शक्तियों के आगे घुटने टेक दिए और उनके हाथ मजबूत कर दिए। मुझे नही मालूम कि दलित वर्गों

के ऐसे स्वार्थी मित्र उनके लिए कहां तक सहायक होंगे।

दुखी लोगों को इस बात से कोई सांत्वना नहीं मिल सकती कि उनके शुभचिंतक हैं, यदि वे शुभचिंतक कोरी सहानुभूति प्रकट करें। मैं संघ को यह भी बताना चाहूंगा कि इन सवर्ण हिंदू शुभचिंतकों की नेकनीयती के बारे में दलित वर्ग तब तक कभी भी संतुष्ट नहीं होंगे, जब तक कि सिद्ध न हो जाए कि दलित वर्गों के हित की असली लड़ाई में अपने सगे-संबंधियों के खिलाफ वे उसी हद तक संघर्ष करेंगे, जिस हद तक कि उत्तरी अमरीका के श्वेतों ने अपने सगे-संबंधियों, यानी दक्षिण अमरीका के श्वेतों के खिलाफ नीग्रो लोगों की मुक्ति के लिए संघर्ष किया था।

इस कार्यक्रम को चलाने के लिए अस्पृश्यता निवारण संघ को कार्यकर्ताओं की एक अति विशाल सेना जुटानी पड़ेगी। हो सकता है कि सामाजिक कार्यकर्ताओं की नियुक्ति को एक गौण प्रश्न समझा जाए। जहां तक मेरा संबंध है, मैं इस संबंध में किसी एजेंसी के चयन को बहुत अधिक महत्व देता हूं। उसके निमित्त किसी कार्य विशेष या अन्य कार्य के लिए वेतनभोगी कार्यकर्ता तो सदा ही मिल सकते हैं। मुझे विश्वास है कि भाड़े के ऐसे कार्यकर्ता संघ के प्रयोजन को सिद्ध नहीं कर सकेंगे। टॉल्स्टाय के शब्दों में, 'जो प्रेम करते हैं, वही सेवा कर सकते हैं।' मेरी राय में इस कसौटी पर दलित वर्गों के कार्यकर्ता अधिक खरे उतर सकेंगे। अतः मैं संघ से अपेक्षा करूंगा कि नियुक्ति करते समय वह प्रश्न के इस पहलू को ध्यान में रखेगा। मेरा यह अभिप्राय नहीं है कि दलित वर्गों में ऐसे बदमाश नहीं हैं, जिन्होंने समाज सेवा को अपना अंतिम कवच नहीं बनाया है। लेकिन अधिकतर आप आशा कर सकते हैं कि दलित वर्गों का कार्यकर्ता यह कार्य निःस्वार्थ प्रेम से करेगा और वह संघ की सफलता के लिए अति अनिवार्य है।

दूसरे, ऐसी एजेंसियां हैं, जो पहले ही किसी-न-किसी प्रकार की समाज-सेवा में लगी हुई हैं और किसी वर्ग या प्रयोजन से बंधी हुई नहीं हैं। हो सकता है कि सहायता-अनुदान के बदले में वे अस्पृश्यता निवारण संघ के कार्य में आंशिक योगदान के लिए तैयार हो जाएं। मेरा दृढ़ विश्वास है, यदि मुझे कहने की अनुमति दी जाए, कि पारिश्रमिक द्वारा खरीद की यह कार्यशैली कोई स्थाई लाभ नहीं पहुंचा सकती। ऐसी एजेंसी की जरूरत है, जिसकी केवल एक ध्येय के प्रति पूर्ण निष्ठा हो। हमें ऐसी संस्थाओं और संगठनों की जरूरत है, जिन्होंने जान-बूझकर संकीर्णता को अपनाया है, ताकि वे अपने ध्येय के प्रति उत्साहपूर्ण हो सकें। कार्य को यदि सौंपना ही है तो ऐसे लोगों को सौंपा जाए, जो दलित वर्गों के कार्य के प्रति तन, मन, धन से पूर्णतया समर्पित हों।

अपनी बात को समाप्त करने से पहले मैं केवल यह कहना चाहूंगा। मेरे

विचार में, बेल्फोर ने कहा था कि ब्रिटिश साम्राज्य प्रेम के बल पर एकजुट हो सकता है, कानून के बल पर नहीं। मेरा विचार है कि यह विचार हिंदू समाज पर भी उतनी ही अच्छी तरह लागू होता है।

स्पृश्यों तथा अस्पृश्यों के बीच एकता कानून के बल पर नहीं लाई जा सकती। निश्चय ही वह पृथक निर्वाचक-मंडलों के स्थान पर संयुक्त निर्वाचन-क्षेत्रों को रखकर किसी निर्वाचन-कानून द्वारा प्राप्त नहीं की जा सकती। केवल प्रेम ही उन्हें एकता के सूत्र में पिरो सकता है।

मेरी राय में परिवार से बाहर केवल न्याय ही प्रेम की संभावना को उपजा सकता है। अस्पृश्यता निवारण संघ का यह कर्तव्य होना चाहिए कि वह देखे कि स्पृश्य व्यक्ति अस्पृश्य के प्रति न्याय करे और यदि न करे तो उसे न्याय करने पर मजबूर किया जाए। मेरी राय में अन्य कोई औचित्य संघ की परियोजना अथवा अस्तित्व का हो ही नहीं सकता।

सचिव ने इस पत्र की पावती तक की सूचना नहीं दी। यह कहने की जरूरत नहीं कि मेरा एक भी सुझाव स्वीकार नहीं किया गया। यहां तक कि मेरा यह सुझाव भी स्वीकार नहीं किया गया कि संघ के कार्यकर्ता अधिकतर अस्पृश्यों में से ही लिए जाएं। वास्तव में जब श्री गांधी का ध्यान इस तथ्य की ओर दिलाया गया कि हरिजन सेवक संघ भाड़े के हिंदुओं का अड्डा बन गया है तो उन्होंने उसका बचाव ऐसे आधारों पर किया, जिनसे यदि सच्चाई नहीं तो चतुराई तो अवश्य झलकती है। उन्होंने अस्पृश्यों के प्रतिनिधि-मंडल से कहा[1] :

अस्पृश्यों का कल्याण-कार्य एक ऐसा प्रायश्चित्त है, जिसे अस्पृश्यता के पाप के लिए हिंदुओं को करना ही है। जो धन एकत्र किया गया है, उसे भी हिंदुओं ने दिया है। दोनों ही दृष्टियों से केवल हिंदुओं को ही संघ को चलाना चाहिए। न तो नैतिक और न ही अधिकार की दृष्टि से अस्पृश्यों के लिए यह उचित होगा कि वे संघ के मंडल में सीट की मांग करें।

श्री गांधी तथा उनके सलाहकारों ने न केवल मेरे सभी प्रस्तावों को ठुकरा दिया, बल्कि संघ का संविधान बनाते समय ऐसे लक्ष्यों और उद्देश्यों को अपनाया जो इस बारे में मेरे सुझावों के सर्वथा विपरीत हैं।[2]

30 सितम्बर 1932 को बंबई में कोवासजी जहांगीर हाल में हुई सभा में संगठन के लक्ष्य इस प्रकार बताए गए :

अस्पृश्यता के विरुद्ध प्रचार करना और तुरंत उपाय करना कि यथाशीघ्र

1. यह उद्धरण डा. अम्बेडकर की पुस्तक, *व्हाट कांग्रेस एंड गांधी हैव डन टू दि अनटचेबिल्स*, पृ. 142, से लिया गया है। मूल अंग्रेजी की पांडुलिपि में इसका उल्लेख नहीं है—संपादक।
2. वही, पृ. 140-41 से उद्धृत किया गया है, क्योंकि मूल अंग्रेजी की पांडुलिपि में पन्ना खाली छोड़ दिया गया है—संपादक।

सभी सार्वजनिक कुओं, धर्मशालाओं, सड़कों, स्कूलों, शव-दाहगृहों, श्मशान घाटों तथा सभी सार्वजनिक मंदिरों को दलित वर्गों के लिए खोले जाने की घोषणा कर दी जाए, परंतु कोई जोर-जबरदस्ती नहीं की जाएगी और लक्ष्य-प्राप्ति के लिए केवल शांति से अनुरोध ही किया जाएगा।

लेकिन इसके उद्घाटन के दो मास बाद 3 नवंबर को श्री जी. डी. बिड़ला और श्री ए. वी. ठक्कर ने जो बयान जारी किया, उसमें कहा गया :

संघ का विचार है कि सनातनियों में समझदार लोग अस्पृश्यता-निवारण का उतना विरोध नहीं करते, जितना कि अंतर्जातीय सहभोजों और विवाहों का। चूंकि संघ की यह महत्वाकांक्षा नहीं है कि वह अपने क्षेत्र से परे के सुधारों को अपने हाथ में ले, अतः यह स्पष्ट कर देना वांछनीय है कि जहां संघ सवर्ण हिंदुओं से अनुरोध करके अस्पृश्यता का नामोनिशान मिटाने का प्रयास करेगा, उसके कार्य की मुख्य धारा रचनात्मक होगी, जैसे शैक्षिक, आर्थिक और सामाजिक स्तर पर दलित वर्गों का उत्थान। अस्पृश्यता-निवारण में इसके अति दूरगामी प्रभाव होंगे। ऐसे कार्य के प्रति तो कट्टर सनातनी की भी सहानुभूति ही होगी। और मुख्यतः ऐसे कार्य के लिए ही संघ की स्थापना की गई है। जातिप्रथा-उन्मूलन तथा सामूहिक सहभोज जैसे समाज-सुधारों को संघ के क्षेत्र से परे रखा गया है।

इन लक्ष्यों तथा उद्देश्यों का वर्णन संघ की एक वार्षिक रिपोर्ट में किया गया है। उसमें कहा गया है[1] :

इसके संविधान के अनुसार संस्था का लक्ष्य और उद्देश्य है, जन्म पर आधारित अस्पृश्यता का उन्मूलन और अन्य हिंदुओं की भांति ही हरिजनों के लिए सार्वजनिक मंदिरों, कुओं, स्कूलों तथा अन्य सार्वजनिक संस्थानों में प्रवेश के समान अधिकारों का अर्जन।

इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए संस्था को दोहरा कार्य हाथ में लेना पड़ा है। एक तो यह कि संस्था को सवर्ण हिंदुओं के विचारों तथा भावनाओं में ऐसा आमूल परिवर्तन लाना है कि वे सहर्ष सहज रूप से हरिजनों को सभी नागरिक अधिकारों को भोगने की अनुमति दे दें। दूसरा यह कि संस्था को अपनी शक्ति और अपनी निधियां शैक्षिक, आर्थिक और सामाजिक स्तर पर हरिजनों के उत्थान में लगानी हैं।

जो कार्य किया गया है और जो लक्ष्य निर्धारित किए गए हैं, उन्हें साथ-साथ रखकर देखने से दो सवाल पैदा होते हैं। एक तो यह कि क्या ऐसे रिकार्ड पर संघ गर्व कर सकता है?

---

1. रिपोर्ट (1932-33), पृ. 1

दूसरा यह है कि क्या उसका कार्य संघ के लक्ष्यों के अनुरूप है? रिकार्ड बड़ा शोचनीय है। यह ऊंची दुकान और फीका पकवान जैसा है। संघ ईसाई मिशनों जैसा कार्य करने का दावा करता है, पर यदि उसकी तुलना उनके कार्य से की जाए तो वह ऐसा रिकार्ड है, जिस पर संघ गर्व नहीं कर सकता। लेकिन यह तो केवल खेद का विषय है। दूसरा सवाल बुनियादी किस्म का है। अतः उस पर गंभीरता से विचार होना चाहिए। यह अच्छी बात है कि संघ अस्पृश्यों के हित में श्रम करता है। लेकिन उसके श्रम की योजना ऐसी होनी ही चाहिए कि उससे अस्पृश्यता का उन्मूलन हो।

इस दृष्टि से विचार किया जाए तो संघ के कार्य के बारे में क्या कहा जाएगा? संघ खुलेआम निर्लज्ज भाव से अस्पृश्यों के लिए अलग स्कूलों, अलग छात्रावासों अलग डिस्पेंसरियों और अलग कुओं का समर्थन कर रहा है। मुझे सोचना ही चाहिए कि यह तो अस्पृश्यता को अमर करने का सबसे पक्का उपाय है। कैसा आश्चर्य! जब श्री गांधी ने धमकी दी थी कि पृथक निर्वाचक-मंडलों के विरोध में वह आमरण अनशन करेंगे तो उनका तर्क था कि उससे अस्पृश्य अलग-थलग हो जाएंगे। अब वही ऐसी कार्यशैली को स्वीकृति दे रहे हैं, जो अलगाव को अमर बना देगी। अस्पृश्यों की सामाजिक सेवा करते समय श्री गांधी और उनका संघ यह भूल गए होंगे कि अस्पृश्य क्या चाहते हैं। अस्पृश्य शिक्षा नहीं चाहते। वे तो चाहते हैं कि उन्हें सांझे स्कूलों में प्रवेश का अधिकार मिले। अस्पृश्य चिकित्सा सहायता नहीं चाहते। वे तो चाहते हैं कि उन्हें बराबरी की हैसियत से सामान्य डिस्पेंसरी में प्रवेश का अधिकार मिले। अस्पृश्य पानी नहीं चाहता। वह तो चाहता है कि उसे सांझे कुएं से पानी भरने का अधिकार मिले। अस्पृश्य नहीं चाहता कि उसके कष्ट का निवारण हो। वह तो चाहता है कि उसके व्यक्तित्व का आदर किया जाए और उसके कलंक को मिटाया जाए। उसका कलंक मिटते ही उसका कष्ट समाप्त हो जाएगा। लगता है कि हरिजन सेवक संघ के पल्ले यह बात नहीं पड़ी। कहा जाता है कि संघ अस्पृश्यों का मित्र है और रूढ़िवादी हिंदू अस्पृश्यों के शत्रु हैं। हमारी समझ में नहीं आता कि मित्र ने ऐसा क्या किया है जो शत्रु नहीं करेगा। रूढ़िवादी हिंदू का आग्रह है कि निश्चय ही अस्पृश्यों के लिए अलग स्कूल, अलग डिस्पेंसरियां और अलग कुएं होंगे। संघ कहता है, 'तेरी इच्छा पूर्ण हो'। अंतर केवल इतना है कि रूढ़िवादी हिंदू अस्पृश्यता में विश्वास करता है और हरिजन सेवक संघ विश्वास नहीं करता। व्यवहार में मित्र और शत्रु के बीच क्या अंतर है? दोनों के अधीन अस्पृश्य को *अलग स्कूलों, अलग छात्रावासों* और *अलग कुओं* की यातना झेलनी पड़ती है। यदि ऐसा है तो समझ में नहीं आता कि किस कारण श्री गांधी और हरिजन सेवक संघ रूढ़िवाद हिंदू से लड़े-झगड़े, यदि वह और उसका संघ मसले पर जोर नहीं देना चाहता। हिंदू

शास्त्र अस्पृश्यता को मान्यता देते हैं या नहीं, यह श्री गांधी और रूढ़िवादी हिंदू के बीच कोरा पंडिताऊ शास्त्रार्थ है। उससे व्यवहार में कोई कल्याण नहीं हो सकता। इसके विपरीत मैं कह सकता हूं कि इससे अस्पृश्यों का ठोस अहित हुआ है। एक तो यह कि इसके कारण अस्पृश्यों तथा सवर्ण हिंदुओं के बीच शत्रुता पैदा हो गई है। श्री गांधी ने जब इस व्यर्थ के झगड़े को उठाया, उससे पूर्व अस्पृश्यों तथा हिंदुओं के संबंध असामाजिक थे। झगड़े के कारण वे समाज-विरोधी हो गए। दूसरे, यदि यह झगड़ा न होता, यदि अस्पृश्यता को मुद्दा बनाने के स्थान पर जिसके विरुद्ध श्री गांधी संघर्ष नहीं करना चाहते, अस्पृश्यों के कष्ट के निवारण के लिए रूढ़िवादी हिंदुओं से अपील की जाती, तो मुझे मालूम है कि अनेक रूढ़िवादी हिंदू कष्ट-निवारण में मदद के लिए आगे आते। श्री गांधी ने संघ की स्थापना का यश बटोर लिया है। लेकिन संघ ने न तो अस्पृश्यता को दूर करने का प्रयास किया है और न ही अस्पृश्यों के कष्ट-निवारण में मदद दी है।

संघ क्यों विफल रहा है? मेरा उत्तर एकदम निश्चित है। मेरा कहना है कि संघ अपनी गलत राजनीति के कारण विफल रहा है।

प्रायः यह कहा गया है कि हरिजन सेवक संघ राजनीतिक संगठन है। श्री गाधी ने इस आरोप पर सदैव खीज प्रकट की है और उसका खंडन भी किया है। संघ के महासचिव ने भी विरोध प्रकट किया है। उन्हीं के शब्दों में, 'संघ भले ही राजनीतिक समझौते की उपज हो, पर उसके भीतर कोई राजनीति नहीं है।'

श्री गांधी की खोज और उनके सचिव के विरोध का मुझे तो कोई कारण नहीं दीख पड़ता। मेरी तो बड़ी इच्छा है कि संघ राजनीतिक संगठन होता। अस्पृश्यों को राजनीतिक सत्ता का एक अंश प्राप्त हुआ है। लेकिन सत्ता जिसे स्वयं अपना ज्ञान व भान न हो, कोई सत्ता नहीं होती। असंगठित सत्ता, सत्ता नहीं होती। हरिजन सेवक संघ बड़े काम का संगठन होता, यदि अस्पृश्य उसकी मदद से चुनाव लड़ने के लिए स्वतंत्र राजनीतिक दलों का गठन कर पाते और अपनी राजनीतिक सत्ता को पुरअसर बना पाते। मैं श्री गांधी और उनके सचिव के इस कथन को स्वीकार नहीं कर सकता कि सेवक संघ का राजनीति से कोई वास्ता नहीं है। इसके विपरीत मेरा आग्रह है कि सेवक संघ की एक निश्चित राजनीतिक धारा है। लेकिन राजनीति की वह गलत धारा है, क्योंकि वह अस्पृश्यों के हित के प्रतिकूल है।

चूंकि श्री गांधी यह स्वीकार नहीं करते कि सेवक संघ का राजनीति से कोई वास्ता है, अतः प्रमाण की परिस्थितियों को खोजना ही होगा। परिस्थिति से सिद्ध प्रमाण, मौखिक प्रमाण से सदा ही बेहतर होता है, क्योंकि यह विदित है कि मनुष्य

झूठ बोल सकता है, परिस्थितियां नहीं। इस संबंध में अपने दावे के समर्थन में साक्ष्य के रूप में सेवक संघ के संविधान के एक खंड को प्रस्तुत करना चाहता हूं। खंड का संबंध उन उपायों से है, जिन्हें सेवक संघ अस्पृश्यता-निवारण तथा अस्पृश्यों को सवर्ण हिंदुओं के बराबर के अधिकार दिलाने के लिए अपनाएगा। खंड इस प्रकार है :

अधिकार दिलाने के लिए कोई जोर जबरदस्ती नहीं की जाएगी, अपितु केवल शांतिपूर्ण अनुरोध का उपाय ही अपनाया जाएगा।

सेवक संघ का यह एक मूल सिद्धांत है। मूझे यह विचित्र-सा लगा और मुझे विश्वास है कि अन्य सभी को भी यह विचित्र ही लगेगा। मैं प्रश्न करना चाहता हूं कि क्या कारण है कि सेवक संघ अस्पृश्यता-निवारण के एकमात्र उपाय के रूप में केवल सवर्ण हिंदुओं से ही अनुरोध करेगा?

अधिकांश समाज-सुधारकों का, चाहे वे धर्म में आस्था रखते हों या तर्क में, यह विचार दीख पड़ता है कि सत्तारूढ़ लोगों को जैसे ही यह बताया जाता है कि उनके कार्यकलाप और व्यवहार समाज विरोधी हैं, वे वैसे ही अपनी महत्वाकांक्षाओं और अपने बल प्रयोग पर तुरंत अंकुश लगा लेंगे। लेकिन जैसा कि प्रो. नेभुर ने कहा है[1]:

> ये सुधारक इस बात की अनदेखी करते हैं कि सभी मानव समूहों के व्यवहार के मूल में बर्बरता, स्वार्थलोलुपता और सामूहिक अहंकार का भाव होता है और वह समूहों के समूचे संबधों पर हावी रहता है। वे इस तथ्य को भी भुला देते हैं कि जातियों, राष्ट्रों तथा वर्गों में नैतिक निष्ठा उनकी रचना करने वाले व्यक्तियों से कम होती है। अतः जातियों के बीच न्याय केवल शैक्षिक साधनों से प्राप्त नहीं किया जा सकता। यदि उत्पन्न संघर्ष में धीरे-धीरे अंतरात्मा और तर्क का सहारा लिया जाता है, तो वे केवल अन्याय में कमी कर सकते हैं, पर वे कभी भी उसका उन्मूलन नहीं कर सकते। यदि अन्याय का उन्मूलन करना है, तो उसका प्रतिरोध करना ही होगा। जब अन्याय सामूहिक शक्ति की ओर से होता है, चाहे वह साम्राज्यवाद के रूप में हो या वर्ग प्रभुत्व के, तो उसको चुनौती शक्ति द्वारा ही देनी होगी। शक्ति-संपन्न वर्ग के गढ़ को तभी गिराया जा सकता है, जब उस पर शक्ति प्रहार किया जाए। बलवान द्वारा कमजोर के शोषण को रोकने का एकमात्र यही उपाय है।

श्री गांधी और हरिजन सेवक संघ ने सवर्ण हिंदू, प्रभुत्व के प्रति बने विरोध को शांतिपूर्ण अनुरोध तक ही क्यों सीमित किया है? सवर्ण हिंदुओं के अन्याय

1. *मौरल मैन एंड इम्मौरल सोसाइटी*

का प्रतिरोध वे सीधी कार्यवाही से क्यों नहीं करते? मैं समझ सकता हूं कि अन्याय के प्रति विरोध का आयोजन करने में यह समस्या रहती है कि प्रतिरोध के ऐसे रूप खोजे जाएंगे जिनसे तर्क तथा नैतिकता-संगत कार्यवाही के समूहों के प्रति अल्प संसाधन नष्ट न हों। लेकिन उसके कारण कोई कठिनाई नहीं हो सकती। सत्याग्रह अथवा सविनय प्रतिरोध के रूप में श्री गांधी ने ऐसे प्रतिरोध की खोज की है, जो नैतिक दृष्टि से विवाद से परे है। क्या कारण है कि श्री गांधी हरिजन सेवक संघ से नहीं कहते कि अपने प्रति अन्याय के उन्मूलन के लिए अस्पृश्य लोग सवर्ण हिंदुओं के खिलाफ सत्याग्रह छेड़ें? उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध सत्याग्रह छेड़ने के लिए भारतवासियों को ललकारा। अस्पृश्यों के हित में सवर्ण हिंदुओं के विरुद्ध वह उसी हथियार का इस्तेमाल क्यों नहीं करना चाहते?

श्री गांधी के पास इस प्रश्न का क्या उत्तर है? मुझे तो केवल यही उत्तर दीख पड़ता है कि यह मार्ग उनकी राजनीति के आड़े आता है। श्री गांधी राष्ट्र के सिरमौर बने ही रहना चाहते हैं। मेरा विचार है कि उनका जीवन ही नीरस हो जाएगा, यदि किसी कारण वह राष्ट्र के सिरमौर न रहें। मेरा विचार है कि वह सर्वाधिक महत्वाकांक्षी राजनेता हैं। मुझे मालूम है कि वह उन्हीं लोगों को अपना प्रतिद्वंद्वी समझते हैं, जिन्हें वह अपना मित्र कहते हैं। राष्ट्र का सिरमौर बने रहने का अर्थ है कि उन्हें कांग्रेस की अखंडता को अक्षुण्ण रखना ही होगा। कांग्रेस में 99 प्रतिशत हिंदू हैं। श्री गांधी कांग्रेस की अखंडता को कैसे अक्षुण्ण रख सकते हैं, यदि वह हरिजन सेवक संघ को यह निर्देश दें कि अस्पृश्यों के हित में वह हिंदुओं के विरुद्ध सत्याग्रह चलाएं। हिंदू कांग्रेस से अलग हो जाएंगे और कांग्रेस भंग हो जाएगी। यह तो श्री गांधी के हितों के प्रतिकूल होगा। यही कारण है कि श्री गांधी और सेवक संघ ने अस्पृश्यता–निवारण के एकमात्र उपाय के रूप में शांतिपूर्ण अनुरोध को अपनाया है। यह ऐसा उपाय है, जिससे हिंदुओं तथा कांग्रेस को ठेस पहुंचने की अत्यल्प संभावना है। न केवल बड़े मसलों के बारे में, अपितु छोटे मसलों के बारे में भी सेवक संघ यह सावधानी बरतता है कि हिंदुओं को कोई ठेस या क्लेश न पहुंचे। मिसाल के लिए, मुझे बताया गया है कि छात्रवृत्ति देते समय सेवक संघ आवेदनकर्ता की राजनीतिक प्रतिबद्धता के बारे में छानबीन करता है और यदि यह पाया जाता है कि आवेदनकर्ता का नाता कांग्रेस या हिंदू-विरोधी समुदाय से है, तो वह संघ से कोई राशि प्राप्त नहीं कर सकता।

मेरा विचार है कि अब किसी के मन में यह संदेह नहीं रह गया होगा कि श्री गांधी और सेवक संघ ने स्वयं को शांतिपूर्ण अनुरोधों तक इन राजनीतिक कारणों से सीमित रखा है कि कहीं हिंदू नाराज न हो जाएं और कांग्रेस भंग न हो जाए। इसी आशय से मैं कह चुका हू कि संघ का राजनीति से वास्ता

है और उसकी विफलता का कारण है, उसकी गलत राजनीति। मेरा विश्वास है कि गलत राजनीति कहकर मैंने विनम्रता का परिचय दिया है। यह विश्वासघात है, यदि संरक्षक द्वारा अपने संरक्षित के हितों की बलि को विश्वासघात कहा जा सके।

श्री गांधी के भारतीय तथा विदेशी मित्र उनकी तुलना प्रायः यीशु मसीह से करते हैं। ऐसी विचित्र तुलना का क्या औचित्य हो सकता है? एक पहलू के बारे में दोनों के बीच मैं पूर्ण विरोधाभास देखता हूं। यीशु और श्री गांधी, दोनों का दावा है कि उन्होंने दीन-दुखियों की सेवा की। दोनों के इस मैत्रीपूर्ण रवैए का उच्च वर्गों ने विरोध किया। दोनों पर उस विरोध की क्या प्रतिक्रिया हुई? जब फरीसियों (पाखंडियों) ने यीशु पर ताने कसे तो उन्होंने करारा जवाब देते हुए कहा– 'वे जो भले-चंगे हैं उन्हें चिकित्सक की जरूरत नहीं होती, अपितु उन्हें होती है जो बीमार हैं।' यीशु और श्री गांधी के रवैयों में कितना स्पष्ट विरोधाभास है। यीशु ने उनकी चिंता नहीं की जो 'भले-चंगे' थे। श्री गांधी उनके प्रति समर्पित हैं, जो 'भले चंगे' हैं और जो बीमारों और दलितों का अहित करके पाप कमा रहे हैं। श्री गांधी अस्पृश्यों के चिकित्सक नहीं हैं। अधिक-से-अधिक उन्हें शुभचिंतक कहा जा सकता है, उससे अधिक कुछ नहीं।

अस्पृश्यों के शुभचिंतक के रूप में भी श्री गांधी की सहानुभूति दो सावधानियों से जकड़ी हुई है। एक जकड़न तो उनके सामाजिक लक्ष्यों की है और दूसरी जकड़न उनकी राजनीति की है। कहीं इस कथन के बारे में संदेह न उठे, उसके लिए मैं दो उदाहरण देना चाहता हूं। उनमें से एक तो अभी हाल का है। श्री गांधी के निवास-स्थान मध्य प्रांत के शेगांव से निकट के स्थानों पर वे घटनाएं हुई हैं।

प्रथम उदाहरण जिसका मैं उल्लेख करूंगा, वह भारत में खरे-कांड के नाम से जाना जाता है। 1938 में मध्य प्रांत में मंत्रिमंडलीय संकट उत्पन्न हो गया। तब वहां कांग्रेस का मंत्रिमंडल था। मुख्यमंत्री डा. खरे की अपने सहयोगियों के साथ खटपट हो गई। मुख्यमंत्री होने के नाते उन्होंने अन्य मंत्रियों से इस्तीफे की मांग की, पर वे कांग्रेस संसदीय बोर्ड की सहमति के बिना उसके लिए तैयार नहीं थे। लेकिन डा. खरे ने उन्हें इस्तीफे देने के लिए मजबूर किया। अंततः उन्होंने इस्तीफे दे दिए। उसके बाद डा. खरे ने दूसरा कांग्रेसी मंत्रिमंडल बना लिया और मंत्रिमंडल में अपनी इच्छा के लोगों को शामिल कर लिया। अपने नए मंत्रिमंडल में डा. खरे ने मंत्री के रूप में एक अस्पृश्य को शामिल कर लिया। डा. खरे का यह आचरण छानबीन के लिए कांग्रेस कार्यकारिणी के समक्ष लाया गया कि उन्होंने कांग्रेस संसदीय बोर्ड से परामर्श किए बिना पुराने मंत्रिमंडल को भंग करके नए मंत्रिमंडल का गठन कर लिया। डा. खरे को पार्टी का अनुशासन

भंग करने का दोषी पाया गया और उन्हें मुख्यमंत्री के पद से हटा दिया गया। श्री गांधी ने डा. खरे पर एक आरोप यह भी लगाया कि उन्होंने अपने नए मंत्रिमंडल में एक अस्पृश्य को शामिल कर लिया। इस मुद्दे पर डा. खरे से श्री गांधी ने जो कुछ कहा, उसका समूचा मूलपाठ नीचे दिया गया है। इसे मेरे लिए डा. खरे ने लिपिबद्ध किया :

> महात्माजी ने मुझे डांटा व फटकारा कि मैंने क्यों अपने दूसरे मंत्रिमंडल में एक हरिजन को शामिल किया। मैंने करारा जवाब दिया कि हरिजनों का उत्थान तो कांग्रेस के कार्यक्रम का अंग है। उसके लिए तो महात्माजी ने आमरण अनशन किया। मैंने तो अवसर मिलते ही उस कार्यक्रम को आगे बढ़ाने के लिए यथाशक्ति प्रयास किया। मेरा विचार है कि ऐसा करके मैने कोई गलत काम नहीं किया है। उस पर महात्माजी ने मुझ पर आरोप लगाया कि मैंने यह कार्य अपनी स्वार्थपूर्ण महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए किया। मैने इस आरोप का खंडन करते हुए कहा कि मेरा त्यागपत्र किसी भी स्वार्थपूर्ण प्रयोजन को झूठा सिद्ध कर देता है। तब महात्माजी ने कहा कि अपने कार्य से मैंने उस भोलेभाले समुदाय के लोगों के मानस में फूट का बीज बो दिया है और उन्हें यह प्रलोभन देकर कांग्रेस के ध्येय को क्षति पहुंचाई है।[1]

यह सच है कि श्री गांधी ने मंत्रिमंडल में एक हरिजन को शामिल किए जाने पर आपत्ति की और उसका प्रमाण यह तथ्य है कि जब मध्य प्रांत में नए कांग्रेसी मंत्रिमंडल का गठन हुआ तो केवल एक दिन के लिए मंत्री के रूप में कार्य करने वाले इस अस्पृश्य को शामिल नहीं किया गया। प्रथा के रूप में, कम-से-कम साख जमाने के लिए तो उसे शामिल किया जाना चाहिए था। उसे शामिल नहीं किया गया। उससे पता चलता है कि श्री गांधी ने सिद्धांत रूप में विरोध किया।

यह तो घोर अनर्थ है, क्योंकि मध्य प्रांत विधान-मंडल के जिस अस्पृश्य सदस्य को डा. खरे ने मंत्री-पद के लिए चुना था, वह ग्रेजुएट है, कांग्रेसी है और पार्टी के प्रति अति निष्ठावान है। ऐसे व्यक्ति को कांग्रेस के मंत्रिमंडल में शामिल किए जाने पर श्री गांधी को क्यों आपत्ति होनी चाहिए? वास्तविकता तो यह है कि अस्पृश्यों के प्रति अपने व्यवहार में यदि श्री गांधी सच्चे होते तो वह कांग्रेस के सभी मुख्यमंत्रियों को अनुदेश देते कि वे अपने-अपने मंत्रिमंडलों में कम-से-कम एक अस्पृश्य को शामिल करें। भले ही इसका यदि कुछ और प्रभाव न भी होता तो कम-से-कम अस्पृश्यों तथा हिंदुओं पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव तो अवश्य होता।

---

1. बंबई में भारत सेवक मंडल के सभागार में हुई एक सभा में डा. खरे ने इस कथन को अपने कार्य के समर्थन में दोहराया था।

उन्हें यह कार्य दलगत भावना से ऊपर उठकर करना चाहिए था। श्री गांधी इस बात का विरोध नहीं करते कि जिन प्रांतों में कांग्रेस का बहुमत नहीं है, वहां पद प्राप्त करने के लिए वे गैर-कांग्रेसी दलों के साथ मिलकर सरकार बनाएं। ऐसी मिलीजुली सरकारों में उन्होंने कांग्रेस को अनुमति दी है कि वह अपने मंत्रिमंडलों में गैर-कांग्रेसियों को मंत्री के रूप में शामिल कर लें। यदि श्री गांधी कांगेस को उसकी अनुमति देते हैं और फिर भी उसकी जाति व वर्ण बना रहता है तो क्या कारण है कि श्री गांधी ने कांग्रेसी मुख्यमंत्रियों को कांग्रेसी मंत्रिमंडलों में अस्पृश्यों को शामिल किए जाने का अनुदेश क्यों नहीं दिया, यदि वह चाहते हैं कि जब वह अस्पृश्यों के प्रति अपने प्रेम की बात करते हैं तो उन पर विश्वास किया जाए। लेकिन मध्य प्रांत के मामले का तो आधार ही भिन्न है। यहां जिस अस्पृश्य व्यक्ति को मंत्री बनाया गया, वह ग्रेजुएट भी था और कांग्रेसी भी। वहां क्या आपत्ति हो सकती थी? वहां न तो योग्यता की कमी थी और न ही दल के प्रति निष्ठा की। उसे शामिल किए जाने पर श्री गांधी ने क्यों आपत्ति की? अनगिनत अस्पृश्य स्पष्टीकरण के लिए श्री गांधी के पास शेगांव गए। इसका पूर्वानुमान लगाते हुए श्री गांधी मौन धारण करने लगे, ताकि स्पष्टीकरण की नौबत ही ना आए। तब अस्पृश्यों ने श्री गांधी के खिलाफ इस कारण सत्याग्रह छेड़ दिया कि उन्होंने मध्य प्रांत के कांग्रेसी मंत्रिमंडल में एक अस्पृश्य को शामिल नहीं किया। इस परेशानी से बचने के लिए श्री गांधी शेगांव छोड़कर पश्चिमोत्तर सीमा प्रांतों के दौरों पर चले गए। उद्देश्य था कि वह पठानों को अहिंसा का पाठ पढ़ाएं। मुझे विश्वास है कि इस बार श्री गांधी का मौन ईश्वर का ध्यान करने के लिए नहीं था। वह तो सहज बहाना था, ताकि जिरह की अग्नि-परीक्षा न देनी पड़े और अस्पृश्यों के बारे में उनके अंतरतम में छिपे विचारों की कलई न खुल जाए। जो भी हो, श्री गांधी ने हमें इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दिया। मेरे विचार में केवल एक जवाब हो सकता है और वह यह है कि यदि श्री गांधी अपना मुंह खोलते, तब भी वह कोई बेहतर उत्तर नहीं दे सकते थे। वह जवाब यह है कि अस्पृश्यों के प्रति श्री गांधी का आदर्श बड़ा घटिया आदर्श है। वह तो बस इतना चाहते हैं कि अस्पृश्य को स्पर्श कर लिया जाए और यदि उसे स्पर्श करने के बाद किसी को स्नान न करना पड़े तो उसके अलावा उनके संबंध में और कुछ करने की जरूरत नहीं। यदि श्री गांधी प्रयास करते और फिर विफल हो जाते तो उन्हें माफ किया जा सकता था। लेकिन ऐसा घटिया लक्ष्य अपनाने के लिए उन्हें कैसे माफ कर दिया जाए? विफलता नहीं, बल्कि घटिया लक्ष्य अपनाना जुर्म है।

दूसरा उदाहरण जिसका उल्लेख मैं करूंगा, उसे बचूमा-कांड के नाम से जाना जाता है। यदि पहला उदाहरण घोर अनर्थ है तो दूसरा अति जघन्य। वह कितना

जघन्य है, उसका पता मेरे द्वारा उल्लिखित तथ्य से चल जाएगा। बचूमा 12 वर्ष की बालिका थी। वह अस्पृश्य परिवार की थी। परिवार वर्धा में रहता था। (यह नाम जोड़ा गया है। मूल अंग्रेजी की पांडुलिपि में इसका उल्लेख नहीं है—संपादक)। एक शाम को उसे बहला-फुसला कर एक मुसलमान पुलिस सब-इंस्पेक्टर के घर में ले जाया गया। उसे घर में रखा गया। रात्रि में इस नन्ही बालिका के साथ तीन मुसलमानों ने बलात्कार किया। उनमें से एक तो स्वयं पुलिस अधीक्षक था दूसरा शिक्षा विभाग का सब-इंस्पेक्टर और तीसरा वकील था। तीनों मुसलमानों पर न्यायालय में मुकदमा चलाया गया। उनमें से दो को तो दो-दो वर्ष के कठोर कारावास की सजा दी गई और वकील को बरी कर दिया गया, क्योंकि बालिका उसकी पहचान नहीं कर सकी। सजा पाने वाले दोनों मुसलमानों ने उच्च न्यायालय में अपील की, लेकिन उच्च न्यायालय ने उनकी अपीलें खारिज कर दीं और उनके दोष और सजा की पुष्टि कर दी। जेल से उन्होंने गवर्नर-इन-काउंसिल के पास दया की याचिकाएं भेजीं। लेकिन वे भी अस्वीकार कर दी गईं। यह सब कांग्रेस के सत्ता में आने से पूर्व हुआ। जब कांग्रेस ने सत्ता संभाली तो उन्होंने प्रभारी मंत्री के पास दया के लिए नई अर्जियां भेजीं। प्रभारी मंत्री मुसलमान था। उसने सोचा कि यह कोई गलत काम नहीं है, यदि किसी मुसलमान ने अस्पृश्य बालिका के साथ बलात्कार किया। उसने अपराधियों को रिहा कर देने का फैसला किया। उसने एक की अर्जी को मंजूरी दे दी। वह शिक्षा विभाग का सब-इंस्पेक्टर था। अब वह आजाद है और मुस्लिम राज्य के शिक्षा विभाग में एक ऊंचे पद पर तैनात है। मंत्री दूसरे अपराधी को भी रिहा करने ही वाला था, लेकिन उस बीच उसके विरुद्ध आंदोलन ने इतना जोर पकड़ लिया कि उसे अपने पद से ही इस्तीफा देना पड़ा। मंत्री की शर्मनाक करतूत के खिलाफ सभी ने रोष व्यक्त किया, पर श्री गांधी गूंगे बने रहे। इस मंत्री के खिलाफ निंदा का एक भी शब्द अभी तक उन्होंने नहीं कहा है। उल्टे, अब भी वह उस जोड़तोड़ में लगे हुए हैं, जो बर्खास्त मंत्री को उसके पद पर फिर से बहाल करने के लिए चल रही है। पद अब भी खाली रखा गया है। हम पूछना चाहेंगे कि क्या श्री गांधी तब भी इतने ही उदासीन और गूंगे बने रहते, यदि नन्ही बालिका बचूमा जिसके साथ तीन मुसलमानों ने बलात्कार किया था, किसी अस्पृश्य की पुत्री होने के बजाए उनकी अपनी पुत्री होती। बचूमा के मामले को श्री गांधी अपनी पुत्री का मामला क्यों नहीं बना सके? इसके दो उत्तर हैं। एक यह है कि श्री गांधी अस्पृश्य नहीं है। इस पर तो विवशता ही प्रकट की जा सकती है। दूसरे, श्री गांधी का विचार है कि बचूमा के लिए मुस्लिम मंत्री की निंदा करने से वह उस हिंदू-मुस्लिम एकता को गंवा सकते हैं, जो कांग्रेस की राजनीति का मूल सिद्धांत है। क्या इससे पता नहीं चलता कि अस्पृश्यों के प्रति श्री गांधी की सहानुभूति पर उनकी राजनीति की पाबंदी लगी हुई है?

वह व्यक्ति किस काम का है, जो स्वतंत्रता से अपनी अंतरात्मा के अनुसार सहानुभूति भी प्रकट नहीं कर सकता।

III

और अब बारी है मंदिर-प्रवेश की। इसके बारे में भी ढोल पीटा जाता है कि वह अस्पृश्यों के लिए श्री गांधी की एक और देन है।

मंदिर-प्रवेश का यह मसला उस संकल्प की उपज है, जिसे 25 सितंबर 1932 को हिंदुओं की एक सार्वजनिक सभा में पारित किया गया। इसी आदि कारण ने ही हरिजन सेवक संघ को जन्म दिया। इस संकल्प में अस्पृश्यों के प्रति हिंदुओं के कतिपय दायित्वों का उल्लेख है। इस सूची में यह भी शामिल है कि हिंदू मंदिरों में अस्पृश्यों के प्रवेश पर लगी रोक को हटाया जाए।

हालांकि संकल्प में मंदिर-प्रवेश का वचन दिया गया था, पर अस्पृश्यों ने उसे तुरंत पूरा किए जाने का आग्रह नहीं किया। बहरहाल, अस्पृश्यों की एक विशाल संख्या मंदिर-प्रवेश के लिए उत्सुक नहीं रही है। जब श्री गांधी ने मुझ से पूछा कि मंदिर-प्रवेश के बारे में मेरे क्या विचार हैं, तो मैंने उसके बारे में अपनी राय एक वक्तव्य के रूप में दी। यह वक्तव्य प्रेस के लिए 10* फरवरी 1933 को जारी किया गया था। वह इस प्रकार है :

मंदिर-प्रवेश पर वक्तव्य

यद्यपि मंदिर-प्रवेश के मसले के बारे में विवाद को केवल सनातनियों और महात्मा गांधी तक ही सीमित किया जाता है, तथापि इसमें संदेह नहीं कि दलित वर्गों को उसमें एक अति महत्वपूर्ण भूमिका अदा करनी होगी। जब मसले पर अंतिम समझौते के लिए विचार होगा तो निश्चय ही उनका रवैया तराजू के किसी पलड़े को हल्का या भारी करेगा। अतः यह आवश्यक है कि उनके दृष्टिकोण की व्याख्या करके उसे स्पष्ट कर दिया जाए, ताकि उसके बारे में कोई दुविधा न रह जाए।

इस समय जिस रूप में श्री रंगा अय्यर के मंदिर-प्रवेश विधेयक का प्रारूप तैयार किया गया है, उसे दलित वर्ग संभवतः अपना समर्थन नहीं दे सकते। विधेयक का सिद्धांत है कि यदि जनमत-संग्रह कराए जाने पर किसी मंदिर विशेष के आस-पास के नगरपालिका एवं स्थानीय बोर्ड के बहुसंख्य वोटर बहुमत से निर्णय करें कि दलित वर्गों को मंदिर में प्रवेश की अनुमति दे

* डा. अम्बेडकर की पुस्तक, *व्हाट कांग्रेस एंड गांधी हैव डन टू दि अनटचेबिल्स,* पृ. 108 13 में कहा गया है कि यह वक्तव्य 14 फरवरी 1933 का है — संपादक।

दी जाए तो मंदिर के न्यासी अथवा प्रबंधक इस निर्णय को कार्यरूप देंगे ही। सिद्धांत बहुमत के शासन का सामान्य सिद्धांत है और विधेयक का कोई भी क्रांतिकारी अथवा आमूल परिवर्तनवादी पक्ष नहीं है। यदि सनातनियों में थोड़ी-सी भी बुद्धि होगी तो वे इसे बिना किसी पूर्वापत्ति के स्वीकार कर लेंगे।

दलित वर्ग इस सिद्धांत पर आधारित विधेयक का क्यों समर्थन नहीं कर सकते, इसके दो कारण हैं। एक कारण तो यह है कि विधेयक दलितों के लिए मंदिर-प्रवेश के दिन को और निकट नहीं ला सकता। समय उतना ही लगेगा, जितना विधेयक के बिना लगता। यह सच है कि विधेयक के अधीन अल्पसंख्यक वर्ग को उस न्यासी अथवा प्रबंधक के विरुद्ध निषेधाज्ञा प्राप्त करने का अधिकार नहीं होगा, जो बहुमत के निर्णय के अनुसार मंदिर के द्वार दलित वर्गों के लिए खोल देगा। लेकिन इससे पूर्व कि हम इस खंड से कोई संतोष प्राप्त कर सकें और विधेयक के प्रारूपकार को बधाई दे सकें, हमें सबसे पहले इस बारे में आश्वस्त होना पड़ेगा कि जब मसले पर मतदान होगा तो बहुमत मंदिर-प्रवेश का पक्षधर होगा ही। यदि हम किसी भ्रमजाल में नहीं फंसे होंगे तो हमें स्वीकार करना ही होगा कि यदि इस बात की कोई आशा हो तो भी इसकी अति क्षीण संभावना है कि बहुमत मंदिर-प्रवेश का समर्थन करेगा ही। इसमें कोई संदेह नहीं कि आज बहुमत निश्चय ही विरुद्ध है। यह एक ऐसा तथ्य है, जिसे शंकराचार्य के साथ अपने पत्राचार में विधेयक के प्रारूपकार ने स्वयं स्वीकार किया है। विधेयक के पास हो जाने के बाद उस स्थिति में क्या होगा जब हमें यह लगने लगे कि बहुमत तो विपरीत आचरण करेगा? मेरे विचार में तो कुछ नहीं हो सकेगा। निस्संदेह मुझे तो गुर्वायूर मंदिर संबंधी जनमत-संग्रह के परिणामों की याद सताने लगेगी। लेकिन मैं महात्मा गांधी के प्राणों से अभिभूत जनमत-संग्रह को सामान्य परिणाम स्वीकार नहीं करता। ऐसे किसी भी आकलन में जरूरी है कि महात्मा के प्राणों को आकलन में नहीं ही लेना होगा। दूसरे, विधेयक में अस्पृश्यता को पापपूर्ण प्रथा नहीं माना गया है। उसमें अस्पृश्यता को केवल ऐसी सामाजिक बुराई माना गया है, जिसके लिए जरूरी नहीं कि वह अन्य प्रकार की सामाजिक बुराइयों से बदतर हो। क्योंकि उसमें अस्पृश्यता को, जिस रूप में वह है, गैर-कानूनी घोषित नहीं किया गया है। उसकी अनिवार्यता तभी समाप्त होती है जब बहुमत वैसा करने का निर्णय करे। पाप और अनैतिकता को इसलिए सहन नहीं किया जा सकता कि बहुसंख्यक उसके आदी हो गए है अथवा बहुसंख्यक उसे व्यवहार में लाना चाहते हैं। यदि अस्पृश्यता कोई पापपूर्ण और अनैतिक प्रथा है तो दलित वर्गों की दृष्टि से उसका उन्मूलन

बिना किसी संकोच के होना ही चाहिए, भले ही बहुसंख्यक उसे स्वीकार करते हों। इसी रीति से सभी प्रथाओं का निपटारा न्यायालय करते हैं, यदि वे पाते हैं कि प्रथाएं अनैतिक हैं और लोक-नीति के विरुद्ध हैं। पर विधेयक में ठीक ऐसी व्यवस्था नहीं की गई है। विधेयक का प्रारूपकार अस्पृश्यता की प्रथा के बारे में उतनी ही गंभीर दृष्टि अपनाता है, जितनी कि मद्यपान की लत छुड़ाने के बारे में सुधारक अपनाता है। वास्तविकता तो यह है कि वह दोनों के बीच कल्पित समानता से इतने प्रभावित हैं कि उन्होंने जो तरीका अपनाया है, वह ऐसा तरीका है जिसकी वकालत मद्यत्याग सुधारक मद्यपान की लत के उन्मूलन के लिए करते हैं, और वह है प्रांत विशेष में मद्यनिषेध का अधिकार। दलित वर्गों के ऐसे किसी मित्र के हम अधिक आभारी नहीं हो सकते, जो अस्पृश्यता को मद्यपान से बदतर नहीं समझता। यदि रंगा अय्यर यह भूल नही गए होते कि केवल कुछ महीने पूर्व ही महात्मा गांधी ने आमरण अनशन के लिए कमर कस ली थी यदि अस्पृश्यता का निवारण न किया गया, तो वह इस अभिशाप के बारे में और अधिक गंभीर दृष्टि अपनाते और उसके समूल विनाश के लिए सर्वाधिक सम्यक सुधार का प्रस्ताव रखते। प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से उसकी जो भी त्रुटियां हों, दलित वर्ग कम-से-कम यह आशा तो कर सकते हैं कि विधेयक इस सिद्धांत को मान्यता दे कि अस्पृश्यता पाप है। मैं वास्तव में समझ नहीं पा रहा हूं कि महात्मा गांधी इस विधेयक से कैसे संतुष्ट हो गए। वह तो आग्रह करते रहे हैं कि अस्पृश्यता पाप है। निश्चय ही इससे दलित वर्ग सतुष्ट नहीं हुए हैं। यह प्रश्न एक गौण प्रश्न है कि विधेयक अच्छा है या बुरा, पर्याप्त है या अपर्याप्त। मुख्य प्रश्न है, दलित वर्ग मंदिरों में प्रवेश करना चाहते हैं या नहीं? इस मुख्य प्रश्न के प्रति दलित वर्गों के दो दृष्टिकोण हैं। एक तो आर्थिक दृष्टिकोण है। उस दृष्टि से दलित वर्गों का विचार है कि उनके उत्थान का सर्वाधिक ठोस तरीका यह है कि उन्हें उच्च शिक्षा और उच्च रोजगार मिलें और रोजी-रोटी कमाने के बेहतर अवसर प्राप्त हों। एक बार यदि वे सामाजिक जीवन के ढांचे में सुस्थापित हो जाएंगे तो उनका सम्मान होने लगेगा। एक बार यदि उनका सम्मान होने लगेगा तो निश्चय ही उनके प्रति रूढ़िवादियों के धार्मिक दृष्टिकोण में परिवर्तन होगा। यदि ऐसा नहीं भी होता, तो भी उससे उनके आर्थिक हित पर कोई आंच नहीं आ सकती। इन दृष्टिकोणों के आधार पर दलित वर्ग कहते हैं कि वे मंदिर-प्रवेश जैसे खोखले कार्य पर अपने ससाधन खर्च नहीं करेंगे। एक अन्य कारण से भी वे इसके लिए सघर्ष नही करना चाहते। यह दृष्टिकोण 'आत्मसम्मान' का दृष्टिकोण है। अभी ज्यादा अर्सा नहीं हुआ जब भारत में यूरोपीयों द्वारा संचालित क्लबों तथा

सामाजिक सैरगाहों के बोर्डों पर लिखा जाता था : 'कुत्तों और भारतीयों को प्रवेश की अनुमति नहीं है।' आज हिंदुओं के मंदिरों के आगे ऐसे ही बोर्ड लगे हुए हैं। अंतर केवल इतना है कि हिंदू मंदिरों के बोर्ड ताल ठोक कर कहते हैं, 'सभी हिदुओं तथा कुत्तों-सहित सभी पशुओं को प्रवेश की अनुमति है, केवल अस्पृश्य प्रवेश नहीं कर सकते।' दोनों दशाओं में स्थिति एक जैसी है। लेकिन हिंदुओं ने कभी भी उन स्थानों में प्रवेश की चिरौरी नहीं की थी, जिनके द्वार यूरोपीयों ने अहंकारवश बंद कर दिए थे। तो क्यों कोई अस्पृश्य उस स्थान में प्रवेश के लिए चिरौरी करे, जिसके द्वार हिंदुओं ने अहंकारवश बंद कर दिए हैं? अपने आर्थिक कल्याण में रुचि रखने वाले अस्पृश्य का यह तर्कसम्मत दृष्टिकोण है। वह हिंदुओं से यह कहने के लिए तैयार है, 'आप अपने मंदिरों के द्वार खोलें या न खोलें, इस प्रश्न पर विचार करना आपका काम है, मैं उस पर उत्तेजना क्यों प्रकट करूं। यदि आप सोचते हैं कि मानव व्यक्तित्व की पवित्रता का अनादर अशिष्टता है तो अपने मंदिरों के द्वार खोल दें और सज्जनता का परिचय दें। यदि सज्जन के बजाए आप हिंदू रहना चाहते हैं तो आप अपने द्वार बंद रखें और भाड़ में जाएं आप, क्योंकि मंदिर में आने की मुझे कोई चिंता नहीं है।'

मैंने दृष्टिकोण को इस रूप में प्रस्तुत करना जरूरी समझा, क्योंकि मैं पंडित मदनमोहन मालवीय जैसे व्यक्तियों के मन से यह धारणा निकाल देना चाहता हूं कि दलित वर्ग उनके संरक्षण के लिए आतुर हैं। दूसरा दृष्टिकोण आध्यात्मिक दृष्टिकोण है। धर्मपरायण लोगों की भांति दलित वर्ग मंदिर-प्रवेश की इच्छा रखते हैं या नहीं? प्रश्न यह है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से वे मंदिर -प्रवेश के प्रति वैसे उदास नहीं होंगे, जैसे कि वे होंगे यदि केवल आर्थिक दृष्टिकोण ही चलता रहेगा। लेकिन उनका अंतिम उत्तर उस उत्तर पर निर्भर करेगा, जो महात्मा गांधी और हिंदू निम्न प्रश्नों का देंगे :

मंदिर-प्रवेश के इस प्रस्ताव के पीछे क्या उद्देश्य है? हिंदू समाज में दलित वर्गों के सामाजिक स्तर के उत्थान का अंतिम लक्ष्य क्या मंदिर-प्रवेश होगा? अथवा क्या यह केवल पहला कदम है और यदि यह पहला कदम है तो अंतिम लक्ष्य क्या है? अंतिम लक्ष्य के रूप में मंदिर-प्रवेश का समर्थन दलित वर्ग कदापि नहीं कर सकते। वस्तुतः वे न केवल उसे ठुकरा देंगे, बल्कि वे स्वयं को हिंदू समाज द्वारा तिरस्कृत समझेंगे और वे अपने भाग्य को कहीं अन्यत्र आजमाने के लिए आजाद होंगे। दूसरी ओर, यदि इस दिशा में यह केवल पहला कदम है तो हो सकता है कि वे इसका समर्थन करना चाहें। तब स्थिति वैसी ही होगी, जैसी कि आज भारत की राजनीति की है। सभी भारतीयों

ने भारत के लिए औपनिवेशिक दर्जे की मांग की है। वास्तविक संविधान में औपनिवेशिक दर्जा नहीं होगा। फिर भी अनेक भारतीय उसे स्वीकार कर लेंगे। क्यों? उत्तर यह है कि चूंकि लक्ष्य की व्याख्या कर दी गई है तो इससे कोई ज्यादा फर्क नहीं पड़ता अगर लक्ष्य की ओर एक छलांग में नहीं, बल्कि धीरे-धीरे बढ़ा जाए। लेकिन यदि अंग्रेज औपनिवेशिक दर्जे के लक्ष्य को स्वीकार न करते तो कोई भी उन आंशिक सुधारों को स्वीकार न करता, जिन्हें अब अनेक स्वीकार करने के लिए तैयार हैं। उसी प्रकार यदि महात्मा गांधी और सुधारक यह घोषणा कर दें कि हिंदू समाज में दलित वर्गों के सामाजिक स्तर के उत्थान के लिए अपने सामने उन्होंने क्या लक्ष्य निर्धारित किया है, तो दलित वर्गों के लिए मंदिर-प्रवेश के बारे में अपने दृष्टिकोण की व्याख्या करना अधिक सरल हो जाएगा। यहां दलित वर्गों के लक्ष्य की घोषणा सभी संबद्ध पक्षों के विचारार्थ और सूचनार्थ की जा सकती है। दलित वर्ग एक ऐसा धर्म चाहते हैं, जो उन्हें समान सामाजिक दर्जा प्रदान करे। कोई गलतफहमी न हो, इसके लिए मैं मुद्दे को स्पष्ट करना चाहूंगा। इसके लिए मैं उन सामाजिक बुराइयों के बीच विभेद बताऊगा, जो लौकिक कारणों से उपजती हैं और जो धार्मिक सिद्धांतों पर आधारित होती हैं। सभ्य समाज में सामाजिक बुराइयों का कोई औचित्य नहीं हो सकता। लेकिन इससे अधिक घिनौनी और ओछी बात नहीं हो सकती कि सर्वमान्य सामाजिक बुराइयों को धार्मिक आधार पर उचित ठहराया जाए। दलित वर्गों पर जो अन्याय हो रहे हैं, हो सकता है कि वे उनका प्रतिकार न कर सकें, लेकिन उन्होंने निश्चय कर लिया है कि वे ऐसे धर्म को सहन नहीं करेंगे, जो इन अन्यायों के बनाए रखने का समर्थन करेगा। यदि हिंदू धर्म को उनका धर्म होना है तो उसे सामाजिक समता का धर्म बनाना ही होगा। सभी के लिए केवल मंदिर-प्रवेश के प्रावधान द्वारा हिंदू धर्म संहिता में संशोधन मात्र कर देने से उसे समान सामाजिक दर्जे वाला धर्म नहीं बनाया जा सकता। वह बस इतना ही कर सकता है कि उन्हें विदेशी के रूप में नहीं, बल्कि राष्ट्रीय के रूप में मान्यता दे दे, यदि मुझे राजनीति में अति प्रचलित शब्दों के उपयोग की अनुमति दी जा सके। लेकिन उसका यह अर्थ नहीं हो सकता कि उसके द्वारा वे ऐसी स्थिति में पहुंच जाएंगे, जहां ऊंच-नीच की भावना से मुक्त होकर वे आजाद और बराबर होंगे। उसका सहज कारण यह है कि हिंदू धर्म सामाजिक दर्जे की समता के सिद्धांत को मान्यता नहीं देता। उल्टे, वह असमानता के सिद्धांत का पोषण करता है, क्योंकि वह लोगों का श्रेणीकरण ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों के रूप में करने का आग्रह करता है। वहां जो घृणा करता है, उसका दर्जा ऊंचा होता जाता है। और जिसका अपमान किया जाता है,

उसका दर्जा नीचा होता जाता है, यदि हिंदू धर्म को सामाजिक समता वाला धर्म बनाना है तो उसकी संहिता में मंदिर-प्रवेश संबंधी संशोधन करना पर्याप्त नहीं होगा। होना यह चाहिए कि उसमें से चातुर्वर्ण्य के सिद्धांत को निकाल दिया जाए। वही सभी प्रकार की असमानता का मूलाधार है। वही जातिप्रथा और अस्पृश्यता की जननी है। जातिप्रथा और अस्पृश्यता तो असमानता के ही रूप हैं। जब तक ऐसा नहीं किया जाता, तब तक दलित वर्ग न केवल मंदिर-प्रवेश को, बल्कि हिंदू धर्म को भी ठुकराएंगे। चातुर्वर्ण्य और जातिप्रथा दलित वर्गों के आत्मसम्मान के प्रतिकूल है। जब तक वह उसका मूल सिद्धांत बना रहेगा, तब तक निश्चय ही दलित वर्गों को हेय दृष्टि से देखा जाता रहेगा। यदि दलित वर्ग कहते हैं कि वे हिंदू हैं तो वे अपने ही मुख से अपने दर्जे की हीनता को स्वीकार करते हैं। वे अपने आपको हिंदू तभी कह सकते हैं, जब चातुर्वर्ण्य और जातिप्रथा के सिद्धांत को तिलांजलि दे दी जाए और शास्त्रों से उसका बहिष्कार कर दिया जाए। क्या महात्मा तथा हिंदू सुधारक इसे अपना लक्ष्य स्वीकार करते हैं और क्या वे इसके लिए अपना पसीना बहाने का साहस दिखाएंगे? मैं इस मसले पर उनकी घोषणाओं की प्रतीक्षा करूंगा, क्योंकि मुझे इस बारे में भारी चिंता है। महात्मा गांधी और हिंदू इसके लिए तैयार हों या न हों, लेकिन वे सदा-सर्वदा के लिए यह जान लें कि इससे कम में दलित वर्ग संतुष्ट नहीं होंगे और मंदिरों में प्रवेश भी नहीं करेंगे। मंदिर-प्रवेश को स्वीकार करना और उससे संतुष्ट हो जाना बुराई से समझौता कर लेना है और अपने मानवीय व्यक्तित्व की गरिमा को बेच डालना है।

लेकिन मैंने जो दृष्टिकोण अपनाया है, उसके विरोध में महात्मा गांधी और सुधारवादी हिंदू एक दलील दे सकते हैं। वे कह सकते हैं, 'यदि दलित वर्ग अब मंदिर-प्रवेश को स्वीकार कर लेगें तो इसका अर्थ यह नहीं होगा कि वे इसके बाद चातुर्वर्ण्य और जातिप्रथा के उन्मूलन के लिए संघर्ष नहीं कर सकेंगे।' यदि यह उनका लक्ष्य है तो मैं अभी और यहीं उनके तर्क के प्रति जवाबी निर्णायक तर्क देना चाहूंगा, ताकि भावी घटनाओं के लिए मार्ग प्रशस्त हो जाए। मेरा उत्तर है कि यह सच है कि यदि मैं इस समय मंदिर-प्रवेश को स्वीकार कर लेता हूं तो चातुर्वर्ण्य और जातिप्रथा के उन्मूलन के लिए संघर्ष का मेरा अधिकार छिन नहीं जाएगा। लेकिन सवाल यह है कि जब प्रस्ताव प्रस्तुत किया जाएगा, उस समय महात्मा गांधी किस ओर होंगे? यदि वह मेरे विरोधियों के खेमे में होंगे तो मैं उनसे यही कहूंगा कि मैं इस समय उनके खेमें में नहीं आ सकता। यदि वह मेरे खेमें में होंगे तो उन्हें अभी और इसी समय मेरे खेमें में आना पड़ेगा।

मंदिर-प्रवेश के मसले के बारे में मेरे मित्र दीवान बहादुर आर. श्रीनिवासन ने भी लगभग ऐसे ही विचार व्यक्त किए हैं। उन्होंने कहा है :

> जब दलित वर्ग के किसी व्यक्ति को सवर्ण हिंदू के मंदिरों में प्रवेश की अनुमति दी जाती है तो उससे उसे चारों में से किसी एक वर्ण में शामिल नहीं कर लिया जाएगा, बल्कि उसे तो पांचवें या अंतिम या निकृष्टतम वर्ण का समझा जाएगा। वह कलंक तो अस्पृश्य कहलाने से भी बदतर है। साथ ही उसे अनेक वर्ण-प्रतिबंधों और अवमाननाओं का शिकार बनाया जाएगा। इस प्रकार जो प्रवेश करता है, उसका बहिष्कार दलित वर्ग के लोग उसे सवर्ण कहकर करते हैं। दलित वर्गों के करोड़ों लोग वर्ण-प्रतिबंधों को स्वीकार नहीं करेंगे। यदि वे करेंगे तो खंड-खंड हो जाएंगे।
>
> मंदिर-प्रवेश को कानून द्वारा जबरन नहीं लादा जा सकता। गांवों के सवर्ण लोग प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कानून की अवहेलना करते हैं। गांव के दलित वर्ग के लोगों के लिए यह उस कागज के टुकड़े जैसा होगा, जिस पर लिखा हो 'चीनी' और उसे चखने के लिए उसके हाथ पर रख दिया जाए।
>
> उक्त तथ्य समय रहते आम आदमी के सामने रख दिए गए हैं, ताकि देश में अराजकता और अव्यवस्था न फैले।

लेकिन श्री गांधी का विचार कुछ और ही है। उनका विचार है कि अस्पृश्यों के मंदिर में प्रवेश का दायित्व हिंदुओं का है और उसे पहले पूरा किया जाना चाहिए। तदनुसार पूना समझौते के तुरंत पश्चात उन्होंने हिंदुओं के बीच यह अभियान छेड़ा कि वे अपने मंदिरों के द्वार अस्पृश्यों के लिए खोल दें।

इस मामले में श्री गांधी कहां तक सफल हुए है, यह एक ऐसा प्रश्न है, जो उनसे वैध रूप से पूछा जा सकता है। लेकिन सच्चाई को जानना कठिन है। कहा जाता है कि अनशन के फलस्वरूप हिंदुओं ने अनेक मंदिरों के द्वार अस्पृश्यों के लिए खोल दिए। पर यह कहना मुश्किल है कि इसमें कितनी सच्चाई है और कहां तक यह उस झूठे प्रचार-प्रसार का अंग है, जिसे करने में कांग्रेसी सिद्धहस्त है। यह निर्विवाद तथ्य है कि अनशन के कारण जिन अनेक मंदिरों के द्वार खोले गए, उनकी पुनः शुद्धि की गई और उनके कपाट अस्पृश्यों के लिए बंद कर दिए गए। पुनः मंदिर का द्वार खोलने का कार्य निरर्थक कार्य भी हो सकता है। ऐसे सैकड़ों-हजारों मंदिर हैं, जहां कोई पूजा-अर्चना होती ही नहीं। वहां केवल गधे लोटते है। नासिक और वाई जैसे तीर्थस्थलों पर भी ऐसे मंदिर देखे जा सकते हैं। यदि ऐसे मंदिर का द्वार खोले जाने की घोषणा की जाती है तो वह न केवल

निरर्थक कार्य है, बल्कि अस्पृश्यों का अपमान भी है। यदि पूजा-अर्चना स्थल के रूप में हिन्दू उसका परित्याग कर देते हैं तो यह नहीं कहा जा सकता कि वह इस अर्थ में खोला गया है कि हिंदुओं ने सहर्ष उन्हें वहां बुलाया है। सच्चाई जानने के लिए एक और संभावना है, जिसकी ओर ध्यान देना चाहिए।

अस्पृश्यों के लिए किसी मंदिर के द्वार उसी भाव से खोले जा सकते हैं, जिस भाव से लदन का रिट्ज होटल सबके लिए खुला हुआ है। लेकिन हम जानते हैं कि वास्तव में रिट्ज होटल सबके लिए खुला हुआ नहीं है। वह केवल उन्हीं के लिए खुला है जो उसका खर्च बंर्दाश्त कर सकते हैं। उसी प्रकार किसी मंदिर के द्वार अस्पृश्यों के लिए खुले हो सकते हैं, पर वास्तव में वे केवल उन्हीं अस्पृश्यों के लिए खुले होते हैं, जो उसमें प्रवेश की सामर्थ्य रखत हैं। यदि मंदिर-प्रवेश की कीमत पिटाई या सामाजिक बहिष्कार है तो यह कीमत निषेधात्मक होगी और भले ही मंदिर नाममात्र के लिए खुला हो, पर वास्तव में वह बंद होता है। पिटाई और सामाजिक बहिष्कार तो हिंदुओं के लिए स्वाभाविक बात है, अतः यह मान लेने में कोई ज्यादती नहीं होगी कि किन्हीं मामलों में हिंदू ऐसे उपायों का सहारा लेंगे, ताकि अस्पृश्य उस मंदिर में प्रवेश करने का साहस न कर सकें, जो उनके लिए खोल दिया गया है। यदि मामला ऐसा है तो यह धोखाधड़ी है।

यह ठीक-ठीक तो बताना कठिन है कि इन दो प्रकार के मामलों में से किसकी संख्या अधिक है। लेकिन कतिपय तथ्यों के आधार पर अनुमान लगाया जा सकता है। भारत में इस समय दो प्रकार के हिंदू हैं। एक तो रूढ़िवादी हिंदू हैं, जो राजनीति की अपेक्षा धर्म की अधिक चिंता करते हैं। दूसरे कांग्रेसी हिंदू हैं, जो राजनीति की अधिक चिंता करते हैं, धर्म की कम। रूढ़िवादी हिंदुओं के कोई राजनीतिक स्वार्थ नहीं होते। वे कितने भी गलत क्यों न हों, वे ईमानदार यानी अपने विश्वास के प्रति दृढ़ हो सकते हैं। कांग्रेसी हिंदुओं के राजनीतिक स्वार्थ होते हैं। वे सदा ही ईमानदारी का दृष्टिकोण नहीं अपना सकते और उनका झुकाव बेईमानी के तरीके अपनाने की ओर होता है। भले ही परित्याग का पहला तरीका ईमानदारी का है, पर दुनिया की नजरों में वह हिंदू समाज के लिए अपयशकारी है। अतः राजनीतिक दृष्टि से वह उपयुक्त नही है। सवर्ण हिंदुओं द्वारा नाममात्र के लिए मदिर को खोल देने और वास्तव में उसे बंद कर देने का दूसरा तरीका राजनीतिक दृष्टि से अति लाभकारी है। इस व्यवस्था का यह गुण है कि वह ऊपर से तो दुनिया को जता देती है कि खाता खुल गया है, पर गुप्त रूप से ऐसी व्यवस्था करती है कि जिस व्यक्ति के नाम से खाता खोला गया हो, वह उसमें से कुछ भी न निकाल सके और दुनिया को भनक तक न लगे। कांग्रेसी हिंदू संख्या में अधिक हैं और रूढ़िवादी हिंदू कम हैं। ऐसी स्थिति में मेरा विचार है कि निश्चय ही कांग्रेसी हिंदू संख्या में रूढ़िवादी हिंदुओं से अधिक होंगे।

मंदिरों के कपाट खोले जाने के सच्चे मामले इनेगिने हैं। मंदिरों को खोले जाने के बारे में प्रकाशित अधिकांश खबरें केवल झूठा प्रचार-प्रसार है। यह बात श्री रंगा अय्यर के मंदिर-प्रवेश विधेयक की दुर्दशा से स्पष्ट हो जाती है। उन्होंने यह विधेयक 1934 में केंद्रीय विधान-मंडल में प्रस्तुत किया था। मैं उस विधेयक के बारे मे बाद में चर्चा करूंगा।

IV

इसके साथ ही मैंने इस विषय पर चर्चा समाप्त कर दी होती। लेकिन श्री गांधी का आग्रह है कि हिंदुओं में एक आध्यात्मिक जागृति आ गई है और वह ट्रावनकोर की मंदिर-प्रवेश उद्घोषणा के प्रति आश्वस्त हैं। अतः मुझे बाध्य होकर इस दावे की चर्चा करनी ही होगी।

मंदिर-प्रवेश की सफलता को खोले गए मंदिरों की संख्या से नहीं आंका जा सकता। उसका आकलन तो केवल उसके उद्देश्य के संदर्भ में किया जा सकता है। क्या उद्देश्य आध्यात्मिक हैं? केवल यही एकमात्र कसौटी हो सकती है।

अब मेरा कहना है कि मंदिर-प्रवेश आध्यात्मिक कार्य नहीं है। वह तो राजनीतिक चाल है।

क्या श्री गांधी आध्यात्मिक उद्देश्य से कार्य कर रहे हैं? हिंदुओं से अपील करते हुए श्री गांधी ने कहा :

> मैं आप लोगों से जो अपील कर रहा हूं, वह मेरी आत्मा की व्यथा से उत्पन्न हुई है। मेरा आपसे अनुरोध है कि आप भी उस व्यथा और लज्जा को अनुभव करें और मेरे साथ सहयोग करें, क्योंकि मेरा और कोई लक्ष्य नही है, सिवाय इसके कि 'सनातन धर्म' का पुनरुद्धार हो और उन करोड़ों लोगो के जीवन मे उसके यथार्थ रूप में उसकी स्थापना हो, जो फिलहाल मुझे लगता है कि मुझे इस कार्य से वंचित कर रहे हैं।

आत्मा की इस व्यथा का जन्म पूना समझौते के बाद हुआ। पूना समझौते से पूर्व मंदिर-प्रवेश के बारे में श्री गांधी के क्या विचार थे? पूना समझौते से पूर्व श्री गाधी का विचार कुछ और ही था। वह विचार भी पूना समझौते से कुछ पूर्व ही व्यक्त किया गया था। हिंदुओं के नाम जिस अपील से मैंने उद्धरण दिया है, उसे भी अधिक समय नहीं हुआ था। उसे 'गांधी शिक्षण', खंड 2, पृ. 132 में व्यक्त किया गया था। तब श्री गांधी की राय थी कि अस्पृश्यों के लिए अलग मंदिर बनवाए जाएं। श्री गांधी ने कहा था[1]:

---

1 *व्हाट कांग्रेस एंड गांधी हैव डन टू दि अनटचेबिल्स*, पृ. 107 से उद्धृत किया गया है। यह अंग्रेजी की मूल पाडुलिपि मे नहीं है – संपादक।

> यह कैसे संभव है कि अन्त्यज (अस्पृश्य) को सभी विद्यमान मंदिरों में प्रवेश का अधिकार मिले? जब तक वर्ण-व्यवस्था और आश्रम के नियम का हिंदू धर्म में प्रमुख स्थान है, यह कहना कि हर हिंदू हर मंदिर में प्रवेश कर सकता है, ऐसी बात है जो फिलहाल तो संभव नहीं है।

यह जाहिर है कि मंदिर-प्रवेश उनका मूल विचार नहीं है और इसलिए आध्यात्मिक नहीं है। व्यथा तो पृथक निर्वाचक-मंडलों के लिए अस्पृश्यों की मांग की गंभीर और अचानक उत्तेजना से उत्पन्न हुई है। श्री गांधी पृथक निर्वाचक-मंडलों में निहित सिद्धांत से सिहर उठे थे। उनका विचार था कि इस सिद्धांत को लागू किया जा सकता है और हो सकता है कि अंततः हिंदू समाज से अस्पृश्यों का अलगाव और विच्छेद हो जाए। इस प्रयास को निष्प्रभावी करने के लिए उन्होंने अपनी राय बदल दी और मंदिर-प्रवेश का अभियान छेड़ दिया। श्री गांधी का उद्देश्य राजनीति से प्रेरित है और उसमें कोई आध्यात्मिकता नहीं है।

श्री गांधी ने जो पैंतरा बदला है, केवल उसी साक्ष्य को मैं अपने निष्कर्ष का आधार नहीं बनाना चाहता। उसके समर्थन में और भी बहुत-सा साक्ष्य है।

सबसे पहले मैं गुर्वायूर मंदिर सत्याग्रह का उल्लेख करूंगा। उसे कैल्लप्पन नामक एक सवर्ण हिंदू ने शुरू किया था। उद्देश्य था कि गुर्वायूर मंदिर में अस्पृश्यों का प्रवेश कराया जाए। इस कथानक के कुछ तथ्य रुचिकर सिद्ध हो सकते हैं।

जब इस मामले में रूढ़िवादी हिंदुओं ने श्री गांधी को चुनौती दी तो अंततः उन्होंने जो रवैया अपनाया, वह उल्लेखनीय है। श्री गांधी रूढ़िवादियों के साथ समझौते के लिए तैयार हो गए। समझौते की शर्तें इस प्रकार थीं। समाचार-पत्रों में प्रकाशित श्री गांधी के शब्दों में ही मैं उन्हें दे रहा हूं[1]:

> दिवस के किसी निश्चित समय में गुर्वायूर मंदिर के कपाट हरिजनों तथा उन अन्य हिंदुओं के लिए खोले जाएं जिन्हें हरिजनों की उपस्थिति पर कोई आपत्ति नहीं है और किसी अन्य निश्चित समय में उसे उन लोगों के दर्शनार्थ आरक्षित कर दिया जाए जिन्हें हरिजनों के प्रवेश पर आपत्ति है। इस सुझाव की स्वीकृति में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए, क्योंकि गुर्वायूर में कृतिकाई एकादशी पर्व के अवसर पर हरिजनों को हिंदुओं के साथ-साथ प्रवेश की अनुमति दी जाती है और उसके बाद मंदिर या देवमूर्ति की शुद्धि की जाती है।

जब पूछा गया कि क्या उनका सुझाव था कि हरिजनों के प्रवेश के बाद प्रतिदिन मंदिर की शुद्धि की जाए तो श्री गांधी ने उत्तर दिया :

1. *टाइम्स आफ इंडिया*, 3 जनवरी 1933

व्यक्तिगत रूप से मैं किसी भी शुद्धि के पक्ष में नहीं हूं। लेकिन यदि शुद्धि से आपत्ति करने वालों की अंतरात्मा को संतोष मिलता हो, तो मैं इस मामले में व्यक्तिगत रूप से शुद्धिकरण पर कोई आपत्ति नहीं करूंगा। यदि शुद्धिकरण का कोई महत्व है, तो विभिन्न धर्म-ग्रंथों में उल्लिखित विभिन्न कारणों से दैनिक दूषण की अनेकानेक संभावनाएं हो सकती हैं और दैनिक शुद्धिकरण हो सकता है, चाहे हरिजनों को प्रवेश की अनुमति दी जाए या नहीं।

यह दृष्टिकोण आध्यात्मिक नहीं है। यह शत-प्रतिशत व्यावसायिक है। श्री गांधी ने भी इसे लगभग स्वीकार किया है। यह पूछे जाने पर कि उन्होंने जो समझौता सुझाया है, क्या वह अस्पृश्यों और सवर्ण हिंदुओं के बीच विभेद को अब भी बरकरार नहीं रखता, श्री गांधी ने समाचार के अनुसार कहा है :

हरिजनों का रवैया यह होना चाहिए, 'यदि कोई व्यक्ति मेरी उपस्थिति पर आपत्ति करता है तो उसकी आपत्ति का मैं तब तक सम्मान करना चाहूंगा, जब तक कि वह (आपत्तिकर्ता) मेरे अधिकार से मुझे वंचित नहीं करता और जब तक उन लोगों के साथ-साथ, जिन्हें मेरी उपस्थिति पर आपत्ति नहीं है, पूजा-अर्चना के समय में मेरी वैध भागीदारी की अनुमति दी जाती है, मैं संतुष्ट रहूंगा।'

मुझे मालूम नहीं कि कोई स्वाभिमानी अस्पृश्य श्री गांधी के इस दृष्टिकोण को स्वीकार करेगा। इन शर्तों पर तो कुत्तों और बिल्लियों को भी सभी मंदिरों में प्रवेश करने दिया जाता है, जब कि वहां मानव-प्राणी नहीं होते। दो विरोधी वर्गों की परस्पर विरोधी मांगों के बीच तालमेल बिठाने के उद्देश्य से पूजा हेतु ईश्वर के घर को देश और काल में विभाजित करना अपने आपमें एक विचित्र और बेतुका विचार है। जाहिर है कि श्री गांधी भूल गए कि एक ही मंदिर में अलग से पूजा-अर्चना करना और सामूहिक रूप से पूजा-अर्चना करना दो अलग-अलग बाते हैं। मंदिर-प्रवेश को यदि आध्यात्मिक रूप प्रदान करना है तो सामूहिक पूजा-अर्चना का मार्ग अपनाना ही होगा। पूर्ववर्ती मांग का अर्थ है कि एक वर्ग की उपस्थिति दूसरे को नहीं सुहाती और वह दोनों के हितों में समंजन करने का प्रयास करता है। उत्तरवर्ती मार्ग में यह निहित है कि दोनों वर्गों के बीच कोई घृणा नहीं है और वे स्वीकार करते हैं कि दोनों के भीतर मानवता का उभयनिष्ट अंश विद्यमान है।

इससे पता चल जाता है कि श्री गांधी के प्रयोजनों के पीछे आध्यात्मिक प्रेरणा नहीं है। वह तो इस बात के लिए उतावले हो रहे हैं कि अस्पृश्यों को जल्दी से जल्दी घेरकर हिंदू अस्तबलों में ठूस दिया जाए, ताकि वे इधर-उधर भाग न

सकें। श्री गांधी का दावा है कि वह आध्यात्मिक प्रेरणा से कार्य कर रहे हैं, पर उनके इस दावे को झुठलाने के लिए एक और साक्ष्य है। वह है, उनका रवैया, जो उन्होंने श्री रंगा अय्यर के 'मंदिर-प्रवेश विधेयक' के सिलसिले में अपनाया है। उससे पता चलता है कि आत्मा की व्यथा तो केवल लुभावनी लच्छेदार अभिव्यक्ति है, तथ्य नहीं।

विधेयक के प्रारूपकार श्री रंगा पर अंततः जो वज्रपात हुआ, उसे समझने के लिए इस विधेयक के कुछ इतिहास को जान लेना जरूरी है।

नए संविधान के लागू होने के बाद से कांग्रेस की सरकारों ने दो प्रांतों में दो विधेयक पारित किए हैं। एक बंबई में और दूसरा मद्रास में। अधिनियमों में कोई सारतत्व नहीं है। वे मंदिरों के कपाट खोले जाने की घोषणा नहीं करते। वे अपने प्रबंध के अधीन मंदिरों के न्यासियों को अनुमति देते हैं कि यदि वे चाहें तो ऐसा करें। चूंकि न्यासियों को विवश करने के लिए कोई बाध्यकारी प्रावधान नहीं है, अतः ये अधिनियम केवल रद्दी कागज के टुकड़े हैं, उसके अलावा कुछ नहीं है। लेकिन मद्रास अधिनियम का कुछ इतिहास है, जो पहेली-सी बूझता है। अधिनियम को पारित कराने वाले मद्रास के प्रधानमंत्री श्री राजगोपालाचारी हैं। उनका कांग्रेस में बड़ा ऊंचा स्थान है। वास्तव में तो वह इतना ऊंचा है कि लोग उन्हें उप-महात्मा कहते हैं। यदि कोई पहेली का समाधान खोज सके, तो समाधान से प्रारूपकार के और श्री गांधी के मन का पता चल जाएगा, जिन्होंने इस सबको अनुप्राणित किया है।

आइए, अब ट्रावनकोर मंदिर-प्रवेश पर विचार करें। 12 नवंबर 1936 को महाराजा ने मंदिर को अस्पृश्यों के लिए खोले जाने की उद्घोषणा की। वह एक शानदार दस्तावेज है। उसमें कहा गया है :

> अपने धर्म की सत्यता और वैधता के प्रति परम श्रद्धा रखते हुए, यह विश्वास करते हुए कि वह दैवी मार्गदर्शन और सर्वव्यापी सहिष्णुता पर आधारित है, यह जानते हुए कि व्यवहार में वह सदियों से परिवर्तनशील समय की मांग के अनुरूप स्वयं को ढालता रहा है; यह ध्यान रखते हुए कि हमारी हिंदू प्रजा में से कोई भी जन्म, जाति और संप्रदाय के आधार पर हिंदू धर्म की सांत्वना और सहानुभूति से वंचित न रहे, हम निर्णय करते हैं और इसके द्वारा घोषणा करते हैं और. सभादेश व आदेश देते हैं कि ऐसी शर्तों और नियमों के अधीन रहते हुए जिन्हें हम अपने मंदिरों में समुचित वातावरण को बनाए रखने और उनके कर्मकांड के पालन के लिए निर्धारित करें और लागू करें इसके तुरंत बाद हमारे तथा हमारी सरकार द्वारा नियंत्रित मंदिरों में किसी

हिंदू पर जन्म और धर्म के आधार पर मंदिर-प्रवेश या उसमें पूजा करने संबंधी कोई रोकटोक न हो।

इस उद्घोषणा में कौन-सी आध्यात्मिकता है?

यह उद्घोषणा ट्रावनकोर के महाराजा ने अपने नाम से जारी की थी। लेकिन इसके पीछे यथार्थ सक्रिय शक्ति थी, प्रधानमंत्री सर सी. पी. रामास्वामी अय्यर की। हमें उनके प्रयोजनों को समझना ही होगा। 1933 में भी सर सी. पी. आर. अय्यर ट्रावनकोर के प्रधानमंत्री थे। 1933 में श्री गांधी गुर्वायूर मंदिर को सभी अस्पृश्यों के लिए खुलवाने का संघर्ष कर रहे थे। मंदिर-प्रवेश के मसले पर हुए विवाद में जिन अनेक लोगों ने भाग लिया, उनमें सर सी. पी. रामास्वामी अय्यर भी थे। लगता है कि सब लोग इस तथ्य को भूल गए हैं। लेकिन उसका स्मरण कराना जरूरी है, क्योंकि इसके सहारे हम उन प्रयोजनों को भांप सकते हैं, जिन्होंने उन्हें इस उद्घोषणा को जारी करने के वास्ते महाराजा पर दबाव डालने के लिए प्रेरित किया। 1933 में इस मसले के बारे में सर सी. पी. रामास्वामी अय्यर का क्या रवैया था? उन्होंने प्रेस के लिए जो निम्न वक्तव्य[1] जारी किया था, उससे उनका रवैया स्पष्ट हो जाएगा :

> व्यक्तिगत रूप से मैं जातिप्रथा के नियमों का पालन नहीं करता। मैं अनुभव करता हूं कि इस मामले के बारे में उन लोगों के मन में, जो यह विश्वास करते हैं कि मंदिरों में पूजा-अर्चना की वर्तमान पद्धति और उसका ब्यौरा दैवी आदेशों पर आधारित है, यद्यपि अति स्पष्ट भावनाएं नहीं हैं, पर प्रबल तो हैं ही। समस्या का स्थाई समाधान तभी खोजा जा सकता है, जब आपसी तालमेल की प्रक्रिया अपनाई जाए और वर्तमान स्थिति की वास्तविकताओं के प्रति हिंदू समाज के धार्मिक तथा सामाजिक नेताओं में जागृति पैदा की जाए और उन्हें बताया जाए कि हिंदू समाज की अखंडता को बनाए रखना जरूरी है।
>
> आकस्मिक आघातों से प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा। राजनीतिक क्षेत्र की अपेक्षा इस क्षेत्र में सीधी कार्यवाही और भी अधिक घातक सिद्ध होगी। मेरा दुर्भाग्य है कि मैं श्री गांधी की इस बात से सहमत नहीं हो सकता कि मंदिर-प्रवेश की समस्या को सहभोज जैसे विषयों से अलग किया जा सकता है। मैं डा. अम्बेडकर की इस बात से सहमत हूं कि दलित वर्गों के सामाजिक तथा आर्थिक उत्थान के कार्यक्रम को हमें तुरंत हाथ में लेना चाहिए।

---

1. यह वक्तव्य डा. अम्बेडकर की पुस्तक, *व्हाट कांग्रेस एंड गांधी हैव डन टू दि अनटचेबिल्स*, पृ. 318 से उद्धृत किया गया है। मूल अंग्रेजी की पांडुलिपि में इसका उल्लेख नहीं है– संपादक।

इस वक्तव्य से पता चल जाता है कि 1933 में सर सी. पी. रामास्वामी अय्यर के मन में आध्यात्मिक प्रेरणाएं नहीं थीं। आध्यात्मिक प्रेरणाएं तो 1933 के बाद जागृत हुईं। क्या इसका कोई विशेष कारण है कि आध्यात्मिक प्रेरणाओं ने 1936 में जन्म लिया?

इस प्रश्न का उत्तर मिल सकता है, यदि हम इस बात को ध्यान में रखें कि 1936 में ट्रावनकोर में एजावा समुदाय के लोगों का सम्मेलन हुआ था। उसमें धर्मान्तरण के उस प्रश्न पर विचार किया गया, जिसे मैंने 1935 में येवला में उठाया था। एजावा अस्पृश्य लोग हैं और वे समूचे मलाबार में पाए जाते हैं। वह पढ़ा-लिखा समुदाय है और आर्थिक रूप से भी काफी सशक्त है। वह समुदाय मुखर भी है और इस देशी राज्य में सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक अधिकारों के लिए संघर्ष करता रहा है। एजावा बहुत बड़ा समुदाय है। इतने बड़े समुदाय का विच्छेद हिंदुओं के लिए मौत का संदेश ही होता। सम्मेलन ने खतरे को वास्तविक तथा तात्कालिक बना दिया था। इस खतरे ने ही सर सी. पी. रामास्वामी अय्यर के रवैए के रुख को बदल दिया था। आध्यात्मिक प्रेरणाओं का तो केवल मुखौटा है। वे वास्तविक नहीं थीं।

इस उद्घोषणा के फलस्वरूप तथ्यों में कितना परिवर्तन हुआ और कितना दिखावा-भर रहा? ट्रावनकोर में विद्यमान वास्तविक तथ्यों का पता लगाना संभव नहीं है। मद्रास विधान सभा में जब मलाबार मंदिर-प्रवेश विधेयक पर चर्चा हुई थी तो उसके दौरान सर टी. पन्नीरसेल्वम ने ट्रावनकोर संबंधी कुछ तथ्यों का उल्लेख किया था। यदि वे सही हैं तो उनसे पता चलेगा कि समूची बात ढोल की पोल है। सर टी. पन्नीरसेल्वम ने कहा था :

> प्रधानमंत्री ने विधेयक के समर्थन में एक तर्क यह भी दिया है कि ट्रावनकोर मे मंदिरों के कपाट 'अस्पृश्यों' के लिए खोल दिए गए हैं। निरंकुश अधिकारों से संपन्न एक महाराजा ने आदेश द्वारा ऐसा किया। लेकिन उस आदेश का वहां कैसा पालन हो रहा है? जो अभ्यावेदन प्राप्त हुए हैं, उनसे उन्हें विश्वास हो चला है कि उत्साह के पहले वेग के पश्चात हरिजनों ने मंदिर जाना बंद कर दिया है। हरिजनों को मंदिर-प्रवेश की अनुमति दिए जाने से पूर्व जो लोग पूजा-अर्चना के लिए जाया करते थे, वे अब पूजा-अर्चना के लिए मंदिरों में नहीं जाते। मैं सरकार से पूछना चाहूंगा कि क्या उक्त मंदिर-प्रवेश ट्रावनकोर में वास्तव में सफल रहा है।

विधेयक के तीसरे वाचन के समय सर टी. पन्नीरसेल्वम ने एक वक्तव्य दिया, जो निश्चय ही अनेक लोगों को अचरज-भरा लगा होगा। उन्होंने कहा था :

मैं जानना चाहूंगा कि क्या यह सच है कि बड़ी महारानी के निजी मंदिरों को उस उद्घोषणा से मुक्त रखा गया है। इसका क्या कारण है? मुझे ऐसा बताया गया है कि पुनः बड़ी महारानी की पुत्री के विवाहोत्सव पर मंदिर के शुद्धिकरण की आवश्यकता अनुभव की गई। यदि मंदिरों का ऐसा शुद्धिकरण हुआ तो उद्घोषणा का क्या हुआ?

इन तथ्यों को प्रधानमंत्री ने चुनौती नहीं दी। जाहिर है कि उन्हें चुनौती नहीं दी जा सकती। यदि वे अकाट्य हैं तो मलाबार मंदिर-प्रवेश संबंधी उद्घोषणा को आध्यात्मिक विधान न कहा जाए, यह बेहतर ही होगा।

मंदिर-प्रवेश संबंधी इस आंदोलन के बारे में कुछ अस्पृश्यों ने जो आशंका प्रकट की है, उसका उल्लेख किए बिना इस चर्चा को समाप्त करना उचित नहीं होगा। उनकी आशंका है कि वह मात्र समाज-सुधार का आंदोलन है या फिर रणनीति है?

राजनीति, शिक्षा और सेवाओं के मामले में अस्पृश्यों को जो विशेषाधिकार मिले हैं, उनका आधार यह तथ्य है कि वे अस्पृश्य हैं। यदि वे अस्पृश्य नहीं रहते तो इन विशेषाधिकारों की उनकी मांग को तुरंत चुनौती दी जा सकती है। यदि वे अस्पृश्य नहीं रहते तो वे केवल निर्धन और पिछड़े रह जाएंगे। लेकिन निर्धन एवं पिछड़े होने के नाते वे अस्पृश्यो की भांति किसी विशेषाधिकार के पात्र नहीं रह जाएंगे। मंदिर-प्रवेश के इन पक्षधरो की कूट योजना क्या है? क्या वह केवल मंदिरों के द्वार खोलने की है या उसका लक्ष्य है कि अंततः विशेषाधिकारों का हरण कर लिया जाए? अनेक मननशील अस्पृश्यों के मानस में यह आशंका बनी हुई है। यह आशंका वास्तविक आशंका है, यह बात स्वयं ट्रावनकोर के घटनाक्रम से स्पष्ट हो जाती है। मुझे अपने एक संवाददाता का दिनांक 24 नवंबर 1938 का पत्र प्राप्त हुआ है। वह अखिल ट्रावनकोर पुलयार चेरमार आयकिया महासंगम का प्रतिनिधि है। उसके पत्र का पूरा मूलपाठ में नीचे उद्धृत कर रहा हूं :

सेवा में
डा. अम्बेडकर,
बंबई

कैम्प माय्यनाड,
24-11-1938
क्विलोन।

माननीय महोदय,

मैं सहज प्रसन्नता से आपका ध्यान निम्न तथ्यों की ओर दिलाना चाहता हूं और आपसे मूल्यवान परामर्श प्राप्त करना चाहता हूं। देशी ट्रावनकोर राज्य में हरिजन समुदाय का नेता होने के नाते यह मेरा परम कर्तव्य है कि निश्चय

ही उन सभी कष्टों की शिकायतें आपकी सेवा में प्रस्तुत कर दूं, जो इस राज्य के हरिजन भोग रहे हैं।

1. महामहिम महाराजा द्वारा जारी की गई उद्घोषणा हरिजनों के लिए वास्तव में एक वरदान है, लेकिन मंदिर-प्रवेश के अलावा अन्य सभी सामाजिक असुविधाएं हरिजन झेल रहे हैं। यह उद्घोषणा हमें और रियायतें दिए जाने के मार्ग में एक बाधा है। सरकार हरिजनों की दशा सुधारने के लिए कोई कदम नहीं उठाती है।

2. पद्रंह लाख हरिजनों में से कुछ ग्रेजुएट हैं, आधे दर्जन अंडर-ग्रेजुएट हैं। पचास ने स्कूली शिक्षा पूरी कर ली है और दो सौ से अधिक के पास वर्नाक्यूलर प्रमाण-पत्र हैं। हालांकि सरकार ने लोक सेवा आयोग की नियुक्ति कर दी है, लेकिन हरिजनों की नियुक्तियां नगण्य हैं। हरिजनों की नियुक्ति एक-दो सप्ताह के लिए की जाती है। लोक सेवा भर्ती के नियमों के अनुसार प्रार्थी पुनः आवेदन एक वर्ष के बाद ही कर सकता है, जब कि सवर्ण को एक वर्ष या उससे अधिक समय के लिए नियुक्त किया जाएगा। जब विधान सभा के समक्ष नियुक्तियों की सूची लाई जाती है तो नियुक्तियों की संख्या सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व के बराबर होगी, लेकिन सभी हरिजनों के पद की अवधि एक सवर्ण के पद की अवधि के बराबर होगी। अधिकारी वर्ग इस प्रकार की धांधली कर रहा है। इस प्रकार लोक सेवा सवर्णों की सांझी संपत्ति है। किसी हरिजन को उसका लाभ नहीं मिलता।

3. कुछ वर्ष पूर्व महामहिम महाराजा ने उद्घोषणा की थी कि हर हरिजन को गुजर-बसर के लिए तीन एकड़ भूमि दी जाए, लेकिन अधिकारी तो सवर्ण हैं और वे सदा ही उद्घोषणा का पालन करने से कतराते रहते हैं। यद्यपि सरकार चाहती है कि नगरों के निकट पशु चराने के लिए काफी भूमि दी जाए, लेकिन हरिजनों को जमीन का एक टुकड़ा भी नहीं दिया गया है। हरिजन अब भी सवर्णों के अहातों में रह रहे हैं और अनेकानेक कष्ट भोग रहे हैं। यद्यपि काफी भूमि 'आरक्षित' खाते में पड़ी हुई है, पर भूमि के आवंटन के लिए हरिजनों के आवेदन-पत्रों को न तो महत्व दिया जाता है और न ही उनकी सुनवाई होती है। अधिकांश भू-भागों का लाभ सवर्ण उठाते हैं।

4. सरकार प्रत्येक हरिजन समुदाय से एक सदस्य को प्रतिवर्ष असेंबली की सदस्यता के लिए मनोनीत करती है। यद्यपि उन्हें असेंबली के सामने हरिजनों की शिकायतें प्रस्तुत करने के लिए मनोनीत किया जाता है, पर

वे तो सरकारी तंत्र के कलपुर्जे, यानी सवर्ण अधिकारियों के खिलौने भर रह जाते हैं। सवर्ण अधिकारी उनसे लाभ उठाते हैं। इस प्रकार हरिजनों की शिकायतों को दूर नहीं किया जा सकता।

5. ट्रावनकोर के सभी हरिजन खेतों और अहातों में मजूरी करते हैं। वे सवर्णों के सेवक हैं। सवर्ण उनसे पशुओं जैसा व्यवहार करते हैं। कौन उनकी देखभाल या रक्षा करेगा? राज्य के अधिकांश भागों में हर हरिजन को मजूरी के रूप में केवल एक 'आना' मिलता है। मंदिर-प्रवेश के बाद भी उनकी सामाजिक असुविधाएं ज्यों-की-त्यों हैं। देशी राज्य ट्रावनकोर के विभिन्न भागों में फैक्टरियों के सभी श्रमिक तथा राज्य के सभी अधिकारी सवर्ण हैं और आजकल वे उत्तरदायी सरकार के लिए आंदोलन कर रहे हैं। अब हरिजन भी सरकार तथा फैक्टरियों में नौकरी की मांग कर रहे हैं, लेकिन ट्रावनकोर का आंदोलन सवर्णों का आंदोलन है। उसके माध्यम से सवर्ण ऐसी व्यवस्था कर रहे हैं कि लोक सेवा और फैक्टरियों में हरिजन आने ही न पाएं। वे उच्च वेतन तथा अधिक विशेषाधिकारों की मांग कर रहे हैं। हरिजन मजदूरों की ओर वे तनिक भी ध्यान नहीं देते, जब कि ट्रावनकोर की जनता फैक्टरी-श्रमिकों के आंदोलन की दीवानी हो गई है। हरिजन श्रमिक के वेतन का स्तर बहुत घटिया है और फैक्टरी-श्रमिक के वेतन का स्तर उससे तिगुना है।

6. भूखे रहने और जीविका के समुचित साधनों के अभाव के कारण हरिजनों के बच्चों के दिमाग कुंठित हो जाते हैं। उसके कारण वे स्कूल में फेल हो सकते हैं। उद्‌घोषणा से पूर्व हाई स्कूलों में रियायत की अवधि छह वर्ष थी, लेकिन अब उस अवधि को घटाकर तीन वर्ष कर दिया गया है। उसके फलस्वरूप काफी छात्रों ने फेल हो जाने के बाद पढ़ना-लिखना छोड़ दिया है।

7. दलित वर्गों के लिए एक विभाग है। उसके अध्यक्ष (पिछड़े समुदायों के संरक्षक) श्री सी. ओ. दामोदरन हैं। हालांकि व्यय के लिए प्रति वर्ष विशाल राशि दी जाती है, पर वर्ष के अंत में राशि का दो-तिहाई अंश हेराफेरी के कारण गतावधि हो जाता है। वह सरकार को यह रिपोर्ट भेज दिया करते हैं कि राशि को खर्च करने का कोई उपाय नहीं है। दलित वर्गों के लिए आवंटित राशि का 95 प्रतिशत अंश उन अधिकारियों के वेतन के रूप में खर्च हो जाता है, जो कि सदा सवर्ण ही होते हैं। केवल पांच प्रतिशत का उपयोग किया जाता है। अब सरकार ट्रावनकोर के तीन भागों में कुछ बस्तियां बसाएगी। यह कार्य सवर्ण अधिकारी करेंगे। मेरी

राय में योजना सफल नहीं होगी, क्योंकि सरकार इसके लिए अधिक पैसा नहीं देती। मुझे खेद है कि जहां ट्रावनकोर सरकार हरिजनों के हित के लिए एक 'आना' खर्च करती है, वहां कोचीन का देशी राज्य उसी के लिए एक रुपया खर्च करता है।

इस समय ट्रावनकोर के अधिकांश प्रजा-जन 'राज्य कांग्रेस' नामक संगठन के अधीन उत्तरदायी सरकार के लिए जोर-शोर से आंदोलन कर रहे हैं। इस जन-संगठन के नेता राज्य के चार प्रमुख समुदायों के हैं। वे हैं नायर, मुसलमान, ईसाई और एजावा। राज्य कांग्रेस के अध्यक्ष श्री तानु पिल्लै ने एक वक्तव्य जारी किया है। इसमें उन्होंने इस बात पर जोर दिया है कि दलित वर्गों को विशेष रियायतें दी जाएंगी। दलित वर्ग के सभी नेता उस समय की प्रतीक्षा कर रहे हैं, जब वे राज्य कांग्रेस के रवैए पर अमल होता हुआ देखें। अब हमें लगने लगा है कि इन नेताओं के वायदे खोखले हैं।

अब मुझे विश्वास हो चला है कि इन नेताओं ने दलित वर्ग के हितों की उपेक्षा की है। राज्य कांगेस का गठन राष्ट्रवाद के सिद्धांतों पर किया गया था, पर अब वह सांप्रदायवादी संगठन बन गया है। नेताओं के मन में सांप्रदायिकता ने घर कर लिया है। हर सार्वजनिक भाषण, वक्तव्य और लेख में ये नेता केवल इन चार प्रमुख समुदायों का उल्लेख करते हैं और हमारी बिल्कुल भी परवाह नहीं करते।

मुझे आशंका है कि यदि ट्रावनकोर के राजनीतिक आंदोलन के नेताओं का यही हाल रहा तो उत्तरदायी सरकार बन जाने पर तो दलित वर्गों की हालत और भी दयनीय हो जाएगी, क्योंकि उस समय तो सरकार की बागडोर पूरी तरह उक्त समुदायों के हाथों में आ जाएगी और वे दलित वर्गों के अधिकारों तथा विशेषाधिकारों को हड़प कर जाएंगे।

राज्य कांग्रेस की कार्यकारिणी की बैठकों के दो-तिहाई समय में अलेप्पी नारियल जूट फैक्टरियों की हड़ताल की चर्चा होती रही, पर उनमें उन हरिजन श्रमिकों के बारे में कोई चर्चा नहीं की गई, जो अनेकानेक कठिनाइयों को झेल रहे हैं। फैक्टरियों के श्रमिक सवर्ण हैं और उत्तरदायी सरकार प्राप्त करने का आंदोलन एक प्रकार से हरिजन-विरोधी आंदोलन है। राज्य कांग्रेस के हर नेता का उद्देश्य सवर्णों की दशा सुधारने का है। प्रमुख समुदायों के नेताओं का रवैया कुछ-कुछ स्वार्थ लोलुपता का है और वे अपनी उन्नति के लिए दलित वर्गों के हितों की बलि चढ़ा देंगे।

यह दुर्दशा है, राज्य के दलित वर्ग की। वे कौन से उपाय हैं, जिनके द्वारा हम राज्य के अपने अधिकार प्राप्त कर सकें? मेरा विनम्र निवेदन है

कि आप कृपया इस अवसर पर अपना परामर्श दें। उत्तर की प्रतीक्षा में। कष्ट के लिए क्षमा करें।

भवदीय,

श्रीनारायण स्वामी

यदि अंततः मंदिर-प्रवेश की योजना का उद्देश्य अस्पृश्यों को उनके संवैधानिक अधिकारों से वंचित करना है, तो यह आंदोलन न केवल अध्यात्म के प्रति द्रोह है, अपितु निश्चित रूप से कुचेष्टापूर्ण भी है। अतः सभी ईमानदार लोगों का अस्पृश्यों को यह चेतावनी देना कर्तव्य होगा, 'गांधी से सावधान रहो।'

12

अस्पृश्यों को चेतावनी

दुनिया के सभी देशों के निर्धनों के लिए यह स्वाभाविक ही है कि वे सुस्थापित व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह एवं विप्लव करें। उनके इतिहास का अध्येता उनके इस विचार से प्रभावित हुए बिना नहीं रहेगा कि उन्हें किस प्रकार विजय प्राप्त होगी। धर्मपरायण युग में निर्धन इस आशा पर जीवित रहते थे कि अंततः आध्यात्मिक शक्तियां विनम्रों को पृथ्वी पर उनका उत्तराधिकार दिलाएंगी। धर्मनिरपेक्ष युग में जिसे अन्यथा आधुनिक युग कहते हैं, निर्धन इस आशा पर जीवित रहते हैं कि ऐतिहासिक भौतिकवाद की शक्तियां स्वतः बलवान से उसका बल छीन लेंगी और उनके स्थान पर निर्धनों को बिठा देंगी।

इस मनोविज्ञान की दृष्टि से जब हम हिंदू समाज-व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोहियों की भूमिका में अस्पृश्यों की कल्पना करने लगते हैं तो हमारा मन उन्हें उनकी इस अनुभूति के लिए बधाई देना चाहता है कि न तो आध्यात्मिक शक्तियां और न ही ऐतिहासिक शक्तियां सतयुग ला पाएंगी। वे भली-भांति जानते हैं कि यदि हिंदू समाज-व्यवस्था धराशाही हो सकती है तो वह केवल दो दशाओं में हो सकती है। एक तो यह कि उस पर लगातार प्रहार होता ही रहना चाहिए। दूसरी यह कि वे उस पर लगातार प्रहार तभी कर सकते हैं, जब वे विचार तथा कार्य में हिंदुओं के बंधन से मुक्त हों। इसी कारण अस्पृश्य आग्रह कर रहे हैं कि उनके लिए पृथक निर्वाचक-मंडलों और पृथक बंदोबस्तों की व्यवस्था हो।

दूसरी ओर हिंदू यह बता रहे हैं कि अस्पृश्य अपनी मुक्ति के लिए हिंदुओं पर निर्भर करें। अस्पृश्यों से कहा जा रहा है कि शिक्षा के सामान्य प्रसार से हिंदू तर्कसंगत ढंग से आचरण करने लगेंगे। अस्पृश्यों से कहा जा रहा है कि अस्पृश्यता के विरुद्ध सुधारकों के सतत् प्रचार से निश्चय ही हिंदुओं का नैतिक कायाकल्प हो जाएगा और उनकी अंतरात्मा जाग जाएगी। अतः अस्पृश्यों को हिंदुओं की सदभावना और कर्तव्य-परायणता पर भरोसा करना चाहिए। इस बात पर कोई भी अस्पृश्य विश्वास नहीं करता। यदि ऐसा करने वाले कोई हैं तो वे

पाखंडी हैं और हिंदुओं की हां में हां मिलाने के लिए तैयार हैं, ताकि हिंदुओं की अनुकंपा से वे अस्पृश्यों के लिए आरक्षित सीटें हथिया सकें। वे अस्पृश्यों के ऐसे परभक्षी गिरोह हैं, जो किसी भी सुलभ साधन से स्वयं को समृद्ध करना चाहते हैं।

अस्पृश्य ऐसी झूठी आशाओं और झूठे प्रचार के बहकावे में नहीं आते। अतः इस पर टिप्पणी करना जरूरी है। साथ ही यह प्रचार इतना लुभावना है कि असावधान अस्पृश्यों को पथभ्रष्ट करके उन्हें अपने जाल में फांस सकता है। अतः अस्पृश्यों को चेतावनी देना जरूरी है।

सामाजिक न्याय प्राप्त करने के लिए सामाजिक आदर्शवादी दो एजेंसियों पर भरोसा करते हैं। एक है बुद्धि और दूसरी है धर्म।

बुद्धि को अपना मिशन मानने वाले बुद्धिवादियों का विचार है कि बौद्धिक शक्ति को बढ़ाकर अन्याय को मिटाया जा सकता है। मध्य-युग में सामाजिक अन्याय और अंधविश्वास का एक-दूसरे से गहरा नाता था। बुद्धिवादियों की यह सोच स्वाभाविक है कि अंधविश्वास को मिटाने से अन्याय मिट ही जाएगा। परिणामों ने इस विश्वास को पक्का किया है। आज तो शिक्षाविदों, दार्शनिकों, मनोवैज्ञानिकों तथा समाज-विज्ञानियों का यह सिद्धांत बन गया है कि व्यापक शिक्षा तथा मुद्रण और प्रेस के विकास से एक आदर्श समाज की स्थापना हो जाएगी। उसमें हर व्यक्ति इतना जागृत हो जाएगा कि वहां सामाजिक अन्याय होगा ही नहीं।

इतिहास, चाहे भारत का हो या यूरोप का, इस सिद्धांत को पूर्ण समर्थन प्रदान नहीं करता। यूरोप में ऐसी पुरानी परंपराओं तथा अंधविश्वासों का खात्मा हो गया है, जो 18वीं सदी में अन्याय के मूलाधार लगते थे। फिर भी सामाजिक अन्याय का बोलबाला है और सदा ही तथा शीघ्र ही पनपता रहा है। स्वयं भारत में ही समूची ब्राह्मण जाति, उसके पुरुष-स्त्री और बच्चे शिक्षित हैं। लेकिन ऐसे कितने ब्राह्मण हैं, जो अस्पृश्यता की धारणा से मुक्त हैं? उनमें से ऐसे कितने हैं, जो अस्पृश्यता के खिलाफ जेहाद छेड़ने के लिए आगे आए हैं? उनमें से कितने अन्याय के विरुद्ध अस्पृश्यों के संघर्ष में उनका साथ देने के लिए तैयार हैं? संक्षेप में, कितने ब्राह्मण हैं, जो अस्पृश्यों के ध्येय को अपना ध्येय बनाने के लिए तैयार हैं? संख्या नगण्य होगी।

क्या कारण है कि बुद्धि सामाजिक न्याय नहीं ला सकती? उत्तर है कि बुद्धि तभी तक काम करती है, जब तक कि किसी के निहित स्वार्थों से उसका टकराव नहीं होता। जहां वह निहित स्वार्थों से टकराती है, वहां वह निष्फल हो जाती है। अस्पृश्यता में अनेक हिंदुओं का निहित स्वार्थ होता है। वह निहित स्वार्थ

सामाजिक उच्चता का रूप धारण कर सकता है या बेगार और सस्ती मजूरी जैसे आर्थिक शोषण का रूप धारण कर सकता है। अतः यह तथ्य है कि अस्पृश्यता में हिंदुओं का निहित स्वार्थ है। यह स्वाभाविक ही है कि निहित स्वार्थ बुद्धि के आदेश को नहीं मानता। अतः अस्पृश्यों को यह समझ लेना चाहिए कि बौद्धिक कर्म की सीमाएं हैं।

धार्मिक प्रभाव में आस्था रखने वाले नैतिकतावादियों का आग्रह है कि मानव के मानस में धर्म जो नैतिक अंतरदृष्टि रोपता है, वह उसे उसके निजी कर्मों के पाप-भाव का और उसके द्वारा अपने बंधुओं के प्रति कर्तव्य का बोध कराती है। कोई भी इस बात का खंडन नहीं कर सकता कि धर्म का वह कर्म है और किसी हद तक धर्म उस ध्येय में सफल हो सकता है। लेकिन यहां भी धार्मिक क्षमता की सीमाए हैं। धर्म एक समुदाय के भीतर ही न्याय-भाव पैदा कर सकता है। धर्म समुदायों के बीच न्याय-भाव पैदा नहीं कर सकता। बहरहाल, धर्म अमरीका में नीग्रो लोगों और श्वेतों के बीच न्याय-भाव पैदा नहीं कर सका। वह जर्मनों और फ्रांसीसियों के बीच और उनके तथा अन्य राष्ट्रों के बीच न्याय-भाव पैदा नहीं कर सका। राष्ट्र की पुकार, समुदाय की पुकार, न्याय के लिए धर्म की पुकार से अधिक बलवान सिद्ध हुई है।

अस्पृश्यों को दो बातें ध्यान में रखनी चाहिएं। एक, यह आशा करना व्यर्थ है कि हिंदू धर्म सामाजिक न्याय लाने के मिशन को पूरा कर सकेगा। हो सकता है कि इस्लाम, ईसाई और बौद्ध धर्म इस महान कार्य को कर सकें। हिंदू धर्म तो अस्पृश्यों के प्रति विषमता और अन्याय का जीता-जागता नमूना है। उसके लिए तो न्याय के सिद्धांत का प्रचार करना अपने पैरों पर कुल्हाड़ी चलाना है। उससे यह आशा करना मृगतृष्णा जैसी ही है। यदि मान भी लें कि हिंदू धर्म में इस कार्य को करने की पात्रता है, तो भी यह संभव नहीं है कि वह इस कार्य को पूरा कर सके। हिंदुओं और उनके परिजनों के बीच जो सामाजिक खाई है, उससे कहीं चौड़ी खाई अस्पृश्यों और उनके बीच है। धर्म किसी समुदाय अथवा राष्ट्र के भीतर कितना भी प्रभावशाली क्यों न हो, पर वह इन खाइयों को पाटकर उन्हें एक पूर्ण इकाई बनाने में नितांत अक्षम है।

बुद्धि और धर्म की इन एजेंसियों के अलावा अस्पृश्यों से यह भी कहा जाता है कि वे विशेषाधिकार प्राप्त हिंदुओं के उच्चादर्शों से मंडित स्वार्थों तथा हिंदू 'सर्वहारा' के भाईचारे पर भरोसा करें।

जहां तक विशेषाधिकार प्राप्त वर्गों का संबंध है, उदार निरंकुशों से अधिक के लिए सहमत होना उनकी दृष्टि में गलत ही होगा। उनके अपने वर्ग हित हैं और उनसे आशा नहीं की जा सकती कि सामान्य हितों अथवा सार्वजनिक हितों

पर वे उन्हें कुर्बान कर दें। इसके विपरीत उनका सतत् प्रयास रहता है कि वे अपने वर्ग हितों पर सामान्य हितों का ठप्पा लगा सकें और यह धारणा उत्पन्न कर सकें कि उनके विशेषाधिकार तो उनके लिए ऐसे न्यायोचित प्रतिदान हैं, जो समाज विशेष उपयोगी तथा उल्लेखनीय कारनामों के लिए पुरस्कार के रूप में देता है। अस्पृश्यों के लिए उनकी संगत शोचनीय रही है। हिंदुओं के साथ उनके टकराव के दौरान उन्हें ऐसी ही अनुभूति हुई है।

अस्पृश्यों के लिए यह आशा भी व्यर्थ की आशा है कि हिंदू सर्वहारा उनका मददगार होगा। भारतीय कम्युनिस्टों की यह अपील कि अस्पृश्य लोग हिंदू सर्वहारा के साथ एकजुट हो जाएं, निश्चय ही इस धारणा पर आधारित है कि सर्वहारा अपने लिए वैसे लाभ प्राप्त नहीं करना चाहता, जिन्हें वह दूसरों के साथ न बांट सकें। लेकिन क्या यह सच है? यूरोप में भी सर्वहारा समरूप वर्ग नहीं है। वहां भी उच्च वर्ग और निम्न वर्ग का भेदभाव है। यह भाव सामाजिक परिवर्तन के प्रति उनके दृष्टिकोण में नजर आता है। उनके अनुसार सुधारवादी ऊंचे वर्ग के होते हैं और क्रांतिवादी नीचे वर्ग के। अतः यह धारणा सच नहीं है। जहां तक भारत का संबंध है, यह निश्चय ही असत्य है। सांझे मोर्चे के लिए अति अल्प गुंजाइश है। सामाजिक स्तर पर निश्चय ही उनके बीच मनमुटाव होगा। आर्थिक स्तर पर भी गठबंधन के लिए अधिक गुंजाइश नहीं हो सकती।

अनिवार्यतः अस्पृश्यों को क्या प्रयास करना चाहिए? दो बातों के लिए उन्हें प्रयास करना ही होगा, और वे हैं शिक्षा और ज्ञान का प्रसार। विशेषाधिकार प्राप्त वर्गों की शक्ति उस झूठ की बैसाखी पर टिकी रहती है, जिसका प्रचार-प्रसार वे बड़ी लगन व जतन से करते हैं। जब तक शक्ति को मान्यता प्रदान करने वाले झूठ को सच स्वीकार कर लिया जाएगा, तब तक शक्ति का प्रतिरोध नहीं किया जा सकता। जब तक बचाव के सर्वोपरि तथा प्रमुख कवच झूठ का भांडा नहीं फोड़ा जाएगा, तब तक कोई विद्रोह हो ही नहीं सकता। इससे पूर्व कि किसी अंन्याय, किसी कुरीति या दमन का प्रतिरोध किया जा सके, यह अति आवश्यक है कि उसके मूलाधार झूठ को बेनकाब करके उसे भलीभाति पहचान लिया जाए। यह केवल शिक्षा के द्वारा ही हो सकता है।

दूसरे, उन्हें शक्ति के लिए प्रयास करना ही होगा। इसे याद रखना ही होगा कि हिंदुओं और अस्पृश्यों के हितों के बीच वास्तव में टकराव है, और भले ही बुद्धि टकराव का शमन कर सके, पर वह कभी भी ऐसे टकराव की आवश्यकता को अनावश्यक नही बना सकती। शक्ति ही एक हित को दूसरे हित से प्रबल बनाती है। ऐसी दशा में शक्ति को नष्ट करने के लिए शक्ति चाहिए। यह समस्या उत्पन्न हो सकती है कि किस प्रकार शक्ति के उपयोग को नैतिकता के अनुकूल

बनाया जाए, लेकिन यह निर्विवाद है कि यदि एक पक्ष के पास शक्ति न हो तो दूसरे पक्ष की शक्ति को नष्ट नहीं किया जा सकता। शक्ति या तो आर्थिक होती है या फिर राजनीतिक। सैन्य-शक्ति आज के युग में शक्ति नहीं मानी जाती, क्योंकि वह बंधनमुक्त शक्ति नहीं है। श्रमिक वर्ग की आर्थिक शक्ति हड़ताल में निहित होती है। श्रमिक वर्ग के अंग के रूप में अस्पृश्यों के पास और कोई आर्थिक शक्ति नहीं हो सकती। ऐसी स्थिति में यह शक्ति श्रमिक वर्ग के हितों की रक्षा के लिए पर्याप्त नहीं है। उसे विधान द्वारा कुंठित किया जाता है और निषेधाज्ञा, पंच-फैसले, मार्शल-ला और सैन्य-बल प्रयोग के शिकंजे में कसा जाता है। अस्पृश्यों की प्रहार (हड़ताल) करने की शक्ति बहुत ही अपर्याप्त है।

अतः इस बात की पूर्ण आवश्यकता है कि अस्पृश्य यथासंभव अधिक-से-अधिक राजनीतिक शक्ति प्राप्त करें। सामाजिक तथा आर्थिक दृष्टि से उनकी शक्ति की निरंतर ह्रासमान अपर्याप्तता को देखते हुए वे कदापि अत्यधिक राजनीतिक शक्ति प्राप्त नहीं कर सकते। जो भी राजनीतिक शक्ति वे प्राप्त करेंगे, वह हिंदुओं की सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक शक्ति के विशाल भंडार को देखते हुए सदा ही अति अल्प होगी।

अस्पृश्य को सदैव स्मरण रखना होगा कि उसकी राजनीतिक शक्ति, भले ही कितनी विशाल हो, किसी काम की नहीं होगी, यदि विधान-मंडल में प्रतिनिधित्व के लिए वह हिंदुओं का मुंह ताकेगी। हिंदुओं के राजनीतिक जीवन के आधार तो ऐसे आर्थिक तथा सामाजिक हित हैं, जो अस्पृश्यों के हितों के सर्वथा प्रतिकूल हैं।

सभ्यता एक वरदान है। वह मानव व प्रकृति, कला के कौशल के ज्ञान का संचित भंडार है। वह एक नैतिक संहिता है, जो अपने साथियों के प्रति मानव के आचरण को विनियमित करती है। वह एक सामाजिक संहिता है, जो प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा पालन किए जाने वाले नियमों-विनियमों की व्यवस्था करती है। वह एक नागरिक संहिता है, जो शासक तथा शासित के अधिकारों तथा कर्तव्यों का प्रावधान करती है।

- भीमराव अम्बेडकर

III

धार्मिक

डा. अम्बेडकर की एक योजना है—'अस्पृश्यों का धर्म-परिवर्तन'। इस योजना में निम्न अध्याय शामिल हैं : (1) हिंदू धर्म, प्रचारक धर्म के रूप में, (2) अस्पृश्यों का ईसाईकरण, (3) धर्म-परिवर्तन करने वाले की स्थिति, (4) शाश्वत सत्य, और (5) अस्पृश्य और उनकी नियति।

मूल अंग्रेजी में इन निबंधों में से क्रम संख्या 2 और 3 श्री एस.एस. रेगे से प्राप्त हुए हैं। क्रम संख्या 1 'जातिप्रथा और धर्म-परिवर्तन' शीर्षक के अंतर्गत मूल अंग्रेजी में उपलब्ध सामग्री में पाया गया है। मूलतः इसका प्रकाशन नवंबर 1926 के 'तेलुगु समाचार विशेषांक' में हुआ था। अस्पृश्यों के धर्म-परिवर्तन से ही संबंधित 'अवे फ्राम दि हिंदूज' (हिंदुओं से अलगाव) नामक मूल अंग्रेजी में एक और टंकित निबंध पाया गया है और उसे इस पुस्तक में स्थान दिया गया है। उक्त योजना में उल्लिखित अन्य निबंधों का पता नहीं चल सका है—संपादक।

13

हिंदुओं से अलगाव

अपनी समस्या के प्रति जागरूक अधिसंख्य अस्पृश्यों का विचार है कि उनके पास अस्पृश्यों की समस्या को हल करने का एक उपाय यह है कि वे हिंदू धर्म को तिलांजलि दे दें और किसी अन्य धर्म को ग्रहण कर लें। 31 मई 1936 को बंबई में महारों का जो सम्मेलन हुआ था, उसमें सर्व-सम्मति से इस आशय का संकल्प पारित किया गया था। हालांकि सम्मेलन केवल महारों का सम्मेलन[1] था, फिर भी संकल्प को भारत-भर के अस्पृश्यों के एक अति विशाल समुदाय का समर्थन प्राप्त था। किसी भी संकल्प ने इतनी हलचल पैदा नहीं की थी। हिंदू जाति की जड़ें ही हिल गई थीं। इस आंदोलन के कर्णधार अस्पृश्यों को गालियां दी गईं, उन्हें कोसा गया और धमकियां दी गईं।

अस्पृश्यों के धर्म-परिवर्तन का विरोध करने वालों ने चार प्रमुख आपत्तियां की हैं :

(1) धर्म परिवर्तन से अस्पृश्यों को क्या लाभ हो सकता है? धर्म-परिवर्तन से अस्पृश्यों की स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हो सकता।

(2) सभी धर्म सच्चे हैं, सभी धर्म अच्छे हैं। धर्म-परिवर्तन निरर्थक है।

(3) अस्पृश्यों के धर्म-परिवर्तन पर राजनीति का रंग चढ़ा हुआ है।

(4) अस्पृश्यों के धर्म-परिवर्तन में खोट है, क्योंकि उसके मूल में आस्था नहीं है।

यह सिद्ध करने के लिए अधिक तर्क की जरूरत नहीं है कि आपत्तियां बचकाना और बेसिरपैर की हैं।

सबसे पहले अंतिम आपत्ति पर विचार करें। इतिहास में ऐसी घटनाओं की कमी नहीं है, जहां किसी धार्मिक ध्येय के बिना धर्मांतरण हुआ है। क्लोविस और उसकी प्रजा ने जब ईसाई धर्म ग्रहण किया तो उसका क्या स्वरूप था? ईथेलबर्ट

1. सम्मेलन केवल महारों का था, क्योंकि मंशा यह थी कि समुदायवार भावना की तीव्रता को परखा जाए और हर समुदाय की आवाज को ग्रहण किया जाए।

और उसकी प्रजा ईसाई कैसे बनी? नए धर्म को अंगीकार करने के पीछे क्या उनका कोई धार्मिक ध्येय था? ईसाई धर्म-परिवर्तन का विचार प्रकट करते हुए श्रद्धेय रीशेल कहते हैं[1] :

यूरोप की एक के बाद दूसरी जातियों ने ईसाई धर्म को अंगीकार किया है। देखा गया है कि उनका धर्म-परिवर्तन सदैव ऊपर से शुरू हुआ है, नीचे से कदापि नहीं। पहले क्लोविस ने रेमिगियस के आगे घुटने टेके और तुरंत उसके बाद तीन हजार फ्रेंकों की ईसाई धर्म में दीक्षा हुई। ईथेलबर्ट ने आगस्टीन के मिशन के आगे घुटने टेके और उसके तुरंत बाद समूचे कैंट ने उनके उदाहरण का अनुसरण किया। जब उनके पुत्र ईयडबाल्ड ने स्व-धर्म का परित्याग किया तो उनके साथ-साथ कैंट के लोगों ने भी स्व-धर्म का परित्याग कर दिया। राजा सिगेबर्ट के धर्म-परिवर्तन से एसेक्स पर अंतिम विजय प्राप्त कर ली गई। यह राजा एक अन्य राजा ओस्वी के प्रभाव में आकर स्वयं ईसाई धर्म में दीक्षा लेता है। नार्थम्बरलैंड पर अस्थाई प्रभुत्व उसके राजा एडविन के धर्म-परिवर्तन से प्राप्त किया गया, लेकिन एडविन की मौत के साथ ही वह समाप्त हो गया। उसने पुनः ईसाई धर्म को स्वीकार किया, जब एक अन्य राजा ओस्वाल्ड ने उसके प्रसार को बढ़ावा दिया। जर्मनी के धर्म-परिवर्तन में बोनीफेस नामक बिशप ने देश के चार्ल्स मार्टेल और पेपिन नामक राजकुमारों के निकट सहयोग से प्रमुख भूमिका अदा की। पेपिन ने अपने संरक्षण के बदले में अनधिकार हड़प-घड़प के हिंसात्मक कर्म के लिए चर्च की मान्यता प्राप्त की। डेनमार्क पर प्रभुत्व हेराल्ड क्रेग, हेराल्ड ब्लैस्टेंड और कैन्यूट नामक उसके राजाओं के धर्म-परिवर्तन से स्थापित किया गया। स्वीडन पर प्रभुत्व उसके दो ओलोफों के धर्म-परिवर्तन से और रूस पर उसके राजा व्लादीमिर के धर्म-परिवर्तन से जमाया गया। सर्वत्र ईसाई धर्म ने पहले-पहल उसके राजाओं और राजकुमारों को संबोधित किया। सर्वत्र बिशप और मठाधीश उसके एकमात्र प्रतिनिधि दीख पड़ते हैं।

इतना ही नहीं, एक बार जब राजा का धर्म-परिवर्तन कर लिया गया तो मध्ययुगीन मिशनरियों का मार्ग निष्कंटक हो गया और उन्होंने अंधाधुंध तरीके से उसके प्रजा-जनों को ईसाई धर्म में दीक्षित कर दिया। अपने राजा क्लोविस के उदाहरण का अनुसरण करने वाले तीन हजार योद्धाओं का तुरंत पवित्रीकरण कर दिया गया। राजकुमार के धर्म-परिवर्तन के बाद ईथेलबर्ट के प्रजा-जनों को भारी संख्या में ईसाई धर्म में दीक्षित कर दिया गया। तब न कोई तैयारी थी और न ही कोई अनुदेश। केवल जर्मनों ने दूसरों का अनुसरण करने में अधिक जल्दबाजी नहीं की। रूस में व्लादीमिर के ईसाई धर्म में

1. *दि सी आफ रोम*, पृ. 143-45

दीक्षित होने के बाद ईसाई बनने के लिए इतनी भीड़ जमा हो गई कि एक बार में सैकड़ों लोगों को संस्कार की शपथ दिलाई गई।

इतिहास गवाह है कि मजबूरी या धोखाधड़ी के कारण धर्म-परिवर्तन हुए हैं।

आज धर्म पैतृक संपत्ति का अंश हो गया है। विरासत की भांति ही वह पिता से पुत्र को मिलता जाता है। ऐसे धर्म के परिवर्तन में क्या अनौचित्य है? अस्पृश्य यदि धर्म-परिवर्तन करेंगे ही, तो धर्म-मूल्य और विभिन्न धर्मों के सद्‌गुण पक्ष पर पूर्णतया विचार करके करेंगे। कैसे कहा जा सकता है कि ऐसा धर्म-परिवर्तन समुचित धर्म-परिवर्तन नहीं है? इसके विपरीत वह तो समुचित धर्म-परिवर्तन के इतिहास की प्रथम घटना होगी। अतः यह समझ में नहीं आता कि अस्पृश्यों के धर्म-परिवर्तन पर किसी प्रकार की शंका क्यों की जाए।

तीसरी आपत्ति बेतुकी है। किसी ने भी यह स्पष्ट नहीं किया है कि धर्म-परिवर्तन के कारण अस्पृश्यों को कौन-सा राजनीतिक लाभ मिलेगा। यदि कोई राजनीतिक लाभ है भी तो किसी ने भी यह सिद्ध नहीं किया है कि धर्म-परिवर्तन के लिए यह सीधा लालच है।

लगता है कि धर्म-परिवर्तन का विरोध करने वालों को इतनी भी जानकारी नहीं है कि दो प्रकार के लाभों में भेद करना होगा। एक लाभ तो वह है जो धर्म-परिवर्तन के लिए सीधे लालच से होता है और दूसरा लाभ वह है जो केवल संयोग से होता है। यह नहीं कहा जा सकता है कि इन दो भेदों में अंतर नहीं है। हो सकता है कि धर्म-परिवर्तन के कारण अस्पृश्यों को कोई राजनीतिक लाभ मिल जाए। जहां लाभ सीधे लालच से हो, केवल उसी दशा में धर्म-परिवर्तन को अनैतिक अथवा आपराधिक ठहराया जा सकता है। अतः जब तक धर्म-परिवर्तन के विरोधी यह सिद्ध न कर दें कि अस्पृश्यों द्वारा अपेक्षित धर्म-परिवर्तन केवल राजनीतिक लाभ के लिए है, तब तक उनका आरोप निराधार है। यदि राजनीतिक लाभ केवल संयोगी लाभ है, तो धर्म-परिवर्तन में कुछ अनैतिकता नहीं है। फिर भी असलियत यह है कि धर्म-परिवर्तन से अस्पृश्यों को कोई नया राजनीतिक लाभ नहीं मिल सकता। भारत की संविधान-व्यवस्था के अनुसार हर धार्मिक संप्रदाय को पृथक राजनीतिक संरक्षण का अधिकार प्राप्त है। वर्तमान परिस्थिति में अस्पृश्यों को मुस्लिमों और ईसाइयों जैसे ही राजनीतिक अधिकार प्राप्त हैं। यदि वे अपना धर्म-परिवर्तन करते हैं तो उससे उनके लिए किन्हीं नए राजनीतिक अधिकारों का सृजन नहीं हो जाएगा। यदि वे धर्म-परिवर्तन नहीं करते, तो उनके वर्तमान राजनीतिक अधिकार ही बने रहेंगे। धर्म-परिवर्तन का राजनीतिक लाभ से कोई वास्ता नहीं है। यह आरोप मिथ्या है, जो बिना सोचे-समझे लगाया गया है।

दूसरी आपत्ति इस तर्क पर आधारित है कि सभी धर्म एक ही बात कहते

हैं। इस तर्क से यह निष्कर्ष निकाला गया है कि चूंकि सभी धर्म एक ही बात कहते हैं, अतः कोई कारण नहीं कि एक को दूसरे से अच्छा माना जाए। यह माना जा सकता है कि सभी धर्मों की एक स्वर से मान्यता है कि अच्छा करने में ही जीवन की सार्थकता है। उस हद तक तो इस तर्क की वैधता को स्वीकार किया जा सकता है। लेकिन जब यह तर्क उस हद को पार करता है और आग्रह करता है कि इसके कारण इसमें कोई तुक नहीं कि एक धर्म को दूसरे से बेहतर समझा जाए, तो वह एक मिथ्या हो जाता है।

इस दृष्टि से तो सभी धर्म समान हैं कि वे सभी शिक्षा देते हैं कि 'अच्छा' करने में ही जीवन की सार्थकता है। लेकिन 'अच्छा' क्या है? इस प्रश्न का उत्तर सभी धर्म एक जैसा नहीं देते। निश्चय ही इस बारे में उनका मतभेद है। एक धर्म भाईचारे को अच्छा मानता है, तो दूसरा जातिप्रथा और अस्पृश्यता को।

एक और पक्ष भी है, जिसके बारे में सभी धर्म एक जैसे नहीं हैं। जहां धर्म 'अच्छे' की व्याख्या करने वाला सर्वोच्च प्रमाण है, वहां वह 'अच्छे' का प्रचार और प्रसार करने वाली प्रेरक शक्ति भी है। सभी धर्म अच्छे के प्रचार और प्रसार के लिए जिन साधनों तथा उपायों की दुहाई देते हैं, उनके बारे में क्या वे एकमत हैं? जैसा कि प्रो. टीले[1] ने कहा है :

> मानव-जाति के इतिहास में धर्म एक सर्वाधिक शक्तिशाली प्रेरक शक्ति रही है। उसने राष्ट्रों को संजोया है और उजाड़ा है। उसने साम्राज्यों को जोड़ा भी है और तोड़ा भी है। जहां उसने अति क्रूर तथा बर्बर कर्मों को तथा अति जघन्य रीति-रिवाजों को मान्यता दी, वहां उसने शौर्य, आत्म-बलिदान और निष्ठा जैसे अति श्लाघनीय कृत्यों की प्रेरणा भी दी। जहां उसने अति रक्तरंजित युद्ध, विद्रोह और अत्याचार कराए, वहां उसने राष्ट्रों के लिए स्वाधीनता, सुख और शांति के द्वार भी खोले। कभी उसने अत्याचार का साथ दिया, तो कभी उसने उसके बंधनों को काटा। कभी वह प्रगति, विज्ञान और कला का कट्टर शत्रु रहा, तो आज वह एक नई तथा प्रतिभाशाली सभ्यता का सृजन एवं लालन-पालन कर रहा है।

इन अस्थिरताओं के अलावा उनकी अपनी-अपनी दृष्टि के अनुसार अच्छे के संवर्धन के उनके उपायों में स्थाई भेद हैं। क्या हिंसा की वकालत करने वाले धर्म नहीं हैं? क्या अहिंसा की वकालत करने वाले धर्म नहीं हैं? इन तथ्यों को देखते हुए यह कैसे कहा जा सकता है कि सभी धर्म समान हैं और उन्हें एक-दूसरे से बेहतर समझने में कोई तुक नहीं है।

---

1. क्रौले द्वारा उद्धृत, *ट्री आफ लाइफ,* पृ. 5

दूसरी आपत्ति उठाकर हिंदू केवल यह प्रयास कर रहा है कि गुण-दोष के आधार पर हिंदू धर्म की निरख-परख न हो सके। यह कैसी असाधारण बात है कि धर्म-परिवर्तन संबंधी विवाद में अस्पृश्यों को चुनौती देते समय एक भी हिंदू, हिंदू धर्म के दोषों को दर्शाने का साहस नहीं कर सका है। हिंदू नाममात्र के लिए उस दृष्टिकोण की ओट ले रहा है, जिसे तुलनात्मक धर्म-विज्ञान ने जन्म दिया है। तुलनात्मक धर्म-विज्ञान ने सभी अपौरुषेय (श्रुति, इल्हाम वाले) धर्मों के इन बड़े-बड़े दावों को चकनाचूर कर दिया है कि केवल वे ही सच्चे हैं और अन्य सभी झूठे हैं, जो श्रुति आदि पर आधारित नहीं हैं। झूठे और सच्चे धर्म की परख करने के लिए अपौरुषेयता की कसौटी अति मनमानी और मन-गढंत है। यह एक ऐसी महान सेवा है, जो धर्म के हित में तुलनात्मक धर्म-विज्ञान ने की है। लेकिन उस विज्ञान के विपक्ष में यह कहना ही पड़ेगा कि उसने इस सामान्य धारणा को जन्म दिया है कि सभी धर्म अच्छे हैं और उनके बीच विभेद करने में कोई अर्थ एवं प्रयोजन नहीं है।

एकमात्र पहली आपत्ति ही गंभीरता से विचार करने योग्य है। आपत्ति इस धारणा को लेकर चलती है कि धर्म नर और नारायण के बीच का विशुद्ध व्यक्तिगत मामला है। यह अलौकिक है। इसका सामाजिक पक्ष से कोई वास्ता नहीं। निश्चय ही तर्क जानदार है। लेकिन उसकी जड़ें एकदम खोखली हैं। जो भी हो, यह धर्म का एकांगी दृष्टिकोण है और वह भी धर्म के उन पक्षों पर आधारित है, जो नितांत ऐतिहासिक हैं, बुनियादी नहीं।

धर्म के कर्म तथा प्रयोजन को समझने के लिए जरूरी है कि धर्म को ईश्वर मीमांसा से अलग किया जाए। धर्म के प्रमुख अंग हैं—रीति-रिवाज, प्रथाएं, अनुष्ठान और कर्मकांड। ईश्वर मीमांसा गौण पक्ष है। उसका उद्देश्य तो केवल उन्हें राष्ट्रव्यापी बनाना है। प्रो. राबर्टसन स्मिथ के अनुसार[1] :

> वास्तव में कहा जाए तो कर्मकांड और प्रचलित रिवाज ही प्राचीन धर्मों के सार तत्व थे। आदिकाल में धर्म व्यावहारिक प्रयोग वाली आस्था-पद्धति पर आधारित नहीं था। वह निश्चित परंपरागत रिवाजों का समूह था और समाज का हर सदस्य साहस के साथ उसका पालन करता था। मानव, मानव नहीं रहेंगे, यदि वे कार्य के लिए औचित्य के बिना कतिपय कार्यों को करने के लिए राजी हो जाएं, पर प्राचीन धर्म में औचित्य को पहले सिद्धांत के रूप में अपना कर बाद में उसे व्यवहार में नहीं लाया गया, अपितु उसके विपरीत व्यवहार के बाद सिद्धांत पक्ष आया।

उतनी ही जरूरी यह बात है कि धर्म को अलौकिक न माना जाए। तथ्य

1. *दि रिलीजन आफ दि सेमाइट्स*

यह है कि धर्म का प्रमुख पक्ष सामाजिक है। उसकी अनदेखी करना धर्म के साथ खिलवाड़ करना है। बर्बर समाज का जीवन और जीवन के संरक्षण से गहरा सरोकार था। जीवित रहने की ये प्रक्रियाएं ही बर्बर समाज के धर्म का सार और स्रोत बनीं। जीवन और जीवन के संरक्षण से बर्बर समाज का इतना गहरा सरोकार था कि उसने उन्हें अपने धर्म का आधार ही बना डाला। बर्बर समाज के धर्म में जीवन और उसे संरक्षित रखने की प्रक्रिया इतनी महत्वपूर्ण थी कि उन्हें प्रभावित करने वाली हर वस्तु उनके धर्म का अंग बन गई। बर्बर समाज का सरोकार न केवल जन्म, पूर्ण-पुरुषत्व की प्राप्ति, तरुणाई, विवाह, बीमारी, मौत और युद्ध से था, अपितु आहार से भी था।

पशुपालकों के लिए पशुधन पवित्र है। खेतीबाड़ी करने वाले बुवाई और कटाई के समय ऐसे उत्सव मनाते हैं, जिनका कुछ-न-कुछ सरोकार फसलों की बढ़वार और रक्षा से होता है। इसी प्रकार सूखे, महामारी और उन जैसी प्रकृति की अन्य विचित्र अनियमित घटनाओं पर भी अनुष्ठान किए जाते हैं। जैसा कि प्रो. क्रौले ने कहा है, बर्बर समाज के धर्म का आदि और अंत जीवन के पोषण और पवित्रीकरण से होता है।

अतः बर्बर समाज का धर्म जीवन और जीवन के संरक्षण में निहित होता है। जो बात बर्बर समाज के धर्म के बारे में सच है, वही सर्वत्र सब धर्मों के बारे में सच है, क्योंकि वही धर्म का सार है। यह सच है कि परिष्कृत ब्रह्म-विज्ञान की चकाचौंध वाले आधुनिक समाज में धर्म का यह सार दृष्टि से ओझल हो गया है और विस्मृति के गर्त में भी चला गया है। लेकिन यह निर्विवाद तथ्य है कि आधुनिक समाज में भी जीवन और जीवन का संरक्षण धर्म का सार है। इसका समुचित दिग्दर्शन प्रो. क्रौले ने किया है। आधुनिक समाज में मानव के धार्मिक जीवन की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा है :

> मानव के धर्म का संबंध उसके व्यावसायिक अथवा सामाजिक जीवन, उसके वैज्ञानिक अथवा कलात्मक कर्म के क्षणों से नहीं रहता। वस्तुतः उसके खास तकाजों को सप्ताह में एक दिन पूरा किया जाता है। उस दिन सामान्य सांसारिक सरोकारों से हाथ खींच लिया जाता है। वस्तुतः उसका जीवन दो भागों में विभक्त है, लेकिन जो अर्धांश धर्म से जुड़ा है, वह तात्विक है। मोटे तौर पर कहा जाए तो जीवन और मृत्यु के मूलभूत प्रश्नों पर गंभीर चिंतन उसके विश्राम दिवस की सार वस्तु है। इसमें जोड़ दीजिए दैनिक प्रार्थना को, भोजन के समय प्रभु के प्रति धन्यवाद को और इस अवचेतन धारणा को कि जन्म और मृत्यु का, वंशवृद्धि और विवाह का विधिवत् संपादन धर्म

ही करता है और संभव है कि व्यवसाय और खुशी के अवसर पर भी अनुष्ठान हो, लेकिन केवल लाक्षणिक रूप से या धार्मिक भावना के उद्रेक के वशीभूत होकर।

धर्म की उत्पत्ति और इसके इतिहास के छात्रों ने जब बर्बर समाज का अपना अध्ययन शुरू किया तो वे बर्बर समाज से जुड़े जादू-टोनों, वर्जनाओं और पूजा-प्रतीकों, रीति-रिवाजों और कर्मकांडों में इतना खो गए कि उन्होंने न केवल धर्म के मूल तत्व के रूप में बर्बर समाज की सामाजिक प्रक्रियाओं की ही अनदेखी की, बल्कि वे जादू-टोने और अन्य अलौकिक प्रक्रियाओं की समुचित कार्य-प्रणाली को भी समझ न पाए। यह एक भारी भूल थी और वह धर्म से सरोकार रखने वाले सभी लोगों के लिए बड़ी मंहगी भूल सिद्ध हुई, क्योंकि उसी के कारण धर्म के संबंध में वह भारी गलतफहमी पैदा हुई है, जो आज अधिकांश लोगों के दिलों में बैठी हुई है। इससे बड़ी भूल और हो ही नहीं सकती कि धर्म के बारे में कहा जाए कि वह जादू-टोने से उपजा है और उसका आदि और अंत भी जादू-टोना करना है। यह सच है कि बर्बर समाज जादू-टोना करता है, वर्जना में विश्वास रखता है और गण-चिन्ह की पूजा करता है। लेकिन यह सोच लेना गलत है कि ये ही धर्म है अथवा धर्म इनसे ही उपजा है। ऐसे दृष्टिकोण का अर्थ तो यह होगा कि जो गौण है, प्रासंगिक है; उसे धरती से उठाकर प्रमुखता के सिंहासन पर बिठा दिया जाए। बर्बर समाज के धर्म में प्रमुखता मानव-अस्तित्व के जीवन, मृत्यु, जन्म, विवाह आदि जैसे मूल तथ्यों की है। जादू-टोना, वर्जना और गण-चिन्ह साध्य नहीं हैं। वे तो केवल साधन हैं। साध्य तो है, जीवन और जीवन का संरक्षण। जादू-टोना, वर्जना आदि का सहारा बर्बर समाज अपने स्वार्थ के लिए नहीं करता, बल्कि उसका उद्देश्य होता है कि जीवन की रक्षा हो और ऐसा अनुष्ठान हो कि बुरा प्रभाव जीवन को हानि न पहुंचा सके। फसल की कटाई और अकाल जैसे अवसरों के साथ धार्मिक अनुष्ठानों को क्यों जोड़ा जाए? जादू-टोना, वर्जना और गण-चिन्ह बर्बर समाज की दृष्टि में इतने महत्वपूर्ण क्यों हैं? उसका एक ही जवाब है कि उन सबका सरोकार जीवन की रक्षा से है। मुख्य प्रयोजन है, जीवन और जीवन की रक्षा। बर्बर समाज के धर्म का मूलाधार और मर्म है, जीवन और जीवन की रक्षा। आज जादू-टोने का स्थान ईश्वर ने ले लिया है, इससे यह तथ्य नहीं बदल जाता कि धर्म में ईश्वर का स्थान केवल जीवन-रक्षण के साधन के रूप में है और धर्म का साध्य है, सामाजिक जीवन का परिरक्षण और पवित्रीकरण।

एक बात की ओर विशेष ध्यान दिलाना जरूरी है। पूर्वोक्त चर्चा भी उसका पूर्ण समर्थन करती है। वह यह है कि धर्म को व्यक्तिगत, निजी और जाति का मामला समझना भूल है। वस्तुतः जैसा कि आगे पता चलेगा, धर्म जब व्यक्तिगत, निजी और जाति का मामला बना रहता है तो वह यदि खतरे का नहीं, तो प्रत्यक्ष

शरारत का सबब तो बन ही जाता है। उतनी ही गलत दृष्टि यह है कि धर्म व्यक्ति के स्वभाव में निहित विशेष जन्मजात धार्मिक भावना को पल्लवित करता है। सही दृष्टि यह है कि भाषा की भांति धर्म भी समाज के लिए है और उसका कारण यह है कि दोनों सामाजिक जीवन के लिए अति आवश्यक हैं और व्यक्ति को उन्हें अपनाना पड़ता है, क्योंकि उसके बिना वह सामाजिक जीवन में भाग नहीं ले सकता।

यदि धर्म इस अर्थ में समाज के लिए है कि उसका खास सरोकार समाज से है, तो यह प्रश्न स्वाभाविक है कि धर्म का प्रयोजन और कर्म क्या है? मेरी जानकारी में धर्म के प्रयोजन के बारे में श्रेष्ठ कथन प्रो. चार्ल्स एल्लवुड[1] का है। वह कहते हैं :

> धर्म समूचे संसार में मानव-व्यक्तित्व और मानव-समाज के मूल मूल्यों का समूचे संसार में प्रक्षेपण करता है। अनिवार्यतः उसका जन्म ज्यों ही हो जाता है, त्यों ही वह अपने संसार का मूल्यांकन करने का प्रयास करने लगता है, भले ही उसे वह संसार कितना ही छोटा और घटिया क्यों न लगे। मानवीय, सामाजिक और मानसिक जीवन की समूची विशिष्टताओं की भांति निश्चय ही उसका आधार भी मानव की उच्च बौद्धिक शक्तियां हैं। मानव ही एकमात्र धार्मिक पशु है, क्योंकि गूढ़ चिंतन एवं मनन की अपनी शक्तियों के कारण केवल वही पूर्णतः आत्म-चेतन है। अतः केवल वही संसार में अपने मूल्यों का प्रक्षेपण कर सकता है और वही प्रक्षेपण की जरूरत को अनुभव करता है। दूसरे शब्दों में, मानव को प्रदत्त बौद्धिक शक्तियों के सहारे उसकी बुद्धि तुरंत अपने मूल्यों तथा विचारों को सर्वव्यापी बनाने का प्रयास करती है। जिस प्रकार बुद्धिसंगतता की प्रक्रियाएं मानव को सर्वव्यापी विचारों का जगत प्रदान करती हैं, ठीक उसी प्रकार धार्मिक प्रक्रियाएं मानव को सर्वव्यापी मूल्यों का जगत प्रदान करती हैं। वास्तव में धार्मिक प्रक्रियाएं भी बुद्धिसंगतता की वे प्रक्रियाएं ही हैं, जो मानव के आवेगों और भावों को प्रभावित करती हैं, न कि उसकी नसीहतों को। जो काम तर्क विचारों के लिए करता है, वही काम धर्म भावनाओं के लिए करता है। वह उन्हें सर्वव्यापी बनाता है और ऐसा करते समय वह उनका सुर समूचे यथार्थ के सुर से मिला देता है।

धर्म सामाजिक मूल्यों पर बल देता है, उन्हें सर्वव्यापी बनाता है और उन्हें व्यक्ति के मन में बिठाता है। व्यक्ति से अपेक्षा की जाती है कि वह अपने कामों में उनका ध्यान रखे, ताकि वह समाज के अनुमोदित सदस्य के रूप में कार्य कर सके। लेकिन धर्म का प्रयोजन इससे भी बढ़कर है। वह उन्हें अध्यात्म का जामा पहनाता है। जैसा कि प्रो. एल्लवुड ने कहा है[2]:

1. दि रिलीजियस रिकंस्ट्रक्शन, पृ. 39-40
2. *वही*, पृ. 45-46

अब धर्म से जुड़े इन मानसिक तथा सामाजिक मूल्यों को लोग 'आध्यात्मिक' कहते हैं। यह रेखांकित करने वाली बात है। जैसे कि हम कह सकते हैं, आध्यात्मिक मूल्य वे मूल्य हैं, जो खास तौर पर व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन से जुड़े हैं। जैसा कि हमने देखा है, वह इन मूल्यों का प्रक्षेपण सर्वव्यापी यथार्थता में करता है। वह मानव को संसार की सामाजिक तथा नैतिक संकल्पना प्रदान करता है। वह मानव को निरुद्देश्य, प्रयोजनहीन शक्तियों के खिलवाड़ के रंगमंच के रूप में कोरी यांत्रिक संकल्पना प्रदान नहीं करता। भले ही धर्म मूलतः जड़ात्मवादी दर्शन नहीं है, जैसा कि अक्सर कहा गया है, फिर भी वह सभी बातों में मन, आत्मा और जीवन का प्रक्षेपण करता है। अति आदिम धर्म ने भी ऐसा किया है। 'आदिम ऊर्जावाद' में मन अथवा आत्मा जैसी संकल्पनाओं में अलौकिक या इंद्रियातीत की भावना थी। उनका व्यक्तियों से गहरा सरोकार था और उनका उद्‌गम ही ऐसे व्यक्तित्व अथवा तत्वों से होता था, जिन्हें अनिवार्यतः व्यक्तिगत ढंग से निरखा-परखा जाता था। अतः धर्म आध्यात्मिक मूल्यों की यथार्थता के प्रति आस्था है और जैसा कि हमने कहा है, वह उनका प्रक्षेपण समूचे संसार में करता है। सभी धर्म, यहां तक कि तथाकथित अनीश्वरवादी धर्म भी, आध्यात्मिकता पर बल देते हैं, उसकी सत्ता में विश्वास क़रते हैं और उसकी अंतिम विजय की कामना करते हैं।

समाज में धर्म का कर्म भी उतना ही स्पष्ट है। प्रो. एल्लवुड[1] के अनुसार :

धर्म सामाजिक नियंत्रण की एजेंसी के रूप में कार्य करता है, यानी समूह व्यक्ति के जीवन का नियंत्रण समूह के बृहत्तर जीवन की भलाई के लिए करता है, जैसा कि हमने देखा है, एकदम शुरू-शुरू में व्यक्तिगत भावनाओं अथवा मूल्यों को व्यक्त करने वाली जिन आस्थाओं और प्रथाओं को समूह मान्यता प्रदान नहीं करता था, उन पर 'काले जादू' अथवा हानिकर अंधविश्वास का ठप्पा लगा दिया जाता था। यदि ऐसा न किया जाता, तो जाहिर है कि समूह के जीवन की एकात्मता के लिए गंभीर खतरा पैदा हो सकता था। इस प्रकार धर्म का अनिवार्य सामाजिक स्वरूप उजागर हो जाता है। हम ऐसे धर्म को नहीं अपना सकते, जो नितांत व्यक्तिगत अथवा निजी हो और साथ-ही-साथ जो सामाजिक पक्ष वाला न हो, क्योंकि हम सामाजिक प्राणी हैं और बहरहाल समूह का हित खास महत्व का है।

इसी मसले पर अन्यत्र विचार प्रकट करते हुए उन्होंने कहा है[2]:

धर्म का कर्म भी वही है, जो कानून और सरकार का है। वह ऐसा साधन

1. *दि रिलीजियस रिकंस्ट्रक्शन,* पृ. 42-43
2. *सोसाइटी इन इट्स साइकोलाजिकल आस्पेक्ट्स* (1913), पृ. 356-57

है, जिसके द्वारा समाज-व्यवस्था को बनाए रखने के लिए समाज व्यक्ति के आचरण पर अंकुश रखता है। हो सकता है कि व्यक्ति पर सामाजिक नियंत्रण के लिए जान-बूझकर उसका उपयोग न किया जाए। फिर भी तथ्य यह है कि धर्म सामाजिक नियंत्रण का साधन है। धर्म के मुकाबिले, सरकार और कानून सामाजिक नियंत्रण के अपेक्षतः भरपूर साधन नहीं हैं। कानून और व्यवस्था का नियंत्रण इतना गहरा प्रभाव नहीं डालता कि समाज-व्यवस्था को स्थिरता प्रदान की जा सके। दूसरी ओर, धार्मिक मान्यता अपनी अलौकिकता के कारण सामाजिक नियंत्रण का सर्वाधिकार कारगर साधन सिद्ध हुई है। कानून और सरकार न तो उतने कारगर सिद्ध हुए हैं और न ही हो सकते हैं। निश्चय ही धर्म के सहारे के बिना कानून और सरकार अति अधूरे साधन रह जाते हैं। धर्म सर्वाधिक सशक्त सामाजिक गुरुत्वाकर्षण है और उसके बिना समाज-व्यवस्था को उसके परिक्रमा-पथ पर रखना संभव नहीं होगा।

पूर्वोक्त चर्चा भले ही यह दर्शाने के लिए की गई है कि धर्म सामाजिक यथार्थ है, धर्म का विशिष्ट सामाजिक प्रयोजन है और है निश्चित सामाजिक कृत्य, फिर भी उसका उद्देश्य यह सिद्ध करता है कि यह उचित ही है कि यदि किसी व्यक्ति से किसी धर्म को स्वीकार करने की अपेक्षा की जाए, तो उसे यह प्रश्न करने का अधिकार होना चाहिए कि कहां तक धर्म ने धर्म से जुड़े प्रयोजनों को पूरा किया है। इसी कारण इस बात का औचित्य है कि लार्ड बेल्फोर ने पहले प्रत्यक्षवादियों से कुछ बड़े ही सीधे प्रश्न किए और उसके बाद ही वह स्वीकार कर सके कि प्रत्यक्षवाद ईसाई धर्म से श्रेष्ठतर है। उन्होंने अति कटु भाषा में प्रश्न किए :

उस अधिक त्रस्त, दीन-हीन जनसाधारण के लिए (प्रत्यक्षवाद) के पास क्या सांत्वना है, जो अपनी दैनिक जरूरतों और छोटी-छोटी चिंताओं के सतत् संघर्ष में डूबे ही नहीं, अपितु आकंठ डूबे हैं, जिनके पास न तो समय है और न ही इच्छा है कि वे 'मानवीयता' के महान नाटक के लिए अपेक्षित अपने सही रोल पर विचार कर सकें और जो हो सकता है कि हर हाल में उसके हित अथवा उसके महत्व को खोजने में परेशान हो जाएं? क्या वह उन्हें आश्वासन दे सकता है कि कोई भी ऐसा निरर्थक मानव-प्राणी नहीं है, जिसका सनातन मूल्य स्वर्ग अथवा इन निरीह प्राणियों की सृष्टि करने वाले 'उसकी' दृष्टि में नहीं है और माटी के उसके पुतले के माटी में मिल जाने के बाद भी अनंत काल के लिए उसके कर्म की सार्थकता बनी रहेगी? क्या वह शोक से संतप्त प्राणियों को सांत्वना और अपने निर्बलों को बल प्रदान कर सकता है? क्या वह पापियों को क्षमा और थकान और भारी भार से ग्रस्त प्राणियों को विश्राम प्रदान कर सकता है?

लार्ड बेल्फोर ने प्रत्यक्षवादियों से जो प्रश्न किए थे, वे ही प्रश्न अस्पृश्य लोग

हिंदू धर्म के पक्षधरों से कर सकते हैं। अस्पृश्य तो और भी अनेक प्रश्न कर सकते हैं। वे पूछ सकते हैं : क्या हिंदू धर्म उन्हें मानव-प्राणी के रूप में स्वीकार करता है? क्या वह उनके लिए समानता का समर्थन करता है? क्या वह उन्हें आजादी का लाभ देना चाहता है? कम-से-कम क्या वह उनके तथा हिंदुओं के बीच भाई-चारे की गांठ को मजबूत करने में मदद देता है? क्या वह हिंदुओं को सिखाता है कि अस्पृश्य उन्हीं के सजातीय हैं? क्या वह हिंदुओं से कहता है कि यह पाप है कि अस्पृश्यों से मानव तो क्या पशु से भी बदतर व्यवहार किया जाए? क्या वह हिंदुओ से कहता है कि वे अस्पृश्यों के साथ न्याय करें? क्या वह हिंदुओं को उपदेश देता है कि वे अस्पृश्यों के साथ न्यायोचित और मानवीय व्यवहार करें? क्या वह हिंदुओं के मानस में अस्पृश्यों के प्रति मैत्रीभाव रखने का संस्कार डालता है? क्या वह हिंदुओं को सिखाता है कि वे अस्पृश्यों से प्रेम करें, उनका आदर करें और उनका कोई अहित न करें? संक्षेप में, क्या हिंदू धर्म बिना किसी भेदभाव के जीवन के मूल्य को सर्वव्यापी बनाता है?

कोई भी हिंदू इनमें से किसी भी सवाल का जवाब 'हां' में देने का साहस नहीं कर सकता। इसके विपरीत हिंदुओं ने अस्पृश्यों के प्रति जो अन्याय किए हैं, वे ऐसे कर्म हैं जिन्हें हिंदू धर्म मान्यता प्रदान करता है। वे हिंदू धर्म के नाम पर किए जाते हैं और उन्हें हिंदू धर्म के नाम पर उचित ठहराया जाता है। अस्पृश्यों के प्रति हिंदुओं की अराजकता को जो भावना और परंपरा वैद्य बनाती है, उसे आधार और समर्थन हिंदू धर्म के उपदेश प्रदान करते हैं। किस प्रकार हिंदू अस्पृश्यों से कह सकते हैं कि वे हिंदू धर्म को स्वीकार करें और हिंदू धर्म में बने रहें? किस कारण अस्पृश्य हिंदू धर्म से चिपके रहें, जब कि वह उनकी अधोगति के लिए पूर्णतः उत्तरदायी है? किस प्रकार अस्पृश्य हिंदू धर्म में बने रह सकते हैं? अस्पृश्यता मानव की अधोगति का निम्नतम स्तर है। निर्धनता बुरी है, लेकिन उतनी बुरी नहीं, जितनी कि अस्पृश्यता। निर्धन गर्व कर सकता है। अस्पृश्य गर्व नहीं कर सकता। निम्न होना बुरा है, लेकिन उतना बुरा नहीं जितना कि अस्पृश्य होना। निम्न अपने स्तर से ऊंचा उठ सकता है। कष्ट भोगना बुरा है, पर उतना बुरा नहीं है जितना अस्पृश्य के रूप में कष्ट भोगना। निम्न वर्ग को किसी-न-किसी दिन राहत मिलेगी, पर अस्पृश्य उसकी आशा नहीं कर सकता। दब्बूपन बुरा है, पर उतना बुरा नहीं जितना कि अस्पृश्य होना। दब्बू लोग यदि विरासत में भूमि प्राप्त नहीं कर सकते, वे कम-से-कम दबंग तो हो सकते हैं। अस्पृश्य तो उसकी भी आशा नही कर सकते।

हिंदू धर्म में अस्पृश्यों के लिए आशा की कोई किरण नहीं है। लेकिन यही वह एकमात्र कारण नहीं है, जिसकी वजह से अस्पृश्य लोग हिंदू धर्म को छोड़ना चाहते हैं। एक और अनिवार्य कारण है, जो उन्हें हिंदू धर्म छोड़ने पर मजबूर

करता है। अस्पृश्यता हिंदू धर्म का एक अंग है। प्रबुद्ध सुधारक होने का ढोंग करने वाले जो हिंदू कहते हैं कि अस्पृश्यता हिंदू धर्म का अंग नहीं है, उन्हें भी अस्पृश्यता का पालन करना पड़ता है। हिंदू धर्म में विश्वास करने से हिंदू को कोई फर्क नहीं पड़ता। उसका यह बोध कि करोड़ों अस्पृश्य उससे नीचे हैं, श्रेष्ठता की उसकी भावना को हवा देता है। लेकिन जब कोई अस्पृश्य कहता है कि वह हिंदू धर्म में विश्वास करता है, तो उसका क्या अर्थ होता है? उसका अर्थ होता है कि वह स्वीकार करता है कि वह अस्पृश्य है और इसलिए अस्पृश्य है कि वह दैवी विधान है। हो सकता है कि कोई अस्पृश्य किसी हिंदू का गला न काटे। लेकिन उससे यह स्वीकार करने की आशा नहीं की जा सकती कि वह अस्पृश्य है और वह उचित ही है। है कोई ऐसी मृत आत्मा वाला अस्पृश्य जो ऐसी स्वीकृति दे और फिर भी हिंदू धर्म से चिपका रहे। हिंदू धर्म अस्पृश्यों के आत्म-सम्मान के प्रतिकूल है। यह एक सबसे सशक्त आधार है और वह इस बात को उचित ठहराता है कि अस्पृश्य किसी अन्य उदार और उदात्त धर्म को ग्रहण कर लें।

धर्म-परिवर्तन के विरोधियों ने तो इस बात की कसम खा ली है कि वे धर्म-परिवर्तन संबंधी अकाट्य तर्क से भी संतुष्ट नहीं होंगे। वे और प्रश्न करने का आग्रह करेंगे। एक और प्रश्न है, जिसे करने के लिए वे सदैव उत्सुक रहते हैं। उसका प्रमुख कारण यह है कि वे सोचते हैं कि वह बहुत टेढ़ा सवाल है और उसका जवाब नहीं दिया जा सकता। वह यह है कि धर्म-परिवर्तन से अस्पृश्यों को कौन-सा दुनियावी लाभ मिल जाएगा? यह प्रश्न तनिक भी टेढ़ा प्रश्न नहीं है। जवाब सीधा-सा है। अस्पृश्य नहीं चाहते कि धर्म-परिवर्तन को आर्थिक लाभ का अवसर बनाया जाए। यह सच है कि धर्म-परिवर्तन से अस्पृश्यों को कोई धन-संपत्ति नहीं मिल जाएगी। लेकिन यह कोई हानि नहीं है, क्योंकि हिंदू बने रहने पर भी वे निपट निर्धन ही बने रहेंगे। राजनीतिक दृष्टि से अस्पृश्य वे राजनीतिक अधिकार गंवा देंगे, जो उन्हें दिए जाते हैं। लेकिन वस्तुतः यह भी कोई हानि नहीं है। क्योंकि वे उन राजनीतिक अधिकारों को पाने के हकदार होंगे, जो उस समुदाय के लिए आरक्षित होंगे, जिसमें वे धर्म-परिवर्तन द्वारा शामिल होंगे। राजनीतिक दृष्टि से न लाभ है और न हानि। सामाजिक दृष्टि से अस्पृश्यों को पूर्ण तथा भारी लाभ होगा, क्योंकि धर्म-परिवर्तन द्वारा वे ऐसे समुदाय के सदस्य बन जाएंगे, जिसके धर्म ने जीवन के मूल्यों को सर्वव्यापी रूप और समानता प्रदान की है। हिंदू धर्म की परिधि में रहते हुए तो वे ऐसे वरदान की कल्पना तक नहीं कर सकते।

जवाब पूर्ण है। लेकिन संक्षिप्त होने के कारण हो सकता है कि धर्म-परिवर्तन के विरोधियों को वह संतुष्ट न कर सके। अस्पृश्यों को तीन चीजों की दरकार है। पहली दरकार यह है कि उनके सामाजिक अलगाव का खात्मा हो। दूसरी

दरकार यह है कि उनकी हीन भावना का अंत हो। क्या धर्म-परिवर्तन उनकी जरूरतों को पूरा करेगा? धर्म-परिवर्तन के विरोधियों का विचार है कि धर्म-परिवर्तन के समर्थकों के केस में कोई जान नहीं है। इसी कारण वे प्रश्न-पर-प्रश्न उठाते रहते हैं। धर्म-परिवर्तन के केस में सर्वाधिक जानदार केस से भी ज्यादा जान है। केवल हमारी इच्छा बनी रहती है कि प्रत्यक्ष को प्रमाणित करने के लिए लंबे-चौड़े तर्क पेश किए जाएं। लेकिन चूंकि यह जरूरी है कि सभी प्रकार के संदेहों को दूर कर दिया जाए, अतः मैं मामले पर और विचार करने के लिए तैयार हूं। मैं हर मुद्दे पर अलग से विचार करना चाहूंगा।

किस प्रकार वे अपने सामाजिक अलगाव का खात्मा कर सकते हैं? अस्पृश्यों के लिए अपने सामाजिक अलगाव का अंत करने का एकमात्र उपाय यही है कि वे जात-पांत की भावना से मुक्त किसी अन्य समुदाय से रक्त-संबंध जोड़कर उसमें घुलमिल जाएं। उत्तर सीधा-सा है। फिर भी अनेक लोग तत्काल उसकी वैधता को स्वीकार नहीं करेंगे। कारण यह है कि चंद लोग ही इस रक्त-संबंध की कीमत और खासियत को समझ पाते हैं। फिर भी उसका मूल्य और महत्व अति विशाल है। रक्त-संबंध और उसमें निहित अर्थ को प्रो. राबर्टसन ने इस प्रकार समझाया है[1]:

> रक्त-संबंध से ऐसे व्यक्तियों का समूह बना, जिनके जीवन आपस में ऐसे जुड़े हुए थे, जैसे कि शरीर के अंग आपस में जुड़े रहते हैं और उन्हें एक साझे जीवन का अंग समझा जा सकता है। एक कुटुंब के सदस्य स्वयं को एक जीवंत इकाई समझते थे। वे स्वयं को रक्त, मांस और मज्जा वाला एक जीवंत पिंड समझते थे और सभी सदस्यों को कष्ट पहुंचाए बिना किसी एक सदस्य को हाथ नहीं लगाया जा सकता था।

मसले पर दोनों के नजरिए से गौर किया जा सकता है, व्यक्ति के भी और समूह के भी। समूह के नजरिए से रक्त-संबंध इस भावना की अपेक्षा करता है कि हर संबंधी सर्वप्रथम और सर्वोपरि समूह का सदस्य है और वह मात्र व्यक्ति नहीं है। व्यक्ति के नजरिए से समूह से उसके रक्त-संबंध के लाभ उन लाभों से कम और भिन्न नहीं हैं, जो परिवार का सदस्य होने के नाते परिवार के किसी सदस्य को प्राप्त होते हैं। पारिवारिक जीवन मां-बाप के लाड़-प्यार से ओतप्रोत रहता है। प्रो. मैक्डोगल के शब्दों में[2]:

> (मां-बाप के लाड़-प्यार) की इस भावना और लालन-पालन की प्रेरणा से उदारता, कृतज्ञता, प्रेम, दया, सच्चे परोपकार और हर प्रकार के परहितकारी

---

1. *दि रिलीजन आफ दि सेमाइट्स*, पृ. 273
2. *इंट्रोडक्शन टू सोशल साइकोलाजी*

आचरण का जन्म होता है। उसी में उनकी प्रमुख तथा नितांत अनिवार्य जड़ समाई रहती है। उसके बिना वे नहीं पनपेंगे।

समुदाय समाज से इस अर्थ में भिन्न है कि वह केवल एक बड़ा परिवार है। अतः उसमें वे सभी सद्गुण पाए जाते हैं, जो परिवार में पाए जाते हैं। प्रो. मैक्डोगल ने ऊपर उसका सुंदर निरूपण किया है।

समुदाय के भीतर उन लोगों के बीच कोई भेदभाव नहीं किया जाता, जिन्हें रक्त-संबंधों से बंधे सगे-संबंधियों के रूप में माना जाता है। समुदाय मानता है कि उसका हर सदस्य और सभी की भांति सभी अधिकारों का समान रूप से हकदार है। जैसा कि प्रो. डेवी और प्रो. टफ्ट्स ने कहा है :

> राज्य किसी अन्य देश के नागरिक को अनुमति दे सकता है कि वह भूमि का स्वामी बन सके, उसकी अदालतों में दावा दायर कर सके और सामान्यतः वह उसे कुछ संरक्षण भी प्रदान करेगा, लेकिन निश्चय ही प्रमुख अधिकारों पर अंकुश लगेगा। अभी कुछ वर्ष पूर्व ही मुख्य न्यायाधीश टैनी ने अमरीका के वर्तमान कानूनी सिद्धांत के बारे में कहा था कि नीग्रो के ऐसे कोई अधिकार नहीं हैं, जिन्हें स्वीकृति देने के लिए श्वेत मानव बाध्य हो। वहां भी जहां कानूनी सिद्धांत जाति संबंधी अथवा अन्य भेदभावों को स्वीकार नहीं करता, प्रायः व्यवहार में किसी परदेसी के लिए न्याय प्राप्त करना कठिन ही होता है। आदिम कबीले या परिवार-समूहों में यह सिद्धांत पूर्णतः लागू था। न्याय एक विशेषाधिकार है। वह व्यक्ति को इसलिए प्राप्त होता है कि वह किसी समूह का सदस्य होता है। अन्यथा वह उसे प्राप्त नहीं होता। कबीले या परिवार या ग्राम-समुदाय के सदस्य का अधिकार होता है, अजनबी का कोई हक नहीं होता। मेहमान के नाते उसके साथ विनम्र व्यवहार हो सकता है, लेकिन वह सिवाय अपने समूह के किसी अन्य से 'न्याय' की मांग नहीं कर सकता। समूह के भीतर अधिकारों की इस संकल्पना में हमारे आधुनिक दीवानी (सिविल) कानून की प्रतिकृति है। एक कबीले और दूसरे कबीले के बीच का मामला युद्ध अथवा वार्ता का मामला होता है, कानून का नहीं और कबीला-रहित व्यक्ति तथ्यतः और वस्तुतः 'बहिष्कृत' व्यक्ति होता है।

रक्त-संबंध के कारण समुदाय किसी सदस्य के प्रति किए गए अन्याय का प्रतिशोध लेने का दायित्व ग्रहण करता है। तटस्थ दृष्टि से जो रक्तपात किसी सदस्य के प्रति किए गए अन्याय के प्रतिशोध का बर्बर तरीका दीख पड़ता है, वह आत्मपरक दृष्टि से अपने बंधु के प्रति किए गए अन्याय के लिए समुदाय के सदस्यों के सहानुभूतिपूर्ण रोष का प्रदर्शन है। सहानुभूतिपूर्ण रोष कोमल भावना और क्रोध का मिश्रण है। वह वैसा ही है, जैसा कि माता-पिता के वात्सल्य से

उस समय उपजता है, जब उनके सामने बच्चे के प्रति अन्याय होता है। यह रक्त-संबंध ही है, जिसके कारण यह सहानुभूतिपूर्ण रोष अथवा कोमल भावना और क्रोध का यह मिलाजुला रूप उपजता और उभरता है। किसी भी दृष्टि से व्यक्ति के लिए यह कोई नगण्य मूल्य नहीं है। प्रो. मैक्डोगल के शब्दों में :

> कोमल भावना और क्रोध का यह गहरा गठजोड़ मानव के सामाजिक जीवन के लिए अति महत्वपूर्ण है। इसकी सही समझबूझ नैतिक भावनाओं के सहीं सिद्धांत के लिए बुनियादी बात है, क्योंकि इस प्रकार उपजा क्रोध सभी प्रकार के नैतिक रोष का स्रोत है और नैतिक रोष पर ही न्याय और सार्वजनिक विधि का अधिकांश भाग मुख्यतः आधारित है।

यह रक्त-संबंध ही उदारता का जनक है और वही अन्याय के प्रतिकार के लिए जरूरी नैतिक रोष को ललकारता है। रक्त-संबंध से वह इच्छा-शक्ति उपजेगी, जो हिंदुओं के अत्याचार और दमन का सामना करने के लिए सगे समुदाय का समर्थन जुटाएगी। आज तो अस्पृश्यों को उस अत्याचार को अकेले ही सहना पड़ता है। किसी अन्य समुदाय से रक्त-संबंध स्थापित करना ही वह सर्वोत्तम बीमा है, जिसकी व्यवस्था हिंदू-अत्याचार और हिंदू-दमन के खिलाफ अस्पृश्य कर सकता है।

रक्त-संबंध के अर्थ और कर्म के पूर्वोक्त निरूपण को जो व्यक्ति ध्यान में रखेगा, उसे इस प्रस्थापना को स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि अपने अलगाव को अलविदा करने के लिए अस्पृश्यों को ऐसे अन्य समुदाय में शामिल होना ही पड़ेगा, जो जात-पांत को न मानता हो।

रक्त की नातेदारी अलगाव की विपरीत अवस्था है। अस्पृश्यों की दृष्टि में किसी अन्य समुदाय से रक्त-संबंध को स्थापित करना अलगाव की वर्तमान स्थिति को समाप्त करने के लिए एक और उपाय ही होगा। जब तक वे हिंदू बने रहेंगे, तब तक उनका अलगाव कदापि समाप्त नहीं होगा। हिंदुओं के रूप में उनका अलगाव उन पर आगे और पीछे, दोनों ओर से प्रहार करता है। हिंदू होने के नाते न केवल वे मुस्लिमों और ईसाइयों से अलग हैं, बल्कि वे हिंदुओं और अहिंदुओं, दोनों के लिए भी पराए हैं। इस अलगाव को खत्म करने का एक ही तरीका है। इसका दूसरा कोई तरीका नहीं है। वह यह है कि अस्पृश्य किसी अन्य अहिंदू समुदाय में शामिल हो जाएं और उसके सगे-संबंधी बन जाएं।

यह कोई निरर्थक प्रयास नहीं है। इस बात को वे सभी लोग स्वीकार करेंगे, जिन्हें अलगाव की हानियों और रक्त की नातेदारी के लाभों का ज्ञान व भान है। अलगाव के क्या दुष्परिणाम हैं? अलगाव का अर्थ है, सामाजिक बहिष्कार, सामाजिक अनादर, सामाजिक भेदभाव और सामाजिक अन्याय। अलगाव का अर्थ

है, सुरक्षा का अभाव, न्याय का अभाव, अवसर का अभाव। अलगाव का अर्थ है, सहानुभूति का अभाव, भाईचारे का अभाव, सहृदयता का अभाव। इतना ही नहीं अलगाव का अर्थ है, हिंदुओं की प्रत्यक्ष घृणा और उनका विरोध। दूसरी ओर, यदि अस्पृश्य किसी अन्य समुदाय के साथ रक्त का नाता जोड़ेंगे तो उन्हें उस समुदाय के भीतर बराबर का दर्जा, बराबर की सुरक्षा और बराबर का न्याय मिलेगा। वे उसकी सहानुभूति और उसका सद्भाव प्राप्त कर सकेंगे।

मैं यह कहने का साहस करता हूं कि विरोधियों के प्रश्न का यह सर्वांगपूर्ण उत्तर है। इससे पता चलता है कि धर्म-परिवर्तन से अस्पृश्यों को लाभ मिल सकता है। लेकिन यह वांछनीय है कि मामले पर और आगे विचार किया जाए तथा एक अन्य प्रश्न का निपटारा कर दिया जाए, जिसे धर्म-परिवर्तन के विरोधियों ने अभी तक नहीं उठाया है, पर वे उसे उठा सकते हैं। प्रश्न है: रक्त-संबंध स्थापित करने के लिए धर्म-परिवर्तन क्यों आवश्यक है?

इस प्रश्न का उत्तर स्वयं मिल जाएगा, यदि इस बात को ध्यान में रखा जाए कि समुदाय और समाज तथा रक्त-संबंध और नागरिकता में अंतर है।

समुदाय शब्द के सही अर्थ में वह रक्त-संबंधियों का समूह होता है। समाज अनेक समुदायों या रक्त-संबंधियों के विभिन्न समूहों का संकलन होता है। समुदाय को जो सूत्र एकसूत्रता में पिरोता है, उसे रक्त-बंधुता कहते हैं और जो सूत्र समाज को एकसूत्रता में पिरोता है, उसे नागरिकता कहते हैं।

समाज में नागरिकता प्राप्त करने के और समुदाय में रक्त-बंधुता प्राप्त करने के साधन एकदम अलग-अलग हैं। नागरिकता देशीयकरण से प्राप्त होती है। नागरिकता की पूर्व शर्त यह है कि राज्य के प्रति राजनीतिक वफादारी को स्वीकार कर लिया जाए। रक्त-बंधुता प्राप्त करने की पूर्व शर्तें नितांत भिन्न हैं। मानव-विकास के एक चरण में रक्त-बंधुता प्राप्त करने की पूर्व शर्त थी, रक्त की समानता। क्योंकि संबंधी वर्ग ऐसे व्यक्तियों का समूह है, जो यह मानता है कि वे एक ही पूर्वज के अंशज एवं वंशज हैं और उनकी नसों में एक ही रक्त प्रवाहित हो रहा है। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि हर समूह वस्तुतः और तथ्यतः एक ही पूर्वज का वंशज है या नहीं। वास्तविकता तो यह है कि समूह अजनबी को संबंधी-वर्ग में शामिल कर लेता था, भले ही वह एक ही पूर्वज की उपज न हो। यह मजेदार बात है कि ऐसा नियम था कि यदि कोई अजनबी सात पीढ़ियों तक किसी समूह के साथ अंतर्विवाह करता रहता था तो वह संबंधी-वर्ग का सदस्य बन जाता था। मुद्दा यह है कि भले ही यह किस्सा-कहानी हो, पर संबंधी-वर्ग में शामिल होने की पूर्व शर्त थी, रक्त की समानता।

मानव-विकास के बाद के चरण में रक्त की समानता के स्थान पर धर्म की

समानता रक्त-संबंध के लिए पूर्व शर्त हो गई। इस संबंध में यह जरूरी है कि प्रो. राबर्टसन[1] द्वारा बताए गए इस महत्वपूर्ण तथ्य को ध्यान में रखा जाए कि समुदाय में सामाजिक निकाय केवल व्यक्तियों का समूह नहीं होता है, बल्कि देवी-देवताओं और व्यक्तियों का समूह होता है। अतः जो अजनबी किसी समुदाय में शामिल होकर रक्त-संबंध स्थापित करना चाहता है, वह ऐसा तभी कर सकता है, जब वह समुदाय के देवों या देवी-देवताओं को स्वीकार कर ले। यथा *'ओल्ड टेस्टामेंट'* की उक्तियों को लें। नाओमी रूथ से कहते हैं : 'मेरी बहन अपने लोगों और अपने देवों के बीच वापस चली गई है।' रूथ का जवाब है, 'तेरे लोग मेरे लोग होगें और तेरा प्रभु मेरा प्रभु होगा।' इन सभी प्रमाणों से पता चलता है कि समुदाय में रक्त-संबंध की स्थापना साझे धर्म के प्रति उनकी निष्ठा के कारण होती है। साझे धर्म के बिना रक्त-संबंध स्थापित नहीं हो सकता।

जहां लोग इस ताक में हों कि धर्म-परिवर्तन संबंधी तर्क में दोष निकाले जाएं, वहां बेहतर होगा कि इस बात की कोई गुजांइश ही न छोड़ी जाए कि छिद्रान्वेषी कोई संदेह या गलतफहमी पैदा कर सकें। अतः यह बताना ठीक ही होगा कि कैसे और किस प्रकार धर्म रक्त-संबंध की स्थापना कर सकता है। जवाब सीधा-सादा है। सामूहिक खान-पान के जरिए वह ऐसा करता है[2]। हिंदू अपनी जातिप्रथा का समर्थन करते हुए सहभोज के तर्क की खिल्ली उड़ाते हैं। वे कहते हैं : सहभोज में क्या धरा है? समाज-विज्ञान की दृष्टि से उत्तर है कि उसी में तो सब कुछ धरा है। रक्त-संबंध भाईचारे का सामाजिक प्रतिज्ञा-पत्र है। सभी प्रतिज्ञा-पत्रों की भांति इसे भी हस्ताक्षर करके, मुहरबंद करके समर्पित करना पड़ता है। उसके बाद ही वह बाध्यकारी हो सकता है। हस्ताक्षर करने, मुहरबंद करने और समर्पित करने का तरीका क्या हो, इसकी व्यवस्था धर्म करता है। वह तरीका है, प्रभु-भोज में भागीदारी का। प्रो. स्मिथ[3] के शब्दों में :

> उस भाई-चारे का अंतिम स्वरूप क्या होता है, जो लोगो के सामूहिक खान-पान के फलस्वरूप बनता है या घोषित किया जाता है? हमारे जटिल समाज में समाजिक भाई-चारा कई प्रकार और कई परतों वाला होता है। कतिपय प्रयोजनों के लिए लोग कर्तव्य और सम्मान के बंधनों से एकजुट हो सकते हैं और अन्य सभी प्रयोजनों के लिए वे अलग-थलग रहते हैं। प्राचीन-काल में भी, जैसे *'ओल्ड टेस्टामेंट'* में हम देखते हैं कि विभिन्न प्रकार

---

1. *दि रिलीजन आफ दि सेमाइट्स, व्याख्यान* II, प्रो. स्मिथ ने यह विभेद किया है, जैसे वह प्राचीन समाज और आधुनिक समाज के बीच का विभेद हो। इसका व्यापक महत्व है। वस्तुतः यह ऐसा विभेद है, जो समुदाय और समाज के बीच अंतर करता है।
2. इस विषय के बारे में देखिए स्मिथ की कृति, *दि रिलीजन आफ दि सेमाइट्स,* पृ. 270-71
3. *वही,* पृ. 271-72

की प्रतिज्ञाओं को पक्का करने के लिए सामूहिक सहभोज के पवित्र संस्कार की व्यवस्था थी। लेकिन हर दशा में प्रतिज्ञा निरंकुश और अलंघनीय है। नीति-शास्त्र की दृष्टि से उसे पूर्ण दायित्व वाला कर्तव्य कहा जा सकता है। अब अति आदिम समाज में केवल एक ही प्रकार का भाईचारा है और वह निरंकुश और अलंघनीय है। आदिम मानव के अनुसार, अन्य सभी मानवों की केवल दो श्रेणियां हैं। वे जिनके लिए उसका जीवन पवित्र है और वे जिनके लिए वह पवित्र नहीं है। पहली श्रेणी के लोग उसके बंधु-बांधव हैं। दूसरी श्रेणी के लोग पराए हैं और खतरनाक शत्रु हैं, और उनके साथ तब तक किसी अलंघनीय संबंध स्थापित करने की बात सोचना भी निरर्थक है, जब तक कि उन्हें पहले उस परिधि में नहीं लाया जाता, जिसमें हर व्यक्ति का जीवन उसके सभी साथियों के लिए पवित्र है।

यदि अस्पृश्यों के लिए अपना अलगाव तथा उससे पैदा होने वाले उपद्रवों को समाप्त करने के वास्ते केवल नागरिकता पर्याप्त नहीं है, यदि उसका एकमात्र उपाय रक्त-संबंध की स्थापना है, तो उसका एक ही रास्ता है कि उस समुदाय के धर्म को अंगीकार कर लिया जाए, जिससे वे रक्त-संबंध स्थापित करना चाहते हैं।

अभी तक प्रस्तुत तर्क का उद्देश्य यह दर्शाना है कि किस प्रकार धर्म-परिवर्तन अस्पृश्यों के अलगाव की समस्या का समाधान कर सकता है। अभी दो अन्य प्रश्नों पर विचार करना है। एक तो यह कि क्या धर्म-परिवर्तन से उनकी हीन भावना दूर हो जाएगी? निश्चय ही हम इस बारे में कोई सिद्धांत नहीं बघार सकते। लेकिन हम इस प्रश्न का उत्तर 'हां' में तो दे ही सकते हैं। अस्पृश्यों की हीन भावना उनके अलगाव से, उनके प्रति भेदभाव से और उनके प्रति समाज की बेरुखी से उपजी है। इन्हीं ने उनके भीतर लाचारी की भावना भरी है। इन्हीं के कारण हीन भावना पैदा हुई। हीन भावना से उनका आत्म-बल क्षीण हो गया।

क्या धर्म अस्पृश्यों की इस मनोवृत्ति को बदल सकता है? मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि धर्म यह कर्म कर सकता है, यदि वह सही प्रकार का धर्म हो, यदि धर्म की दृष्टि में व्यक्ति पतित, निकम्मा और बहिष्कृत व्यक्ति न हो, बल्कि बांधव एवं मानव-प्राणी हो; यदि धर्म उसे ऐसा वातावरण प्रदान करे जिसमें उसे लगे कि वहां ऐसी संभावनाएं हैं कि वह स्वयं को दूसरे हर मानव-प्राणी के बराबर समझ सके, तो कोई कारण नहीं कि अस्पृश्य ऐसे धर्म को अंगीकार करके अपने युगों पुराने उस निराशावाद को दूर न कर सकें, जिसके कारण उनमें हीन भावना भर गई है। जैसा कि प्रो. एल्लवुड ने कहा है[1]:

1. *दि रिकंस्ट्रक्शन आफ रिलीजन* पृ. 40-41

मूल्यांकन धर्म की मूल प्रवृत्ति है। वह व्यक्ति के विचारों को नहीं, अपितु उसकी इच्छा और उसके मनोभावों को सर्वव्यापी बनाता है। इस प्रकार वह अपने जगत के साथ अपनी इच्छा और मनोभावों को समरसता प्रदान करता है। अतः वह निराशावाद और नैराश्य के इलाज का शुल्क है। चाहे सभ्य मानव हो या असभ्य, वह जीवन के संग्राम में दोनों के मन में आशा का संचार करता है और आत्म-विश्वास को जागृत करता है। जैसा कि हमने कहा है, वह ऐसा करता है, क्योंकि वह ओजस्वी भावना को स्फूर्ति प्रदान करता है। मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि वह ओजस्वी भावना को इसलिए स्फूर्ति प्रदान करता है कि वह एक अनुकूलन प्रक्रिया है और उसमें जीवन के सभी निम्नतर केंद्रों की मदद से उच्चतर केंद्रों को सुदृढ़ किया जाता है। दूसरे शब्दों में, मनोदैहिक शब्दावलि में मूल्यों को सर्वव्यापी बनाने का अर्थ है कि निम्नतर स्नायु-केंद्र अपनी शक्तियां उच्चतर स्नायु-केंद्रों में उंडेल देते हैं। इस प्रकार वे समन्वय करते हैं और अधिक-से-अधिक मात्रा में अत्यावश्यक जीवन-दक्षता को भीतर की ओर प्रवाहित करते हैं। इस प्रकार जीवन के संकट का सामना करने के लिए धर्म ऊर्जा के नए स्तरों का दोहन करता है और साथ-ही-साथ बाह्य और आंतरिक के बीच और गहरा समन्वय करता है।

क्या धर्म-परिवर्तन अस्पृश्यों की सामान्य सामाजिक स्थिति में सुधार करेगा? यह समझ पाना कठिन है कि किस प्रकार इस प्रश्न के बारे में कोई मतभेद हो सकता है।

शेक्सपियर ने इस प्रश्न का उत्तर दिया है और प्रायः उसे उद्द्त किया जाता है कि नाम में क्या धरा है। पर उससे नाम की समस्या का पर्याप्त समाधान नहीं होता। कहते हैं कि यदि गुलाब को गुलाब न कहा जाए तो भी वह उतनी ही मधुर सुगंध देगा, पर यह कथन तभी सच होगा यदि नामों का कोई प्रयोजन न हो और यदि लोग नामों पर निर्भर करने के बजाए हर मामले की निरख-परख करने का कष्ट उठाएं और अपनी निरख-परख के आधार पर उसके बारे में अपने विचार और दृष्टिकोण बनाएं। स्थिति दुर्भाग्यपूर्ण है। नामों का अति महत्वपूर्ण प्रयोजन है। सामाजिक अर्थव्यवस्था में उनकी भारी भूमिका है। नाम प्रतीक हैं। हर नाम के साथ किसी वस्तु के बारे में कतिपय विचार और भाव जुड़े हैं। वह ठप्पा है। लोग ठप्पे से जान जाते हैं कि वह क्या है। इससे उन्हें कष्ट नहीं उठाना पड़ता। उन्हें व्यक्तिगत रूप से हर मामले की निरख-परख नहीं करनी पड़ती। उन्हें स्वयं यह तय नहीं करना पड़ता कि वस्तु से सामान्यतः जुड़े विचार और भाव सही हैं या नहीं। समाज में लोगों का पाला इतनी सारी वस्तुओं से पड़ता है कि उनके लिए हर मामले की निरख-परख करना असंभव ही होगा। वे नाम पर निर्भर करेंगे। यही कारण है कि सभी विज्ञापक बढ़िया नाम खोजने

के लिए आतुर रहते हैं। यदि नाम आकर्षक नहीं होगा तो लोग चीज नहीं खरीदेंगे।

'अस्पृश्य' नाम बुरा नाम है। वह घृणा पैदा करता है। वह अप्रिय है और उससे दुर्गन्ध आती है। 'अस्पृश्य' नाम ही अस्पृश्य के प्रति हिंदू के सामाजिक रवैए का निर्धारण करता है। एक नपातुला रवैया 'अस्पृश्यों' के प्रति है। उसकी नापतोल उस दुर्गन्ध से की जाती है, जो 'अस्पृश्य' नाम के भीतर भरी है। लोग हर अस्पृश्य के व्यक्तिगत गुणों की परख करना ही नहीं चाहते, भले ही वह कितना भी गुणी क्यों न हो। सभी अस्पृश्य यह अनुभव करते हैं। आम तौर पर कोशिश यही होती है कि वे स्वयं को 'अस्पृश्य' के अलावा किसी अन्य नाम से पुकारें। चमार अपने आपको रविदास अथवा जाटव कहते हैं। डोम अपने आपको शिल्पकार कहते हैं। पेरिया स्वयं को आदि-द्रविड़ कहते हैं। मदिगा स्वयं को अरुन्धात्य कहते हैं। महार स्वयं को चोखामेला अथवा सोमवंशी कहते हैं। भंगी स्वयं को बाल्मीकि कहते हैं। अपनी बस्तियों से बाहर वे सभी स्वयं को ईसाई कहेंगे।

अस्पृश्य जानते हैं कि यदि वे स्वयं को अस्पृश्य कहेंगे तो हिंदू एकदम उबल पड़ेगा और उन पर अपने क्रोध और द्वेष की वर्षा कर देगा। यही कारण है कि वे स्वयं ऐसे नाम रखते हैं, जो रक्षा के लिए रंग बदलने की प्रक्रिया के अनुकूल हों।

प्रायः ऐसा होता है कि रंग बदलने का यह प्रयास अपने प्रयोजन में पूर्णतः विफल हो जाता है, क्योंकि हिंदुओं की दृष्टि में हिंदू होना कोई अंतिम सामाजिक श्रेणी नहीं है। अंतिम सामाजिक श्रेणी है, जाति अथवा उप-जाति, यदि कोई उप-जाति है। जब हिंदू आपस में मिलते हैं तो निश्चय ही वे पूछते हैं, 'आपका परिचय'। यदि इस प्रश्न का उत्तर दिया जाए कि 'मैं हिंदू हूं' तो वह संतोष जनक उत्तर नहीं होगा। निश्चय ही उसे अंतिम उत्तर के रूप में स्वीकार नहीं किया जाएगा। निश्चय ही पूछताछ जारी रहेगी। निश्चय ही 'हिंदू' उत्तर के बाद प्रश्न किया जाएगा, 'कौन जात?'। निश्चय ही उसके बाद पूछा जाएगा : 'कौन उप-जात?' जब पूछने वाला अंतिम सामाजिक श्रेणी, यानी जाति अथवा उप-जाति पर पहुंच जाएगा, तभी वह पूछताछ बंद करेगा।

जो अस्पृश्य रक्षा के लिए रंग बदल कर नया नाम धारण करता है, उसे पता चलता है कि नए नाम से काम नहीं बनता। ताबड़तोड़ प्रश्नों की बौछार से उसे धराशाही कर दिया जाता है। उसे बताना पड़ता है कि वह अस्पृश्य है। शुरू में ही स्वेच्छा से असलियत बता देने से जितना गुस्सा उस पर उतारा जाता, उससे भी कहीं अधिक कोप का भाजन उसे असलियत छिपाने के बाद बनना पड़ता है।

इस चर्चा से दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं। एक तो यह कि अस्पृश्यों का घटिया दर्जा एक दुर्गन्ध वाले नाम के साथ जुड़ा हुआ है। जब तक नाम नहीं बदला

जाता, तब तक उनकी सामाजिक स्थिति में सुधार की कोई गुंजाइश नहीं है। दूसरी बात यह है कि हिंदू धर्म के भीतर नाम बदलने से काम नहीं बनेगा। हिंदू ऐसे नाम की जड़ तक पहुंचने से नहीं चूकेगा और अस्पृश्य को स्वयं यह स्वीकार करने के लिए विवश कर देगा कि वह एक अस्पृश्य है।

नाम का महत्व ही नहीं, भारी महत्व है, क्योंकि नाम अस्पृश्यों की स्थिति में क्रांति ला सकता है। लेकिन निश्चय ही नाम ऐसा हो, जो हिंदू धर्म से बाहर के समुदाय का नाम हो। वह ऐसा हो कि हिंदू धर्म उसे विकृत और अवनत न कर सके। ऐसा नाम अस्पृश्यों की संपत्ति केवल तभी हो सकता है, जब वे धर्म-परिवर्तन कर लें। हिंदू धर्म के भीतर नाम बदलकर धर्म-परिवर्तन गुप्त धर्म-परिवर्तन होगा और वह किसी काम का नहीं हो सकता।

धर्म-परिवर्तन संबंधी यह चर्चा कुछ निरर्थक प्रतीत हो सकती है। वह निरर्थक होगी भी। वह तब तक सार्थक नहीं हो सकती, जब तक यह मालूम न हो जाए कि अस्पृश्य किस धर्म को स्वीकार करना चाहते हैं। क्योंकि धर्म-परिवर्तन से कौन-सा विशेष लाभ प्राप्त होगा, वह चुने गए धर्म और उस धर्म के अनुयायियों की सामाजिक स्थिति पर निर्भर करेगा। हो सकता है कि एक धर्म उन्हें धर्म-परिवर्तन के तीनों के तीनों लाभ दे दे, दूसरा केवल दो ही लाभ दे और तीसरा केवल एक ही लाभ दे। अस्पृश्य किस धर्म को चुनें, यह इस अध्याय की विषय-वस्तु नहीं है। इस अध्याय की विषय-वस्तु है कि क्या धर्म-परिवर्तन अस्पृश्यता की समस्या को हल कर सकता है। निश्चय ही इसका उत्तर है, 'कर सकता है।'

निश्चय ही हमारे तर्क का बल धर्म के उस दृष्टिकोण पर निर्भर करता है, जो सामान्य दृष्टिकोण से कुछ भिन्न है। सामान्य दृष्टिकोण के अनुसार धर्म का सरोकार नारायण से नर के संबंध से है और उसका केवल इतना ही अर्थ है। हमारे दृष्टिकोण के अनुसार धर्म का प्रयोजन आत्माओं का त्राण नहीं है, अपितु उसका प्रयोजन तो है समाज की रक्षा और व्यक्ति का कल्याण। जो लोग धर्म के सामान्य दृष्टिकोण को स्वीकार करते हैं, केवल उनके लिए ही यह समझ पाना कठिन है कि किस प्रकार धर्म-परिवर्तन अस्पृश्यों की समस्या को हल कर सकता है। जो लोग इस अध्याय में वर्णित धर्म-संबंधी दृष्टिकोण को स्वीकार करते हैं, उन्हें हमारे निष्कर्ष की सार्थकता को स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं होगी।

वे धन्य हैं जो अनुभव करते हैं कि जिन लोगों में हमारा जन्म हुआ है, उनका उद्धार करना हमारा कर्तव्य है। धन्य हैं वे, जो गुलामी का खात्मा करने के लिए सब-कुछ न्यौछावर करते हैं, और धन्य हैं वे, जो सुख और दुख, मान और सम्मान, कष्ट और कठिनाइयों, आंधी और तूफान की परवाह किए बिना तब तक संघर्ष करते रहेंगे, जब तक कि अस्पृश्यों को उनके मानवीय जन्मसिद्ध अधिकार न मिल जाएं।

– भीमराव अम्बेडकर

14

जातिप्रथा और धर्म-परिवर्तन[1]

हिंदू समाज की वर्तमान उथल-पुथल का कारण है, आत्म-परिरक्षण की भावना। एक समय था, जब इस समाज के अभिजात वर्ग को अपने परिरक्षण के बारे में कोई डर नहीं था। उनका तर्क था कि हिंदू समाज एक प्राचीनतम समाज है, उसने अनेक प्रतिकूल शक्तियों के प्रहार को झेला है, अतः उसकी सभ्यता और संस्कृति में निश्चय ही कोई अंतर्निहित शक्ति और दमखम होगा; तभी तो उसकी हस्ती बनी रही। अतः उनका दृढ़ विश्वास था कि उनके समाज का तो सदा जीवित रहना निश्चित है। लगता है कि हाल की घटनाओं ने उनके इस विश्वास को झकझोर दिया है। हाल ही में समूचे देश में जो हिंदू-मुस्लिम दंगे हुए हैं, उनमें देखा गया है कि मुसलमानों का छोटा-सा गिरोह हिंदुओं को पीट ही नहीं सकता, बल्कि बुरी तरह पीट सकता है। अतः हिंदुओं का अभिजात वर्ग नए सिरे से इस प्रश्न पर विचार कर रहा है कि अस्तित्व के संघर्ष में क्या इस प्रकार जीवित रहने का कोई मूल्य है। जो गर्वीला हिंदू सदा ही यह राग अलापता रहा है कि उसके जीवित रहने का तथ्य इस बात का प्रमाण है कि वह जीवित रहने में सक्षम है, उसने कभी शांत मन से यह नहीं सोचा कि जीवित रहना कई प्रकार का है और सभी का मूल्य एक जैसा नहीं होता। हम शत्रु के सामने सीना तानकर और उसे जीतकर अपना अस्तित्व कायम रख सकते हैं अथवा हम पीछे हटकर और स्वयं को सुरक्षित स्थान में छिपाकर भी अपना अस्तित्व कायम रख सकते हैं। दोनों ही स्थितियों में अस्तित्व बना रहेगा। लेकिन निश्चय ही दोनों अस्तित्वों में आकाश-पाताल का अंतर है। महत्व अस्तित्व के तथ्य का नहीं है, बल्कि अस्तित्व के स्तर का है। हिंदू जीवित रह सकते हैं, लेकिन प्रश्न यह है कि वे आजाद लोगों के रूप में जीवित रहेंगे या गुलामों के रूप में। लेकिन मामला इतना निराशाजनक लगता है कि मान भी लें कि वे जैसे-तैसे गुलामों के रूप में जीवित रह सकते हैं, फिर भी यह पूर्णतः निश्चित नहीं दीख पड़ता कि वे हिंदुओं के रूप में जीवित रह सकते हैं, क्योंकि मुसलमानों ने न केवल उन्हें बाहुबल के

1. मूलतः, *तेलुगु समाचार स्पेशल नंबर*, में प्रकाशित, नवंबर 1926

संघर्ष में मात दी है, बल्कि सांस्कृतिक संघर्ष में भी मात दी है। हाल के दिनों में इस्लामी संस्कृति के प्रसार के लिए मुसलमानों ने एक नियमित और तेज अभियान चलाया है। कहा जाता है कि धर्म-परिवर्तन के अपने आंदोलन द्वारा उन्होंने हिंदू धर्म के लोगों को अपनी ओर करके अपनी संख्या मे भारी वृद्धि कर ली है। मुसलमानों का कैसा सौभाग्य! अज्ञात कुल के कोई सात करोड़ लोगों की एक विशाल संख्या है। उन्हें हिंदू कहा तो जाता है, पर उनका हिंदू धर्म से कोई खास घनिष्ठ संबध नहीं है। हिंदू धर्म ने उनकी स्थिति को इतना असहनीय बना दिया है कि उन्हें सहज ही इस्लाम धर्म ग्रहण करने के लिए फुसलाया जा सकता है। उनमें से कुछ तो इस्लाम में शामिल हो रहे हैं और अन्य अनेक शामिल हो सकते हैं।

हिंदू अभिजात वर्ग के मानस मे खलबली मचाने के लिए यह काफी है। यदि हिंदू संख्या में अधिक होने पर भी मुसलमानों का सामना नहीं कर सकते, तो उस समय उनकी क्या दुर्गति होगी, जब उनके अनुयायियों की संख्या इस्लाम धर्म ग्रहण कर लेने के कारण और घट जाएगी। हिंदू अनुभव करने लगे हैं कि उन्हें अपने लोगों को इतर धर्म में जाने से रोकना होगा। उन्हें अपनी संस्कृति को बचाना होगा। इससे शुद्धि आंदोलन या लोगो को पुनः हिंदू धर्म में लेने के आंदोलन की उत्पत्ति हुई।

कुछ रूढ़िवादी लोग इस आंदोलन का विरोध इस आधार पर करते है कि हिंदू धर्म कभी भी धर्म-प्रचार करने वाला धर्म नहीं था और हिंदू को जन्म से ही ऐसा होना चाहिए। इस दृष्टिकोण के पक्ष मे कुछ कहा जा सकता है। जहां तक स्मृति या परंपरा पहुंच सकती है, उस काल से आज तक कभी भी धर्म-प्रचार हिंदू धर्म का व्यवहार पक्ष नहीं रहा है। मिशनों के निवेदन-दिवस 3 दिसंबर 1873 को वेस्टमिन्स्टर एब्बे की ओर से महान जर्मन विद्वान और प्राच्यविद प्रो. मैक्स मूलर ने जो अभिभाषण दिया था, उसमें उन्होने जोरदार शब्दों में कहा था कि हिंदू धर्म, धर्म-प्रचार करने वाला धर्म नहीं है। अतः जो रूढ़िवादी वर्ग स्वार्थ परायणता में विश्वास नहीं करता, वह अनुभव कर सकता है कि शुद्धि के उनके विरोध का सुदृढ़ आधार है, क्योंकि उस प्रथा का हिंदू धर्म के सर्वोपरि मूल सिद्धातों से प्रत्यक्ष विरोध है। लेकिन वैसी ही ख्याति वाले अन्य विद्वान हैं, जो शुद्धि आंदोलन के पक्षधरो का समर्थन करते है। उनकी राय है कि हिंदू धर्म, धर्म-प्रचार करने वाला धर्म रहा है और वह ऐसा हो सकता है। प्रो. जौली ने अपने लेख 'डाई औसब्रेटुग डेर इंडिसचेन फुल्टर' मे उन साधनों और उपायों का विशद् वर्णन किया है, जो देश के आदिवासियों के बीच हिंदू धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए प्राचीन हिंदू राजाओं एवं प्रचारको ने अपनाए है। प्रो. मैक्स मूलर के तर्क का खंडन करने वाले दिवंगत सर अल्फ्रेड लयाल ने भी यह सिद्ध

करने का प्रयास किया कि हिंदू धर्म ने धर्म का प्रचार किया है। केस की संभाव्यता निश्चय ही जौली और लयाल के पक्ष में दीख पड़ती है, क्योंकि जब तक हम यह नहीं मानते कि हिंदू धर्म ने निश्चय ही कुछ-न-कुछ प्रचार व प्रसार का कार्य किया, तब तक इस बात का आकलन नहीं किया जा सकता कि किस प्रकार उसका प्रसार एक ऐसे विशाल महाद्वीप में हुआ, जिसमें अपनी-अपनी विशिष्ट संस्कृति वाली विभिन्न जातियां बसी हुई हैं। इसके अलावा कतिपय यज्ञों तथा यागों के प्रचलन को तभी स्पष्ट किया जा सकता है, जब यह मान लिया जाए कि व्रात्यों (पतितों, अनार्यों) की शुद्धि के लिए अनुष्ठान थे। अतः हम निरापद रूप से यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि प्राचीन-काल में हिंदू धर्म ने धर्म का प्रचार व प्रसार किया। लेकिन किसी कारणवश उसके ऐतिहासिक क्रम में काफी समय पूर्व यह कार्य बंद हो गया था।

मैं इस प्रश्न पर विचार करना चाहता हूं कि किस कारण हिंदू धर्म, धर्म-प्रचार करने वाला धर्म नहीं रहा। इसके अलग-अलग स्पष्टीकरण हो सकते हैं। मैं अपना निजी स्पष्टीकरण प्रस्तुत करना चाहता हूं। अरस्तू ने कहा है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। अपने कथन के समर्थन में अरस्तू के तर्कों का जो भी औचित्य रहा हो, पर इतना तो सच है कि यह तो संभव ही नहीं है कि कोई व्यक्ति शुरू से ही इतना व्यक्तिवादी हो जाए कि वह स्वयं को अपने संगी-साथियों से एकदम अलग-थलग कर ले। सामाजिक बंधन मजबूत बंधन है और वह आत्म-चेतना के विकास के साथ ही गहरा जुड़ा हुआ है। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी और अपने हित की चिंता में दूसरों की तथा उनके हितों की मान्यता शामिल है और एक प्रकार के प्रयोजन के लिए उसका प्रयास, चाहे उदार हो या स्वार्थपूर्ण, उस हद तक दूसरे का भी प्रयास है। सभी अवस्थाओं में व्यक्ति के जीवन, हितों और प्रयोजनों के लिए सामाजिक संबंध का मूल महत्व है। अपने जीवन की सभी परिस्थितियों में वह सामाजिक संबंधों की ओजस्विता को अनुभव करता है और समझता है। संक्षेप में, जैसे पानी के बिना मछली जिंदा नहीं रह सकती, वैसे ही वह समाज के बिना जिंदा नहीं रह सकता।

इस तथ्य से यह निष्कर्ष निकलता है कि इससे पूर्व कि कोई समाज किसी का धर्म-परिवर्तन कर सके, उसे यह देखना ही होगा कि उसके गठन में ऐसी व्यवस्था हो कि परदेसियों को उसका सदस्य बनाया जा सके और वे उसके सामाजिक जीवन में भाग ले सकें। उसका उपयोग इस प्रकार का होना ही चाहिए कि उन व्यक्तियों के बीच कोई भेदभाव न हो, जो उसमें पैदा हुए हैं और जो उसमें बाहर से लाए गए हैं। उसका हर स्थिति मे खुलेदिल से स्वागत होना ही चाहिए, ताकि वह उसके जीवन में प्रवेश कर सके और इस प्रकार उस समाज में घुलमिल और फल-फूल सके। यदि परदेशी के बारे में धर्म-परिवर्तन संबंधी

ऐसा कोई प्रावधान नहीं होगा तो तुरंत यह प्रश्न उठ खड़ा होगा कि धर्म-परिवर्तन करने वाले को कहां स्थान दिया जाए। यदि धर्म-परिवर्तन करने वाले के लिए कोई स्थान नहीं होगा, तो न तो धर्म-परिवर्तन के लिए कोई न्योता दिया जा सकता है और न ही उसे स्वीकार किया जा सकता है।

धर्म-परिवर्तन करके हिंदू धर्म ग्रहण करने वाले के लिए हिंदू समाज में क्या कोई स्थान है? अब हिंदू समाज के संगठन में जातिप्रथा की प्रधानता है। प्रत्येक जाति में सजातीय विवाह होते हैं और प्रत्येक दूसरे का विरोध करती है। या यूं कहिए कि वह केवल उसी व्यक्ति को अपना सदस्य बनाती है, जो उसके भीतर पैदा होता है और बाहर के किसी व्यक्ति को अपने भीतर नहीं आने देती। चूंकि हिंदू समाज जातियों का परिसंघ है और प्रत्येक जाति अपने-अपने अहाते में बंद हैं, अतः उसमे धर्म-परिवर्तन करने वाले के लिए कोई स्थान नहीं है। कोई भी जाति उसे अपनी जाति में शामिल नहीं करेगी। किस कारण हिंदू धर्म, धर्म प्रचारक धर्म नही रहा, इस प्रश्न का उत्तर इस तथ्य में खोजा जा सकता है कि उसने जातिप्रथा का विकास किया। जातिप्रथा और धर्म-परिवर्तन परस्पर विरोधी हैं। जब तक सामूहिक धर्म-परिवर्तन संभव था, तब तक हिंदू समाज धर्म-परिवर्तन कर सकता था, क्योंकि धर्म-परिवर्तन करने वाले इतनी अधिक संख्या में होते थे कि वे एक ऐसी नई जाति का गठन कर सकें जो स्वयं उनके बीच में से सामाजिक जीवन के तत्व प्रदान कर सकें। लेकिन जब सामूहिक धर्म-परिवर्तन की गुंजाइश न रही और केवल व्यक्ति का धर्म-परिवर्तन किया जा सका तो अनिवार्य था कि हिंदू धर्म, धर्म प्रचारक धर्म नहीं रहा, क्योंकि उसका सामाजिक संगठन धर्म-परिवर्तन करने वालो के लिए कोई स्थान नहीं बना सका।

किस कारण हिंदू धर्म, धर्म प्रचारक धर्म नहीं रहा, इस प्रश्न की व्याख्या मैंने इसलिए नही की है कि एक नई व्याख्या देकर विचार की मौलिकता का श्रेय प्राप्त कर सकू। मैंने प्रश्न की व्याख्या करके उसका उत्तर दिया है, क्योंकि मैं अनुभव करता हू कि दोनों का शुद्धि आंदोलन से अति महत्वपूर्ण संबंध है। चूंकि इस आंदोलन के पक्षधरों के प्रति मेरी गहरी सहानुभूति है, अतः मैं कहना ही चाहूंगा कि उन्होंने अपने आंदोलन की सफलता के मार्ग की बाधाओं का विश्लेषण नहीं किया है। शुद्धि आंदोलन का उद्देश्य है कि वह हिंदू समाज की संख्या में वृद्धि करे। कोई समाज इसलिए सशक्त नही होता कि उसकी संख्या अधिक है, बल्कि इसलिए होता है कि उसका गठन ठोस होता है। ऐसी मिसालों की कमी नहीं है, जहा धर्मोन्मत्तों के एक संगठित सशक्त दल ने असंगठित धर्मयोद्धाओं की एक बडी सेना को छिन्न-भिन्न कर दिया है। हिंदू-मुस्लिम दंगों में भी यह सिद्ध हो चुका है कि हिंदुओं की वहीं पिटाई नही होती, जहा उनकी संख्या कम है, अपितु उस स्थान पर भी मुस्लिम उन्हें पीट देते है, जहां उनकी संख्या अधिक

होती है। मोपलाओं का मामला संगत है। केवल उसी से पता चल जाना चाहिए कि हिंदुओं की कमजोरी उनकी संख्या की कमी नहीं हैं, बल्कि उनमें एकजुटता का अभाव है। यदि हिंदू समाज की एकजुटता को सशक्त करना है तो हमें उन शक्तियों से निपटना होगा, जिन पर उसके विघटन का दायित्व है। मेरी आशंका है कि हिंदू समाज की एकजुटता के स्थान पर यदि केवल शुद्धि का सहारा लिया गया तो इससे और अधिक विघटन होगा। उससे मुस्लिम संप्रदाय नाराज हो जाएगा और हिंदुओं को कोई लाभ भी नहीं होगा। शुद्धि के कारण जो ऐसा व्यक्ति आएगा, वह बेघर ही रहेगा। वह अलग-थलग एकाकी जीवन ही बिताएगा और उसकी किसी के प्रति न कोई विशिष्ठ निष्ठा होगी और न ही कोई खास लगाव होगा। यदि शुद्धि के कारण हिंदू शिविर के भीतर श्रद्धानंद की मलकाना जैसी विशाल खेप आ भी जाए तो उससे केवल यही होगा कि वर्तमान संख्या में एक और जाति की वृद्धि हो जाएगी। अब देखिए, जितनी अधिकता जातियों की होगी, हिंदू समाज का उतना ही अधिक अलगाव और विलगाव होगा और वह उतना ही अधिक कमजोर होगा। यदि हिंदू समाज जीवित रहना चाहता है तो उसे सोचना ही पड़ेगा कि वह संख्या में वृद्धि न करे, बल्कि अपनी एकात्मता में वृद्धि करे और उसका अर्थ है, जातिप्रथा का उन्मूलन। जातिप्रथा का उन्मूलन हिंदुओं का सच्चा संघटन है। जब जातिप्रथा के उन्मूलन से संघटन की प्राप्ति हो जाएगी तो शुद्धि की जरूरत ही नहीं रहेगी और यदि शुद्धि की भी गई तो उससे वास्तविक शक्ति प्राप्त होगी। जातिप्रथा के रहते वह संभव नहीं होगा और यदि शुद्धि को अमल में लाया गया तो वह हिंदुओं के वास्तविक संघटन और एकात्मता के लिए हानिकर सिद्ध होगी। लेकिन जैसे-तैसे हिंदू समाज का अति क्रांतिकारी तथा प्रबल सुधारक जातिप्रथा के उन्मूलन की अनदेखी करता है। वह धर्मान्तरित हिंदू के पुनः धर्मान्तरण जैसे निरर्थक उपायों की वकालत करता है। वह कहता है कि खानपान में परिवर्तन किया जाए और अखाड़े खोले जाएं। किसी दिन तो हिंदुओं को इस बात का आभास होगा कि वे न तो अपने समाज को बचा सकते हैं और न ही अपनी जातिप्रथा को। आशा की जाती कि वह दिन अधिक दूर नहीं है।

जाति-भावनाओं से आर्थिक विकास रुकता है। इससे वे स्थितियां पैदा हो जाती हैं, जो कृषि तथा अन्य क्षेत्रों में सामूहिक प्रयत्नों के विरुद्ध हैं। जात-पांत के रहते ग्रामीण विकास समाजवादी सिद्धांतों के विरुद्ध रहेगा। इसलिए जातिवाद के कारण जो बड़े-बड़े इजारे बन गए हैं, उन्हें तोड़ा जाए और जमीन उन लोगों में बांट दी जाए, जो उसे जोतते हैं या सामूहिक खेती कर सकते हैं, जिससे शहरों और गांवों में तेजी से विकास हो।

— भीमराव अम्बेडकर

15

अस्पृश्यों का ईसाईकरण

I. *भारत में ईसाई धर्म का विकास,*

II. *धर्म-प्रचार में लगाया गया समय तथा पैसा, और*

III. *मंद विकास के कारण।*

I

भारत में ईसाई धर्म कितना पुराना है? भारतवासियों में उसने कितनी पैठ की है? जो भी अस्पृश्यों में रुचि रखता है, वह इन प्रश्नों को पूछने से नहीं चूकेगा। ये दो प्रश्न इतने गहरे जुड़े हैं कि ईसाई धर्म के प्रसार का प्रयास निरर्थक होता, यदि भारत में अस्पृश्यों का इतना विशाल समूह न होता, जो अपनी निजी परिस्थितियों के कारण ईसाई धर्म का सामाजिक संदेश सुनने के लिए सबसे अधिक तत्पर हैं।

निम्न आंकड़ों से कुछ अंदाजा हो जाएगा कि 1931 की जनगणना के अनुसार भारत में अन्य संप्रदायों के मुकावले भारतीय ईसाइयों की संख्या कितनी थी।

भारत तथा बर्मा

धर्मवार आबादी	जनगणना (1891)	जनगणना (1921)	जनगणना (1931)	वृद्धि+ कमी-
(1)	(2)	(3)	(4)	(5)
हिंदू	-	216,734,586	239,195,140	+10.4
मुस्लिम	-	68,735,233	77,677,545	+13
बौद्ध	-	11,571,268	12,786,806	+10.5
सिख	-	3,238,803	4,335,771	+33.9

(1)	(2)	(3)	(4)	(5)
आदिम धर्म	-	9,774,611	8,280,347	-15.3
ईसाई	-	4,754,064	6,296,763	+32.5
जैन	-	1,178,596	1,252,105	+6.2
पारसी	-	101,778	109.752	+7.8
यहूदी	-	21,778	24,141	+10.9
असूचित	-	18,004	2,860,187	...
कुल योग		316,128,721	352,818,557	+10.6

यह सच है कि 1921 और 1931 के दौरान ईसाई धर्म ने भारी वृद्धि दिखाई है। वृद्धि की दृष्टि से सिख धर्म का स्थान प्रथम है। दूसरा स्थान ईसाई धर्म का हैं और धर्म-प्रचार करने वाले एक अन्य धर्म इस्लाम का स्थान तीसरा है। पहले और दूसरे स्थान में अंतर इतना थोड़ा है कि धर्म द्वारा प्राप्त दूसरे स्थान को प्रथम स्थान जैसा ही माना जा सकता है। फिर, दूसरे और इस्लाम द्वारा प्राप्त तीसरे स्थान के बीच अंतर बड़ा है कि ईसाई इस बात पर गर्व कर सकते हैं कि उन्होंने इतने बड़े प्रतिद्वंद्वी को बहुत पीछे छोड़ दिया है।

इसके बावजूद तथ्य यह है कि 6,296,763 की यह संख्या कुल संख्या 352,818,557 में से है। इसका अर्थ है कि भारत में ईसाइयों की आबादी कुल आबादी की लगभग 1.7 प्रतिशत है।

II

वह भी कितने समय में और कितने व्यय के बाद? जहां तक व्यय का संबंध है, कोई सही आंकड़ा नहीं दिया जा सकता। श्री जार्ज स्मिथ ने 1893 में *'दि कनवर्जन आफ इंडिया'* (भारत का धर्म-परिवर्तन) पर अपनी पुस्तक प्रकाशित की थी। उसमें दिए गए आंकड़ों से कुछ आभास उन साधनों का लग जाता है, जिनका उपयोग गैर-ईसाई देशों में धर्म-प्रचार के लिए ईसाई देशों ने किया था। उन्होंने कहा है :

> विशेषतः पूर्वी चर्चों वाले एशिया तथा उत्तरी अफ्रीका के उन प्रदेशों में जिनके लिए अधिकांश प्रयास अमरीकी करते हैं, हम उनके सशक्त तथा आवश्यक प्रयासों की गणना नहीं करते। न ही हम विशुद्ध आस्था और

जीवन-शैली वाले ईसाइयों द्वारा ईसाइयों के लिए किए गए प्रयासों की गणना करते हैं। हम उन मिशनरियों की अनेक पत्नियों की गणना भी नहीं करते, आंकड़ों की दृष्टि से जिनका प्रतिनिधित्व उनके पति करते हैं। डेनिश मिशनरी सोसाइटी के अध्यक्ष माननीय जे. वाहल ने ये निष्कर्ष उन्हें छोड़कर दिए हैं। हम मानते हैं कि उनका आकलन सबसे सही ढंग से किया गया है और जहां आकलन के बिना काम नहीं चला, वहां लगभग अति सतर्कता से आकलन किया गया है। तुर्की और मिस्र में केवल मुस्लिमों के बीच किए गए काम का आकलन किया गया है।

	1890	1891
आय (अंग्रेजी धन)	पौंड 2,412,938	पौंड 2,749,340
मिशनरी वर्ग	4,652	5,094
मिशनरी वर्ग (अविवाहित महिलाएं)	2,118	2,445
देशी पादरी	3,424	3,730
अन्य देशी मददगार	36,405	40,438
ईसाई धर्म ग्रहण करने वाले	966,856	1,168,560

हमने 1892 के निष्कर्षों का ब्योरेवार आकलन नहीं किया है, क्योंकि वे प्रकाशित होने ही वाले हैं। वर्ष 1893 का तो सवाल ही नहीं उठता। लेकिन उसे विशेषज्ञ स्वयं ही कर सकते हैं। हम तो बस यही कहेंगे कि खासकर भारत में इन दो वर्षों में देशी ईसाइयों की संख्या में भारी वृद्धि हुई है। उसे ध्यान में रखते हुए अब उनकी संख्या 1,300,000 होनी चाहिए। उसके अनुसार सभी गैर-ईसाई देशों में देशी ईसाई समुदाय की संख्या 5,200,000 होनी चाहिए।

डीन वाहल के आंकड़ों का आधार वे रिपोर्टें हैं, जो अमरीका के लिए 1649 की क्रौमवेल्स न्यू इंग्लैंड कंपनी से लेकर 1891 तक की 304 मिशन सोसाइटियों और एजेंसियों से प्राप्त हुई हैं। अगले पृष्ठ पर परिष्कृत ईसाई जगत से प्राप्त विवरण का सारांश दिया गया है। सन् 1891 में ब्रिटिश साम्राज्य के 160 मिशन चर्चों तथा सोसाइटियों से 1,659,830 पौंड तथा अमरीका के 57 मिशन चर्चों आदि से 786,992 पौंड एकत्र किए गए। अंग्रेजी-भाषी दो बड़े देशों ने मिलकर गैर-ईसाई जगत के ईसाईकरण पर 24,46,822 पौंड खर्च किए। शेष 302,518 पौंड का अंशदान जर्मनी तथा स्विट्जरलैंड, नीदरलैंड्स, डेन्मार्क, फ्रांस, नार्वे, स्वीडन तथा एशिया ने किया।

अब इस ध्येय के लिए प्रयुक्त संसाधनों का अनुमान प्रस्तुत करना संभव नहीं है, क्योंकि अब उनका प्रकाशन नहीं किया जाता। लेकिन इस बात की जानकारी के लिए हमारे पास पर्याप्त आंकड़े हैं कि इन 60 लाख लोगों के ईसाईकरण में कितना समय लगा।

इस बात का कोई लेखा-जोखा नहीं है कि किस प्रथम मिशनरी ने भारत में आकर ईसाई धर्म का बीज बोया। ऐसा विश्वास है कि भारत में ईसाई धर्म का उद्गम देवदूत से हुआ। कहा जाता है कि देवदूत टामस इसके संस्थापक थे। ईसाई धर्म का उद्गम देवदूत से हुआ, यह केवल एक दंतकथा है, भले ही मद्रास के निकट तथाकथित सेंट टामस का माउंट है, जिसे देवदूत का कब्रिस्तान कहा जाता है। ऐसा कोई विश्वसनीय साक्ष्य नहीं है, जिससे पता चल सके कि पहली सदी में भी भारत में *'बाइबिल'* के संदेश का प्रचार हुआ था। कुछ ऐसा साक्ष्य मिलता है कि दूसरी सदी में *'बाइबिल'* का संदेश दक्षिण भारत में समुद्र तट पर बसने वालों, श्रीलंका के सीपी निकालने वाले गोताखोरों तथा मलाबार और कोरोमंडल के तटवर्ती किसानों के कानों में पड़ा था। जब वापस लौटने पर मिस्री नाविकों ने यह समाचार दिया तो वह अलेक्जांड्रिया के ईसाइयों में फैला। सबसे पहले अलेक्जांड्रिया ने भारत में एक ईसाई मिशनरी को भेजा। उसका नाम इतिहास में दर्ज है। उसका नाम पैन्टोनस है। वह यूनान के स्टोइक दार्शनिक थे। वह ईसाई बन गए थे। उन्हें अलेक्जान्ड्रिया के बिशप डेमेट्रियस ने दीक्षार्थी-विद्यालय के प्रधानाचार्य और एकमात्र धर्म-शिक्षक के रूप में नियुक्त किया था। इस विद्यालय की स्थापना गैर-ईसाइयों को ईसाई धर्म के तत्वों और सिद्धांतों की शिक्षा देने के लिए की गई थी। 180 और 190 ई. के वर्षों के बीच किसी समय भारत के ईसाइयों ने अलेक्जान्ड्रिया के बिशप से अपील की कि उनके पास किसी मिशनरी को भेजा जाए।

तदनुसार, पैन्टोनस को भेजा गया। इसका कोई लेखा-जोखा नहीं है कि भारत में वह कितने दिन रहे, देश के भीतर उन्होंने कहां तक यात्रा की और वस्तुतः उन्होंने क्या-क्या कार्य किया। बस केवल इतना पता चलता है कि वह लौटकर अलेक्जांड्रिया चले गए और 211 ई. तक उसके प्रधानाचार्य बने रहे।

तीसरी सदी के दौरान भारत में *'बाइबिल'* के प्रचार-प्रसार के बारे में अधिक जानकारी नहीं है। लेकिन यह तथ्य उल्लेखनीय है कि जब सम्राट कान्स्टेन्टाइन जोहानेस के धर्म-परिवर्तन के बाद 325 ई. में निकाका की धर्म-परिषद् की बैठक हुई थी, तो एकत्रित धर्माधिकारियों में से एक ने स्वयं को 'फारस तथा विशाल भारत का अधिधर्माध्यक्ष' बताया था। इस तथ्य से पता चलता है कि उस समय

भारत के समुद्र तट पर ईसाइयों का एक विशाल और महत्वपूर्ण चर्च स्थापित था। दूसरी ओर, इसमें संभवतः उस धर्माध्यक्षीय दावे से कुछ अधिक दीख पड़ता है, जिसे एस्थर की पुस्तक के अनुसार सदा ही फारस के साम्राज्य का प्रांत माना जाता रहा।

तीसरी सदी के प्रारंभ से पांचवी सदी के अंत तक घटनास्थल अलेक्जांड्रिया से हटकर एंटियोक हो जाता है। ईसाई उद्यम का भार एंटियोक ने अपने कंधों पर ले लिया।

छठी सदी ईसाई धर्म के प्रचार के लिए अंतिम शांतिपूर्ण काल रही। लगता है कि वहां एक युग का अंत हो गया। उसके बाद सारसेनों (अरबों) का उत्थान हुआ। वे मुहम्मद के कुरान और तलवार को समूचे पश्चिमी एशिया और उत्तरी अफ्रीका तक ले गए। फिर उन्होंने स्वयं यूरोप को वियना तक और स्पेन से फ्रांस के मध्य तक आतंकित कर दिया। नतीजा यह हुआ कि सभी ईसाई दिशाहीन हो गए और उनका धर्म-प्रचार अनेक सदियों तक रुका रहा।

वर्ष 1497 में वास्कोडिगामा ने भारत की यात्रा की। उससे भारत में ईसाई धर्म-प्रचार के इतिहास का एक नया युग प्रारंभ होता है। वर्ष 1542 में महान मिशनरी फ्रांसिस जेवियर के आगमन से भारत में सर्वाधिक गंभीर तथा सुदृढ़ मिशनरी प्रयास प्रारभ हुआ। पुर्तगाल वह पहली यूरोपीय शक्ति थी, जिसने पूर्वी भारत में अपने पैर जमाए। उसके शासन-काल में भारत के मूल निवासियों के ईसाईकरण के सर्वप्रथम प्रयास किए गए। पुर्तगालियों के शासन-काल में जो धर्म-परिवर्तन किए गए, निश्चय ही वे रोमन कैथोलिक मत में किए गए। उन्हें रोमन कैथोलिक मिशनों ने किया।

लेकिन अधिक देर तक वे बिना होड़ के नहीं रहे। जल्दी ही होड़ के मैदान में प्रोटेस्टैंट आ गए। सर्वप्रथम प्रोटेस्टैंट प्रचार लुथेरनों का था। उन्होंने डेन्मार्क के राजा के संरक्षण में 1706 में ट्रेन्क्वेबार में अपने पैर जमाए। योग्य तथा समर्पित श्वार्ट्ज ने त्रिचनापल्ली तथा तंजोर में 18 वीं सदी के उत्तरार्ध में अथक परिश्रम किया। वह इस मिशन के सदस्य थे। उसके बाद इस मिशन का अधिकांश भार *'बाइबिल'* प्रचार समिति द्वारा ले लिया गया।

उसके बाद कैरी के नेतृत्व में बैपटिस्ट मिशन 1793 में कलकत्ता में आया। अंत में एंग्लिकन चर्च आया। वह मिशनरी क्षेत्र में 1813 में कूदा। उसके बाद मिशनरी उद्यम का विस्तार लगातार तेजी से हुआ।

अतः भारत में ईसाई प्रचार को लंबी दौड़ दौड़नी पड़ी है। सारसेनों के उत्थान

से पूर्व वह चार सदियों तक प्रयास करता रहा। सारसेनों ने मिशन के कार्य पर विराम लगा दिया। सारसेनों के पतन के बाद उसे पुनः लगभग चार सदियों का समय मिला हैं। 60 लाख संख्या की यह कुल कमाई आठ सदियों की है। जाहिर है कि यह बड़ी निराशाजनक कमाई है। इसने सेंट जेवियर को निराश किया। इसने एब्बे डुबोइस को भी निराश किया। जेवियर के कोई तीन सौ साल बाद 1823 में उन्होंने लिखा कि हिंदुओं को ईसाई बनाने की आशा छोड़ देनी चाहिए। तब अधिक आशावादी ईसाई मिशनरियों ने उनकी आलोचना की थी। लेकिन तथ्य यह है कि इस अवधि की समाप्ति पर कोई 35 करोड़ 80 लाख की कुल आबादी में ईसाई केवल 60 लाख के लगभग हैं। यह अति मंद विकास है। प्रश्न यह है कि इस मंद विकास के कारण क्या हैं।

III

मुझे लगता है कि ईसाई धर्म के विकास में अवरोध के तीन कारण रहे हैं। पहला कारण तो यह है कि शुरू-शरू में भारत में आकर बसने वाले यूरोपीयों का, विशेषतः उन अंग्रेजों का नैतिक आचरण अच्छा नहीं रहा, जिन्हें ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारत भेजा था। भारत भेजे गए लोगों तथा कंपनी के सेवकों के चरित्र के बारे में कंपनी के पक्षधर श्री काये ने अपनी कृति *'क्रिश्चियनिटी इन इंडिया* में इस प्रकार लिखा है :

> निश्चय ही उनमें मध्य वर्ग के कुछ ईमानदार, शालीन लोग थे... लेकिन लगता है कि समकालीन लेखकों के अनुसार अनेक समाज के लिए समस्या थे, वे नौजवान थे, संभवतः भले घरों के थे, पर उनके लिए कलंक थे। अतः उन्हें इस आशा से अपने से अलग किया जाना था कि ये फिजूलखर्च विलासी युवक 'विशाल भारत' से कभी स्वदेश नहीं लौटेंगे। यह आशा नहीं की जा सकती कि जिन लोगों ने स्वयं को स्वदेश में कलंकित किया था, वे विदेश में अधिक सम्मानजनक जीवन व्यतीत करेंगे।

* * * *

सच तो यह है कि नैतिक आचरण या भद्र आचरण को कायम रखने के लिए कोई संस्कार उनमें थे ही नहीं। अतः भारत के समुद्र तट पर उतरते ही उन्होंने अपने उन सभी नैतिक बंधनों को तोड़कर फेंक दिया, जिनका अंकुश उन पर उनके देश के गांवों में लगा हुआ था। उन्होंने स्वयं को विशेषाधिकारों वाला व्यक्ति माना। उनका विचार था कि उन्हें विशेषाधिकार है कि वे धर्म और नैतिकता के सभी दायित्वों का उल्लंघन कर सकते हैं

और जीवन की सभी भद्रताओं का अतिक्रमण कर सकते हैं। स्वदेश छोड़कर जाने वाले ये लोग प्रायः परले-सिरे के दुस्साहसी एवं तिकड़मी थे। धर्मशास्त्र की कठोर भाषा में कहा जाए तो उन्हें इंग्लैंड ने खरपतवार की भांति फेंक दिया था। उनकी कामना थी कि वे अपने फूटे भाग्य को संवारने के लिए पूर्व की स्वर्णिम धरती पर पैर रखें, अपने कलंकित नाम को सदा के लिए वहां दफना दें और अराजकता का सहारा लेकर कमजोर तथा सहज विश्वासी लोगों से वह धन छीन लें, जिसे स्वदेश में परिश्रम द्वारा प्राप्त करने में वे स्वभावतः असमर्थ थे। उन्होंने धोखाधड़ी की, उन्होंने जुआ खेला, उन्होंने जी भरकर शराब पी, उन्होंने खुलकर सभी प्रकार का व्यभिचार और व्यसन किया। वे एक-दूसरे से व्यसन और लोभ से जुड़े थे, पर फिर भी प्रायः वे एक-दूसरे से घोर विद्वेष करते थे। भले ही वे चंद लोग थे, पर उनके बीच कोई भाईचारा नहीं था, था तो केवल जुर्म करने का भाईचारा।

यह सब नवागंतुक के पक्ष में नहीं था। अतः जहां भ्रष्ट को सुधरने का कोई प्रोत्साहन नहीं मिलता था, वहां विशुद्ध आचरण वाला भी शायद ही भ्रष्टाचार से बच पाता था। चाहे उन्हें वहां विनाशकारी भूल के लिए दीक्षा दी गई हो या सिद्धहस्त बनाया गया हो, उन्हें समान रूप से परिस्थितियों का दास कहा जा सकता है।...

प्रारंभिक ईसाइयों का नैतिक आचार-व्यवहार कितना भ्रष्ट था, उसका अनुमान श्री काये द्वारा उद्धृत निम्न घटनाओं से लगाया जा सकता है :

बंबई के डिप्टी-गवर्नर पर 1669 में ये आरोप लगाए गए थे :

उसने विश्राम दिवस (रविवार) को नियत समय पर सर्वशक्तिमान प्रभु के प्रति सार्वजनिक कर्तव्य के पालन में बाधा डाली है। वह सेहत के जाम पर जाम पीता रहा, उसने औरों को उनकी मर्जी के खिलाफ अपने साथ रोका, जब वह प्रभु की सेवा के लिए नियत समय पर घुटनों के बल झूठी भक्ति जताते हुए यूनियन के प्रति सेहत का जाम पीता रहा, तो वह दुखद नजारा एक और विघटन का ही प्रदर्शन था। द्वीप के वासियों की, आसपास के सभी पड़ोसियों की, मूर्तिपूजक पोपवादियों तथा अन्यों की भारी बदनामी मोल लेते हुए प्रोटेस्टैंट धर्म की गरिमा को भंग करते हुए उसने बहुधा अंधाधुंध मद्यपान की पार्टियां दी हैं। कभी-कभी तो ये पार्टी रात को दो-तीन बजे तक चलती रहीं। उनके कारण प्रातःकालीन प्रार्थनाओं में प्रभु की सेवा की उपेक्षा हुई। इस बीच जब वह सोता रहा तो कंपनी की सेवा ठप्प पड़ी रही। इस प्रकार

जो अल्पाहार सामान्यतः फैक्टरी के लिए था, उसका वह भ्रष्ट निजी उपभोग के लिए विकृत उपयोग करता रहा।

उसे इन आरोपों का दोषी पाया गया।

ईस्ट इंडिया कंपनी की फैक्टरियों में पर्याप्त आपसी कलह था। कंपनी के आढ़तियों ने प्रभु के नियमों और मानवीय गरिमाओं की अवहेलना करते हुए कलंकपूर्ण अत्याचार किए। वे आपस में जानी दुश्मन की तरह लड़े और झगड़े। गाली-गलौज के बाद मारपीट भी हुई। कंपनी के सर्वोच्च पदों पर आसीन लोगों ने शराब के नशे में धुत होकर अपने मातहतों के साथ झगड़ा व फिसाद किया।

निम्न घटना की रिपोर्ट सूरत स्थित कंपनी की फैक्टरी के रिकार्ड से ली गई है[1]:

हम माननीय महानुभावों के पास 21 अगस्त 1695 से दिसंबर 1696 तक के अपने परामर्श खाते भेज रहे हैं। इनमें निश्चय ही अध्यक्ष की हत्या का एक षड्यंत्र दीख पड़ता है। पहरेदारों की हत्या का भी षड्यंत्र था, क्योंकि वे उसका विरोध करते। सर्वश्री वोक्स और अपहिल कहां तक दोषी हैं, इसका फैसला आप महानुभाव इसे तथा पूर्वोक्त गवाहियों को देखकर करें। ऐसी प्रबल धारणा है कि पहले मंशा यह थी कि अध्यक्ष के पेट में छुरा घोंपा जाए, पर एफ्राएम बेन्डाल की सतर्कता के कारण वैसा नहीं हो पाया। जब दुगुनी पहरेदारी कर दिए जाने के कारण उसकी आशा न रही, तो ऐसा लगता है कि विष दिए जाने की बात सोची गई, जैसा कि एडमंड क्लर्क की गवाही से पता चलता है। सभी कुछ गोपनीयता के आंचल में बंधा था, क्योंकि पता लगाने वाले पर ही लानत-मलायत की भीषण बौछार होती और उसी पर समूचा नजला गिरता और उसका अंत हो जाता।

उसी दस्तावेज में सूरत में कौंसिल के अध्यक्ष के खिलाफ श्री चार्ल्स पियचे की शिकायत दर्ज है :

आपसे (यानी अध्यक्ष से) मुझे अपने सिर पर दो घाव मिले हैं, एक तो बहुत लंबा और गहरा है और उसकी तुलना में दूसरा बहुत मामूली है। फिर एक करारा प्रहार मेरी बाईं भुजा पर किया गया, जिसके कारण मेरा कंधा सूज गया। फिलहाल उसके कारण मैं अपनी उस भुजा को हिलाडुला नहीं सकता। मेरे दाएं भाग में छाती के ठीक नीचे मेरी पसलियों पर प्रहार किया

1. काये, *क्रिश्चियनिटी इन इंडिया,* पृ. 106

गया। उसके कारण मेरी सांस रुकने लगी है और मैं स्वयं को संभाल नहीं पा रहा हू। मेरे बाएं कूल्हे पर एक और प्रहार किया गया, जो पहले प्रहार से किसी प्रकार कम नहीं था और इस सबके अलावा मेरी आंख की भौंह पर चोट आई।

पहले-पहल जो अंग्रेज भारत में आकर बसे, उनकी नैतिकता का यह हाल था। इतना कहना काफी है कि 17वीं सदी के पहले 80 वर्षों में ये अधिवासी कोई चर्च नहीं बना सके और उसके बिना ही काम चलाते रहे। 18वीं सदी में भी स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ।

18वीं सदी में भारत में बसे अंग्रेजों की नैतिक दशा के बारे में श्री काये का कहना है :

जहां तक वारेन हेस्टिंग्ज के लंबे प्रशासन के दौरान आंग्ल-भारतीय समाज की दशा का संबंध है, उसकी सराहना में वस्तुतः कुछ नहीं कहा जा सकता। ... जिन्हें अच्छी मिसाल कायम करनी चाहिए थी, उन्हीं ने अपनी निरकुश जीवन-शैली से ईसाई धर्म को गंभीर आघात पहुंचाया... हेस्टिंग्ज ने दूसरे व्यक्ति की पत्नी को उसकी मर्जी से अपना लिया; फ्रांसिस ने बिना मर्जी के वैसा ही किया।... यह आशा कैसे की जा सकती थी कि ऐसी मिसालों के होते हुए समाज के अल्प विख्यात सदस्य नैतिकता और भद्रता की ओर ध्यान देते। सच तो यह है कि इसे स्वीकार करना ही होगा कि इस काल में भारत में अंग्रेजों का ईसाई धर्म अति दयनीय दशा में था। लोग नशे में धुत्त हो जाते थे और जमकर जुआ खेलते थे। देश की औरतों को रखैल के रूप मे रखना आम बात थी, अपवाद नहीं। अंग्रेज भद्रजन आमतौर पर भरे-पूरे जनानखाने रखते थे। उन दिनों वासना भड़काने वाले आमोद-प्रमोद की कोई कमी नहीं थी। बस्तियों में, खासकर शीत ऋतु में, बालडांस छद्मक्रीड़ा, घुड़दौड़ और थियेटर जैसी रंगरेलियो का समा बंधा रहता था। विविधता के लिए द्वंद्व-युद्ध का हल्का-फुल्का मनोरंजन भी होता था। अधिकांशतः लोग अल्पजीवी थे। उनका कौल था, जब तक जियो, मौज मनाओ।

* * * *

वस्तुतः नशाखोरी आम बात हो गई थी और उसने उद्दंडता का रूप धारण कर लिया था। उस काल की वह गहरी लत या फैशनेबिल बुराई बन गई थी।... प्रेसिडेंसी वाले बड़े-बड़े नगरों में, खासकर कलकत्ता में, सार्वजनिक आमोद-प्रमोद आम नहीं थे। उन दिनों बालडांस उत्सव, मद्यपान उत्सवों से

कुछ कम थे। मद्यपान के बाद नृत्य करना संभव नहीं था और आम तौर पर उसके बाद लड़ाई-झगड़ा होता था। यदि किसी सार्वजनिक पार्टी में एक-दो द्वंद्व-युद्ध नहीं होता था तो वह असाधारण बात होती थी। उन दिनों सेल्बीज नामक प्रसिद्ध क्लब हुआ करता था। उस क्लब में कलकत्ता के भद्रजनों का आम मनोरंजन था। नशे के बढ़ने के साथ-साथ उनका दांव भी बढ़ता जाता था। कभी-कभी तो नशे में धुत्त वे लोग छोटी-छोटी बातों पर सोने की 1,000 मुहरों के दांव लगा बैठते थे। ताश खेलने वाले प्रायः रात-भर जमते और यदि वह शनिवार की रात होती तो वह अगले दिन भी दिन-भर डटे रहते।

* * * *

सम्मानजनक विवाह असाधारण बात थी।... ईस्ट इंडिया कंपनी के कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स ने अपनी बस्तियों की नैतिकता को सुधारने के शुभ कार्य का बीड़ा उठाया... यह सोचकर कि सम्मानजनक विवाह-रचना के साधन जुटाना एक सहायक कदम होगा, उन्होंने न केवल 'कच्चे माल' के रूप में सैनिकों की पत्नियों को भेजा, बल्कि कुछ बेहतर माल (औरतों) को भी भेजा। वह 'माल' तथाकथित भद्र महिलाओं के रूप में था। वह माल उनके उन व्यापारियों तथा आढ़तियों के उपभोग के लिए था, जो विवाह के इच्छुक हो सकते थे। लेकिन प्रयास सफल नहीं हुआ। जिन चंद महिलाओं ने विवाह किया, वे अपने पतियों से विमुख हो गईं। जिन महिलाओं ने विवाह नहीं किया और मांग में कोई तेजी नहीं थी, वे भी अनिश्चित स्थिति में थीं। कुछ समय तक सरकारी खर्च से उनका भरण-पोषण किया गया, पर उन्हें केवल इतना मिलता था कि भूखे मरने की नौबत नहीं आती थी। अतः यह अति स्वाभाविक ही था कि इन दयनीय प्राणियों ने कुमार्ग अपनाए और अपने रूप व सौंदर्य को बेचा। वेश्यावृत्ति की अपनी कमाई से वे केवल तेज शराब ही खरीद पाती थीं, जिसकी कि उन्हें बुरी तरह लत लग गई थी। शीघ्र ही इस निंदनीय कर्म की अपकीर्ति चारों ओर फैल गई और सूरत स्थित अध्यक्ष तथा कौंसिल ने बंबई स्थित डिप्टी-गवर्नर तथा कौंसिल को लिखा[1] :

> जहां आपने हमें यह सूचना दी है कि हमारी कुछ महिलाएं हमारे मूल धर्म और सरकार के लिए कलंक का कारण बन गई हैं, हम अपेक्षा

1. काये, *क्रिश्चियनिटी इन इंडिया,* पृ. 106

> करते हैं कि प्रतिष्ठित कंपनी के नाम पर आप उन सभी को समुचित चेतावनी दे दें कि वे अधिक संयत ईसाई की भांति आचरण करें, अन्यथा सजा यह होगी कि उन्हें विदेश में जाने की आजादी से पूर्णतया वंचित कर दिया जाएगा और उन्हें तब तक केवल रोटी और पानी पर गुजारा करना पड़ेगा, जब तक कि उन्हें इंग्लैंड के लिए पानी के जहाज पर नहीं चढ़ा दिया जाता।

प्रारंभिक ईसाइयों की नैतिकता और उनके आचरण कितने गिरे हुए थे, उसका पता उन तीन मिसालों से लगाया जा सकता है, जिन्हें समकालीन रिकार्डों से एकत्र किया गया है।

वर्ष 1809 के आसपास प्रकाशित अपनी पुस्तक *'इंडियन वैडि मीकम'* में कप्तान विलियमसन ने कहा है .

> दो महिलाओं को एक घर में एक साथ रखने की विभिन्न घटनाओं की मुझे जानकारी है। एक प्रौढ़ सैनिक अफसर था। उसके यहां सभी प्रकार की कद-काठी की सोलह से कम महिलाएं नहीं थीं। जब एक मित्र ने उससे पूछा कि इतनी ढेर सारी महिलाओं के साथ वह क्या करते हैं, तो उसने उत्तर दिया, 'मैं उन्हें थोड़ा-सा भात दे देता हूं और वे मेरे चारों ओर चक्कर काटती रहती हैं।' इसी सज्जन ने यूरोप से हाल में आई एक सुंदर युवती को अपना परिचय दिया, पर जिस महिला के घर पर यह युवती ठहरी हुई थी, उसने उसे समूची स्थिति बता दी थी, तो परिचय का अंत इस प्रकार हुआ, 'प्रिये, कृपा करके बताएं कि क्या आप मेजर की सोलह बीबियों के साथ रहना पसंद करेंगी?'

भारत के अंग्रेजों में ऐसी अव्यवस्था और अनैतिकता फैली हुई थी। कोई अचरज नहीं कि भारतीयों को अचरज हुआ हो कि क्या अंग्रेज प्रभु-नाम की किसी चीज पर और किसी नैतिक व्यवस्था पर विश्वास करते भी हैं? कहा जाता है कि जब किसी भारतीय से पूछा गया कि ईसाई धर्म और ईसाइयों के बारे में उसका क्या विचार है, तो उसने अपनी टूटीफूटी अंग्रेजी में उत्तर दिया, 'ईसाई धर्म, शैतान का धर्म, ईसाई पियक्कड़, ईसाई घोर पापी, ईसाई मारपीट, गाली-गलौज करता हैं।' कौन यह कह सकता है कि उसका यह उत्तर तथ्यों के प्रतिकूल था?

यह सच है कि चर्चाधीन काल में इंग्लैंड में नैतिकता का बाहुल्य नहीं था।

स्वदेश में अंग्रेज अपने जीवन की शुद्धता के लिए अधिक विख्यात नहीं थे। अतः इस बात की थोड़ी गुंजाइश थी कि विदेशी भूमि पर गुलछर्रे उड़ाने वाली ब्रिटिश नैतिकता स्वदेश में बौनी और डांवाडोल हो जाए। श्री काये के शब्दों में [1]:'पुनरुद्धार की दरबारी लंपटता ने समूचे देश को भ्रष्ट कर दिया था। हमारे दैनिक जीवन की शैली पर व्हाइटहाल की छाप थी और वह कंपनी के जहाजों में लदकर हमारे दुस्साहसियों के साथ बाहर चली गई और हम निश्चय ही कह सकते हैं कि एक गैर-ईसाई देश में उसे आसानी से मिटाया नहीं जा सकता था।'

17वीं और 18वीं सदी में अंग्रेजों की इस अनैतिकता के लिए जो भी बहाना रहा हो, तथ्य यह है कि वह इस बात का पर्याप्त कारण थी कि ईसाई धर्म पर कलंक लगे और उसके प्रचार-प्रसार में अत्यधिक कठिनाई पैदा हो।

भारत में ईसाई धर्म के प्रचार-प्रसार में दूसरी बाधा थी, ईसाईकरण के क्षेत्र में वर्चस्व के लिए कैथोलिक तथा गैर-कैथोलिक मिशनों का आपसी संघर्ष।

भारत में ईसाई धर्म के प्रसार के क्षेत्र में कैथोलिक चर्च का प्रवेश 1541 में फ्रांसिस जेवियर के आगमन से हुआ। जीसस की नई सोसाइटी के वह पहले मिशनरी थे। इस सोसाइटी का गठन पोप के प्रभुत्व का समर्थन करने के लिए किया गया था। जब कैथोलिक चर्च ने इस क्षेत्र में प्रवेश किया तो उससे पहले भारत में, विशेषतः दक्षिण में, ईसाइयों की भारी संख्या थी, पर वे सीरियाई चर्च को मानते थे। ये सीरियाई ईसाई काफी अर्से से मलाबार के समुद्र तट पर बसे हुए थे और वे स्वयं को धर्मदूत टामस का वंशज मानते थे। टामस के बारे में कहा जाता है कि उन्होंने 'सीरिया और सिलीसिया जाकर चर्चों को अनुरूपता प्रदान की।' वे सीरिया को अपना आध्यात्मिक गढ़ मानते थे। वे बेबीलोन के धर्माध्यक्ष के प्रभुत्व को स्वीकार करते थे। रोम तथा पोप की प्रभुता के उत्थान-काल में मुसलमानी शक्ति ने बीच के देशों को रौंद डाला था और पश्चिम के देशों के लिए उसने भारत के द्वार बंद कर दिए थे। इसके कारण भारत के सीरियाई चर्च रोमन कैथोलिक चर्च के प्रभुत्व में आने से बच गए थे। यहां मेरा इस सवाल से कोई सरोकार नहीं है कि कैथोलिक चर्च का ईसाई धर्म अथवा सीरियाई चर्च का ईसाई धर्म ईसाई का सच्चा स्वरूप था। लेकिन तथ्य ये हैं कि भारत में कैथोलिक चर्च का प्रतिनिधित्व करने वाले पुर्तगाली सीरियाई चर्चों को देखकर विक्षुब्ध हो गए। उन्होंने कहा कि सीरियाई चर्च अल्प छद्मवेश में गैर-ईसाई मंदिर ही हैं। सीरियाई ईसाई पुर्तगाल के रोमन कैथोलिकों के कलुषित स्पर्श से बचने के लिए घबराकर पीछे हट गए। उन्होंने स्वयं को ईसाई कहा, मूर्तिपूजक नहीं।

1. काये, क्रिश्चियनिटी इन इंडिया, पृ. 44

इसके अलावा मलाबार के ईसाई कभी भी रोमन प्रभुत्व के अधीन नही रहे और कभी भी उन्होंने रोमन सिद्धांत को स्वीकार नहीं किया।

इस प्रकार दोनों चर्चों के बीच संघर्ष के तत्व मौजूद थे और अन्वेषण ने तो केवल अग्नि में घी का काम किया।

गोआ के अन्वेषण अधिकारियों ने खोज की कि वे विधर्मी थे। फिर क्या था, बाड़े पर खड़े भेड़िए की भांति पोप के प्रतिनिधि सीरियाई चर्चों पर टूट पड़े। संघर्ष कितना बड़ा था, इसका वर्णन श्री काये ने पूर्वोक्त पुस्तक में किया।

जिस पहले सीरियाई धर्माधिकारी का पाला रोम के विरोध से पड़ा, उसने साहस और निष्ठा में अपने अभाव का प्रायश्चित्त अन्वेषण की कालकोठरियों में किया। दूसरे का भी वही हश्र हुआ। तीसरे के कष्ट अधिक सहानुभूति योग्य है। अपने धर्म-प्रदेश में काफी कष्ट और क्लेश के बाद उनका निधन हो गया। वह अंत समय तक पोप के प्रभुत्व को नकारते रहे। उनके चर्चो का अब कोई बिशप न था। यह ऐसा समय था, जब उन्हें धर्माधिकारी स्वरूप और समर्थन की पहले से कही अधिक अपेक्षा थी, क्योंकि रोम अपना फौलादी पंजा और अपनी लंबी भुजा उनकी ओर फैलाने ही वाला था। डान एलेक्सी डे मेन्जेज को गोआ का मुख्य बिशप नियुक्त किया गया। उसका मिशन था कि अपने धर्म में नए लोगों को शामिल करने की ओर कम ध्यान दिया जाए, पर शामिल किए गए पुराने लोगो को अपने अधीन करने की ओर अधिक ध्यान दिया जाए। वह उत्पीड़न के कार्य में इतने जोरशोर व जी-जान से जुट गया कि उसके कारण वह निश्चय ही रोम की आखों का तारा बन गया होगा। अपने एजेंटों की मंद सफलता से खिन्न होकर उसने कर्मचारी वर्ग को अपने हाथ में लेने का निश्चय किया। एक भारी भरकम सैन्य-शक्ति के साथ नीचे दक्षिण की ओर बढ़ते हुए उसने सीरियाई चर्चों को संदेश भेजा कि वे स्वयं को उसके प्राधिकार के आगे समर्पित कर दे। ये चर्च उस समय उप-बिशप के अधीन थे। उसने अपने ऊपर मंडराते हुए खतरे को भांप लिया। उसने अवसर से समझौता करने के साथ-ही-साथ यह दर्शाने का निश्चय किया कि वह प्रतिरोध के लिए तैयार था। उसने मुख्य बिशप से भेंट की। जब वह मेन्जेज से भेंट करने गया तो उसके साथ दृढ़-संकल्प वाले तीन हजार लोगों का सुरक्षा दल था। जब सर्वप्रथम मामूली-सी दिखावटी हिंसा का लक्षण दीख पड़ा तो उन्हें बड़ी कठिनाई से रोका गया, ताकि वे अपने प्रतिद्वंद्वियों पर झपट न पड़ें और अपने धर्म की रक्षा के लिए अपने उफनते उत्साह को सिद्ध न कर दें। यह इस बात का अवसर नही था कि मेन्जेज रोम के चर्च

के दावों को पुष्ट करता। लेकिन प्रतिरोध का कोई भी भय उसे उसके प्रयोजन से विचलित नहीं कर सका। उसने खुलेआम बेबीलोन के प्रधान बिशप की निंदा करते हुए उन्हें घातक विघटनकारी कहा और उनके वर्चस्व को स्वीकार करना धर्मद्रोह करार दिया। फिर उसने एक आदेश जारी किया। उसके अनुसार न तो कोई भी व्यक्ति रोमन धर्माध्यक्ष के अलावा किसी अन्य का वर्चस्व स्वीकार कर सकता था और न ही अपने चर्च की सेवाओं में सीरियाई धर्माध्यक्ष का कोई उल्लेख कर सकता था। ऐसा करके उसने खुलेआम सीरियाई चर्चों के अध्यक्ष का धर्म से बहिष्कार कर दिया और विमूढ़ उप-बिशप से बहिष्कार के हुक्मनामे पर दस्तखत करने के लिए कहा। भयभीत, भ्रमित तथा भाग्यहीन उप-बिशप ने धर्म-त्याग के दस्तावेज पर अपना नाम टांक दिया और उसे चर्च के द्वार पर सरेआम चस्पां कर दिया गया।

कैसी दोहरी मार। एक ओर असह्य अपमान और दूसरी ओर घिनौना समझौता। इसके कारण न केवल प्रधान बिशप के विरुद्ध, बल्कि अपने धर्माध्यक्ष के विरुद्ध भी लोगों का क्रोध भड़क उठा। जब भारी संख्या में उत्तेजित जनसमूह को शांत करने के लिए उनका अपना उप-बिशप सामने आया, तो उसके सामने दुष्कर कार्य था। हो सकता था कि वे अपने भ्रष्ट किए गए समुद्र तटों से पुर्तगाली घुसपैठियों को खदेड़ने का एक अंतिम प्रयास करने का साहस करते, लेकिन उप-बिशप ने उनसे धैर्य धारण करने का अनुरोध किया और अपनी कमजोरी के लिए क्षमा मांगी। उसने आग्रह किया कि छल व कौशल प्रतिशोध से बेहतर सिद्ध होगा। उसने वचन दिया कि अपनी करनी के बावजूद वह अपने धर्म की रक्षा करेगा और उन्हें ललकारा कि पोप के अतिक्रमण का वे डटकर विरोध करें। सहमति की हुंकार के साथ उन्होंने शपथ ली कि वे पोप के प्रभुत्व के आगे कभी नतमस्तक नहीं होंगे। उन्होंने संघर्ष को जारी रखने के लिए अपनी कमर कस ली।

लेकिन मेन्जेज इतना अधिक साधन-संपन्न व्यक्ति था कि उसे इस संघर्ष में हराया नहीं जा सकता था। उसकी ऊर्जा और लगन अटूट थी। उसका कौशल अपार था। जब हमले का एक हथियार कारगर नहीं होता था, तो वह दूसरे का इस्तेमाल करता था। हिंसा का स्थान छल ने ले लिया। जिन पर उसकी धौंस नहीं चली, उन्हें उसने घूस दी और जिन्हें वह डरा नहीं सका, उसने उनसे मीठी-मीठी अपील की। और धीरे-धीरे वह सफल हो गया। एक के बाद दूसरा चर्च घुटने टेकने लगा। उसके सामने खतरे और कठिनाइयां आईं। प्रायः उसका पाला हिंसात्मक प्रतिरोध से पड़ता था और प्रायः वह उसका दमन कर देता था।

जब सीरियाई ईसाइयों की तादाद उसके बूते से बाहर की होती थी तो वह देशी नरेशों की मदद ले लेता था। प्रतिरोध से ग्रस्त और बहिष्कार से त्रस्त दुखी सीरियाई उप-बिशप ने अंततः रोमन धर्माधिकारी के आगे घुटने टेक दिए। मेन्जेज ने धर्मसभा बुलाने के लिए आदेश जारी कर दिया। 20 जून 1599 को डियामपेर में चर्चों की धर्मसभा हुई। प्रथम अधिवेशन शांतिपूर्ण रहा, लेकिन उसमें काफी गुपचुप बड़बड़ाहट हुई। दूसरे अधिवेशन में आदेश पढ़कर सुनाए गए। उसमें अनुष्ठान के उस दुखद बिंदु पर टोकाटोकी हुई, जब धर्म-स्वीकृति की घोषणा के बाद प्रधान बिशप ने बेबीलोन के अधिधर्माध्यक्ष से संबंध तोड़कर उनकी लानत-मलामत की। इस पर सीरियाई ईसाइयों के सब्र का बांध टूट गया। उन्होंने खुलेआम विरोध करते हुए कहा कि धर्म-स्वीकृति की कोई जरूरत नहीं है। उनका आग्रह था कि ऐसी स्वीकृति का अर्थ होगा कि धर्मसभा के जुड़ने से पूर्व वे ईसाई नहीं थे। लेकिन मेन्जेज ने उनकी आशंकाओं और संदेहों को दूर कर दिया। उसने सबके सामने स्वयं अपने और पूर्वी चर्चों के नाम से स्वीकारोक्ति की। एक सीरियाई पादरी ने दुभाषिए का काम किया। उसने स्वीकारोक्ति को मलाबारी भाषा में पढ़कर सुनाया और उसके बाद एकत्रित विशाल जनसमुदाय ने उसे घुटनों के बल बैठकर शब्दशः दुहराया। और इस प्रकार सीरियाई ईसाई पोप के प्रभुत्व के आगे नतमस्तक हुए।

मेन्जेज प्राप्त प्रलाभों में वृद्धि करने के लिए कृत-संकल्प था। अतः उसने निष्क्रियता का सहारा नहीं लिया और वह विगत सफलताओं के नशे में ही मस्त नहीं रहा। चाहे उसे प्रेरित करने के लिए धार्मिक उन्माद रहा हो या लौकिक महत्वाकांक्षा, पर उसने अपने प्रयास को ढीला नहीं किया। उसने अनुभव किया कि सीरियाई ईसाइयों की गर्दन पर प्रभुत्व का जुआ रख देने से ही काम नही चलेगा। अतः प्रभुत्व को बनाए रखने के लिए उसने छल, बल, कौशल के सभी हथकडे अपनाने का प्रयास किया। चर्चों ने मनहूस समर्पण कर दिया, लेकिन उनके बीच तीव्र बुद्धि और सूक्ष्म दृष्टि वाले लोग भी थे। 17वीं सदी के प्रारंभ होते ही उन्होने भविष्य की ओर आशा की दृष्टि से देखा। उन्हे पूर्ण विश्वास हो चला कि पूर्व पुर्तगालियों के वैभव के पतन के अकाट्य लक्षणों को साफ-साफ देखा जा सकता है। सीरियाई चर्चों के लिए तब आशा की किरण थी। मेन्जेज ने घोर अत्याचार किए। उसने पादरियों को उनकी पत्नियों से जुदा कर दिया। उसने चर्चों के सदस्यों को मामूली आधारों पर बहिष्कृत कर दिया। उसने उन समूचे सीरियाई रिकार्डों को नष्ट कर दिया, जिनमें उनके धर्म की प्राचीन पवित्रता के प्रमाण मौजूद थे। इस अंतिम कृत्य की अपूरणीय बर्बरता को भुलाया या क्षमा नहीं किया जा सकता था, लेकिन अन्य सभी कष्टों एव क्लेशों के बीच यह विचार

सांत्वना प्रदान करता था कि यह अत्याचार अस्थाई है। गिब्बन लिखते हैं: 'साठ वर्षों तक दासता और पाखंड को बड़े धैर्य से सहन किया गया, लेकिन जैसे ही डचों के साहस और उद्यम ने पुर्तगाली साम्राज्य की जड़ों को हिलाया, वैसे ही सीरियाई ईसाइयों ने जोरशोर से अपने पूर्वजों के धर्म का डंका बजा दिया। जेसुइट अपनी दुराचारपूर्ण सत्ता की रक्षा न कर सके। चालीस हजार ईसाइयों की सशक्त भुजाएं ढहते हुए अत्याचारी के खिलाफ तन गईं और भारतीय उप बिशप ने बिशप का रूप धारण कर लिया। उसके बाद तो बेबीलोन के अधि-धर्माध्यक्ष ने अपने उपहारों तथा सीरियाई मिशनरियों की एक ताजी खेप ही भेज दी थी।' संक्षेप में, ये मेन्जेज के दमन के परिणाम थे। छह मास के भीतर ही उस महत्वाकांक्षी तथा निरंकुश धर्माधिकारी ने सीरियाई चर्च को दास बनाकर रख दिया और चालीस वर्षों तक उन्होंने रोम की कष्टदायी बेड़ियों को धारण किया। लेकिन मेन्जेज अपनी निजी शक्ति पर ही उछला-कूदा। उसने लौकिक विजय प्राप्त की और लौकिक भुजबल का सहारा लिया। श्री हाउफ लिखते हैं: 'उसकी मिसाल को भावी ईसाई मिशनरियों के लिए यह चेतावनी समझा जाए कि वे उस चट्टान से दूर रहें, जिस पर चढ़कर वह ढेर हो गया था। आस्था और प्रभु-परायणता के अलावा और कोई चीज चर्च की समृद्धि नहीं कर सकती। इनके अभाव में धर्माधिकारी के मंसूबे, भले ही वे भव्य दीख पड़ें, शीघ्र ही मिट्टी में मिल गए। दैवी विधान के हस्तक्षेप के रूप में यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि भारत में पुर्तगाली हित का पराभव तो उसी समय प्रारंभ हो गया था, जब उसके मन में यह अहंकार आ गया था कि उसने पुर्तगाली हित की स्थाई नींव डाल दी थी।'

कैथोलिक चर्च और प्रोटेस्टैंट मिशनरियों के बीच कोई खुला संघर्ष तो नहीं था। लेकिन उनके बीच काफी होड़ थी। उसके कारण अहंमन्यता बनी रही और सहयोग का अभाव रहा। इस अभाव ने भी ईसाई धर्म के तीव्र विकास में बाधा डाली।

ईसाई धर्म के मंद विकास का तीसरा कारण यह था कि प्रचार के प्रभारी ईसाई मिशनरियों ने गलत रवैया अपनाया। प्रारंभिक ईसाई मिशनरी ने अपना अभियान इस प्रकार शुरू किया कि उसने ईसाई तथा हिंदू धर्मों के तुलनात्मक गुण-दोषों के बारे में विद्वान ब्राह्मणों से सार्वजनिक रूप से शास्त्रार्थ किए। यह एक अजब तरीका था। लेकिन इसके पीछे साजिश थी। ईसाई मिशनरी का विचार था कि जनसाधारण के धर्म-परिवर्तन का उसका काम आसान हो जाएगा, यदि वह ब्राह्मण तथा हिंदुओं के उच्च वर्गों का धर्म-परिवर्तन करने में सफल होगा,

क्योंकि उनका और ब्राह्मणों का प्रभाव जनसाधारण पर था। ब्राह्मण के धर्म-परिवर्तन करने का सबसे सरल उपाय यह था कि उसे शास्त्रार्थ में हरा दिया जाए और जता दिया जाए कि उसका धर्म गलत था। ईसाई मिशनरी ब्राह्मण से संपर्क स्थापित करना चाहता था। कोई कारण नहीं दीख पड़ता कि क्योंकि मिशनरियों ने इतने सारे स्कूल, कालिज, अस्पताल आदि खोले, सिवाए इसके कि ईसाई मिशनरी ब्राह्मण से संपर्क स्थापित करना चाहता था। अनेकों ने अब यह अनुभव कर लिया है कि ईसाई मिशनरी छला गया है। ब्राह्मण तथा उच्च वर्गों ने ईसाई मिशनों द्वारा संचालित संस्थाओं का पूर्ण लाभ उठाया है। लेकिन शायद ही उनमें से किसी ने उस धर्म की ओर ध्यान दिया हो, जिसने इन संस्थाओं को जन्म दिया।

इसमें कोई अचरज की बात नहीं है। ईसाई मिशनरियों ने ब्राह्मण तथा हिंदुओं के उच्च वर्गों के पीछे लगने का जो प्रयास किया, उसे तो विफल होना ही था। हिंदू धर्म तथा ईसाई धर्म के बीच शास्त्रार्थ के लिए कोई समान आधार नहीं होगा और जहां कोई समान आधार होगा भी, वहां हिंदू सदैव ईसाई को मात दे सकता है।

हिंदुओं तथा ईसाइयों के बीच शास्त्रार्थ के लिए कोई समान आधार नहीं हो सकता, उसका कारण यह है कि धर्म-विज्ञान और तत्व-ज्ञान के संबंधों के प्रति दोनों का दृष्टिकोण नितांत भिन्न है। जैसा कि श्री बर्न[1] ने ठीक ही कहा है :

> शिक्षित हिंदू जब धार्मिक मसलों पर विचार करता है तो वह धर्म-विज्ञान को तत्व-ज्ञान से अलग करने से इंकार कर देता है। जो उसे समुचित सृष्टिशास्त्र दीख पड़ेगा, उसी पर वह आग्रह करेगा। हिंदू धर्म पर विचार करते समय यह जता दिया गया है कि उसकी प्रचलित प्रवृत्ति सर्वेश्वरवादी है। भले ही कम-से-कम दो हजार वर्षों से तो बराबर ऐसे पंथों का आविर्भाव होता रहा है, जो परमात्मा और आत्मा के द्वैत पर आग्रह करते रहे हैं, फिर भी सदैव घूम-फिरकर सर्वेश्वरवाद की ओर मुड़ जाने की प्रवृत्ति बनी रही है। यह माना जाता है कि वर्तमान संसार माया द्वारा रचित भ्रम है। लेकिन औसत ईसाई ज्यादा तत्व-ज्ञान नहीं बघारता और मानता है कि सामान्यतः वह अपनी धार्मिक आस्थाओं में विश्लेषण को प्रधानता देता है, अनिवार्यता को नहीं। अनिवार्य है कि व्यक्ति को जिस चिंतन-शैली का आदर करना सिखाया जाता है, वही उसके निष्कर्षों को प्रभावित करती है। मुझे ऐसा लगता है कि यह भी एक कारण है, जिसकी वजह से अधिकांश शिक्षित हिंदू ईसाई

1. भारत की जनगणना, 1901, खंड 16, एन.डब्ल्यू. पैंडबुढ, रिपोर्ट भाग 1, पृ. 98

धर्म ग्रहण करने के विचार को संदेह की दृष्टि से देखते हैं। एक ठोस मिसाल देना चाहूंगा। सामान्य शिक्षित हिंदू इस आस्था की हंसी उड़ाता है कि प्रभु ने ब्राह्मण की रचना शून्यता से की। भले ही वह रचना में विश्वास करे, लेकिन वह यह भी मानता है कि दोनों की जरूरत है—एक भौतिक कारण (पदार्थ) की और एक (सृष्टा) की भी। जहां उसकी आस्था निरी सर्वेश्वरवादी है, वहां भी वह ऐतिहासिक प्रमाणों की ओर ध्यान नहीं देता। एक और कठिनाई एक बुनियादी बिंदु के बारे में पुनर्जन्म की आस्था के कारण होती है। यह आस्था इस विचार पर आधारित है कि व्यक्ति को अपनी मुक्ति या मोक्ष की समस्या को स्वयं ही हल करना होगा और इस प्रकार वह दैवी क्षतिपूर्ति की आस्था से नितांत भिन्न है।

इस प्रकार हिंदू तत्व-ज्ञान की वाणी में और ईसाई धर्म-विज्ञान की वाणी में बोलता है। इस प्रकार उनके बीच आकलन अथवा सराहना अथवा निंदा के लिए कोई समान आधार नहीं है। जहां तक दोनों का संबंध धर्म-विज्ञान से है, अर्थात ईसाइयों का अपने प्रभु और उनके बेटे के रूप में यीशु से है और हिंदुओं का अपने प्रभु और उनके अवतारों से है, एक पर दूसरे की श्रेष्ठता उनकी लीलाओं या उनके चमत्कारों पर निर्भर करती है। इस संबंध में यह नितांत प्रत्यक्ष है कि हिंदू धर्म-विज्ञान ईसाई धर्म-विज्ञान को मात दे सकता है। जिस प्रकार ईसाई धर्म तत्व-ज्ञान के अभाव के कारण ब्राह्मण और शिक्षित हिंदू वर्ग को आकर्षित नहीं कर पाता, ठीक उसी प्रकार हिंदू धर्म-विज्ञान में चमत्कारों की इतनी रेलपेल है कि तुलना में उसके आगे ईसाई धर्म-विज्ञान फीका पड़ जाता है। लगता है कि रोमन कैथोलिक पादरी फादर ग्रेगरी ने इस कठिनाई को अनुभव किया था। चूंकि उनका दृष्टिकोण दिलचस्प भी है और वह नसीहत भी देता है, अतः मैं कर्नल स्लीमैन की पुस्तक से उद्धरण देता हूं, जिसमें इसका उल्लेख है। कर्नल स्लीमैन कहते हैं[1]:

> एक शाम को रोमन कैथोलिक पादरी फादर ग्रेगरी ने हमारे साथ भोजन किया। इस अवसर पर टेबिल पर मेजर गौडबाई ने उनसे पूछा, 'लोगों के बीच हमारा धर्म क्या प्रगति कर रहा है?'
>
> 'कैसी प्रगति?' उन्होंने कहा, 'ऐसे लोगों के बीच कोई प्रगति कभी करने की कोई आशा हम कैसे कर सकते है। जैसे ही हम उनसे यीशु के चमत्कारों की चर्चा शुरू करते हैं, वैसे ही वे कृष्ण की अत्यधिक अदभुत लीलाओं की चर्चा हमसे करने लगते हैं। वे कहते हैं कि कृष्ण ने तो अपनी नन्ही अंगुली

1. *रैम्बिल्स एंड रिकलैक्शन्स*, खंड 1, अध्याय 53, पृ. 407

पर छत्र के रूप में गोवर्धन पर्वत को ही उठा लिया था और ग्वालों की भयंकर वर्षा से रक्षा की थी।

'हिंदू कभी भी हमारे धर्मग्रथों के चमत्कारों और उनकी भविष्यवाणियों के किसी अंश पर संदेह नहीं करते। वे शब्दशः उन पर विश्वास करते हैं और अचरज उन्हें केवल इस बात पर होता है कि उनके अपने धर्मग्रंथों के अटूट श्रद्धायोग्य चमत्कारों की तुलना में हमारे चमत्कार बहुत कम चमत्कारपूर्ण हैं। जो लोग यह विश्वास करतें हैं कि विष्णु के दो अवतारों, राम और कृष्ण, के युद्धों तथा शौर्य-गाथाओं के इतिहास की रचना पृथ्वी पर वास्तव में घटित होने वाले इन युद्धों तथा शौर्य-गाथाओं से कोई पचास हजार साल पहले हुई थी, वे निश्चय ही किसी अन्य ग्रंथ में वर्णित किसी भी भविष्यवाणी को सच मान लेंगे। जहां तक चमत्कारों का संबंध है, उनके लिए कुछ भी अति असाधारण नहीं है। यदि कोई प्रतिष्ठित ईसाई किसी हिंदू को यह जताने का प्रयास करे कि *'बाइबिल'* के कुछ सिद्धांतों को प्रतिपादित करने के लिए संत पौल चांद और सूरज को धरती पर ले आए थे, और उन्होंने पुनः उन्हें टेनिस की गेदों की भांति उनके स्थानों पर बिठा दिया था और तीनों ग्रहों को रत्तीभर भी नुकसान नहीं हुआ था (एवं लिखित), तो मेरा विचार है कि वह उसकी सच्चाई के बारे में तनिक भी संदेह नहीं करेगा, लेकिन तुरंत ही वह ग्वालों के मनोरंजन के लिए कृष्ण द्वारा की गई और भी असाधारण लीला का स्मरण करेगा और बड़े भोलेपन से उसका बखान करेगा।'

जैसा कि भारत की घटनाओं से पता चलता है, यह एक गलत रवैया था। निश्चय ही यह रवैया यीशु तथा उनके चेलों द्वारा अपनाए गए रवैए से एकदम विपरीत था। गिब्बन ने ईसाई धर्म के विकास का विवरण दिया है। उससे पता चलता है कि मसीहा और उनके चेलों ने किस सिरे से शुरुआत की थी। वह कहते हैं :

भले ही अपूर्ण हो, पर ईसाई धर्म की प्रगति के इस निष्पक्ष सर्वेक्षण से यह संभव दीख पड़ता है कि उसके धर्मान्तरितों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि एक ओर भय तो दूसरी ओर श्रद्धा के कारण हुई हो। ओरिजेन के अकाट्य प्रमाण के अनुसार अविश्वासी जगत की बहुसंख्या की तुलना में श्रद्धालुओं की संख्या अति अल्प थी, लेकिन क्योंकि हमारे पास कोई निश्चित सूचना नहीं है, अतः यह निर्धारण करना भी असंभव है और यह अनुमान लगाना भी कठिन है कि आदि ईसाइयों की वास्तविक संख्या कितनी थी। लेकिन यदि एंटियोक और रोम के उदाहरणों से जो सर्वाधिक अनुकूल आकलन किया जा सकता है, वह भी हमें यह कल्पना करने की अनुमति नहीं देगा कि

कान्स्टेन्टाइन के महत्वपूर्ण धर्म-परिवर्तन से पूर्व ही क्रास के झंडे तले साम्राज्य की प्रजा के बीसवें भाग ने अपने आपको दर्ज करा लिया था। लेकिन लगता है कि श्रद्धा, लगन और एकजुटता की उनकी आदतों ने उनकी संख्या में वृद्धि की और जिन कारणों ने उनकी भावी वृद्धि में योगदान किया, उन्होंने ही उनकी वास्तविक संख्या को अधिक उजागर किया और अधिक विशालता प्रदान की।

संभ्य समाज का गठन ही कुछ ऐसा है कि जहां चंद लोगों पर धन, सम्मान और ज्ञान की विशिष्ट छाप लग जाती है, वहां जनसमूह गुमनामी, अज्ञान और निर्धनता का दंड भोगता है। चूंकि ईसाई धर्म ने समूची मानव जाति के हित का बीड़ा उठाया है, अतः उसके लिए अनिवार्य है कि उच्च वर्गों की अपेक्षा वह निम्न वर्गों के लोगों को कहीं अधिक संख्या में धर्मान्तरित करे। इस निर्दोष तथा सहज परिस्थिति को एक अति पैने आरोप के रूप में परिणत किया गया है। लगता है कि ईसाई धर्म के पक्षधर इस आरोप का कम जोरदार खंडन करते हैं। पर उसके विरोधी उसे अधिक जोर से उछालते हैं कि ईसाइयों के नए पंथ में लगभग पूर्णतः जन-सागर का तलछट है। महिलाएं, भिखारी और दास, किसान और मैकेनिक तथा लड़के उसमें हैं। भिखारी और कभी-कभी मिशनरियों का परिचय उन धनी तथा उदात्त परिवारों से करा सकते हैं, जिनसे उनका संबध रहता है। (अंधविश्वासी तथा विद्वेषी वर्ग का आरोप है) कि ये दीन-हीन शिक्षक जनता के बीच जितने गूंगे हैं, उतने ही वाचाल और हठधर्मी वे निजी वर्ग के बीच हैं। जहां वे बडी सावधानी से दार्शनिकों की भीषण टक्कर से कतराते हैं, वहां वे असभ्य तथा गंवार लोगों से मेलजोल बढ़ाते हैं और उन लोगों के मन में धीरे-धीरे अपना स्थान बनाते हैं। उनकी उम्र, उनका लिंग अथवा उनकी शिक्षा अंधविश्वासपूर्ण आतंकों की भावना को ग्रहण करने के लिए सर्वाधिक उपयुक्त क्षेत्र है।

भले ही इस मंडन-दृष्टि में मंडन का क्षींण आभास मिलता हो, पर उसके गहरे रंगों और विकृत रूप के कारण उसकी खंडन-दृष्टि उजागर हो जाती है। जैसे-जैसे यीशु का विनम्र धर्म जगत में फैलता गया, वैसे-वैसे उसे ऐसे अनेक लोगो ने ग्रहण किया, जिन्हें प्रकृति अथवा भाग्य के लाभों का कुछ प्रसाद मिला। जिस एरिस्टाइड्स ने सम्राट हैड्रियन के समक्ष वाग्मितापूर्ण मंडन-पक्ष प्रस्तुत किया, वह एथेनियाई दार्शनिक था। जस्टिन मार्टिर ने दिव्य-ज्ञान जेनो अथवा अरस्तू के, पाइथोगोरस और प्लेटो के विद्यालयों में प्राप्त किया। उसके बाद ही सौभाग्य से वृद्ध पुरुष अथवा देवदूत ने उन्हें

संबोधित किया और उनका ध्यान यहूदी पैगंबरों के अध्ययन की ओर आकृष्ट किया। अलेक्जांड्रिया के क्लीमांजों (मार्कट्वेन आदि) ने बहुत कुछ विस्तृत अध्ययन ग्रीक में और टर्टूल्लियन ने लैटिन में किया था। जूलियस अफ्रीकैनस और ओरिजेन ने भी अपने समय का अधिकांश ज्ञान इन्हीं भाषाओं में प्राप्त किया था। यद्यपि साइप्रियन की शैली लैक्टेन्टियस से भिन्न है, फिर भी हम लगभग पता लगा सकते हैं कि ये दोनों लेखक अलंकार-शास्त्र के सरकारी शिक्षक रहे थे। ईसाइयों को दर्शन का भी प्रचुर अध्ययन कराया जाता था, लेकिन सदा ही उसका सर्वाधिक स्वस्थ प्रभाव नहीं पड़ता था। ज्ञान प्रायः श्रद्धा के बजाए धर्मद्रोह पैदा करता था, जो ज्ञान आर्टेमोन के अनुयायियों के लिए था, उसका उपयोग उतनी ही कुशलता के साथ उन विभिन्न पंथों के लिए किया जा सकता था, जो धर्मदूतों के अनुयायियों का विरोध करते थे। वे पवित्र धर्मग्रंथों के बदलने की धृष्टता करते हैं। वे धर्म के प्राचीन नियम को तिलांजलि देने की धृष्टता करते हैं। वे बाल की खाल निकालने वाले तर्क के सिद्धांतों के अनुसार अपनी राय कायम करने की धृष्टता करते हैं। रेखागणित के अध्ययन के लिए धर्म के विज्ञान की उपेक्षा की जाती है। भूलोक की पैमाइश करते समय वे स्वर्गलोक की अनदेखी करते हैं। यूक्लिड सदैव उनकी मुट्ठी में रहता है। वे अरस्तू और थियोफ्रैस्टस की प्रशंसा करते हैं और वे गैलेन की कृतियों को असाधारण सम्मान देते हैं। उनकी गलतियों का स्रोत है, गैर-ईसाइयों की कला और विज्ञान का दुरुपयोग। वे ईसाई धर्म की निष्कपटता को मानवीय तर्क के परिष्कार से प्रदूषित करते हैं।

न ही सच्चाई की शपथ लेकर यह कहा जा सकता है कि उच्च कुल वालों तथा धन वालों ने सदा ही ईसाई धर्म को स्वीकार नहीं किया। अनेक रोमन नागरिक प्लिनी के न्यायाधिकरण के सामने पेश किए गए और शीघ्र ही उसे पता चल गया कि बिथीनिया में हर वर्ग के अनेक लोगों ने अपने पूर्वजों के धर्म को तज दिया था। इस प्रकरण में उसकी असंदिग्ध घोषणा को टर्टूल्लियन की साहसिक चुनौती से अधिक श्रेय दिया जा सकता है। प्लिनी अफ्रीका के उप-वाणिज्य दूत को डराता भी है और उससे मानवीयता की भी अपेक्षा करता है तथा उससे दृढ़ता के साथ कहता है कि यदि वह अपने क्रूर इरादों पर अड़ा रहेगा, तो वह कार्थेज का विनाश कर डालेगा और वह पाएगा कि दोषी पाए गए अनेक लोगों में उसके जैसे अनेक लोग, जैसे उदात्त वंश के सीनेटर और मेट्रन तथा उसके अति घनिष्ट मित्रों के मित्र अथवा रिश्तेदार होंगे। लेकिन ऐसा लगता है कि कोई चालीस वर्षों के पश्चात सम्राट वैलेरियन को इस दृढ़कथन की सत्यता का विश्वास करा दिया

गया, क्योंकि अपने एक शाही फरमान द्वारा वह प्रत्यक्षतः यह मान लेता है कि सीनेटर रोमन नाइट और उच्च कुल की महिलाएं ईसाई पंथ से आबद्ध थीं। चर्च की बाहरी तड़क-भड़क तो अब भी बनी हुई थी, पर उसकी आंतरिक पवित्रता लुप्त हो चुकी थी। डाओक्लेश्यिन के राज्य-काल में राजमहल, न्यायालयों तथा सेना में छिपे तौर से भारी संख्या में ईसाई मौजूद थे, जो वर्तमान हितों का समन्वय भविष्य के हितों से करने का जुगाड़ कर रहे थे।

फिर भी ये आपत्तियां या तो इतनी कम हैं या इतने आधुनिक-काल की हैं कि उनके द्वारा अज्ञानता और गुमनामी के उस लांछन को पूर्णतया मिटाया नहीं जा सकता, जो बड़े अहंकार के साथ ईसाई धर्म में सबसे पहले दीक्षितों पर लगाया गया है। बजाए इसके कि हम अपने समर्थन में बाद के काल की कल्पनाओं का सहारा लें, समझदारी इसी में होगी कि हम अपयश के इस अवसर को प्रशंसा का अवसर बना दें। गंभीर चिंतन से हमें बोध होगा कि प्रभु ने धर्मदूतों को भी गेलिली के मछेरों में से चुना था। आदि ईसाइयों की लौकिक अवस्था की जितनी कम निंदा हम करेंगे, उतना ही अधिक औचित्य हमें उनकी योग्यता और सफलता की प्रशंसा करने के लिए दीख पड़ेगा। हमारे लिए अनिवार्य है कि हम सदा यह स्मरण रखें कि स्वर्ग के राज्य का वचन निर्धनों को सच्ची भावना से दिया गया है और आपदा तथा मानव-जाति की घृणा से त्रस्त मानस भावी सुख के दैवी वचन को बड़े उत्साह के साथ सुनते हैं, जब कि इसके विपरीत धनवान लोग इस लोक के परिग्रह से संतुष्ट रहते हैं और बुद्धिमान लोग संशय और विवाद में फंस कर बुद्धि और ज्ञान की अपनी थोथी श्रेष्ठता का दुरुपयोग करते हैं।

इसी प्रकार हैलम ने अपनी पुस्तक *'हिस्ट्री आफ मिडिल ऐजेज'* में उस वर्ग की चर्चा की है, जहां से आदि ईसाई आए थे।

किस कारण ईसाई धर्म रोम के सभी नागरिकों का, यानी उच्च वर्ग का भी धर्म बन गया? उसके दो बाह्य कारण थे। पहला कारण तो यह था कि ईसाई धर्म को राज्य-धर्म बना दिया गया। उसका अर्थ था कि हर अन्य धर्म पर पाबंदी लगा दी गई। दूसरा कारण यह था कि ईसाई धर्म को अंगीकार कर लेने के बाद रोमन सम्राटों ने विरासत के कानून में परिवर्तन कर दिया। उसके अनुसार पैतृक संपत्ति में उत्तराधिकार का अधिकार उस संतान को नहीं रहा, जो गैर-ईसाई रहा हो।

इससे केवल यही पता चलता है कि ईसाई धर्म की अपील सहज रूप से निर्धन वर्गों को रास आई। इन्हीं के बीच पहले-पहल ईसाई धर्म का प्रसार हुआ।

उसमें कानून या किसी अन्य बाह्य लाभ का कोई हाथ नहीं था।

भारत के प्रारंभिक ईसाई मिशनरियों ने शुरुआत ही इस प्रकार की कि इस सहज क्रम को उलट दिया। मैं इसे सहज कहता हूं, क्योंकि यह मानवीय मनोविज्ञान के सांचे में सही बैठता है। मनोविज्ञान के महान पंडित प्रो. थार्नडाइक[1] कहते हैं: 'मनुष्य सोचता है, यह जीव-विज्ञान का विषय है। लेकिन जो वह सोचता है, वह समाज-विज्ञान का विषय है।' प्रारंभिक ईसाई मिशनरियों ने इस अति गहन विचार की पूर्ण अवहेलना की। हर प्रकार का विचार हर व्यक्ति को मान्य नहीं होता। यह बात इस तथ्य से स्पष्ट हो जाती है कि पूंजीवाद धनवानों को रास आता है, निर्धनों को नहीं। इसके विपरीत समाजवाद निर्धनों को रास आता है, धनवानों को नहीं। इसका कारण यह है कि व्यक्ति के हितों तथा उसके हितों पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाले विचारों के बीच बड़ा गहरा नाता होता है। हित के प्रतिकूल विचारों को वह अपने मन में स्थान नहीं देगा। मानव-मनोवृत्ति के इस विश्लेषण के अनुसार यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मण तथा उच्च वर्ग ईसाई सिद्धांत को कभी ग्रहण कर ही नहीं सकते। ईसाई सिद्धांत मानव को भाईचारा सिखाता है और उसके अनुसार सब व्यक्तियों का एक-सा दर्जा है। अब ब्राह्मण तथा उच्च वर्गों का हित चातुर्वर्ण्य व्यवस्था को बनाए रखने में है। यह व्यवस्था असमानता पर टिकी है। औरों की तुलना में वह उन्हें ऊंचा दर्जा और दूसरों पर धौंस जमाने और उनका शोषण करने का अवसर प्रदान करती है। ईसाई धर्म को स्वीकार करने की अपेक्षा उनसे कैसे की जा सकती है? उसका अर्थ होगा, उनकी शक्ति और प्रतिष्ठा का समर्पण। उनके पीछे लगना एक थोथा प्रयास रहा है और यदि प्रयास चलता रहता, तो मुझे पूरा यकीन है कि भारत में कोई ईसाई होता ही नहीं। आज भारत में जितने ईसाइयों को हम देख रहे हैं, उसका कारण यह है कि कुछ ईसाई मिशनरियों ने इस प्रयास की निरर्थकता को भांप लिया था। यदि उन्होंने इस भूल को भांपा न होता और निम्न वर्गों के दिल को जीतने का प्रयास प्रारंभ न किया होता, तो भारत में एक भी ईसाई न मिलता। आज भी सैकड़ों और हजारों सवर्ण हिंदू ईसाई स्कूलों, कालिजों और अस्पतालों का लाभ उठाते हैं। लाभ प्राप्त करने वाले इन लोगों में से कितने ईसाई बनते हैं? उनमें से हरेक लाभ उठाता है, पर उनमें से कभी कोई भी यह सोचने का कष्ट नहीं उठाता कि मानव की इतनी सेवा करने वाला धर्म कितना गुणी होगा।

---

1. *साइकोलाजी*, खंड 1

सही राष्ट्रवाद है, जाति-भावना का परित्याग, और जाति-भावना गहन सांप्रदायिकता का ही रूप है।

– भीमराव अम्बेडकर

16

धर्म-परिवर्तन करने वाले की स्थिति

I. *गांधी और ईसाई धर्म के प्रति उनका प्रतिरोध,*

II. *ईसाई धर्म और समाज-सेवा,*

III. *ईसाई धर्म और गैर-ईसाई धर्म,*

IV. *ईसाई धर्म और धर्म-परिवर्तन करने वालों की भावना, और*

V. *ईसाई संप्रदाय और उसकी सामाजिक स्थिति।*

I

सन् 1928 में इंटरनेशनल फेलोशिप की बैठक हुई। इस संस्था का उद्देश्य है कि विभिन्न धर्मों के लोगों के बीच भाईचारे की भावना बढ़ाई जाए। इस बैठक में जहां ईसाई मिशनरियों ने भाग लिया, वहां हिंदुओं और मुसलमानों ने भी भाग लिया। श्री गांधी भी मौजूद थे। इस बैठक में यह सवाल उठाया गया कि यह भाईचारा अपने आदर्श की कसौटी पर कहां तक खरा उतर सकता है, यदि आदर्श का पालन करने वाले लोग दूसरों का धर्म बदल कर उन्हें अपने धर्म में शामिल करना चाहें। बहस में श्री गांधी ने भी भाग लिया। उनके दोस्त श्री सी.एफ. एंड्रयूज ने चर्चा के बारे में इस प्रकार लिखा है[1]:

> इस सवाल के पीछे भारत में ईसाई मिशनरी की स्थिति को निश्चित चुनौती थी। उदारमना मिशनरी फेलोशिप में अति आनंद का अनुभव कर रहे थे।... फिर महात्मा गांधी ने घोषणा की। उन्होंने कहा कि ऐसा करते समय या फेलोशिप का सदस्य बनते समय यदि मन के किसी कोने में तनिक भी यह कामना या विचार हो कि फेलोशिप के किसी अन्य सदस्य पर प्रभाव

1. *दि यंग मेन आफ इंडिया, बर्मा एंड सीलोन,* में 'दि बेसिस आफ इंटर-रिलीजियस फेलोशिप' में सी. एफ. एंड्रयूज ने लिखा है, देखिए, खंड 11, सं. 6, जून 1928

डाला जाए या उसका धर्म-परिवर्तन किया जाए, तो आंदोलन की भावना मिट्टी में मिल सकती है। यदि किसी के मन में ऐसी कामना हो, तो उसे फेलोशिप से अलग हो जाना चाहिए।

ईसाई मिशनरियों ने चर्चा को आगे बढ़ाते हुए जब पूछा, 'यदि उनके पास दुनिया का सबसे बड़ा खजाना हो तो क्या उसे बांटने की कामना भी गलत होगी', तो श्री गांधी ने तुरंत उसका दो-टूक जवाब दे दिया। श्री एंड्रूज कहते हैं, 'गांधीजी अडिग रहे।' उन्होंने दृढ़ता से कहा, 'ऐसी कामना का विचार भी गलत है और मैं इस दृष्टिकोण पर अडिग रहूंगा।'

ईसाइयों द्वारा धर्म-परिवर्तन के प्रति श्री गांधी का विरोध अब तो जग को जाहिर हो गया है। 1936 के बाद से तो वह मिशनरियों के हर प्रकार के प्रचार के कट्टर विरोधी हो गए हैं। उनकी खास आपत्ति यह है कि मिशनरी ईसाई धर्म का प्रचार अस्पृश्यों के बीच कर रहे हैं। ईसाई मिशनों तथा ईसाई धर्म में अस्पृश्यों को शामिल किए जाने का उनका विरोध कतिपय प्रस्थापनाओं पर आधारित है। उनका प्रतिपादन उन्होंने बड़े ही बेबाक शब्दों में किया है। मेरे विचार में सार रूप में उनके दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने के लिए निम्न चार प्रस्थापनाएं पर्याप्त होंगी। वह कहते हैं :

I. मेरा दृष्टिकोण है कि सभी धर्म मूलतः समान हैं। सभी धर्मों के प्रति हमारी सहज श्रद्धा अपने धर्म जैसी ही होनी चाहिए। ध्यान रहे, आपसी सहिष्णुता नहीं, अपितु बराबर की श्रद्धा।[1]

II. (मिशनरियों से) मैं बस केवल यही अपेक्षा करता हूं कि वे सच्चे ईसाइयों जैसा जीवन जिएं, न कि उसकी टीका करें।[2] आपका जीवन हमें संदेश दे। अंधे लोग गुलाब को तो नहीं देख पाते, पर उसकी गंध को अनुभव करते हैं। गुलाब के सिद्धांत का यही रहस्य है, लेकिन यीशु का सिद्धांत तो गुलाब के सिद्धांत से भी अधिक सूक्ष्म और सुगंधमय है। यदि गुलाब के लिए किसी एजेंट की जरूरत नहीं, तो मसीहा के सिद्धांत के लिए एजेंट की कैसी जरूरत।[3]

ईसाई मिशनों के कार्य के बारे में वह कहते हैं :

III. मिशनरी सामाजिक कार्य को निष्काम भाव से नहीं करते, अपितु वह

1. *हरिजन*, 1936, पृ. 330
2. *वही*, 1936, पृ. 353
3. *वही*, अप्रैल 1937, पृ. 86

तो सामाजिक सेवा प्राप्त करने वालों के उद्धार का एक साधन है।[1] ... जब आप चिकित्सा-सहायता करते हैं तो आप पुरस्कार के रूप में चाहते हैं कि आपके मरीज ईसाई बन जाएं।[2]

अस्पृश्यों के बारे में वह कहते हैं :

IV. निश्चय ही मेरा विचार है... कि हरिजनों का तथा भारतीयों का विशाल जनसमूह ईसाई धर्म के प्रस्तुतीकरण को नहीं समझ सकता और सामान्यतः धर्म-परिवर्तन, जहां भी वह किया गया है, आध्यात्मिकता की किसी भी दृष्टि से आध्यात्मिक कार्य नहीं रहा है। वे तो सुविधा के लालच पर किए गए धर्म-परिवर्तन हैं।[3] जहां तक ... सापेक्ष गुण-दोषों के बीच भेद करने की बात है, उनकी (हरिजनों) स्थिति गाय से बेहतर नहीं है। हरिजनों के पास न दिमाग है, न बुद्धि है और न ईश्वर और अनीश्वर के अतर को समझने की योग्यता है।[4]

ईसाई मिशनों को क्या करना उचित होगा, उसके बारे में श्री गांधी सलाह देते हैं, पर उनकी भाषा कुछ अप्रिय है। वह कहते हैं :

यदि ईसाई मिशन ईमानदारी से काम करेंगे... तो उन्हें हरिजनों के धर्म-परिवर्तन की भद्दी होड़ छोड़नी होगी। ...

... भूल जाइए कि आप गैर-ईसाइयों के देश में आए हैं और सोचिए कि आपकी भांति वे भी प्रभु की खोज में हैं, जरा अनुभव कीजिए कि आप वहां उन्हें अपनी आध्यात्मिक संपदा देने नहीं जा रहे हैं, बल्कि आप वहां भौतिक संपदा देंगे, जिसका आपके पास काफी भंडार है। फिर आप बिना किसी मानसिक संकोच के कार्य करेंगे और उसके द्वारा आप अपना आध्यात्मिक खजाना देंगे। मुझे जानकारी है कि आप मानसिक संकोच से ग्रस्त हैं, यानी आप सेवा के बदले किसी व्यक्ति से धर्म-परिवर्तन की आशा करते हैं, वह मेरे और आपके बीच खाई पैदा करती है।

भारत का इतिहास ही भिन्न प्रकार से लिखा जाता, यदि ईसाई भारत में हमारे बीच भाइयों की भांति रहने के लिए आते और यदि कोई सुरभि है तो उसे हमारी सुरभि में व्याप्त कर देते।

ईसाई मिशनों तथा उनके कार्य के प्रति श्री गांधी का यह विरोध काफी हाल

1. *हरिजन,* 1937, पृ. 137

2. *वही,* 18, जुलाई 1936, पृ. 178

3. *वही,* 1936, पृ. 140-41

4. *वही,* 1936, पृ. 360

का है। जहां तक मुझे जानकारी है, वह येवला निर्णय से परे का नहीं हो सकता।

वह हाल का भी है और विचित्र भी। मेरी जानकारी है कि इस्लाम में अस्पृश्यों को शामिल किए जाने के प्रति इतनी स्पष्ट और दृढ़ रीति से विरोध की कोई घोषणा उन्होंने नहीं की है। अस्पृश्यों को अपने धर्म में शामिल करने की अपनी योजना को मुसलमानों ने गोपनीय नहीं रखा है। जब 1923 में कोकोनाडा में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन हुआ था तो उसकी अध्यक्षता करते हुए मौलाना मोहम्मद अली ने कांग्रेस कै मंच से खुलेआम इस योजना की घोषणा की थी। अपने अध्यक्षीय भाषण में मौलाना ने साफ-साफ कहा था :

> (हिंदुओ और मुसलमानो के बीच) आलमों और पीपल के पेड़ों और गाजे-बाजे के साथ जुलूसों के बारे में झगड़े वास्तव में बचकाना बातें हैं। लेकिन एक प्रश्न है, जिसे अमैत्रीपूर्ण कार्य की शिकायत के लिए सहज ही आधार बनाया जा सकता है, यदि सांप्रदायिक गतिविधियों का शांति के साथ समन्वय नहीं किया जाता। यह सवाल है दलित वर्गों के धर्म-परिवर्तन का, यदि हिन्दू समाज उन्हें तेजी से आत्मसात नहीं करता। ईसाई मिशनरी पहले ही जुटे हुए हैं और कोई भी उनसे लड़ाई-झगड़ा नहीं करता। लेकिन जैसे ही कोई मुस्लिम मिशनरी सोसाइटी उस प्रयोजन के लिए बनाई जाती है, वैसे ही हिंदू प्रेस में चीखने-चिल्लाने की पूरी गुंजाइश पैदा हो जाती है। एक प्रभावशाली तथा धनवान सज्जन ने मुझे सुझाव दिया है कि वह दलित वर्गों के धर्म-परिवर्तन के लिए बड़े पैमाने पर (मुस्लिम) मिशनरी सोसाइटी का गठन कर सकते हैं। उनका कहना है कि यह संभव होना चाहिए कि प्रमुख हिंदू महानुभावों के साथ समझौता हो जाए और देश को दो अलग-अलग क्षेत्रों में बांट दिया जाए, जहां हिंदू और मुसलमान मिशनरी अपने-अपने इलाकों में काम कर सकें। हर संप्रदाय हर वर्ष या उससे अधिक अवधि के लिए, यदि आवश्यक हो, आकलन तैयार करे कि वह कितनी संख्या में लोगों को आत्मसात या धर्म में शामिल करने के लिए तैयार है। निश्चय ही इन आंकड़ों का आधार यह होगा कि प्रत्येक के पास कितने कार्यकर्ता और कितनी पूंजी है, और उसे पिछली अवधि के वास्तविक आंकड़ों के आधार पर परखा जाएगा। इस प्रकार हर संप्रदाय को छूट होगी कि वह आत्मसातकरण और धर्म-परिवर्तन या सुधार का कार्य कर सके और आपसी टकराव की भी गुंजाइश न रहे।

इससे अधिक स्पष्टवादिता और क्या हो सकती है। कांग्रेस के मंच से इस घोषणा से अधिक व्यावहारिक और दुनियादारी की बात और क्या हो सकती है।

लेकिन मुझे पता नहीं है कि श्री गांधी ने कभी उसकी आलोचना उस प्रकार से की है, जिस प्रकार अस्पृश्यों के धर्म-परिवर्तन के लिए ईसाई मिशनों के प्रयास की निंदा वह अब कर रहे हैं। श्री गांधी के शिविर से किसी ने भी इस अमर्यादित मुस्लिम सुझाव का प्रतिरोध नहीं किया है। शायद वे ऐसा कर भी नहीं सकते, क्योंकि कांग्रेसी हिंदुओं का विचार है कि मुसलमान जिस बात को अपना मजहबी फर्ज मानें, उसे पूरा करने में मुसलमानों की मदद करना उनका कर्तव्य है। उनका विचार है कि धर्म-परिवर्तन मुसलमानों का मजहबी फर्ज है और उससे इंकार नहीं किया जा सकता। जो भी हो, जैसा कि 1920 में जार्ज जोसेफ ने कहा था, उसके अनुसार कांग्रेस के हिंदू नेताओं का विचार था, 'हिदुओं का यह धार्मिक कर्तव्य है कि वे जजीरुत-अल-अरब में अरबों पर तुर्की की खिलाफत को बरकरार रखने में मुसलमानों की सहायता करें, क्योंकि मुस्लिम धर्म-विज्ञानियों तथा राजनेताओं ने हमें आश्वासन दिलाया है कि यह उनका मजहबी फर्ज है।' यह अस्वाभाविक बात थी, क्योंकि इसका अर्थ था अरबों पर विदेशी हुकूमत को बनाए रखना, लेकिन हिंदुओं को इसे अपने गले से नीचे उतारना पड़ा, क्योंकि उनसे यह आग्रह किया गया कि वह हिंदुओ के धार्मिक कर्तव्य का हिस्सा है।[1] यदि यह सच है तो धर्म-परिवर्तन के अभियान में गांधी ईसाइयों की मदद क्यों नहीं करते, क्योंकि धर्म-परिवर्तन भी उनके धार्मिक कर्तव्य की पूर्ति है।

अतः यह समझ में नहीं आता कि आज इस कारण अलग मापदंड क्यों अपनाया जा रहा है कि ईसाई उसमें जुटे हुए हैं। अतः श्री जार्ज जोसेफ ने सीमा का उल्लंघन नहीं किया, जब उन्होंने कहा :

> एकमात्र अंतर यह है कि मुस्लिमों की संख्या साढ़े सात करोड़ और ईसाइयों की केवल 60 लाख है। मुस्लिमों से दोस्ती करना लाभकारी हो सकता है, क्योंकि वे राष्ट्रवाद के मार्ग का कांटा बन सकते हैं। ईसाइयों का कोई महत्व नहीं है, क्योंकि वे अल्प संख्या में हैं।

श्री गांधी मुसलमान तथा ईसाइयों की सापेक्ष संख्या और भारतीय राजनीति में उनके सापेक्ष महत्व जैसी बातों से प्रभावित होते हैं, यह बात उस शब्दावलि से स्पष्ट हो जाती है, जिसे वह उस निंदा के लिए इस्तेमाल करते हैं, जिसे वह 'प्रचार की निंदात्मक शैली' कहते हैं। जब ऐसा प्रचार ईसाई मिशनरियों की ओर से होता है तो वह उनकी निंदा के लिए निम्न भाषा का प्रयोग करते हैं। (मूल अंग्रेजी की पांडुलिपि में उद्धरण नहीं है–संपादक)

दूसरी ओर जब वह मुस्लिमों की ओर से होने वाले प्रचार का विरोध करते हैं, तो वह केवल इतना कहते हैं[2]:

---

1. *हरिजन*, 8 फरवरी 1936, पृ. 415
2. *वही*, हरिजन, 8 अगस्त 1936

कैसे खेद की बात है कि मिशन में लोगों को लुभाने के लिए धर्म को भद्दे भौतिकवाद के घटिया स्तर पर पटक दिया जाता है, जिसके पैरों तले करोड़ों मानव-प्राणियों की चिरपोषित भावनाओं को रौंदा जाता है।

मुझे आशा है कि पर्चे को मननशील मुसलमानों का समर्थन प्राप्त नहीं है। उन्हें इसे पढ़कर यह अनुभव कर लेना चाहिए कि ऐसे पर्चे कितना उत्पात पैदा कर सकते हैं।

मेरे संवाददाता ने मुझसे पूछा है कि इस उपद्रव का कैसे सामना करना चाहिए। एक उपचार का प्रयोग मैंने किया है, यानी इसके निंदात्मक प्रचार को जिम्मेदार मुस्लिम जगत के ध्यान में लाया जाए। वह स्वयं प्रकाशन के प्रति स्थानीय मुसलमान नेताओं का ध्यान आकर्षित कर सकते हैं। दूसरा तथा सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य आंतरिक शुद्धि का है। जब तक हिंदू समाज में अस्पृश्यता की स्थिति बनी रहती है, उस पर बाहर से हमले होने की संभावना बनी रहेगी। ऐसे हमलों को वह तभी रोक सकेगा, जब अस्पृश्यता के पूर्ण उन्मूलन के रूप में शुद्धि की एक ठोस तथा अभेद्य दीवार खड़ी कर दी जाए।

पहले विरोध की उग्रता तथा दूसरे की विनम्रता काफी स्पष्ट है। निश्चय ही गांधी को एक चालाक 'पक्षपाती' मानना पड़ेगा।

लेकिन मुस्लिम तथा ईसाई प्रचार के प्रति उनके दृष्टिकोण में इस भेदभाव के अलावा ईसाई मिशनों के विरुद्ध श्री गांधी के तर्कों में क्या कोई वैधता है? उनमें निरा चातुर्य है। उनमें कोई गहराई नहीं है। वे एक बेबस व्यक्ति के घोर निराशाभरे तर्क हैं। श्री गांधी शुरुआत ही समान सहिष्णुता और समान श्रद्धा के बीच विभेद से करते हैं। 'समान श्रद्धा' एक नई अभिव्यक्ति है। यह समझ पाना कठिन है कि उसके द्वारा वह क्या विभेद करना चाहते हैं। लेकिन नई अभिव्यक्ति महत्वपूर्ण है। पुरानी अभिव्यक्ति 'समान सहिष्णुता' गलती की गुजांइश दर्शाती है। दूसरी ओर, 'समान श्रद्धा' मानती है कि सभी धर्म समान रूप से सच्चे और समान महत्व के हैं। यदि मैंने उन्हें ठीक से परखा है तो उनका आधार-वाक्य न केवल तर्क की, बल्कि इतिहास की दृष्टि से भी नितांत भ्रामक है। मान लीजिए कि धर्म का लक्ष्य प्रभु तक पहुंचना है, और मैं नहीं मानता कि वह लक्ष्य है और धर्म उस तक पहुंचने का मार्ग है, पर यह नहीं कहा जा सकता कि हर धर्म निश्चय ही प्रभु तक ले जाएगा। न ही यह कहा जा सकता है कि हर मार्ग, भले ही वह अंततः प्रभु तक ले जाता हो, सही मार्ग है। हो सकता है कि (सभी विद्यमान धर्म झूठे हों) और सर्वांगपूर्ण धर्म का अभी तक पता न चला हो। लेकिन

तथ्य यह है कि धर्म पूर्णतः सत्य नहीं है। अतः एक धर्म के अनुयायियों को अधिकार है, वस्तुतः उनका कर्तव्य है कि वे अपने भटके मित्रों को बता दें कि उनकी दृष्टि में सत्य क्या है। अस्पृश्य की स्थिति गाय से बेहतर नहीं है, यह एक ऐसा कथन है जिसे कहने का दुस्साहस केवल कोई विवेकशून्य अथवा अहंकारी व्यक्ति ही कर सकता है। यह कोरी बकवास है। श्री गांधी यह कहने का दुस्साहस करते हैं क्योंकि वह स्वयं को ऐसा महापुरुष मानने लगे हैं कि अज्ञानी जनता उनके कथनों पर आपत्ति नहीं करेगी और बेईमान बुद्धिजीवी वर्ग उनकी हर बात का समर्थन करेगा। उनके तर्क की सर्वाधिक विचित्र बात यह है कि वह ईसाई मिशनों द्वारा जुटाई जाने वाली भौतिक संपदा को ग्रहण करना चाहते हैं। वह उनकी आध्यात्मिक संपदा को ग्रहण करना चाहते हैं, पर उनकी शर्त है कि मिशनरी उन्हें 'बिना किसी बंधन के' भौतिक संपदा ग्रहण करने का न्यौता दें। (वह प्रतिदान के खिलाफ हैं)। यह समझ पाना कठिन है कि किस कारण श्री गांधी कहते हैं कि मिशनरियों की सेवाएं प्रलोभन हैं और धर्म-परिवर्तन सुविधा का लालच देने वाला धर्म-परिवर्तन है। क्यों इस बात पर विश्वास नहीं किया जा सकता कि मिशनरियों की ये सेवाएं दर्शाती हैं कि ईसाइयों की दृष्टि में पीड़ित मानवता की सेवा करना उनके धर्म की अनिवार्य अपेक्षा है? जिस प्रक्रिया के द्वारा किसी व्यक्ति को ईसाई धर्म की ओर आकर्षित किया जाता है, उसके प्रति क्या यह गलत दृष्टिकोण होगा? यह गलत है, ऐसा तो केवल पूर्वाग्रही ही कहेगा।

श्री गांधी के ये सभी तर्क प्रस्तुत किए जाते हैं, ताकि ईसाई मिशनरी अस्पृश्यों को ईसाई न बना सकें। कोई भी इस बात का खंडन नहीं करेगा कि श्री गांधी को अधिकार है कि वह हिंदू धर्म के हित में अस्पृश्यों की रक्षा करें। लेकिन उस अवस्था में उन्हें दो-टूक शब्दों में मिशनों से यह कह देना चाहिए था, 'अपना काम रोक दो, अब हम अस्पृश्यों की तथा अपनी रक्षा करना चाहते हैं। हमें अवसर दो।' खेद है कि उन्होंने मिशनरियों के उत्पात का सामना करने के लिए ईमानदारी का यह तरीका नहीं अपनाया। कोई कुछ भी कहे, पर निश्चय ही सभी अस्पृश्य, चाहे उन्होने धर्म बदला हो या न बदला हो, इस बारे में सहमत होंगे कि श्री गांधी ने ईसाई मिशनों के प्रति घोर अन्याय किया है। सदियों तक ईसाई मिशनों ने उन्हें यदि शरण नहीं, आश्रय तो दिया ही है।

जरूरी नहीं कि श्री गांधी का यह रवैया भय दिखाकर मिशनरियों अथवा अस्पृश्यों को रोक सके। ईसाई धर्म भारत में अपनी जड़ें जमा चुका है। यदि उसे दबाने के लिए हिंदू राष्ट्रवाद के उन्माद में अपनी राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक शक्ति का दुरूपयोग नहीं करेंगे, तो वह जिंदा रहेगा और सदा ही उसकी संख्या और प्रभाव में वृद्धि होती रहेगी।

II

अतः भारत में ईसाई धर्म की क्या उपलब्धि रही है, यह एक ऐसा उपयुक्त विषय है, जिस पर ईसाई मिशनों तथा अस्पृश्यों, दोनों के ही दृष्टिकोणों से विचार होना चाहिए।

यह निर्विवाद तथ्य है कि ईसाई मिशन भारतवासियों को 'स्वस्थ देह' और अपनी शरण में आने वालों को 'स्वस्थ बुद्धि' प्रदान करने की चेष्टा कर रहे हैं। यहां भारत में ईसाई मिशनों की संपूर्ण गतिविधियों का वर्णन करना कठिन होगा। मिशनरियों के काम को पांच शीर्षकों के अंतर्गत रखा जा सकता है :

(1) बच्चों के लिए, (2) युवकों के लिए, (3) जनता के लिए, (4) महिलाओं के लिए, और (5) रोगियों के लिए।

कार्य बहुत बड़े पैमाने पर किया गया है। निम्न आंकड़ों से पता चल जाएगा कि शिक्षा और रोगोपचार के लिए कितने बड़े पैमाने पर काम किया जा रहा है।

I. ईसाई चिकित्सा-कार्य[1]

1. अस्पताल	256
2. डिस्पेंसरियां	250
3. सैनीटोरियम	10
4. कुष्ठाश्रम	38
5. मैडिकल स्कूल	3
6. अस्पतालों में बिस्तरों की संख्या	12,000
7. सैनीटोरियमों में बिस्तरों की संख्या	755
8. विदेशी डाक्टर	350
9. राष्ट्रीय डाक्टर	390
10. विदेशी नर्सें	300
11. राष्ट्रीय नर्सें	900
12. छात्रा नर्सें	1,800
13. बड़े आपरेशन	44,000
14. जच्चा-बच्चा पर (कुल)	32,000
15. अंतरंग रोगी	285,000
16. बाह्य रोगी	2,600,000

1. भारत, बर्मा और श्रीलंका में।

II. ईसाई शिक्षा-व्यवस्था[1]

	संस्थाएं	छात्र
1. प्रारंभिक स्कूल	13,330	611,730
2. माध्यमिक स्कूल	302	67,229
3. कालिज	31	11,162
4. धर्म-विज्ञान कालिज और ट्रेनिंग स्कूल	25	556
5. *बाइबिल* ट्रेनिंग स्कूल	74	2,855
6. टीचर ट्रेनिंग स्कूल	63	3,153

इसकी तुलना में हिंदुओं के पास दिखाने के लिए क्या है? ऐतिहासिक दृष्टि से कहा जाए तो हिंदू धर्म तथा हिंदुओं का मानवता की सेवा से कोई नाता नहीं है। हिंदू धर्म में कर्मकांड और रीति-रिवाजों की प्रधानता है। वह मंदिरों का धर्म है। मानव-प्रेम के लिए उसमें कोई स्थान नहीं है। मानव-प्रेम के बिना मानव-सेवा की प्रेरणा कैसे मिल सकती है? हिंदुओं के परोपकार-कार्यों के लिए जिन प्रयोजनों से दानादि किया जाता है, उनसे यह बात भली-भांति स्पष्ट हो जाती है। भारत में केवल इने-गिने लोग ही जानते हैं कि किस हद तक हिंदुओं के दानादि के प्रयोजन और परिधि का निर्धारण जाति करती है। हिंदुओं के दान कार्यों के बारे में पूर्ण तथा सही तथ्य प्राप्त करना कठिन है। लेकिन कुछ वर्ष पूर्व बंबई नगर में आंकड़े एकत्र किए गए थे। वे इस विषय पर प्रचुर प्रकाश डालते हैं। (मूल अंग्रेजी की पांडुलिपि में आंकड़े टंकित नहीं किए गए—संपादक)।

सन् 1918 में बंबई में एन्फ्लुएंजा की महामारी के दौरान कतिपय डाक्टरों पर आरोप लगाया गया था कि रोगी के उपचार पर जातिवाद का प्रभाव पड़ सकता है।

तुलनात्मक दृष्टि से कहा जाए तो समाज-सेवा के क्षेत्र में ईसाई मिशनों की उपलब्धियां अति महान हैं। इसके बारे में संदेह तो केवल वही कर सकता है, जिसने ईसाई धर्म की हर चीज का विरोध करने की कसम खा ली हो। इन सेवाओं को स्वीकार करते समय हम दो प्रश्न उठा सकते हैं। क्या भारत के ईसाई संप्रदाय को इन सेवाओं की जरूरत है? क्या भारत के ईसाई संप्रदाय की कोई ऐसी जरूरतें है, जिनकी ओर मिशनरियों ने ध्यान नही दिया है?

यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि भारत के ईसाई मुख्यतः अस्पृश्यों और गौणतः निम्न श्रेणी की शूद्र जातियों में से बने हैं। अतः निश्चय ही मिशनों की समाज-सेवाओं को इन वर्गों की जरूरतों की दृष्टि से आंकना होगा। वे जरूरतें

1. भारत में।

क्या हैं?

शिक्षा तथा चिकित्सा-सहायता के क्षेत्रों में मिशनों ने जो सेवाएं की हैं, वे भारत के ईसाइयों की पहुंच से बाहर हैं। अधिकांशतः उनका लाभ सवर्ण हिंदुओं को मिलता है। भारत के ईसाई या तो इतने गरीब होते हैं या फिर उनमें इतना उत्साह होता ही नहीं कि वे उच्च शिक्षा के लिए प्रयास करें। अतः मिशन हाई स्कूलों, कालिजों और होस्टलों को चलाने के लिए जो पैसा खर्च कर रहे हैं, वह भारतीय ईसाइयों के उत्थान की दृष्टि से पैसे का दुरुपयोग तथा अपव्यय है। उसी प्रकार ईसाइयों द्वारा दी गई अधिकांश चिकित्सा-सहायता भी सवर्ण हिंदुओं को मिलती है। अस्पतालों के बारे में तो खास तौर पर ऐसा कहा जा सकता है।

मुझे मालूम है कि अनेक मिशनरी इस बात को अनुभव करते हैं। फिर भी यह खर्च वर्ष-प्रतिवर्ष किया जा रहा है। निश्चय ही इन सेवाओं का उद्देश्य है कि ईसाई मिशनरियों और सवर्ण हिंदुओं को आपस में संपर्क स्थापित करने का अवसर मिल सके। मेरा विचार है कि अब समय आ गया है कि मिशनरी यह अनुभव करें कि सवर्ण हिंदुओं को ईसाई बना लिया जाएगा, इस आशा से उनके पीछे लगने का प्रयास एक निरर्थक प्रयास है और निश्चय ही उसमें पूर्ण विफलता ही हाथ लगेगी। मेरे विचार में श्री विन्स्लो ने ठीक ही कहा है। ईसाई धर्म के प्रति भारत के बुद्धिजीवी वर्ग के रवैए के बारे में अपने सर्वेक्षण का समापन करते हुए वह कहते हैं:

> ... जहां डफ और सेरामपोर मिशनरियों के कार्य के फलस्वरूप कुछ उल्लेखनीय धर्म-परिवर्तन हुए और कुछ समय के लिए ऐसा लगा मानो अंग्रेजी शिक्षा के कारण उसे ग्रहण करने वालों में से अनेक लोग तेजी से ईसाई चर्च के प्रांगण में आ जाएंगे, पर शीघ्र ही एक प्रतिक्रिया प्रारंभ हो गई और आंदोलन ठप्प हो गया। उसका स्थान आस्तिक समाजियों ने, विशेषतः बंगाल के ब्राह्मो समाज ने ले लिया। जो हिंदू पश्चिमी विचारधारा के प्रभाव में आकर मूर्तिपूजा और जातिप्रथा से खीज उठे थे, उन्हें ब्राह्मो समाज ने इस योग्य बनाया कि वे मूर्तिपूजा और जातिप्रथा को तो छोड़ दें, पर हिंदू वर्ण-व्यवस्था के भीतर अपने स्थान का पूर्ण परित्याग न करें। अनेक वर्षों तक ईसाई मिशनरी यह आशा और विश्वास करते रहे कि ब्राह्मो समाज ईसाई धर्म के लिए आधी मंजिल सिद्ध होगा और उसके अनेक सदस्य कालक्रम में त्रिशंकु जैसी स्थिति से खीज उठेंगे और ईसाई धर्म को अंगीकार कर लेंगे, लेकिन यह आशा मुख्यतः निराशा ही सिद्ध हुई, भले ही कुछ उल्लेखनीय धर्मान्तरित समाजियों में से आए हैं। ...

तो आज का शिक्षित भारतीय, विशेषतः ब्राह्मण, यीशु के बारे में क्या सोचता है? संभवतः साधारणीकरण करने का प्रयास करना तो बेवकूफी ही होगी। ... फिर भी कुछ मोटी-मोटी बातें सामने हैं और उनका निरापद रूप से वर्णन किया जा सकता है। ... यीशु के उपदेश, खासकर उनके नैतिक उपदेश के मुख्य सिद्धांतों को व्यापक रूप से स्वीकार किया जाता है। इसे आम तौर पर स्वीकार किया जाएगा कि 'पर्वत-प्रवचन' (सर्मन आन दि माउंट), जहां यह जरूरी नहीं कि उसमें ऐसी बात हो जिसकी तुलना अन्य स्रोतों से न की जा सके, वहां वह मानव-आचरण की निर्देशिका के रूप में लाजवाब है।... यीशु के उपदेश की इस व्यापक स्वीकृति के साथ-साथ उनके जीवन और चरित्र के प्रति भी आम तौर पर गहन श्रद्धा है।...

दूसरी ओर, यह दावा किया जाता है कि एक 'विलक्षण' अर्थ में यीशु दिव्य थे और हैं। पर इस दावे को अधिकांश हिंदू तथा वे हिंदू भी जो उनके जीवन के प्रति गहरी श्रद्धा रखते हैं, स्वीकार करने को तैयार नहीं होंगे। ... (वे) उनके साथ-साथ (अपने) महान भविष्यदृष्टा बुद्ध को भी मुकाबिले में खड़ा करेंगे। लेकिन ईसाइयों का यह दावा (वे) स्वीकार नहीं करेंगे कि 'वे ही' और केवल 'वे ही' 'देहधारी प्रभु' हैं और 'उनके' और केवल 'उनके' प्रति श्रद्धा रखने से ही उद्धार हो सकेगा। हिंदुओं की दृष्टि में यह दावा विशिष्ट और संकीर्ण है। ... इस प्रकार उद्धार के एकमात्र पथ का ईसाइयों का दावा भारत में नैसर्गिक घृणा पैदा करता है। ... शिक्षित हिंदू का अजीबोगरीब धार्मिक दृष्टिकोण आज भी यह है कि वह हिंदू बने रहने में पूर्ण संतोष अनुभव करता है, भले ही वह यीशु के प्रति गहरी श्रद्धा रखता है और 'उनके' उपदेश के मुख्य सिद्धांतों को स्वीकार करता है।

इसमें संदेह नहीं कि यह स्थिति का सही आकलन है। यदि ऐसा है, तो शिक्षा तथा चिकित्सा-सहायता पर ईसाई मिशनों ने जो धन तथा शक्ति खर्च की है, वह उनका सदुपयोग नहीं है और उससे भारत के ईसाइयों को कोई मदद नहीं मिलती।

भारत के ईसाइयों की दो जरूरतें हैं। एक तो यह है कि उनके नागरिक अधिकारों की रक्षा की जाए। दूसरी यह है कि उनके आर्थिक उत्थान के साधन और उपाय जुटाए जाएं। मैं यहां इन जरूरतों पर ब्यौरेवार चर्चा नहीं करूंगा। मैं तो केवल यह बताना चाहता हूं कि ईसाई मिशन भारत में जो सामाजिक कार्य कर रहे हैं, उसमें यह एक भारी कमी है।

III

ईसाई मिशनरियों ने शिक्षा और चिकित्सा-सहायता के क्षेत्र में जो कार्य किया है, जहां वह अति उल्लेखनीय और प्रशंसनीय है, वहां अब भी एक प्रश्न है, जिसका उत्तर दिया जाना है। धर्मान्तरित की मानसिकता को बदलने की दिशा में ईसाई धर्म ने क्या हासिल किया है? क्या धर्मान्तरित अस्पृश्य का दर्जा बढ़कर 'स्पृश्य' का हो गया है? क्या धर्मान्तरित स्पृश्यों तथा अस्पृश्यों ने जात-पांत को तज दिया है? क्या उन्होंने अपने पुराने गैर-ईसाई देवी-देवताओं को पूजना छोड़ दिया है और क्या उन्होंने अपने पुराने गैर-ईसाई अंधविश्वासों को छोड़ दिया है? ये दूरगामी प्रभाव वाले प्रश्न हैं। उनका उत्तर दिया ही जाना चाहिए और इन प्रश्नों के जो उत्तर ईसाई धर्म दे सकता है, उन्हीं पर ईसाई-धर्म को भारत में टिकना अथवा गिरना होगा। दक्षिण भारत के दलित ईसाई वर्गों ने साइमन कमीशन को जो ज्ञापन दिया था, उससे निम्न उद्धरण दिए गए हैं। जहां तक जात-पांत के प्रश्न का संबंध है, ये उद्धरण ईसाई धर्म में शामिल होने वाले अस्पृश्यों की स्थिति पर प्रचुर प्रकाश डालते हैं :

> हमने ईसाई धर्म को स्वीकार कर लिया है। हम रोमन कैथोलिक भी हैं और प्रोटेस्टैंट भी। प्रेसिडेंसी के भारतीय ईसाइयों की कुल संख्या में से कोई साठ प्रतिशत लोग दलित वर्गों से धर्मान्तरित किए गए हैं। जब हमारे प्रदेशों में ईसाई धर्म का प्रचार किया गया तो हमने, यानी पाल्लाओं, पेरियाओं, मल्लाओं, मादिगाओं आदि ने ईसाई धर्म को अंगीकार कर लिया। लेकिन हमारे वंश और मूल के अन्य लोगों ने धर्म-परिवर्तन नहीं किया और वे हिंदू दलित वर्ग कहलाते हैं। वे सब हिंदू हैं या हिंदू धर्म के अनुयायी हैं। लेकिन इसके बावजूद कि हमारा ईसाई धर्म हमें मूल सत्यों की सीख देता है, जैसे प्रभु के समक्ष मानव मात्र की समता, पड़ोसी के प्रति उपकार और प्रेम की जरूरत, परस्पर सहानुभूति और सहिष्णुता की जरूरत, हम दलित वर्ग के धर्मान्तरितों में से अधिकांश की सामाजिक स्थिति हिंदू दलित वर्गों जैसी ही है। अनेक कारणों से, जिनमें से अधिक महत्वपूर्ण है ईसाई धर्म ग्रहण करने वालों की कट्टर जातिवाद की हिंदू मनोवृत्ति और मिशनरियों की उदासीनता, उपेक्षा और लाचारी के कारण हमारी स्थिति आज भी वैसी ही है, जैसी कि ईसाई बनने से पूर्व थी। हम आज भी अस्पृश्य हैं। देश में प्रचलित सामाजिक स्थिति संबंधी नियम हमारा तिरस्कार करते हैं, सवर्ण ईसाई हमें ठुकराते हैं और सवर्ण हिंदू हमसे घृणा करते हैं तथा हिंदू दलित वर्ग के हमारे अपने ही बंधु हमारा बहिष्कार करते हैं।

दक्षिण भारत के ईसाइयों के जिस छोटे से वर्ग के प्रतिनिधि मद्रास में

विधान परिषद् में विराजमान हैं, वे सवर्ण ईसाई हैं। सवर्ण ईसाई शब्द विरोधाभास पैदा करता है, लेकिन दुर्भाग्य से हिंदू धर्म से आए उच्च जाति के धर्मान्तरितों के बारे में यह सही तथा मान्य अभिव्यक्ति है। उनमें जातिवाद की कठोरता और विशिष्टता अब भी बनी हुई है। खास तौर पर मुफस्सिल इलाकों और ग्रामों में, जिन लोगों को हमारे ईसाई भाई होना चाहिए था, वे ही जातीय बहिष्कार की कठोर तथा अन्यायपूर्ण परंपरा का पालन करते हैं। वे हमें 'पंचम अथवा पेरिया' कहकर हमारी निंदा करते हैं। वे हमारे ईसाई अधिकारों की अवहेलना करते हैं। वे अपनी समृद्धि, शक्ति, प्रतिष्ठा और मान के मद में मस्त होकर हम निरीह ईसाइयों को समाज से बहिष्कृत करते हैं। ... पंचम-विरोधी गतिविधियों के विस्फोट प्रायः होते रहते हैं। दक्षिण भारत का ईसाई समाज इसके लिए बदनाम है। अपनी दशा सुधारने के लिए, अपनी प्रगति के लिए और अपने प्राथमिक अधिकारों पर आग्रह करने के लिए जब हम हल्का-सा भी प्रयास करते हैं तो हमें हर व्यक्ति के क्रोध और कोप का शिकार होना पड़ता है। फिर चाहे वह अधिकारी हो या न हो, ईसाई हो अथवा हिंदू, वे सबके सब जन्म की मूर्खतापूर्ण श्रेष्ठता का दंभ करते हैं। ईसाई धर्म के मूल सिद्धांतों को नकारते हुए तथा प्रेम, उपकार और भाईचारे की भावना को ठुकराते हुए हमारे 'ईसाई भाई' गिरजाघरों में भी हमारे साथ अस्पृश्यों तथा सामीप्यवर्जितों जैसा व्यवहार करते हैं। वे हमारे लिए अपने परिसरों से दूर अलग स्थान की व्यवस्था करते हैं और अपने हिस्सों में लोहे की छड़ों और दीवारों तथा बाड़ों द्वारा अवरोध खड़े करते हैं। ऐसे अनेक गिरजाघर हैं।

शपथ-ग्रहण के मामले में भ्रष्टता से बचने के लिए अति उपहासास्पद अलगाव किया जाता है। अपने बच्चों को शिक्षा देने और उन्हें जीवन संग्राम के लिए तैयार करने के हमारे दावों को नृशंसता से ठुकराया जाता है। नितांत पूर्वाग्रह के कारण हमारे बच्चों को स्कूलों, शिक्षालयों छात्रावासों, होस्टलों में प्रवेश नहीं दिया जाता और यदि दिया भी जाता है, तो उनके लिए अलग अपमानजनक स्थान की व्यवस्था की जाती है। सवर्ण ईसाई स्वयं को सवर्ण हिंदुओं के पूर्वजों का वंशज जताते हुए सामाजिक दर्जे और प्रतिष्ठा की याचना करता है और अपने सजातीयों, यानी हिंदुओं की सहानुभूति प्राप्त करता है। वह दलित वर्ग के ईसाइयों से वैसा ही व्यवहार करता है, जैसा कि सवर्ण हिंदू लोग हिंदू दलित वर्गों के साथ करते हैं।

जिस बात को यहां सामान्य शब्दों में कहा गया है, उसे मैं नीचे दी गई दो घटनाओं द्वारा मूर्तरूप देना चाहूंगा। (मूल अंग्रेजी की पांडुलिपि में घटनाओं का उल्लेख नहीं किया गया है—संपादक)।

यह एक भयंकर आरोप-पत्र है। यह जानकर राहत मिलेगी कि वह न तो समूचे भारत पर लागू होता है और न ही सभी प्रकार के ईसाइयों पर। प्रोटेस्टैंटों की तुलना में वह कैथोलिकों के बारे में अधिक सही तस्वीर है। उत्तर भारत अथवा मध्य भारत की तुलना में वह दक्षिण भारत के बारे में ज्यादा सही है। लेकिन फिर भी तथ्य यह है कि ईसाई धर्म को ग्रहण करने वालों के मन से जातिवाद की भावना को दूर करने में ईसाई धर्म विफल रहा है। स्पृश्यों तथा अस्पृश्यों के बीच विभेद को किसी कोने में रखा जा सकता है। चर्च का स्कूल सभी के लिए खुला हो सकता है। फिर भी इस बात को चुनौती नहीं दी जा सकती कि जातिवाद ईसाइयों के जीवन पर भी उतना ही छाया हुआ है, जितना कि हिंदुओं के जीवन पर। ब्राह्मण ईसाई भी हैं और गैर-ब्राह्मण ईसाई भी। गैर-ब्राह्मण ईसाइयों में मराठा ईसाई, महार ईसाई, मांग ईसाई और भंगी ईसाई हैं। उसी प्रकार दक्षिण में पेरिया ईसाई, मल्ला ईसाई और मादिग ईसाई हैं। उनमें आपस में रोटी व बेटी का व्यवहार नहीं चलता। हिंदुओं की भांति वे भी जातिवाद से ग्रस्त हैं।

एक और बात दर्शाती है कि धर्म-परिवर्तन करने वालों के मन से मर्तिपूजा को निकालने में ईसाई धर्म प्रभावकारी सिद्ध नहीं हुआ है। लगभग सभी धर्मान्तरित ईसाई पूजा-अर्चना की हिंदू पद्धतियों को अपनाए हुए हैं और वे हिंदुओं के अंधविश्वासों को मानते हैं। देखा जाता है कि धर्मान्तरित ईसाई अपने परिवार के देवताओं के साथ-साथ, राम, कृष्ण, शंकर, विष्णु आदि हिंदू देवताओं की भी पूजा करता है। देखा जाता है कि धर्मान्तरित ईसाई हिंदुओं के पवित्र तीर्थस्थलों पर जाता है। वह पंढरपुर जाकर विठोबा की अर्चना करता है। वह जेजुरी जाकर रक्तपिपासु देवता खंडोबा को बकरे की बलि देता है। गणेश चतुर्थी को वह चंद्रमा के दर्शन नहीं करेगा। सूर्य-ग्रहण पर वह समुद्र में स्नान करेगा। ये सब अंधविश्वास हिंदुओं के हैं। कौन नहीं जानता कि जन्म, मृत्यु और विवाह के अवसर पर ईसाई हिंदुओं की सामाजिक प्रथाओं का पालन करते हैं। ईसाइयों में हिंदुओं की सामाजिक प्रथाओं के प्रचलन के बारे में मैं कुछ नहीं कहता। जहां तक इन सामाजिक प्रथाओं का कोई धार्मिक महत्व नहीं है, उनसे कोई फर्क नहीं पड़ता। लेकिन धार्मिक प्रथाओं के बारे में वैसा नहीं कहा जा सकता। ईसाइयों की आस्था और उनकी जीवन-शैली से उनका कोई मेल नहीं खाता। प्रश्न यह है कि क्या कारण है कि ईसाई धर्म उन्हें निर्मूल नहीं कर सका?

उत्तर है कि भले ही ईसाई मिशनरी लोगों को ईसाई धर्म में शामिल करने के लिए आतुर रहे हैं, पर उन्होंने धर्मान्तरित के मन से मूर्तिपूजा को उखाड़ने के लिए कोई दृढ़ प्रयास नहीं किया। वास्तविकता तो यह है कि उन्होंने उसे सहन किया है।

ईसाई धर्म को ग्रहण करने वालों में मूर्तिपूजा की परंपरा बनी रही, यह उन जेसुइट मिशनों की विरासत है, जो आधुनिक-काल में धर्मान्तरण के अखाड़े में सबसे पहले उतरे। मूर्तिपूजा के प्रति कैथोलिक मिशन का रवैया मदुरा मिशन द्वारा अपनाए गए रवैए, साधनों व उपायों की उपज है। इस मिशन की स्थापना इतालवी जेसुइट पादरी राबर्ट डि नोबिली ने की थी। वह 1608 में भारत आए थे। जब उन्हें फ्रांसिस जेवियर की विफलता के बारे में पता चला तो उन्होंने एक नई तरकीब निकाली। उन्होंने धर्मदूत पौल के चरण-चिन्हों पर चलने का निश्चय किया, जिनका कहना था कि वह जो कुछ भी बचा पाएंगे, वह सबका सब सभी लोगों में बांट देंगे। इस आस्था से प्रेरित होकर वह मदुरा के राजा फेरुमल नाइक के दरबार में गए और उन्होंने मदुरा मिशन की स्थापना की। जिस ढंग से उन्होंने शुरुआत की, उसका विस्तृत वर्णन डा. जे. एन. ओगिलवी ने अपनी पुस्तक *'एपोसिल्स आफ इंडिया'* के निम्न उद्धरण में किया है :

> एक दिन समूचे मदुरा में एक सनसनी-भरा समाचार फैल गया। कहा गया कि किसी दूर देश से एक अनोखे तपस्वी पधारे हैं। उन्हें इस पावन नगरी की महान ख्याति ने आकर्षित किया है और उन्होंने अपना आसन नगरी के ब्राह्मण-क्षेत्र में जमाया है। शीघ्र ही दर्शकों के झुंड पवित्रात्मा के दर्शन के लिए उनके निवास पर जमा हो गए, लेकिन उन्होंने देखा कि ब्राह्मण के सेवक उन्हें प्रवेश नहीं करने दे रहे थे। उन्होंने कहा, 'स्वामी, प्रभु के चिंतन में लीन हैं। उसमें बाधा न डाली जाए।' इससे तो लोगों की उत्कंठा और भी तीव्र हो गई और एकांतवासी की ख्याति में चार चांद लग गए। फिर एकातवास में ढील दी गई और प्रतिदिन चंद भाग्यशाली लोगों को दर्शन की अनुमति दी गई।
>
> दर्शनार्थियों ने देखा कि पद्मासन में सोफे पर बैठे संन्यासी का हर आचरण ब्राह्मण जैसा था। उनके कंधे पर पांच धागों वाला जनेऊ शोभायमान था। त्रित्व के प्रतीक के रूप में तीन धागे सोने के थे और हमारे प्रभु की देह और आत्मा के प्रतीक के रूप में दो धागे चांदी के थे। जनेऊ में छोटा-सा 'क्रास' लटका हुआ था। वार्ता से पता चला कि संन्यासी ज्ञानी थे। देखने और सुनने से पता चला कि वह अल्पाहारी और पवित्र आत्मा थे। प्रतिदिन वह केवल एक बार भोजन करते थे और वह भी केवल थोड़े से भात, दूध और खट्टे शाकों के रूप में। शीघ्र ही उनके दर्शनार्थ न केवल सामान्य ब्राह्मण आए, अपितु कुलीन लोग भी आने लगे। उनकी ख्याति तो उस समय आकाश को छूने लगी, जब राजमहल से आए राजा के निमंत्रण को उन्होंने इसलिए ठुकरा दिया कि कहीं ऐसा न हो कि वहां जाने पर किसी महिला पर उनकी दृष्टि पड़ जाए और उनकी आत्मा की पवित्रता कलुषित हो जाए।

मदुरा में उनसे अधिक पवित्र संत कभी नहीं देखा गया। जहां उनका जीवन उनकी पवित्रता का ऐसा प्रमाण दे रहा था, वहां उनका प्रवचन भी असत्य कैसे हो सकता था। उनके इस कथन को स्वीकार कर लिया गया, 'मैं सर्वोच्च जाति का रोमन ब्राह्मण हूं।' बचे-खुचे संदेह के निवारण के लिए एक अति प्राचीन बदरंग चर्म-पत्र प्रस्तुत किया गया। उसमें दर्शाया गया था कि किस प्रकार 'रोम के ब्राह्मणों' की उत्पत्ति सीधे 'ब्रह्मा' देव से हुई थी और उनके वंशजों में वे सर्वाधिक कुलीन थे। दस्तावेज की सत्यता के बारे में संन्यासी ने अति गंभीरता से शपथ ली और लोगों ने उनके प्रवचन को खुले दिल से सुना।

योग्य तथा निर्भीक लेखक ने ढेर सारी पुस्तकों की रचना कर डाली। उनमें उन्होंने हिंदू रूपी तने में संशोधित मसीही सिद्धांत की कलम बांधी। इन सभी प्रयासों में सर्वाधिक उल्लेखनीय था, 'पंचम वेद' की रचना। उसका उद्देश्य था कि ब्राह्मणों की दृष्टि में अपौरुषेय चार वेदों को पूर्णता और प्रखरता प्रदान की जाए। यह दुस्साहस की पराकाष्ठा थी। इसमें वैसा ही खतरा था, जैसा कि किसी हिंदू के लिए होता, यदि वह किसी *'पांचवी बाइबिल'* की रचना मसीहियों के लिए कर डालता। फिर भी यह जालसाजी डेढ़ सौ वर्षों तक टिकी रही।

शीघ्र ही बिना रोकटोक के ब्राह्मणों को चेला बना लिया गया। ईसाई धर्म की दीक्षा लेने वालों की संख्या दूनी-चौगुनी होती गई, भले ही पूर्ववर्ती यूरोपीय मिशनरियों द्वारा अपनाई गई दीक्षा-संस्कार की रीति का रूप बदल दिया गया। जहां तक बाह्य प्रतीकों का संबंध था, नई मिशनरी-पद्धति सफल सिद्ध हो रही थी। इसमें संदेह नहीं कि इस प्रगति में हिंदू धर्म को दी गई अति महत्वपूर्ण रियायतों, विशेषतः जाति संबंधी रियायत का भारी हाथ था। डि नोबिली के अनुसार, जाति का कोई महत्व नहीं था। उनकी दृष्टि में वह मुख्यतः एक समाजिक प्रथा थी। उन्हें इस बारे में इसका कोई कारण नहीं दीख पड़ा कि वे अपने धर्मान्तरितों को इस बात के लिए विवश करें कि वे अपने जातीय भाईचारे या प्रथाओं को छोड़ दें। उनके धर्मान्तरित सवर्ण हिंदू के चिन्ह के रूप में शेन्डी अथवा चोटी रखते थे। वे अपने हिंदू पड़ोसियों जैसा ही जनेऊ धारण करते थे। वे अपने ललाट पर अंडाकार टीका जातीय चिन्ह के रूप में लगाते थे। वह घिसे हुए चंदन का या चंदन की भस्म का होता था। अब फर्क सिर्फ इतना था कि पहले वह गाय के गोबर के उपले की भस्म का होता था।

चालीस वर्षों तक डि नोबिली ने ऐसा जीवन जिया। वह जीवन दैनिक कष्ट, त्याग और स्वेच्छा से अपनाई गई विनम्रता से भरपूर था। वह विरल

जीवन था। 16 फरवरी 1656 को उनका निधन हो गया। वह अस्सी वर्ष के थे। उन्हें श्रेय है कि उन्होंने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से कोई एक लाख लोगों को अपने धर्म में शामिल किया। यदि अतिशयोक्ति का अवसर दिया जाता तो उनकी संख्या अति विशाल होती।

सन् 1673 में जॉन डि ब्रिट्टो जलपोत द्वारा भारत आए। उनका परिवार पुर्तगाल के सर्वाधिक संभ्रान्त परिवारों में से है। वह अब रोमन कैथोलिक चर्च के संत हैं। हमारे ही जमाने के लंदन मिशनरी सोसाइटी के विलियम रौबिन्सन ने उनके बारे में कहा है, 'वह एक निडर, निस्स्वार्थ शिष्य हैं। उनमें वे सभी महान गुण हैं, जो ईसाई-जीवन के ओज में वृद्धि करते हैं। उनकी यह निर्विवाद ख्याति है।'

मदुरा राज्य के विघटन और छोटे-छोटे राज्यों की स्थापना के बाद उन्हें तथा ईसाई धर्मान्तरितों को निर्ममता से सताया गया।

फिर भी शत्रुओं के अड़ंगों के बावजूद यह कार्यकर्ता अपने व्रत का पालन करता रहा और जहां कहीं भी वह गया, सफलता की वही गाथा कही गई। संदेश के ओज को संदेशवाहक के ओज ने गुणित कर दिया और उनके द्वारा धर्मान्तरित लोगों की संख्या हजारों तक पहुच गई। जब डि ब्रिट्टो ने मरावा के राजकुमार टाडिया तेवार को ईसाई धर्म में दीक्षित किया तो शीघ्र ही उनकी हत्या के प्रयास किए गए। उनका 4 फरवरी 1693 को निर्ममता से वध कर दिया गया।

सन् 1707 में इतालवी पादरी और डि ब्रिट्टो के उत्तराधिकारी फादर जोसेफ बेस्ची भारत पहुचे। बेस्ची ने 'रोमन ब्राह्मणों' की नीति का पालन किया, लेकिन उनकी मिशनरी-प्रथा अपने पूर्ववर्तियों से काफी भिन्न थी। डि नोबिली ने यथासंभव एक निष्ठावान संन्यासी, एक पवित्रात्मा गुरु का रोल अदा किया। डि ब्रिट्टो मुख्यतः घुमक्कड़ संन्यासी, पवित्रात्मा यात्री रहे। दोनों ने अपने निजी जीवन में महानतम तपस्या और सादगी को अपनाया। लेकिन फादर बेस्ची ने नई नीति अपनाई। यदि हिंदू धर्म में तपस्वी हैं, तो बड़े-बड़े पुजारी भी तो हैं, जो बड़ी तड़क-भड़क व ऐशो-आराम से रहते है। यह थी. बेस्ची की नीति। उनका विचार था कि तड़क-भड़क से वे लोगों को चुंधिया देंगे। वह एक शानदार पालकी में सफर करते थे। पालकी के आगे-आगे एक सेवक बैंजनी रेशम का छाता हाथ में लेकर चलता था। पालकी के दोनों ओर सेवक मोरपंख के शानदार पंखे लेकर दौड़ते थे। पालकी के भीतर एक शानदार बाघ-चर्म पर बहुमूल्य तथा नयनाभिराम वस्त्रधारी शक्तिशाली गुरु तकिए के सहारे लेटे रहते थे। लेकिन बेस्ची कोई थोथे आडंबरी नहीं थे।

उन्होंने अपनी कार्यशैली लोगों की मनोवृत्ति को भली-भांति समझकर अपनाई थी और उसका जादू अनेक लोगों पर चला। उनकी ख्याति का आधार ये अपव्यय नहीं थे। उसका आधार था, उनकी अद्भुत विद्वता। वह जन्मजात भाषाविद् थे। अतः उन्होंने तमिल पर इतना पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लिया कि वह अपने जमाने के सर्वाधिक योग्य तमिल विद्वान बन गए। कोई भी स्थानीय तमिल विद्वान उनके जोड़ का नहीं था। चाहे 'उच्च वर्ग' की तमिल हो या 'निम्न वर्ग' की तमिल, यानी विद्वान ब्राह्मण की तमिल हो या आम लोगों की बोलचाल की तमिल, दोनों पर बेस्ची का बराबर का अधिकार था। फर्राटे भरने वाली अपनी लेखनी से उन्होंने शब्दकोशों, व्याकरणों, काव्य-कृतियों तथा गद्य-विनिबंधों की रचना की और आज भी उन्हें बड़े आदर से पढ़ा जाता है। जब पहले-पहल उनका प्रकाशन हुआ तो उन्होंने दक्षिण भारत के मूल निवासियों का मन मोह लिया। वेल्लोर के नवाब चांद साहिब तो उनकी विद्वत्ता से इतने अभिभूत हुए कि उन्होंने बेस्ची को राज्य के एक ऊंचे पद पर नियुक्त कर दिया और उनके गुजारे के लिए उन्हें त्रिचनापल्ली जिले के चार गांव भेंट कर दिए। इन गांवों से 12,000 रुपये की मालगुजारी आती थी। इस समूची ख्याति तथा भौतिक समृद्धि को बेस्ची ने निष्ठा के साथ मिशन की वृद्धि और संवृद्धि पर लगा दिया। वह मिशन की समृद्धि का स्वर्ण-काल था। लेकिन जब 1742 में फादर बेस्ची का निधन हुआ, उसके आसपास ही मिशन का पराभव शुरू हो गया और अंततः वह ठप्प ही हो गया।

मदुरा के ये मिशनरी इस बात के लिए आकुल रहे कि धर्मान्तरित के समक्ष ईसाई धर्म का ऐसा रूप प्रस्तुत किया जाए, जो ऐसे किसी भी पश्चिमी रीति-रिवाज से मुक्त हो, जिससे धर्मान्तरित भड़क न उठें। उन्होंने रियायतों के रूप में धर्मान्तरितों के अनेक हिंदू रीति-रिवाजों को बर्दाश्त किया, जैसे जनेऊ को धारण करते रहना और ललाट पर टीका लगाते रहना, किशोरावस्था से पूर्व ही बच्चों का विवाह कर देना (बाल विवाह), कभी-कभी महिलाओं को ईसाई धर्म में ही दीक्षित करने से सबंधित धर्म-कृत्यों से बरी करना, अनुष्ठान संबंधी शुद्धि के लिए स्नान करना आदि तथा जाति के भीतर ही रोटी-बेटी का व्यवहार करना। इन्हें 'मलाबारी धार्मिक कृत्य' कहा जाता था। 12 सितंबर 1744 को इन्हें पोप बेनेडिक्ट XIV द्वारा जारी किए गए सर्वहिताकांक्षी 'आदेश-पत्र'[1] द्वारा रद्द कर दिया गया। तब से हर रोमन कैथोलिक मिशनरी को इस आदेश-पत्र का पालन करने की शपथ लेनी पड़ती है। फिर भी परंपरा बनी रही कि गैर-ईसाई रीति-रिवाज और गैर-ईसाई आस्थाएं ईसाई धर्म से बेमेल नहीं थीं।

1. कृष्णा डिस्ट्रिक्ट मैनुअल, पृ. 282

निश्चय ही 16 वीं सदी में मिशनरियों के रास्ते में दो बड़े कांटे थे। एक तो यह कि बुरे यूरोपीयों ने बुरी मिसाल कायम की। दूसरा यह कि हिंदू तथा मुसलमान, दोनों ही यूरोपीय रीति-रिवाजों को पसंद नहीं करते थे। न केवल दुष्ट यूरोपीय ही, बल्कि गोमास खाने वाला और शराब पीने वाला निष्ठावान यूरोपीय भी ब्राह्मणों तथा मुसलमानों के सिद्धांतों को और स्थानीय पूर्वाग्रहों को ठेस पहुंचाता था। इस प्रकार ईसाई धर्म को घृणा के साथ 'फिरंगियों' का धर्म कहा जाता था। यूरोपीयों को तिरस्कार से फिरंगी कहा जाता था। ईसाई मिशनरियों की इन बुराइयों तथा कमजोरियों को दूर करना न केवल अति आवश्यक था, बल्कि उचित भी था। लेकिन इन जेसुइट मिशनरियों ने धर्मान्तरण के अपने उन्माद में घोर लज्जाजनक और पापाचारपूर्ण आचरण किया। उन्होंने इस बात की परवाह ही नहीं की कि धर्म-परिवर्तन करने वाला क्या सोचता है, क्या करता है और कैसे रहता है। वह तो बस ईसाई धर्म में दीक्षित होने के लिए तैयार हो जाए, यीशु को अपना मसीहा मान ले और खुद को ईसाई घोषित कर दे।

इस प्रश्न के बारे में लुथर्न मिशन का क्या रवैया था। वह भारत में मदुरा मिशन के शीघ्र पश्चात इस क्षेत्र में आया था। भारत के महानतम मिशनरी स्वार्ट्ज मदुरा मिशन के दृष्टिकोण के समर्थक नहीं थे। अपनी धर्मनिष्ठा के कारण स्वार्ट्ज परस्पर लड़ने वाले राजाओं के बीच सुलह कराने वाले शांति-दूत बन गए थे। लेकिन क्या उनका विचार था कि जातिवाद और ईसाई धर्म दो परस्पर विरोधी चीजें थीं? क्या उनका विचार था कि सच्चा ईसाई जातिवाद में विश्वास नहीं कर सकता था, उसे अपने जीवन की योजना बनाना तो दूर की बात थी? इस प्रश्न के प्रति उनका रवैया जो भी रहा हो, निश्चय ही उन्होंने उस दृष्टिकोण के समर्थन में अभियान नहीं चलाया।

प्रोटेस्टैंट मिशनों की क्या स्थिति थी? इस प्रश्न के प्रति उनका क्या रवैया था? यदि वे चाहें तो एक बहाना बना सकते हैं कि वे इस क्षेत्र में देरी से आए। जहां तक इतिहास का संबंध है, इस कथन में सच्चाई है कि 1813 तक उन्हें इस क्षेत्र में आने से रोका गया। इसका एकमात्र कारण वह रवैया है, जो इस मिशन के कार्य के प्रति ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारत के अपने राज्य-क्षेत्रों में अपनाया।

प्रारंभ में भारत आने वाली सभी यूरोपीय शक्तियों के दृष्टिकोण के पीछे भारतीयों को ईसाई धर्म में शामिल करने का भारी उत्साह था।

जहां तक पुर्तगालियों का संबंध है, ईसाई धर्म के प्रचार-प्रसार और अंधविश्वासों के दमन के बारे में वे निश्चय ही सर्वाधिक दृढ़-संकल्प थे। विलियम बेन्टिक से पूरे तीन सौ वर्ष पूर्व 1510 में पुर्तगाली भारत में अलबुकर्क ने सती-प्रथा का

दमन किया। जैसे ही निराश और हताश फ्रांसिस जेवियर ने जबरन धर्म-परिवर्तन के लिए पुर्तगाल के जॉन तृतीय से सहायता की गुहार की, वैसे ही उन्हें सहायता दी गई। डच ईस्ट इंडीज में डच प्रशासन ने ऐसे ही उत्साह का प्रदर्शन किया और कठोर नहीं, जोरदार उपाय तो किए ही गए। 1643 में जब श्रीलंका पर डचों ने कब्जा किया, तभी से वहां ईसाई धर्म के प्रचार के लिए राज-सहायता के सिद्धांत को मान्यता प्रदान कर दी गई। मंदिरों के निर्माण और गैर-ईसाई तीर्थाटन पर प्रतिबंध लगा दिया गया। सरकारी पदों पर नियुक्तियां ईसाइयों के लिए आरक्षित कर दी गईं और धार्मिक स्कूलों से गैर-हाजिरी को राजद्रोह माना गया। 1685 तक 3,20,000 सिंहलियों ने इन उपायों के आगे घुटने टेक दिए। वैसे ही धार्मिक उत्साह का प्रदर्शन ईस्ट इंडिया कंपनी ने किया। 1614 में कंपनी के जहाज का कप्तान एक युवा भारतीय को लंदन ले गया। कंपनी ने उसे अपने खर्चे से शिक्षा दी, ताकि वह अपने कुछ देशवासियों का धर्म-परिवर्तन कराने में सहायक हो सके। पोपलार में उसको ईसाई धर्म में दीक्षित किया गया। दीक्षा-संस्कार की रस्म में लंदन के लार्ड मेयर तथा कंपनी के डाइरेक्टर भी शामिल हुए। राजा जेम्स प्रथम ने उसका नाम पीटर चुना। जिस पादरी ने उसका दीक्षा-संस्कार किया, उसे उन्होंने श्रद्धालुओं के सामने 'भारत के प्रथम फल' के रूप में प्रस्तुत किया। 1617 में. सूरत में एक मुसलमान का धर्म-परिवर्तन किया गया। इस प्रकार कंपनी ने अपने कार्यकाल की शुरुआत दोनों ओर के धर्मान्तरण से की। 1657 में डाइरेक्टरों ने कैम्ब्रिज तथा आक्सफोर्ड विश्वविद्यालयों से आवेदन किया कि वे पादरी भेजें, 'क्योंकि कंपनी ने भारत में *'बाइबिल'* के प्रचार और प्रसार का संकल्प किया है।' 1698 में कंपनी ने बड़ी तत्परता से अपने चार्टर में एक खंड स्वीकार कर लिया। उसके अनुसार कंपनी के पादरियों से अपेक्षा की गई कि 'वे देशी भाषाओं को सीखने की ओर ध्यान दें, ताकि वे उन हिंदुओं को और अच्छी तरह प्रोटेस्टैंट धर्म के बारे में शिक्षा दे सकें, जो कंपनी के नौकर या उनके एजेन्ट हों।'

लगता है कि 1698 के बाद अचानक कंपनी के रवैए में महत्वपूर्ण, पर क्रमिक परिवर्तन आया। जहां पुर्तगाली और डच सरकारें पूर्ण वेग से काम कर रही थीं, वहां ईस्ट इंडिया कंपनी की गति मंद होती जा रही थी। लगता है कि उसी वर्ष कंपनी इस प्रश्न के बारे में दुविधा में फंस गई। जहां उसने यह दायित्व स्वीकार किया कि वह अपने पादरियों को भारत की देशी भाषाएं सिखाएंगे, ताकि उन्हें प्रचार का सबल साधन बनाया जा सके, वहां उसने कंपनी के लिए एक प्रार्थना तैयार किए जाने की अनुमति दी। उसमें कहा गया, 'हम तो अपने सभी कर्मों में अपने ईसा मसीह के सिद्धांत को अपनाते है, अतः जिन भारतवासियों के बीच हम रहते हैं, उनके दिल को अपने शुभ कार्यों को देखते हुए जीता जाना

चाहिए।' निश्चय की 1750 तक यह प्रार्थना चलती रही। प्रार्थना के शब्दों का सूक्ष्म निरीक्षण करने पर लगता है कि कहीं वह सक्रिय धर्मान्तरण के मूल विचार के पूर्ण परित्याग को खुलेआम स्वीकार तो नहीं करती। कंपनी का यह रवैया शीघ्र ही विवाद का विषय बन गया। धर्मान्तरण के समर्थक इस अवसर की ताक में थें कि कंपनी को इस रवैए को छोड़ने पर विवश किया जाए। 1773 के विनियमन अधिनियम और पिट के ईस्ट इंडिया अधिनियम ने 'व्यापारी के भेष में राज' की स्थिति को समाप्त कर दिया और कंपनी को भारतीय राज्य-क्षेत्रों का प्रशासन चलाने के लिए संसद का अधिकृत एजेंट बना दिया। अधिनियम में व्यवस्था की गई कि कंपनी का चार्टर केवल 20 वर्ष के लिए होना चाहिए और उसके बाद उसका नवीकरण होना चाहिए। वर्ष 1793 अत्यधिक महत्वपूर्ण था, क्योंकि कंपनी के चार्टर का नवीकरण उसी वर्ष में होना था।

ईसाई धर्म के प्रचार के समर्थकों को यह काम बड़ा आसान लगता था। इस काम के कर्ताधर्ता विल्बरफोर्स ने संसद के महत्वपूर्ण व्यक्तियों का समर्थन प्राप्त कर लिया था। उसने आर्कबिशप मूर का आशीर्वाद प्राप्त कर लिया था। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण यह था कि उसने ईस्ट इंडिया कंपनी के चार्टर विधेयक के प्रभारी मंत्री से समर्थन का वचन ले लिया था। इस विधेयक के पारण की भूमिका के रूप में चार्टर में शामिल किए जाने वाले मामलों को संकल्प के रूप में रखा गया, जिन्हें हाउस आफ कामन्स द्वारा पारित किया जाना था। एक संकल्प इस प्रकार था:

> ब्रिटिश विधान-मंडल का यह विशिष्ट तथा अनिवार्य कर्तव्य है कि वह सभी न्यायोचित तथा विवेक-संगत साधनों से भारत में ब्रिटिश उपनिवेशों के निवासियों के हित और सुख का संवर्धन करे और इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए ऐसे उपाय किए जाएं, जिनसे सामान्यतः उन्हें उत्तरोत्तर और अधिक उपयोगी ज्ञान प्राप्त हो सके और उनका धार्मिक आदि विकास हो सके।
>
> यह भी अधिनियमित हो कि उक्त निदेशकों के न्यायालय को एतद् द्वारा शक्ति दी जाएगी और उससे अपेक्षा की जाएगी कि वह समय-समय पर पूर्वोक्त प्रयोजनों को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त संख्या में ऐसे सक्षम तथा समुचित व्यक्तियों को नियुक्त करे तथा बाहर भेजे जो स्कूल-मास्टरों, मिशनरियों आदि के रूप में कार्य करें। पर ऐसे व्यक्ति को नियुक्ति अथवा बाहर भेजे जाने से पूर्व इन प्रयोजनों के लिए सक्षम होने के बारे में निदेशकों के उक्त न्यायालय के सामने फिलहाल कैंटरबरी के आर्कबिशप का अथवा लंदन के बिशप का या मसीही ज्ञान के प्रसार के लिए लंदन की सोसाइटी का या ईसाई धर्म संबंधी ज्ञान के प्रचार के लिए स्कॉटलैंड की सोसाइटी का प्रमाण-पत्र प्रस्तुत करना होगा।

तथा यह भी अधिनियमित हो कि निदेशकों के उक्त न्यायालय को एतद् द्वारा शक्ति दी जाती है, और उससे अपेक्षा की जाती है कि वह भारत की संबद्ध प्रेसिडेंसियों की सरकारों को निर्देश दे कि वे सरकारें पूर्वोक्त रूप में भेजे जाने वाले व्यक्तियों के गंतव्य स्थान को तय करें और उनके आवश्यक तथा समुचित भरण-पोषण की व्यवस्था करें तथा वह उक्त सरकारों को यह निर्देश भी दे कि वे अपने विवेकानुसार ऐसे अन्य उपाय सोचें और उन्हें अपनाएं, जो उन्हें पूर्वोक्त प्रयोजनों की पूर्ति के लिए सर्वाधिक अनुकूल दीख पड़ें।

अधिकांशतः डुंडाओं के समर्थन से हाउस आफ कामन्स ने इस संकल्प को बिना किसी आपत्ति के स्वीकार कर लिया। विल्बरफोर्स भाव-विभोर हो गए। अपनी पत्रिका में उन्होंने लिखा, 'ईस्ट इंडिया के उनके मामले में इससे पहले दैव का हाथ इतना प्रत्यक्ष कभी नहीं हुआ।' पर यह आत्म-विश्वास अधकचरा था, क्योंकि विधेयक के तीसरे वाचन के समय खंड को डुंडाओं की सहमति से निकाल दिया गया। विल्बरफोर्स ने अपने मित्र गिस्बोर्न को लिखा, 'मेरे खंड निकाल दिए गए, डुंडा परले-सिरे के झूठे और दगाबाज ।'...

यह उलट-फेर ईस्ट इंडिया कंपनी के निदेशकों ने कराई। पूर्वी भारत के व्यापार पर कंपनी का एकाधिकार था। कंपनी के निदेशकों के आज्ञा-पत्र के बिना कोई भी अंग्रेज भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी के राज्य-क्षेत्रों में प्रवेश नहीं कर सकता था। यदि किसी अंग्रेज को वहां बिना आज्ञा-पत्र के पाया जाए तो उसे बाहर निकाला जा सकता था। कंपनी ने शीघ्र ही यह अनुभव कर लिया कि नए खंड का असर क्या होगा। उसे पता था कि खंड के अनुसार उसे मिशनरियों की बाढ़ और उनके प्रचार के लिए भारत के द्वार खोलने होंगे। तात्कालिक प्रश्न यह था कि क्या मिशनरियों को खुली छूट दी जाए। स्वाभाविक था कि यह अति दिलचस्प, सीखभरे तथा कटु विवाद का विषय हो गया। जो लोग उसके बारे में विस्तार से जानना चाहते हैं, वे *'एडिनबरा रिव्यू'* तथा उस समय के ... पन्नों को उलट कर देख सकते हैं।

विवाद से तीन पक्ष संबद्ध थे। एक तो ईस्ट इंडिया कंपनी के निदेशक थे। उनकी खास दिलचस्पी उन शेयरधारियों का संरक्षण करने में थी, जो लाभांशों के लिए शोर मचा रहे थे। विवाद से जुड़ा दूसरा पक्ष था, अंग्रेजों का मध्यवर्ग। पूर्वी भारत के साथ व्यापार पर उनकी जीविका चल रही थी और उनके बेटे इन राज्य-क्षेत्रों में लाभप्रद कैरियर के लिए नए मार्ग खोज रहे थे। तीसरा पक्ष था ... वर्ष में ईसाई धर्म के प्रसार के लिए गठित चर्च मिशनरी सोसाइटी। प्रथम दो पक्षों के तो हितों का आपस में मैल बैठता था। उनका उद्देश्य साम्राज्य को बनाए रखना था। अतः वे शांति और स्थिरता चाहते थे। तीसरा पक्ष भी शांति

चाहता था, पर इस बात के लिए आतुर था कि भारतीय अंधविश्वास के स्थान पर ईसाई धर्म आ जाए। प्रथम दो पक्षों ने एक शक्तिशाली गुट बना लिया और सभी शक्तियों को तीसरे का विरोध करने के लिए विवश कर दिया। नतीजा यह हुआ कि उनकी जीत हुई और चर्च मिशनरी सोसाइटी की हार। विजयी पक्ष के विवाद करने वालों ने जो तर्क प्रस्तुत किए, वे निश्चय ही अति महत्वपूर्ण तथा विवाद के सर्वाधिक शिक्षाप्रद अंग हैं।

इस तर्क के बारे में कि ईसाई धर्म के पक्ष में प्रचार तुरंत शुरू होना चाहिए और यह गलत धारणा है कि भले ही सत्य पवित्र है, पर उसे थोड़ा–थोड़ा करके इस प्रकार बांटना चाहिए कि किसी प्रकार का जोखिम न उठाना पड़े, सिडनी स्मिथ ने जो उत्तर दिया है, वह स्तब्ध करने वाला है। उन्होंने कहा:

> जब हम इस बात पर गौर करते हैं कि यीशु के अनेक शताब्दी पश्चात भी दैव ने अनुमति दी कि मानव-जाति का अधिकतर भाग किसी मानवीय प्रयास द्वारा पवित्र सत्यों का ज्ञान प्राप्त कराए जाने की संभावना बिना ही जिए और मरे, तो हमें यह संतोष करना ही होगा कि समूचे संसार के तीव्र तथा त्वरित धर्मान्तरण का कार्य उसके सर्वशक्तिमान नियामक की योजना का अंग है ही नहीं और 'उसकी' दृष्टि में यह कोई अपराध नहीं हो सकता, यदि हम अपने घरेलू कर्तव्यों को न तजें और धर्मान्तरण के अपने प्रयास से अपने लाखों देशवासियों के जीवन और सांसारिक सुख को खतरे में न डालें।
>
> *　*　*　*
>
> निदेशक न तो शेयरधारियों के और न ही ब्रिटिश राष्ट्र के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करेंगे, यदि वे घुमक्कड़ ठठेरों को अनुमति देंगे कि 'वे स्थानीय निवासियों को बगावत का उपदेश दें ... स्थानीय निवासियों को निश्चय ही किसी समय इस प्रकार से बेहतर धर्म की शिक्षा देनी होगी कि उससे उनमें राजनीतिक परिवर्तन की इच्छा पैदा न हो।' ... अपने परिवारों तथा देश के प्रति हमारे कर्तव्यों को 'स्वयं प्रभु' ने हमारे लिए निश्चित किया है। हमें अधिकार नहीं है कि दूरस्थ अजनबियों को बेहतर लाभ प्रदान करने का परोक्ष अवसर देने के लिए हम उनका साथ छोड़ दें।

इस प्रकार के तर्क संसद पर हावी हो गए और उसके कारण 1793 में खंड को रद्द कर दिया गया। विल्बरफोर्स ने संसद-सदस्यों को ताना मारते हुए स्मरण कराया कि उनका ईसाई धर्म भौतिक लाभार्जन का धर्म नहीं है, बल्कि वह तो कानून द्वारा सुस्थापित धर्म है। लेकिन जैसा कि स्पष्ट रूप से कहा गया है, '18वीं सदी के अधिकांश महत्वपूर्ण लोगों के लिए भौतिक लाभार्जन के रूप में राज्य

तथा समाज द्वारा मान्य धर्म कुछ ऐसी वस्तु थी, जिसका उपयोग स्वदेश में सच्चाई और विवेक के साथ किया जाना चाहिए। विदेशों में अंधाधुंध उसका प्रसार करने की कोई जरूरत नहीं थी। जैसा कि अक्सर कहा गया है, सामान्य वातावरण बहुत कुछ आगस्टन रोम जैसा था। उदारचेता कूटनीतिज्ञ के लिए सभी धर्म समान रूप से उपयोगी थे और प्रत्येक का अपना समुचित स्थान था।'[1]

मिशनरियों के लिए द्वार खोलने का प्रयास विफल हो गया और 1813 तक मिशनरी को भारत में घुसने नहीं दिया गया। न केवल उसे घुसने नहीं दिया गया, बल्कि कंपनी की सरकार ने ऐसे इक्के-दुक्के मिशनरी की गतिविधियों पर कड़ी निगरानी रखी, जिसने उसके आज्ञा-पत्र के बिना भारत में जाने का प्रयास किया।

सन् 1793 में डा. कैरी बिना आज्ञा-पत्र के घुसपैठिए के रूप में गए। चूंकि उन्हें आज्ञा-पत्र न होने के कारण कलकत्ता में प्रवेश की अनुमति नहीं दी गई, अतः उन्होंने कलकत्ता से 14 मील दूर सेरामपोर को अपनी गतिविधि का अड्डा बनाया। सेरामपोर डेनिश बस्ती थी और डेनों ने मिशनरियों अथवा मिशनरियों के प्रचार पर कोई रोक नहीं लगा रखी थी। इसके विपरीत सेरामपोर के गवर्नर ने सक्रिय रूप से उनकी मदद की। कैरी और उनका मिशन सदैव कंपनी सरकार की आंखों में खटकता रहा। 1798 में सेरामपोर मिशन ने चार मिशनरियों को काम पर लगाने का निश्चय किया। वे 1800 में वहां पहुंचे। वे रहने के लिए सेरामपोर की डेनिश बस्ती में गए। वस्तुतः गवर्नर-जनरल का उनसे कोई वास्ता नहीं था। लेकिन कंपनी के गवर्नर-जनरल को इन अनधिकृत धर्मानुरागियों का अज्ञातवास सहन नहीं हुआ। लार्ड वेलेजली ने सेरामपोर के गवर्नर को लिखा, 'क्या महामहिम इन घुसपैठियों के निष्कासन की व्यवस्था करेंगे, जो किसी भी समय ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी के राज्य-क्षेत्रों का अतिक्रमण कर सकते हैं।' इसके जवाब में डेनिश गवर्नर ने कहा कि वह ऐसा कुछ नहीं करेंगे।[2] ऐसी ही कार्यवाही 1806 में की गई जब कप्तान विक्स दो और मिशनरियों को 'क्राइटेरियन' में लाए, जिसने कलकत्ता के पास लंगर डाला। उस समय सर जार्ज बार्लो गवर्नर-जनरल थे। ये दो मिशनरी जहाज से न उतर सकें, उसके लिए उन्होंने अति असाधारण कार्यवाही की। उन्होंने आदेश दिया कि जब तक कप्तान इन दो मिशनरियों को वापस ले जाने के लिए राजी न हो जाएं, तब तक उन्हें उनका रवन्ना न दिया जाए, जब कि स्थिति यह थी कि वे रहने के लिए सेरामपोर चले गए थे और वस्तुतः डेनिश सरकार के संरक्षण में थे। मिशनरियों के प्रति[3] यह

1. मेह्यू, *क्रिश्चियनिटी एंड दि गवर्नमेंट आफ इंडिया*, पृ. 51
2. जे. सी. मार्शमैन, *लाइफ एंड टाइम्स आफ कैरी, मार्शमैन एंड वर्ड*, खंड 1
3. *वही*, पृ. 307

रवैया न केवल अनुचित था, बल्कि ऐसा था जिसे केवल शत्रुतापूर्ण ही कहा जा सकता है।

सन् 1806 में भारतीय सैनिकों ने जो वेल्लोर विद्रोह किया था, उसे नितांत गलत ढंग से मिशनरी प्रचार के मत्थे मढ़ दिया गया था। सर जार्ज बार्लो ने हड़बड़ाहट में सेरामपोर मिशनरियों की गतिविधियों पर ये प्रतिबंध लगा दिए थे :

1. मिशनरी सेरामपोर में ही रहें।

2. वे बाजार में खुलेआम प्रचार न करें।

3. देशी धर्मान्तरित प्रचार कर सकते हैं, बशर्ते उन्हें सेरामपोर से दूतों के रूप में न भेजा गया हो।

सन् 1807 में बंगाल की सरकार ने सेरामपोर मिशन के प्रति घोर उग्रता का प्रदर्शन किया। आरोप था कि मिशन ने इस्लाम पर एक पुस्तिका निकाली और उसमें अति असावधानी से पैगम्बर मुहम्मद को पाखंडी कहा। यह भी इस बात का प्रमाण है कि मिशनरियों के प्रति कंपनी की सरकार का कितना शत्रुतापूर्ण रवैया था।

बंगाल सरकार डा. कैरी की क्षमायाचना से संतुष्ट नहीं हुई और उसने आग्रह किया कि प्रेस को सेरामपोर से कलकत्ता लाया जाए, ताकि सरकार वहां से प्रकाशित साहित्य पर बेहतर तरीके से नियंत्रण रख सके। इस समाचार से मिशन घबरा गया, क्योंकि इसका अर्थ उसका विघटन था। सदा की भांति डेनिश बस्ती के गवर्नर ने उनकी रक्षा की। उसने सेरामपोर के भयभीत मिशनरियों से कहा कि वह उनकी ओर से विरोध करेगा, यदि बंगाल की सरकार जबरन प्रेस को हटाकर कलकत्ता ले गई। बाद में मामले का निपटारा हो गया और आदेश वापस ले लिया गया। लेकिन तथ्य यह है कि कंपनी की सरकार का मिशनरियों के प्रति मैत्रीभाव नहीं था।

इतना बहाना तो वे वैध रूप से बना सकते हैं। लेकिन उस समय उनका रवैया क्या रहा, जब 1813 के बाद उन्हें इस क्षेत्र में कार्य करने की अनुमति दे दी गई? क्या उन्होंने यह नीति अपनाई कि धर्मान्तरित की सोच और जीवन में जाति का कोई स्थान नहीं रहेगा? प्रोटेस्टैंट मिशनरी की सर्वप्रथम घोषणा भी इसका उत्तर 'हां' में नहीं देती। मिशनरी जातिप्रथा को सहन नहीं करते। डा. हेन ने 1814 में लिखा :

> मिशनरियों ने अपनी तीव्र अथवा अंतिम सफलता प्राप्त करने के फेर में अति हानिकर प्रकार की गलती की है। किसी हिंदू को ईसाई बनाते समय वे उसे ऐसी आचरण-शैली अपनाने पर विवश करते है, जिससे वह अपनी जाति को गंवा देता है। भारत में यह ऐसा कलंक समझा जाता है कि उससे

धर्म-परिवर्तन में भारी बाधा पड़ेगी ही, पर हिंदुओं का राजनीतिक विभाजन उनके धार्मिक सिद्धांतों का अंग नहीं है, भले ही गलती से अति प्रबुद्ध लोगों ने वैसी धारणा बना ली है। हिंदुओं को ईसाई बनाते समय उन्हें अपनी जातीय अस्मिता बनाए रखने की अनुमति दी जानी चाहिए। फिर तो वे भारी संख्या में बिना किसी संकोच के ईसाई धर्म को अंगीकार कर सकेंगे।[1]

लेकिन मैं नहीं चाहता कि ऐसे महत्वपूर्ण प्रश्न के प्रति प्रोटेस्टैंट मिशनों के रवैए की निरख-परख मैं किसी एक व्यक्ति की छुटपुट घोषणा के आधार पर करूं। इस बात का प्रमाण मौजूद है कि एक बार अपने प्रारंभिक कार्यकाल में प्रोटेस्टैंट मिशनों से इस महत्वपूर्ण मसले के बारे में अपनी राय कायम करने के लिए कहा गया था, ताकि कहा जा सके कि प्रोटेस्टैंट मिशन द्वारा मान्य दृष्टिकोण सुविचारित दृष्टिकोण है। जब इस मसले के बारे में गंभीरता से विचार किया गया था तो यह वह समय था, जब मान्यवर हेबर को कलकत्ता का बिशप नियुक्त किया गया था। उन्होंने अपना पदभार 1823 में संभाला। अपनी धर्माध्यक्षता के दौरान उन्होंने समूचे भारत और श्रीलंका का व्यापक दौरा किया। अपनी यात्रा के दौरान उन्हें पता चला कि धर्मान्तरितों में जातिप्रथा को सहन किए जाने के प्रश्न के बारे में प्रोटेस्टैंट मिशनरियों के बीच तीव्र मतभेद है। उन्होंने इस मतभेद को दूर करने का फैसला किया। उन्होंने यह कार्य किस प्रकार किया, उसका संक्षिप्त वर्णन श्री काये ने इस प्रकार किया है :

अतः मिशनरियों के बीच मतभेद था। उसे हेबर दूर करना चाहते थे। बंगाल छोड़ने से पूर्व यह मसला उनके सामने प्रस्तुत किया गया था। वहां उन्होंने वह समूची सूचना प्राप्त करने का प्रयास किया, जो वह प्राप्त कर सकते थे। उस सूचना का संबंध न केवल पूर्ववर्ती प्रोटेस्टैंट मिशनरियों की प्रथा से था, बल्कि जातिप्रथा के सही स्वरूप से भी था। उस समय बिशप के कालिज में क्रिश्चियन डेविड नामक एक धर्मान्तरित ईसाई भी था। वह इवार्ट्ज का चेला था और वास्तव में असाधारण व्यक्ति था। जितना वह पवित्रात्मा था, उतना ही बुद्धिमान भी था। बिशप महोदय उसे भी एक ऐसा व्यक्ति मानते थे, जिससे संदेहों के निवारण के लिए पूछताछ करना अति उपयोगी हो सकता था। अतः उन्होंने एक प्रश्नावली तैयार की और उसे इस देशी 'क्रिश्चियन' के पास भेज दिया। उन्हें उत्तरों की एक माला प्राप्त हुई। उसकी न केवल अंग्रेजी बढ़िया थी, बल्कि उसमें ऐसा बल और यथार्थता थी, जिसे सहज ही लाघा नहीं जा सकता था।

सर्वप्रथम तो जातिप्रथा के स्वरूप के बारे में क्रिश्चियन डेविड ने कहा कि वह दक्षिण भारत के स्थानीय निवासियों में प्रचलित है। वह 'विशुद्ध

1. *कृष्णा डिस्ट्रिक्ट मैनुअल*, पृ. 282

लौकिक विचार है और झूठे अथवा सच्चे धर्म संबंधी उनके मन की किसी धारणा से उसका कोई संबंध नहीं है।' उच्च जाति के देशी धर्मान्तरित नहीं चाहते कि वे निम्न जाति के धर्मान्तरितों के साथ संपर्क रखें। उसका आधार धर्म अथवा अंधविश्वास नहीं है, बल्कि सामाजिक है। उच्च वर्ग और निम्न वर्ग के लोगों के बीच कुछ भेदभाव हैं, जो किसी भी दृष्टि से आदर्श नहीं हैं। इन भेदभावों पर केवल लौकिक संपदा के अर्जन का मुलम्मा नहीं चढ़ाया जाना चाहिए। उन्होंने खास तौर पर बताया कि निम्न वर्ग के लोगों की आदत है कि वे अशिष्ट भाषा का प्रयोग करते हैं। अक्सर वे भद्दी और फूहड़ बातें करते हैं, जो उच्च वर्ग की भावनाओं के नितांत प्रतिकूल होती हैं। उनके रहन-सहन के ढंग में न गरिमा होती है और न आत्म-सम्मान। उन्होंने कहा कि विद्यार्जन से उनकी उन्नति हो सकती है और यदि कोई पेरिया विद्वान हो जाएगा तो उसे पंडित कहा जाएगा तथा चर्च उसका सम्मान करेगा। तब उसके धर्मान्तरित साथी उसके साथ उठेंगे, बैठेंगे। लेकिन फिर भी वे 'लोकाचार अथवा अहंकार' के कारण उसके साथ बैठकर एक ही थाली में नहीं खाएंगे। जिगेनबाल्ग के जमाने से वे चर्च में दो अलग-अलग खानों में बैठते आए हैं और प्रभु की मंडली में उन्होंने अलग-अलग परम प्रसाद ग्रहण किया है। उन्होंने एक ही प्याले से प्रसाद का पान किया है, लेकिन पहले उसका पान सवर्ण धर्मान्तरितों ने किया है। लेकिन इस बात के प्रमाण के रूप में कि ये सब केवल सांसारिक भेदभाव माने जाते हैं, क्रिश्चियन डेविड ने कहा कि दक्षिण के ईसाई समुदायों में उच्च वर्ग तथा निम्न वर्ग के शवों को एक ही कब्रिस्तान में दफनाया जाता है और अंतिम संस्कार में वे मिल-जुलकर भाग लेते हैं, 'मानो कि गैर-ईसाई देशों की भावना के विपरीत उनकी भावना हो कि मौत तो सभी भेदभावों को मिटा देती है।'

कठोर नियम तो ईसाई धर्म के मार्ग में भारी अड़चनें सिद्ध होतीं। ऐसे नियम बनाने के बजाए वयोवृद्ध मिशनरियों ने मीठी फटकार और अनुरोध से इस बुराई को मिटाने का प्रयास किया। क्रिश्चियन डेविड ने बताया कि श्वार्ट्ज के धर्मसेवा-काल में यह बुराई काफी कम हो गई थी। लेकिन चर्च मिशनरी सोसाइटी के वस्तुतः ईमानदार तथा धर्मनिष्ठ ईसाई श्री रेनियस ने ईसाई शिक्षकों के कर्तव्यों के बारे में भिन्न दृष्टिकोण अपनाया था और उन्होंने दक्षिण के युवा मिशनरियों को अपने दृष्टिकोण से सहमत करा लिया था। जैसा कि मैं कह चुका हूं, वे आपस में इस बात के लिए सहमत हो गए कि ईसाई धर्म में प्रवेश के लिए जातिप्रथा के पूर्ण उन्मूलन को उसके निरे सामाजिक पक्ष में भी अनिवार्य शर्त बनाया जाए। इसके अलावा उन्होंने अपने सर्वाधिक श्रद्धेय पूर्ववर्तियों, यानी वयोवृद्ध मिशनरियों के खिलाफ आवाज उठाई

और प्रचार किया। उन्होंने अपने पूर्ववर्तियों की निंदा की और कहा कि उन्होंने *'बाइबिल'* को भ्रष्ट किया है, क्योंकि उन्होंने ऐसी बातों की अनुमति देकर ईसाई धर्म की पवित्रता को भ्रष्ट किया है। इन सब बातों की चर्चा क्रिश्चियन डेविड ने गहन खेद के साथ की। स्वाभाविक यह था कि उनके अपने दृष्टिकोण का झुकाव अपने पुराने गुरु क्रिश्चियन इवार्ट्ज के सिद्धांत और शैली की ओर था। उनका विचार था कि बिशप का विनम्र हस्तक्षेप और मीठी सलाह युवा मिशनरियों के दिलों को अधिक सहनशीलता और क्षमा की ओर प्रवृत्त कर सकती थी।

बड़ी तत्परता और निष्ठा से हेबर ने इस महत्वपूर्ण विषय का मनन किया। उनके चरित्र के बारे में हम जो जानते हैं, उस सबके आधार पर हम कह सकते हैं कि उनका झुकाव वयोवृद्ध मिशनरियों की अधिक शांतिप्रिय प्रथाओं की ओर रहा होगा। लेकिन उन्होंने अंतिम निर्णय को उस समय तक के लिए टाल दिया जब तक कि और सूचना प्राप्त करने का और मौके पर अधिक ठोस तथा पूर्ण निर्णय देने का अवसर न आ जाए। अतः जब उन्होंने सदर्न प्रेसिडेंसी का दौरा किया तो उन्होंने पूछताछ के लिए कुछ प्रमुख मिशनरियों को पत्र लिखे और विषय के बारे में और छानबीन के लिए 'क्रिश्चियन नालेज सोसाइटी' की एक प्रवर समिति का गठन किया। श्रद्धेय डी. श्रीवोगेल को लिखे गए एक पत्र से, जो प्रश्नमाला जैसा ही है, उनके दृष्टिकोण के झुकाव को आंका जा सकता है। काफी चिंतन-मनन के बाद उन्हें लगा कि समुद्र तट पर बसे ईसाई धर्मान्तरितों के बीच जातिप्रथा जिस रूप में विद्यमान है, वह वस्तुतः एक ऐसी प्रथा है, जो ईसाई देशों में प्रचलित सामाजिक अलगाव से कुछ सारतः भिन्न है। उन्होंने स्वयं से पूछा कि क्या यूरोप में जातिप्रथा जैसी कोई चीज नहीं है? क्या अमरीका में जातिप्रथा जैसी कोई चीज नहीं है? क्या हमारे अंग्रेजी चर्चों में उच्च वर्ग तथा निम्न वर्ग अलग-अलग नहीं बैठते? क्या हमारे सजे-संवरे उच्च वर्ग के लोग परम प्रसाद पाने के लिए पहले वेदी पर नहीं जाते? क्या हमारे उच्च तथा निम्न वर्ग के लोग सहभोज करते हैं? क्या उनके बच्चे एक ही स्कूलों में पढ़ते हैं? क्या हमारे बीच कोई पेरिया नहीं हैं? क्या अन्य सभ्य देशों में लौकिक भेदभाव के सभी विचारों के अलावा जातीय उच्चता की भावना प्रचलित नहीं है? क्या स्पेन का शिष्ट-जन अपने फटे-पुराने लबादे के नीचे शान से अपने जातीय गौरव को धारण नहीं करता? क्या सर्वाधिक धनवान मुलट्टो (संकर नीग्रो) सर्वाधिक निर्धन श्वेत का उपयुक्त साथी है? चाहे हम उसे रक्त कहें या कोई और नाम दें, लेकिन सारतः एक चीज दूसरी चीज से कुछ-न-कुछ भिन्न तो होती

ही है। यह एक जाना-माना ईसाई सिद्धांत है कि प्रभु की दृष्टि में सभी बराबर हैं। लेकिन यह बात भी उतनी ही निश्चित है कि मनुष्य की दृष्टि में सभी बराबर नहीं हैं। अतः यह एक समुचित धारणा है कि प्रभु उन्हें कदापि बराबर नहीं बनाना चाहता था। सामाजिक भेदभाव सर्वत्र पाए जाते हैं। बिशप ने तर्क प्रस्तुत किया कि यदि दक्षिणी तट पर बसे धर्मान्तरितों के बीच पाए जाने वाले भेदभाव केवल सामाजिक भेदभाव हैं तो उस विधि-साम्य को लागू करने के फेर में हम अपने प्रयासों की सफलता को जोखिम में क्यों डालें, जो व्यक्तियों के किन्हीं अन्य वर्गों में नहीं है?

अपने विवेकानुसार बिशप हेबर ने गुरु से कहा कि यदि वह भारत में ईसाई ध्येय की कोई सेवा कर सकते हैं तो वह मध्यस्थ के रूप में होगी। उन्होंने कहा कि सुलह-सफाई के मार्ग पर चलकर और अति-उत्साह की कटुताओं को कम करके वह प्रमुख मिशनरी के रूप में अधिक हित-साधन की आशा कर सकते हैं और अब उनका विचार है कि उनका फर्ज है कि वह अपने प्राधिकार से उन लोगों का पलड़ा भारी करें, जिन्होंने संकल्प किया है कि पुरानी बोतलों में बहुत अधिक नई शराब ठूसने की कोशिश न की जाए।

इस दृष्टिकोण को और भी जोरदार तरीके से एक अन्य प्रोटेस्टैंट मिशनरी श्रद्धेय राबर्ट नोबिल ने व्यक्त किया। वह 1841 में भारत आए थे और मसुलीपत्तम में इंग्लैंड के मिशनरी कार्य से संबंधित चर्च के प्रभारी थे। उन्होंने यह नियम बना दिया कि पेरियाओं, चर्मकारों तथा जमादारों को उनके स्कूल से अलग रखा जाए। जब उन पर आरोप लगाया गया कि वह ईसाई धर्म में जातिवाद को घुसेड़ रहे हैं तो उन्होंने अपने पक्ष का समर्थन करते हुए कहा :

इंग्लैंड के सर्वाधिक दीन-हीन तथा सर्वाधिक पवित्रात्मा ईसाई माता-पिता भी अपने पुत्रों को तो क्या, पुत्रियों को भी अपने मोचियों, अपने रसोइयों तथा अपनी बर्तन साफ करने वाली नौकरानियों के साथ पढ़ने की अनुमति नहीं देंगे। संभवतः और कारणों की अपेक्षा मेरे पवित्रात्मा पिता इस कारण अक्सर सजा देते थे कि मैं चोरी-चोरी गांव के लड़कों के साथ खेलने के लिए चला जाता था। सर्वाधिक सुव्यवस्थित ईसाई परिवार में भी मैंने सदा देखा है कि बच्चों को अनुमति नहीं दी जाती कि वे नौकरों से बात करें या नीचे रसोईघर में चले जाएं। मेरे पिता कभी भी हमें रसोइए या साईस के पुत्र के साथ खेलने की अनुमति नहीं देते। न ही मैं इसे उचित समझता हू कि ब्राह्मणों से अपेक्षा की जाए कि इससे पूर्व कि हम उन्हें *'बाइबिल*

की शिक्षा दें, वे पेरिया और जमादार के साथ एक ही कक्षा में बैठकर पढ़ें। यह अपेक्षा मुझे अनुचित और ईसाई सिद्धांत के प्रतिकूल लगती है।

यह सच है कि हेबर के काल से ही अनेक बुद्धिमान तथा निष्ठावान ईसाई अनुभव करते रहे कि वह पूर्णतः गलत थे। बाद में बिशप विल्सन ने उनके निर्णय को उलट दिया। उन्होंने जातीय असमानताओं को सहन करने का जोरदार विरोध इस आधार पर किया कि वह हिंदू धर्म का स्वाभाविक अंग है। लेकिन भारतीय ईसाइयों में जाति के स्थान के बारे में असमानता का यह तथ्य न केवल सरकारी दृष्टिकोण, अपितु प्रोटेस्टैंट मिशनों[1] का भी सामान्य दृष्टिकोण बना रहा।

इस प्रकार सभी मिशनरी सहमत थे कि ईसाई धर्म को सरल बनाया जाए, ताकि भारत में उसका प्रचार व प्रसार हो सके। इस बिंदु के बारे में दीख पड़ता है कि कैथोलिकों, लुथेरनरों अथवा प्रोटेस्टैंटों के बीच एक किस्म का भेद है। ऐसा जो भेद है भी, वह डिग्री का है। यदि ईसाई धर्मान्तरितों के बीच जातिप्रथा और उस जैसी अन्य चीजें हैं तो वे इस नीति की, यानि ईसाई धर्म को सरल बनाने की नीति की देन हैं। इस नीति को अपनाते समय मिशनरियों ने यह कभी नहीं सोचा कि किसी दिन कोई उनसे यह प्रश्न कर बैठेगा, 'किसी हिंदू के लिए ईसाई धर्म किस काम का है, यदि वह जातिप्रथा से उसका पिंड नहीं छुड़ा सकता।' उन्होंने अपने मिशन को समझने में भूल की और सोचा कि किसी व्यक्ति को ईसाई बनाने और उसे यीशु का अनुयायी बनाने में कोई अंतर नहीं है।

V

आइए, प्रश्न के दूसरे भाग पर विचार करें। क्या ईसाई धर्म धर्म-परिवर्तन करने वाले को उस कष्ट और घृणित व्यवहार से बचा सका है, जो अस्पृश्य के रूप में जन्मे हर व्यक्ति का दुर्भाग्य रहा है? क्या कोई अस्पृश्य ईसाई बन जाने के बाद किसी सार्वजनिक कुएं से पानी ले सकता है? क्या उसके बच्चों को किसी पब्लिक स्कूल में दाखिला मिल सकता है? क्या वह ऐसे किसी होटल या शराबखाने में प्रवेश कर सकता है, जिसके द्वार उसके लिए खुले हुए नहीं थे?

1. लेकिन अमरीका के प्रोटेस्टैंट मिशनरियों के पक्ष में एक अपवाद करना ही होगा। जुलाई 1847 में इस प्रश्न के बारे में अमरीकी मिशनरियों ने निम्न संकल्प पारित किया : मिशन मानता है कि जातिप्रथा मूर्तिपूजावाद का अनिवार्य अंग है और कहता है कि पवित्रता के संतोषजनक साक्ष्य के रूप में यह अनिवार्य है कि उसका पूर्णतः तथा वस्तुतः परित्याग किया जाए और यह भी कहता है कि जातिप्रथा के परित्याग का अर्थ कम-से-कम यह तो होगा कि समुचित परिस्थितियों में किसी भी जाति के ईसाइयों के साथ सहभोज किया जा सकता है।

क्या वह किसी दुकान में प्रवेश करके चीजें खरीद सकता है? क्या कोई नाई उसकी हजामत करेगा? क्या कोई धोबी उसके कपड़े धोएगा? क्या वह किसी बस में यात्रा कर सकता है? क्या वह बिना किसी कष्ट के सरकारी दफ्तरों में प्रवेश पा सकेगा? क्या वह गांव के स्पृश्य वर्ग के क्षेत्रों में निवास कर सकेगा? क्या हिंदू उसके हाथ से पानी पिएंगे? क्या वे उसके साथ खान-पान करेंगे? क्या उसका स्पर्श होने पर हिंदू स्नान नहीं करेंगे? मुझे पूर्ण विश्वास है कि इनमें से हर प्रश्न का उत्तर 'ना' में होगा। या यूं कहिए कि धर्म-परिवर्तन से धर्मान्तरित अस्पृश्य के सामाजिक दर्जे में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। भले ही कोई अस्पृश्य ईसाई बन गया हो, पर आम हिंदू की नजरों में वह अस्पृश्य ही रहता है।

प्रश्न यह है कि क्या कारण है कि ईसाई धर्म धर्मान्तरित अस्पृश्य के दर्जे को बढ़ाने मे सफल नही हुआ है? इस विफलता के क्या कारण हैं? मुझे विश्वास नहीं है कि समस्या में रुचि रखने वाले सभी लोग मेरे द्वारा बताए गए कारणों को स्वीकार ही करेंगे। लेकिन मैं बताना चाहूंगा कि उन कारणों का महत्व क्या है। अपनी बात को समझाने के लिंए मैं सर्वप्रथम यह बताना चाहूंगा कि धर्मान्तरित के सामाजिक दर्जे में परिवर्तन दोहरे परिवर्तन के फलस्वरूप हो सकता है। एक तो हिंदुओं के रवैए में परिवर्तन होना ही चाहिए। दूसरे, धर्मान्तरित की मनोवृत्ति मे भी परिवर्तन होना ही चाहिए। दर्जा द्विपक्षीय मामला है। यह दो व्यक्तियों के बीच का मामला है। जब तक दोनों अपनी पुरानी स्थिति को नहीं छोड़ते, कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। दोनों पक्ष अपनी-अपनी स्थिति से आगे बढ़ें, इसके लिए ईसाई मिशन के कर्ताधर्ता लोगों ने क्या किया है? इस प्रश्न पर विचार करने से हम समझ सकेंगे कि किस कारण ईसाई धर्म धर्मान्तरित अस्पृश्य के दर्जे को बढ़ाने में विफल रहा है।

प्रश्न पर खंडशः विचार करना होगा। हिंदुओं को आगे बढ़ने के लिए विवश किया जाए, इसके लिए ईसाई धर्म ने क्या किया है? मैं देखता हूं कि उसने कुछ नहीं किया है। लगता है कि वे तो किसी चमत्कारी सूझ पर निर्भर करते हैं। इस चमत्कारी सूझ के प्रति आस्था दिवंगत ड्यूक आफ आर्गाइल ने भली-भांति व्यक्त की है। उन्होने कहा है[1] :

> इससे सशक्त सुधार का उपाय कोई है ही नहीं। यदि किसी झूठी या भ्रष्ट आस्था अथवा किसी घिनौनी या क्रूरतापूर्ण व्यवस्था के साथ-साथ हम किसी 'एकल-विरोधी सूझ' को खड़ा कर दें, तो बिना किसी शोरगुल या झगड़े-फिसाद के वे आस्थाएं और प्रथाएं एक सूझ मात्र से आदोलित हो जाएंगी। इस प्रकार ईसाई धर्म ने बिना किसी सीधी आलोचना के गैर-ईसाई

1. सी. एफ. एंड्रयूज द्वारा उद्धृत, *क्राइस्ट एंड लेबर*, पृ. 25

जगत के एक सबसे बड़े तथा सर्वाधिक प्रचलित अभिशाप को नष्ट कर दिया। वह था, दिनोंदिन गहराता गुलामी का अभिशाप।

किसी सूझ का जो भी महत्व हो, पर मुझे पूरा विश्वास है कि इतिहास ड्यूक आफ आर्गाइल के निष्कर्ष का समर्थन नहीं करता। यह विवादास्पद प्रश्न है कि क्या रोमन साम्राज्य में गुलामी का अंत ईसाई धर्म के प्रभाव से हुआ? इसमें संदेह नहीं कि भले ही यूरोप में कई सौ वर्षों तक ईसाई धर्म एक सुदृढ़ व्यवस्था के रूप में बना रहा, पर फिर भी वहां गुलाम-प्रथा बनी रही। यह एक आकाट्य तथ्य है कि अमरीका में ईसाई धर्म नीग्रो लोगों की गुलामी को नहीं मिटा सका। वहां ईसाइयों ने ही उन्हें आजादी से वंचित किया और नीग्रो लोगों को आजादी दिलाने के लिए गृह-युद्ध जरूरी हो गया।

अतः ईसाई मिशन के प्रभारी इस बात पर निर्भर रहे कि किसी सूझ को रोप दिया जाए, जो चमत्कार कर दे। यह निर्भरता भी एक कारण है कि ईसाई बन जाने के बाद भी अस्पृश्य, अस्पृश्य ही बना रहा है।

अब प्रश्न के दूसरे भाग पर विचार कर लें। क्या ईसाई धर्म अस्पृश्य को अपनी स्थिति में आगे बढ़ने के लिए प्रेरणा देता है? मुझे खेद के साथ कहना पड़ रहा है कि (वह) प्रेरणा नहीं देता। जहां तक मैं देख सका हूं, अस्पृश्य के लिए ईसाई उपदेश 'व्यावहारिक' सुधारों पर कम और ईसाई सामाजिक दृष्टिकोण पर अधिक केंद्रित है। अस्पृश्यों के धर्मान्तरण की इच्छा रखने वाले ईसाई आग्रह करते हैं कि ईसाई धर्म को विशुद्ध 'आध्यात्मिक' माना जाए। यह शिक्षा निश्चय ही अति मूल्यवान है कि ईसाइयों का दायित्व है कि वे दूसरों से प्रेम करें। लेकिन वहीं विराम लगाकर यह तर्क देना कि सामाजिक दृष्टिकोण में अभिव्यक्त आध्यात्मिक जीवन का भौतिक जीवन से कोई संबंध नहीं है और ईसाइयों का उससे कोई वास्ता नहीं हो सकता, मेरे विचार में कोरा सिद्धांत बघारना है। सज्जन और न्यायकारी बनने के लिए किसी पापाचारी को दैनिक उपदेश देने में क्या तुक है, यदि सज्जन उपदेश के बाद पापाचारी को और न्यायकारी बनाने के लिए कार्य करें। ईसाई मिशनरियों ने कभी भी यह नहीं सोचा है कि यह उनका कर्तव्य है कि वे कार्य करें और धर्म-परिवर्तन के बाद भी अस्पृश्य के प्रति जो अन्याय होता है, उसे दूर कराएं। निश्चय ही यह अति खेद का विषय है कि सामाजिक उद्धार के मामले में मिशन अति निष्क्रिय हैं। लेकिन इससे भी कहीं अधिक पीड़ाजनक ईसाई धर्म अंगीकार करने वाले अस्पृश्य की निष्क्रियता है। वह सर्वाधिक खेद का विषय है। वह हिंदुओं के हाथों उन्हीं असुविधाओं को भोगता रहता है, जिन्हें वह धर्म-परिवर्तन से पहले भोग रहा था। यह कैसी असाधारण बात है कि अन्याय-निवारण संबंधी आंदोलन वे अस्पृश्य चला रहे हैं, जो अभी ईसाई नहीं

बने हैं। मैंने कभी भी नहीं देखा है कि अपने सामाजिक अन्यायों के निवारण के लिए सम्मेलनों में अस्पृश्य ईसाई भाग ले रहे हों। यह निर्विवाद है कि उनकी शिकायतें हैं। यह भी जग-जाहिर है कि उनके संघर्ष में उनका नेतृत्व करने के लिए अनेक काफी पढ़े-लिखे लोग हैं। तो फिर क्या कारण है कि उनके प्रति हुए अन्यायों के निवारण के लिए कोई आंदोलन नहीं हुआ है?

मेरे विचार में तीन कारण हैं, जिनकी वजह से अस्पृश्य ईसाई आंदोलन नहीं छेड़ सके हैं?

पहला कारण तो यह है कि पढ़े-लिखे ईसाइयों के मन में संप्रदाय के हित-साधन और उसके लिए संघर्ष करने की कोई इच्छा है ही नहीं। मेरे विचार में उसका कारण यह है कि ईसाई संप्रदाय के भीतर शिक्षित वर्ग और अशिक्षित वर्ग के बीच कोई नातेदारी नहीं है। ईसाई संप्रदाय एक मिलाजुला खिचड़ी संप्रदाय है। कहीं-कहीं वह स्पृश्यों और अस्पृश्यों के रूप में बंटा हुआ है। सर्वत्र वह उच्च वर्ग और निम्न वर्गों में बंटा हुआ है। शिक्षित वर्ग अधिकांशतः स्पृश्य अथवा उच्च वर्ग से आया है। यह शिक्षित वर्ग ईसाइयों के निम्न अथवा अस्पृश्य वर्ग से कटा हुआ है और वह निम्न वर्ग के अभावों, पीड़ाओं, इच्छाओं, आकांक्षाओं, अपेक्षाओं से सहानुभूति नहीं रखता है। वह उनके हितों की उपेक्षा करता है। अतः अस्पृश्य ईसाइयों का कोई रहनुमा नहीं है। इसी कारण वे अपने प्रति हुए अन्यायों को दूर कराने के लिए संगठित नहीं हो सकते।

अस्पृश्य ईसाइयों का कोई आंदोलन नहीं है, इसका दूसरा कारण यह है कि धर्मान्तरित की मानसिकता में कुछ दोष है। अस्पृश्य ईसाई की मानसिकता की एक खासियत यह है कि उसमें अनेक बंधनों से मुक्त होने की कोई ललक है ही नहीं। अस्पृश्य ईसाई में किसी ललक के इस अभाव का क्या कारण है? मुझे ऐसा लगता है कि इसके दो कारण हैं। एक कारण तो अस्पृश्य ईसाई के पूर्ववृत्त में पाया जाता है। अस्पृश्य या तो ईसाई इसलिए बनता है कि उसे किसी लाभ का लोभ होता है या फिर वह *'बाइबिल* के उपदेश पसद करता है। लेकिन ईसाई बनने वाला ऐसा अस्पृश्य बिरला ही होता है, जिसके मन में सुनिश्चित असतोष हो या वह हिंदू धर्म के उपदेशों को पसंद न करता हो। नतीजा यह होता है कि ईसाई धर्म उसके पुराने धर्म का पुछल्ला बनकर रह जाता है। वह उसके पुराने धर्म का स्थान नहीं लेता। वह दोनों से चिपका रहता है और प्रत्येक के लिए उपयुक्त अवसर आने पर दोनों का पालन करता है।

मेरा विचार है कि ललक के अभाव का दूसरा कारण ईसाई धर्म के उपदेश हैं। ईसाई धर्म सिखाता है कि व्यक्ति का पतन उसके मूल पाप के कारण होता है और किसी व्यक्ति को ईसाई क्यों बनना चाहिए, उसका कारण यह है कि

ईसाई धर्म में पापों की क्षमा का वचन दिया गया है। इस सिद्धांत का धर्मविज्ञान-सम्मत तथा सुसमाचार-सम्मत जो भी आधार रहा हो, पर इस बारे में कोई सदेह नहीं है कि समाज-विज्ञान की दृष्टि से यह एक ऐसा सिद्धांत है, जिसमें विनाश ही विनाश है। यह ईसाई उपदेश समाज-विज्ञान के लिए एक सीधी चुनौती है, क्योंकि उसकी मान्यता है कि व्यक्ति के पतन का कारण उसकी प्रतिकूल परिस्थितियां हैं, न कि उसके पाप। यह निर्विवाद है कि समाज-विज्ञान का दृष्टिकोण सही दृष्टिकोण है और ईसाई सिद्धांत व्यक्ति को केवल गुमराह करता है। वह उसे गलत रास्ते पर भटका देता है। ठीक ऐसा ही अस्पृश्य ईसाई के साथ हुआ है। बजाए इसके कि उसे सिखाया जाता कि उसके पतन का कारण गलत सामाजिक तथा धार्मिक वातावरण है और अपने सुधार के लिए उसे उस वातावरण पर प्रहार करना ही होगा, उसे जताया जाता है कि उसके पतन का कारण उसका पाप है।

नतीजा यह होता है कि धर्मान्तरित अस्पृश्य अपने वातावरण पर विजय प्राप्त करने की प्रेरणा प्राप्त करने के स्थान पर स्वयं को यह दिलासा देकर संतुष्ट कर लेता है कि संघर्ष करने से कोई लाभ नहीं और उसका सहज कारण है कि उसके पतन का कारण उसका पाप नहीं है, अपितु उसका कारण उसके आदम नामक किसी परोक्ष पूर्वज का पाप है। जब वह हिंदू था तो उसके पतन का कारण उसका 'कर्म' था। जब वह ईसाई बनता है तो उसे पता चलता है कि उसके पतन का कारण उसके पूर्वज का पाप है। दोनों अवस्थाओं में उसके लिए बचने का कोई मार्ग नहीं है। हम प्रश्न कर सकते हैं कि धर्म-परिवर्तन नए जीवन का उदय है या पुराने का खंडन?

VI

भारत में भारतीय ईसाई संप्रदाय का क्या कोई महत्व है? देश के मामलों के निपटारे में उसका क्या महत्व और प्रभाव है? उसका महत्व और प्रभाव तो देश और समाज, दोनों में ही होना चाहिए। निश्चय ही वह देश का सर्वाधिक शिक्षित और प्रबुद्ध संप्रदाय है। भारत के अन्य अनेक संप्रदायों के मुकाबिले भारतीय ईसाइयों में न केवल साक्षरता का प्रतिशत सापेक्षतः अधिक है, बल्कि अपने से कहीं अधिक संख्या वाले संप्रदायों की अपेक्षा उसके बीच विश्वविद्यालय-स्नातकों, डाक्टरों, वकीलों की संख्या भी कहीं अधिक है। न केवल पुरुष ही, बल्कि महिलाएं भी शिक्षित हैं। यह कहना ही पड़ेगा कि इस समूचे ज्ञान और पांडित्य के बावजूद भारत के मामलों में यदि उसका कोई महत्व है, तो वह नगण्य है। इस बारे में मतभेद हो सकता है। लेकिन मेरे इस निष्कर्ष का आधार यथासंभव मेरा सूक्ष्म तथा निष्पक्ष अध्ययन है। मेरा विरोधी कह सकता है कि मेरी बात गलत है या

मैं गलत तस्वीर पेश कर रहा हूं। लेकिन मुझे इस बात का संतोष है कि कुछ ऐसे भारतीय ईसाई हैं, जो मेरे दृष्टिकोण और मेरे खेद से सहमत हैं। यहां मैं *'यंग इंडिया'* में प्रकाशित दो पत्रों को प्रस्तुत कर रहा हूं।

पहला पत्र एक भारतीय ईसाई ने श्री गांधी को लिखा था। 25 अगस्त 1921 को उसका प्रकाशन *'यंग इंडिया'* में हुआ। उसमें कहा गया है :

> मुझे खेद है कि आप हम भारतीय ईसाइयों को भारतवासी नहीं मानते, क्योंकि मैंने अनेक बार देखा है कि *'यंग इंडिया'* मुसलमानों, हिंदुओं, सिखों आदि का तो उल्लेख करता है, पर ईसाइयों की उपेक्षा करता है।
>
> मैं आपको विश्वास दिलाना चाहूंगा कि हम भारतीय ईसाई भी भारतवासी हैं और भारत के निजी मामलों में पर्याप्त रुचि लेते हैं।

प्रस्तुत है इस पत्र के बारे में श्री गांधी की प्रतिक्रिया। वह कहते हैं :

> मैं संवाददाता तथा अन्य भारतीय ईसाइयों को आश्वासन देना चाहता हूं कि असहयोग में धर्म अथवा जाति के लिए कोई स्थान नहीं है। वह सभी को अपने झंडे के नीचे आने के लिए आमंत्रण और अवसर देता है। अनेक भारतीय ईसाइयों ने तिलक स्वराज फंड में अंशदान किया है। कुछ प्रसिद्ध भारतीय ईसाई असहयोग आंदोलन की अग्रिम पंक्ति के कार्यकर्ता हैं। मुसलमानों और हिंदुओं का लगातार उल्लेख हुआ है, क्योंकि वे अभी तक एक-दूसरे को शत्रु समझते रहे हैं। इसी प्रकार इसके पीछे सदैव कोई कारण रहा है कि इन स्तंभों में किसी जाति का विशेष उल्लेख किया गया है।

इस प्रश्न के अलावा कि यह सच है या नहीं कि अनेक भारतीय ईसाइयों ने तिलक स्वराज फंड में अंशदान किया है और यह सच है या नहीं कि प्रख्यात ईसाई असहयोग आंदोलन के अग्रिम पंक्ति के कार्यकर्ता थे, श्री गांधी ने संवाददाता के मुख्य प्रश्न का जो उत्तर दिया है, वह यदि भ्रामक नहीं तो सही भी नहीं है। यदि मुसलमानों का उल्लेख केवल इसलिए किया जाता है कि वे हिंदुओं को अपना शत्रु समझते हैं, तो सिखों का उल्लेख क्यों किया गया? निश्चय ही सिख तो हिंदुओं को अपना शत्रु नहीं मानते। उनका उल्लेख क्यों किया गया? सिखों का न केवल उल्लेख ही किया गया, बल्कि उन्हें ऐसा प्रमुख पक्ष माना गया, जिसके सक्रिय सहयोग के बिना स्वराज का आंदोलन चलाया ही नहीं जा सकता। और यह भी याद रखा जाए कि सिखों ने सहयोग बिना शर्त के नहीं दिया। सभी जानते हैं कि सिखों ने अपने सहयोग के बदले में दो शर्तें रखी थीं।[1] एक शर्त यह थी कि भारत का जो राष्ट्रीय झंडा बनाया जाए, उसमें सिखो

1. *यंग इंडिया,* 4 अगस्त 1921

के तथाकथित काले रंग को स्थान दिया जाए। उनकी दूसरी मांग थी कि कांग्रेस उन्हें गारंटी दे कि उन्हें विधान-मंडल में प्रतिनिधित्व मिलेगा ही। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सिखों का उल्लेख ही नहीं, बल्कि तुष्टिकरण भी किया गया। लेकिन ईसाइयों का तो उल्लेख भी नहीं किया गया। अब भारतीय ईसाइयों का उल्लेख न करने के केवल दो स्पष्टीकरण हो सकते हैं। या तो वे स्वराज के संघर्ष में कांग्रेस का साथ नहीं दे रहे थे या फिर वे इतने नगण्य थे कि उल्लेख के पात्र ही नहीं थे। वे स्वराज के संघर्ष में कांग्रेस का साथ नहीं दे रहे थे, इस बात का खंडन नहीं किया जा सकता। निम्न पत्र एक भारतीय ईसाई ने *'इंडियन सोशल रिफार्मर'* के संपादक को लिखा था और उसे *'यंग इंडिया'* में पुनः प्रकाशित किया गया था। वह स्वराज के प्रति भारत के ईसाइयों के रवैए को दर्शाता है :

हमारे पास इस बात के ठोस प्रमाण हैं कि ईसवी सन् की दूसरी सदी में भी भारत में ईसाई बस्तियां थीं। इस आधार पर भारत के ईसाई दावा कर सकते हैं कि इस्लाम की स्थापना के कई सदी पूर्व भारत में उनका अस्तित्व था। तो फिर यह कैसे हो सकता है कि विशुद्ध भारतीय वंश-परंपरा वाले और भारत की धरती पर जन्मे और पले भारतीय ईसाई ने यह न सीखा हो कि वह इस देश के प्राचीन इतिहास व उसकी संस्कृति की कदर करे और उसके लोगों को, चाहे उनके धार्मिक विश्वास कितने भी भिन्न हों, अपना निकट संबंधी समझे? यह कैसे संभव है कि अपने हिंदू तथा मुसलमान सह-नागरिक की भांति उसने उस हर प्रक्रम को गौर से देखा न हो, उसकी कामना न की हो, और आतुरता से उसका स्वागत न किया हो, जो उसकी मातृभूमि की सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक संविधि में अभिवृद्धि करता हो। क्या कारण है कि वंदे मातरम् केवल हिंदुओं और मुसलमानों का राष्ट्रीय निर्झर है और अभी तक भारतीय ईसाई द्वारा उपेक्षित है?

पुनः यह कैसे संभव है कि हिंदू तथा मुसलमान, दोनों ही समझते हैं कि उनकी आकांक्षाओं के प्रति भारतीय ईसाई की भावना यदि प्रत्यक्षतः शत्रुतापूर्ण और विपरीत नहीं, ढीली-ढाली तो है ही? क्या कारण है कि भारत में उत्तरोत्तर बलवती होती हुई राष्ट्रीय भावना भारत के ईसाई को बौना और भविष्य में अपनी सुरक्षा के प्रति शंका अनुभव कराती है।[1]

सर्वश्री जार्ज जोसेफ, के. टी. पौल और डा. एस. के. दत्ता के कथन के बावजूद इस बारे में कोई संदेह नहीं कि भारत के ईसाई संप्रदाय ने स्वराज के संघर्ष में सक्रिय रूप से भाग नहीं लिया। वह वस्तुतः उसके प्रति सशंक था। यह पत्र भारतीय ईसाइयों के प्रचलित रवैए को वस्तुतः दर्शाता है। अतः यह स्पष्ट

1. *यंग इंडिया*, 21 दिसंबर 1922

हो जाता है कि किस कारण भारतीय ईसाइयों का उल्लेख मुसलमानों तथा सिखों के साथ-साथ नहीं किया गया। निश्चय ही उनका उल्लेख न किए जाने का कारण यह नहीं है कि वे स्वराज के पक्षधर हैं या नहीं। ऐसी उपेक्षा के बारे में हम केवल यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि उनकी कोई गिनती नहीं। यह दुख की बात है कि देश के मामलों में ऐसे प्रबुद्ध संप्रदाय का कोई महत्व और प्रभाव न हो।

ऐसी दशा के क्या कारण हो सकते हैं? निश्चय ही सर्वाधिक उजागर कारण उनकी अल्प संख्या है। उनकी संख्या का वजन इतना कम है कि वे अपने अस्तित्व को सार्वजनिक जीवन में शक्ति के रूप में वैसे अनुभव नहीं करा सकते, जैसे कि मुसलमान अथवा दलित वर्ग करा सकते हैं। लेकिन उनकी नगण्यता का पूर्णतः यह कारण नहीं हो सकता। इसके अन्य कारण होंगे ही। मेरे विचार में इसके दो कारण हैं।

एक तो यह है कि भारत के ईसाई दूसरों के आश्रय पर जीते हैं। उनमें से अधिकांश मिशनरियों के आश्रम में रह रहे हैं। अपनी शिक्षा, अपनी चिकित्सा, अपनी धार्मिक परिचर्चा तथा अपनी अधिकांश छोटी-छोटी जरूरतों के लिए वे सरकार का मुंह नहीं ताकते। वे मिशनों का मुंह ताकते हैं। यदि वे सरकार पर निर्भर करते तो उनसे अपेक्षा की जाती कि वे प्रभावी राजनीतिक गतिविधि के बारे में एकजुट होते और अपने जनसमूह को आंदोलित, शिक्षित व संगठित करते। क्योंकि ऐसे संगठन के बिना कोई भी सरकार उनकी जरूरतों और अपेक्षाओं को पूरा करने की ओर ध्यान नहीं देगी, वे धारा में नहीं हैं और धारा में न होने के कारण वे सार्वजनिक जीवन की ओर ध्यान नहीं देते। अतः जनजीवन में उनकी कोई मान्यता नहीं है।

दूसरा कारण यह है कि भारतीय ईसाई एक विश्रंखल संप्रदाय है। विश्रंखल शब्द विघटित से बेहतर शब्द है। उनमें बस केवल एक ही समानता है और वह है एक समान प्रेरणा स्रोत। इस एक समानता को छोड़कर अन्य सभी बातें उन्हें अलग-थलग रखती हैं। अन्य सभी भारतीयों की भांति ही भारतीय ईसाई नस्ल, भाषा और जाति के कारण विभाजित हैं। उनके धर्म में उन्हें एकजुट करने की इतनी शक्ति नहीं है कि वह भाषा, जाति, नस्ल के अंतर को इतना पाट सके कि वे विभेद मात्र रह जाएं। इसके विपरीत उन्हें जोड़ने वाली एकमात्र शक्ति यानी उनका धर्म सांप्रदायिक भेदभावों से ग्रस्त एवं त्रस्त है। नतीजा यह है कि भारत के ईसाई इतने विश्रंखल हैं कि उनका कोई समान लक्ष्य, समान मानस और समान प्रयास हो ही नहीं सकता। तमिल के भारतीय ईसाई की दृष्टि में, एक तमिल हिंदू पंजाब के भारतीय ईसाई के अधिक निकट है। संयुक्त प्रांत का

भारतीय ईसाई संयुक्त प्रांत के हिंदू से जितनी निकटता अनुभव करता है, उतनी निकटता का अनुभव वह महाराष्ट्र के भारतीय ईसाई से नहीं करता। संक्षेप में, भारतीय ईसाई पद केवल एक संख्यावाची पद है। इस पद के पीछे कोई सामुदायिक भावना नहीं है। भारतीय ईसाई परस्पर वैसी चेतना से आबद्ध नहीं हैं, जो समुदाय के अस्तित्व की कसौटी होती है।

भारत के ईसाइयों का जीवन जिन कमजोरियों से ग्रस्त है, उनके बारे में मैंने जो कहा है, पता नहीं कि उसके बारे में वे क्या सोचेंगे। पर एक बात मैं कह सकता हूं। वह यह है कि भारत के ईसाइयों के प्रति मेरी गहन रुचि है, क्योंकि उनमें से अधिकांश अस्पृश्य वर्गों के हैं। मेरे विचार एक मित्र के विचार हैं। वह शत्रु की निंदा नहीं हैं। मैंने उनकी कमजोरियों की ओर ध्यान दिलाया है, क्योंकि मैं उन्हें बलवान देखना चाहता हूं। मैं उन्हें बलवान इसलिए बनाना चाहता हूं क्योंकि मैं भविष्य में उनके लिए भारी खतरा देख रहा हूं। उन्हें ईसाई धर्म के प्रति झीने आवरण में लिपटे श्री गांधी के उस विरोध से निपटना है, जो अपनी जड़ें भारत की सामाजिक संरचना में ज़मा रहा है। लेकिन उन्हें तीखे तेवर वाले हिंदू धर्म का भी सामना करना है, जो भारतीय राष्ट्रवाद का छद्म रूप धारण कर रहा है। तीखे तेवर वाला यह हिंदू धर्म ईसाइयों तथा ईसाई धर्म से कैसा व्यवहार करेगा, उसका अनुमान अभी हाल की वृंदावन की घटना से लगाया जा सकता है। यदि समाचार-पत्रों में प्रकाशित समाचार[1] सही है तो उसके अनुसार, उदार हिंदू धर्म के अनुयायियों की एक भीड़ ने चुपचाप जाकर वृंदावन स्थित मिशन की इमारत को भस्म कर दिया। उसने मिशनरी को चेतावनी दी कि यदि उन्होंने उसे पुनः बनवाया तो वे पुनः जाएंगे और उसे भस्म कर देंगे। हो सकता है कि यह गुमराह देशभक्तों का एकाकी उदाहरण हो अथवा हो सकता है कि वह केवल हिंदुओं की उस योजना का एक नमूना-भर हो, जिसके द्वारा वे ईसाइयों और ईसाई धर्म से अपना पिंड छुड़ाना चाहते हों। यदि यह भावी घटनाओं का संकेत है तो निश्चय ही उसका मुकाबिला करने के लिए ईसाइयों को तैयार रहना चाहिए। उसका मुकाबिला तो वे तभी कर सकते हैं, जब वे मेरे द्वारा बताई गई कमजोरियों को दूर कर दें। इसके अलावा क्या कोई अन्य उपाय है? मेरी कामना है कि भारत के सभी ईसाई उस पर गौर करें।

1. *इंडियन विटनेस*

अनुक्रमणिका